Saraswati Oriental Series No. 1

कलिकालसवज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी संवत्सरे पुनर्मुद्रणं नीता

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचिता

प्रमाण मीमांसा



શ્રી હેમચંદ્રાચાર્ય

सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद १.

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

स्वोपज्ञवृत्ति–सहिता

प्रमाण मीमांसा

[पण्डितसुखलालनिर्मितभाषाटिप्पणादिसहिता]

: सम्पादक :

पण्डित सुखलालजी संघवी

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री

पण्डित दलसुख मालवणिया न्यायतीर्थ

: प्रकाशनकर्ता :

सरस्वती पुस्तक भंडार

११२, हाथीखाना, रतनपोल

अहमदाबाद 380 001

विक्रमाब्द २०४५] पुनर्मुद्रण, ५०० प्रति । [१९८९

PRAMĀṆA MĪMĀṀSĀ

OF

KALIKĀLA SARVAJÑA ŚRĪ HEMACANDRĀCĀRYA

WITH

BHĀṢĀ ṬIPPAṆA OF PAṆDITA SUKHALĀLJĪ SAṄGHAVĪ

EDITED BY

Pandita SUKHALĀLJĪ SAṄGHAVĪ

HEAD OF THE DEPARTMENT OF JAINA ŚĀSTRA,
BENARES HINDU UNIVERSITY,
LATE PROFESSOR OF INDIAN PHILOSOPHY,
GUJARĀT PURĀTATTVA MANDIR, AHMEDABAD.

AND

Pandit MAHENDRA KUMAR ŚASTRĪ

NYĀYA TĪRTHA,
NYĀYĀDHYĀPAKA, SYĀDVĀDA JAINA VIDYĀLAYA
BENARES.

Pandit DALSUKH MĀLVAṆIĀ NYĀYA TĪRTHA

JAINĀGAMA TEACHER
BENARES HINDU UNIVERSITY,
BENARES.

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

112, Hathikhana, Ratanpole, AHMEDABAD

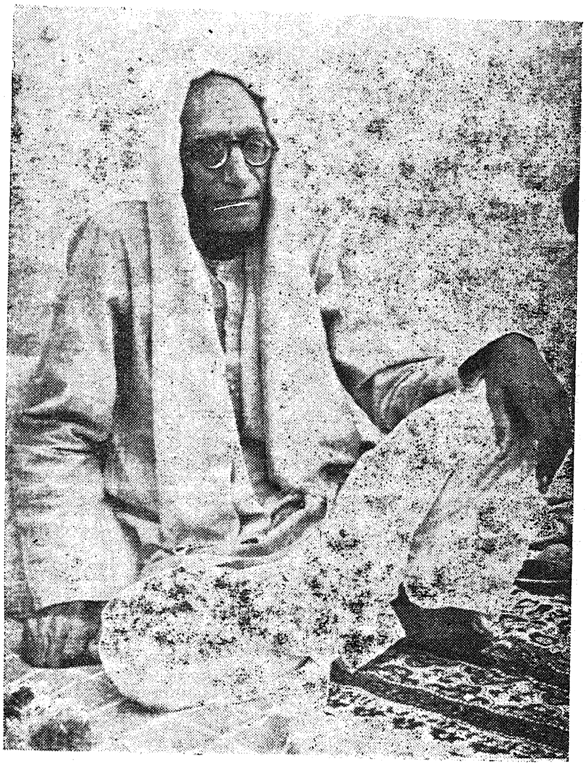
V.Y. 2045] *Second edition, Five Hundred Copies* [1989 A.D.

॥ श्री जिनविजयप्रशस्तिः ॥

स्वस्ति श्रीमेदपाटाख्यो देशो भारतविश्रुतः । रूपाहेलीति सन्नाम्नी पुरिका तत्र सुस्थिता ॥
सदाचार-विचाराभ्यां प्राचीननृपतेः समः । श्रीमच्चतुरसिंहोऽत्र राठोडान्वयभूमिपः ॥
तत्र श्रीवृद्धिसिंहोऽभूत् राजपुत्रः प्रसिद्धिमान् । क्षात्रधर्मधनो यश्च परमारकुलाग्रणीः ॥
मुञ्ज-भोजमुखा भूपा जाता यस्मिन्महाकुले । किं वर्ण्यते कुलीनत्वं तत्कुलाजातजन्मनः ॥
पत्नी राजकुमारीति तस्याभूद् गुणसंहिता । चातुर्य-रूप-लावण्य - सुवाक्सौजन्यभूषिता ॥
क्षत्रियाणीप्रभापूर्णां शौर्यदीप्तमुखाकृतिम् । यां दृष्ट्वैव जनो मेने राजन्यकुलजा त्वियम् ॥
सूनुः किसनसिंहाख्यो जातस्तयोरतिप्रियः । रणमल्ल इति ह्यन्यद् यन्नाम जननीकृतम् ॥
श्रीदेवीहंसनामात्र राजपूज्यो यतीश्वरः । ज्योतिर्भैषज्यविद्यानां पारगामी जनप्रियः ॥
अष्टोत्तरशताब्दानामायुर्यस्य महामतेः । स चासीद् वृद्धिसिंहस्य प्रीति-श्रद्धास्पदं परम् ॥
तेनाथाप्रतिमप्रेम्णा स तत्सूनुः स्वसन्निधौ । रक्षितः, शिक्षितः सम्यक्, कृतो जैनमतानुगः ॥
दौर्भाग्यात्तच्छिशोर्बाल्ये गुरु-तातौ दिवंगतौ । विमूढेन ततस्तेन त्यक्तं सर्वं गृहादिकम् ॥

तथा च—

परिभ्रम्याथ देशेषु संसेव्य च बहून् नरान् । दीक्षितो मुण्डितो भूत्वा कृत्वाऽऽचारान् सुदुष्करान् ॥
ज्ञातान्यनेकशास्त्राणि नानाधर्ममतानि च । मध्यस्थवृत्तिना तेन तत्त्वातत्त्वगवेषिणा ॥
अधीता विविधा भाषा भारतीया युरोपजाः । अनेका लिपयोऽप्येवं प्रत्ननूतनकालिकाः ॥
येन प्रकाशिता नैका ग्रन्था विद्वत्प्रशंसिताः । लिखिता बहवो लेखा ऐतिह्यतथ्यगुम्फिताः ॥
यो बहुभिः सुविद्वद्भिस्तन्मण्डलैश्च सत्कृतः । जातः स्वान्यसमाजेषु माननीयो मनीषिणाम् ॥
यस्य तां विश्रुतिं ज्ञात्वा श्रीमद्गान्धीमहात्मना । आहूतः सादरं पुण्यपत्तनात्स्वयमन्यदा ॥
पुरे चाहम्मदाबादे राष्ट्रीयशिक्षणालयः । विद्यापीठ इतिख्यातः प्रतिष्ठितो यदाऽभवत् ॥
आचार्यत्वेन तत्रोच्चैर्नियुक्तो यो महात्मना । विद्वज्जनकृतश्लाघे पुरातत्त्वाख्यमन्दिरे ॥
वर्षाणामष्टकं यावत् सम्भूष्य तत्पदं ततः । गत्वा जर्मनराष्ट्रे यस्तत्संस्कृतिमधीतवान् ॥
तत आगत्य संलग्नो राष्ट्रकार्ये च सक्रियम् । कारावासोऽपि सम्प्राप्तो येन स्वराज्यपर्वणि ॥
क्रमात्तस्माद् विनिर्मुक्तः प्राप्तः शान्तिनिकेतने । विश्ववन्द्यकवीन्द्रश्रीरवीन्द्रनाथभूषिते ॥
सिंघीपदयुतं जैनज्ञानपीठं यदाश्रितम् । स्थापितं तत्र सिंघीश्रीडालचन्दस्य सूनुना ॥
श्रीबहादुरसिंहेन दानवीरेण धीमता । स्मृत्यर्थं निजतातस्य जैनज्ञानप्रसारकम् ॥
प्रतिष्ठितश्च यस्तस्य पदेऽधिष्ठातृसञ्ज्ञके । अध्यापयन् वरान् शिष्यान् शोधयन् जैनवाङ्मयम् ॥
तस्यैव प्रेरणां प्राप्य श्रीसिंघीकुलकेतुना । स्वपितृश्रेयसे चैषा ग्रन्थमाला प्रकाश्यते ॥
विद्वज्जनकृताह्लादा सच्चिदानन्ददा सदा । चिरं नन्दत्वियं लोके जिनविजयभारती ॥



ફોટો શ્રી જગન મહેતાના સૌજન્યથી

अर्घ्य

पुरातत्त्व के आचार्य और
जैन साहित्य के आजीवन अभ्यासी,
संशोधक और सम्पादक, आचार्य

श्री जिनविजयजी मुनि को

उनकी जन्म शताब्दी के निमित्त
सादर समर्पित

परम श्रद्धेय मुनि श्री जिनविजयजी

(संक्षिप्त जीवन–गाथा)

—डो. के. आर. चन्द्र

भारतीय विद्या के विभिन्न विषयों का दोहन कर अनेक साहित्य–कृतियों के सर्जन द्वारा अपनी अद्वितीय बहुमुखी प्रतिभा का दर्शन कराने के कारण कलिकाल–सर्वज्ञ के रूप में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य की नौवीं जन्मशताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में उनके उच्च कोटि के एक दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रमाणमीमांसा' का पुनर्मुद्रण करते हुए किसे हर्ष का अनुभव नही होगा ?

इस ग्रन्थ का आधुनिक शैली में सर्वप्रथम सम्पादन सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी के द्वारा हो कर विश्वप्रसिद्ध 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' से प्रकाशन किया गया। उस पुण्यश्लोक आत्मा, राजपूताने के एक सपूत शौर्यवान राजपूत, भारत के प्रामाणिकताप्रिय बहुमुखी विद्वान के अनुरूप एक ब्राह्मण के रूप में और अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त दृष्टि को अपना कर सांप्रदायिकता के व्यामोह से दूर रहने वाले एक आदर्श जैन की भाँति कर्मठ एवं करूणाशील व्यक्ति की जीवन–यात्रा भी अद्वितीय ही रही है। अतः उनके जीवन की संक्षिप्त गाथा जो स्वयं प्रेरणामय रही है उसे प्रस्तुत करके कोई भी अपने आप को कृतार्थ एवं धन्य मानेगा।

१८५७ के गदर में सहयाग करने के कारण अंग्रेजों के हाथ अपनी जागीर और सम्पत्ति खोकर अजमेर–मेरवाड़ा से भाग कर मेवाड़ की स्वतन्त्रता प्रिय वीरभूमि के रूपाहेली गाँव में आ बसे क्षत्रिय परमार कुल में बिरधीसिंह और सिरोही राज्य की जागीरदार पुत्री राजकुंवर के पुत्र के रूप में किशन सिंह (जन्म का नाम) का जन्म २७ जनवरी १८८८ को हुआ था। समृद्धि और सम्पन्नता के अभाव में किशोरावस्था से ही विद्या के प्रति इतनी तीव्र पिपासा कि वह घर की परवाह किये बिना एक फ़कीर की तरह जैन यतियों, मुंडित शैव साधुओं, स्थानकवासी और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु समुदायों के साथ एक जगह से दूसरी जगह भटकता रहा। जहाँ पर भी अध्ययन की थोड़ी सी सुविधा देखी वहीं पर दीक्षित हो गया। यदि कोई कमी देखी तो वहाँ से भाग निकला।

धार में एक पंडित से संस्कृत के विषय में अपने अल्प ज्ञान की प्रतीति हुई तब वे स्थानकवासी वेष छोड़कर भाग निकले और पद–यात्रा में अनेक कष्टों को सहन करते हुए अहमदाबाद पहुँचे। फूटपाथ पर सोने के कारण उन्हें चोर समझकर एक बार पुलिस ने पकड़ लिया। पेट भरने के लिए होटल में कप–रकाबी धोने का काम भी किया और विद्या–अभ्यास के लिए जैन उपाश्रयों के चक्कर लगाने लगे। इसी धुन में पालनपुर जाकर निराश होकर पालि पहुँचे और वहाँ पर मुनि सुन्दरविजयजी द्वारा अध्ययन की सुविधा की गयी और बाद में दीक्षित होकर जिनविजय का नाम धारण कर जैन श्वेताम्बर मुनि–वेश धारण किया।

ब्यावर में विजयवल्लभसूरि से परिचय हुआ, उनके साथ बड़ौदा आकर अपने अध्ययन को विस्तृत किया और इतिहास शोध सम्बन्धी परिपक्वता प्राप्त की। आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी के सम्पर्क में आने पर कान्तिविजय जैन ग्रन्थमाला का प्रारम्भ करके अनेक जैन ग्रन्थों का प्रकाशन किया। अब यह सितारा विद्वानों में चमकने लगा और हिन्दी जगत में अभिनन्दनीय स्थान प्राप्त करने लगा। गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज से 'कुमारपाल प्रतिबोध' का प्रकाशन किया। पूना में भांडारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर की स्थापना में उनका सहयोग लिया गया। वहाँ से 'जैन साहित्य सशोधक पत्रिका का प्रकाशन करने लगे। लोकमान्य तिलक के परिचय में आने से उन पर क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव पड़ा और वे निष्क्रिय त्यागी जीवन और रूढ़िचुस्त साधुचर्या से ऊब गये। १९१९ में गांधीजी के सम्पर्क में आये और गूजरात विद्यापीठ के पुरातत्त्व विभाग की स्थापना में सहयोग माँगने पर साधु होते हुए भी पहली बार रेलयात्रा की और बम्बई पहुँचे। वहाँ पर अनेक राष्ट्रीय नेताओं और विद्वानों से सम्पर्क बढ़ा। साहित्य और विद्या के क्षेत्र में कार्य करने की उत्कट इच्छा परन्तु रूढ़िचुस्त साधु नियमों की बाधा के कारण गांधीजी की सम्मति से उन्होंने साधु वेष छोड़ने का निश्चय कर लिया और पूना जाकर उसे त्याग दिया।

वे लीमड़ी में अपने सुहृद् मित्र पं. सुखलालजी की खराब तबियत के कारण उनसे मिलने गये, उनसे गूजरात विद्यापीठ के बारे में चर्चा की और उसमें पुरातत्त्व मन्दिर के नियामक के रूप में एक राष्ट्रीय सेवक के रूप में जुड़ गये। यहाँ पर आये जर्मन विद्वानों के आमन्त्रण पर वे १९२८ में जर्मनी गये। एक मुस्लिम मित्र की सहायता से भारतीयों की सुविधा के लिए वहाँ पर हिन्दुस्तान हाऊस की स्थापना की। डेढ़ साल के बाद वहाँ से लौट आये।

अद्भुत साहित्यप्रेमी कलकत्तानिवासी शेठ श्री बहादुरसिंहजी के आमन्त्रण पर उन्होंने "सिंघी जैन ग्रन्थमाला" की स्थापना की और शांति-निकेतन में रह कर साहित्योद्धार का कार्य करने लगे। वहाँ पर जैन छात्रावास की भी स्थापना की।

गांधीजी के नमक सत्याग्रह में भाग लेकर नासिक में जेलवास भोगा। वहाँ पर श्री क. मा. मुन्शी से परिचय हुआ और भारतीय विद्या भवन की स्थापना में सहयोगी बने तथा १९४७ में उस संस्था के डायरेक्टर का पद सँभाला।

१९४२ में श्री जिनहरि सागर के निमन्त्रण पर जैसलमेर के सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थ भंडार को सुव्यवस्थित किया और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवायीं।

उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर राजस्थान सरकार ने उनके परामर्श से जयपुर में १९५० में राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर की स्थापना की। इसी संस्था का मुख्य कार्यालय जोधपुर में बन जाने पर वहाँ पर भी डायरेक्टर के रूप में रहे जो अब राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान के रूप में अपनी अनेक शाखाओं में विस्तृत है।

अपनी वीरभूमि के प्रति आस्था होने के कारण अन्तिम आयु में चित्तौड़ ने उन्हें अपनी मातृभूमि की ओर आकर्षित किया। वहाँ पर 'आ. श्री हरिभद्रसूरि मन्दिर' और 'भामाशाह भारती मन्दिर' की स्थापना की। चन्देरिया में 'सर्व देवायतन मन्दिर' बनवाया और अपने गाँव (रूपा हेली) में 'गांधीग्राम मन्दिर' बनवाकर बाल मन्दिर की स्थापना की। सर्वोदय की भावना से प्रेरित होकर जीवन के अन्तिम काल में आश्रम जीवन अपनाया। वहाँ पर अनाथ सन्तानों का पालन पोषण किया और स्वयं खेती करने लगे और पशुपालन भी। उनका स्वर्गवास अहमदाबाद में ही हुआ जहाँ पर वे अधिकतर रहा करते थे और उनके पार्थिव देह का संस्कार चन्देरिया में किया गया।

यह है एक धुनी विद्या व्यसनी फ़कीर की कहानी जो संसारी होते हुए भी श्रमण था, प्रवृत्तिमय होते हुए भी निवृत्त था, धनोपार्जन करते हुए भी त्यागी था। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुविधा-असुविधा, यश-अपयश की किंचित् चिन्ता किये बिना स्वसम्मान के साथ अपने लक्ष्य की पूर्ति में एक साधक और तपस्वी की तरह परन्तु रूढ़िपरस्त समाज और बाधक सांप्रदायिक नियमों का एक क्रान्तिकारी सैनिक की तरह सामना करते हुए आगे बढ़ता रहा।

वे संस्कृत, पालि और प्राकृत के ज्ञाता, अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के जानकार और इतिहास, शिल्प व स्थापत्य के रसिक और निष्णात थे। इसी कारण बम्बई युनिवर्सिटी ने उन्हें एक साथ तीन तीन विषयों में रीकग्नाइज्ड गाइड की मान्यता प्रदान की थी। वे एक मनीषी, प्रेरणामूर्ति और प्राचीन साहित्योद्धारक थे। वे एकान्तप्रिय, गुणानुरागी और समभावी थे। प्रतिष्ठा के लिए लेशमात्र भी आसक्ति रखे बिना स्वमान की रक्षा हेतु बड़े से बड़े पद का त्याग कर देते थे। एक ही समय में विभिन्न जगहों पर एक से अधिक जिम्मेवारियाँ एक साथ निभाते थे। अल्प समय में भगीरथ कार्य करने के लिए उनकी दो ग्रन्थमालाएँ (सिंघी जैन और राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान की) साक्षी दे रही हैं। सुबह ७ बजे से रात को ९ बजे तक और कभी कभी प्रूफों का ढगला बढ़ जाने पर रात को १२ बजे तक काम करते रहते थे। अपनी इस उच्च कोटि की विद्वत्ता के लिए जर्मनी की विश्वविख्यात ओरिएन्टल सोसायटी ने १९५२ में उन्हें अपना सम्माननीय सदस्य बनाया और १९६१ में भारत सरकार द्वारा वे 'पद्म श्री' की उपाधि से अलंकृत किये गये।

बस यही है भारतीय संस्कृति के एक रत्न की उज्ज्वल जीवन-गाथा।

दो शब्द

पूज्य पं. सुखलालजी संघवी द्वारा सम्पादित प्रमाण-मीमांसा का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है जान कर आनन्द हुआ । भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में जिस प्रकार तुलनात्मक संस्कृत टिप्पणों के साथ "सन्मति प्रकरण" प्रकाशित हुआ वह संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन की नई दिशा की और संकेत करता था । उसी प्रकार यह प्रमाणमीमांसा भी हिन्दी टिप्पणों के साथ जो प्रकाशित हुई वह भी एक नई दिशा दरसाने वाला ग्रन्थ था । उसमें प्रतिपादित विषयों की अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के साथ तुलना तो की ही गई थी, उपरांत विचार विकास का इतिहास भी प्रदर्शित था ।

किन्तु उसमें जो एक कमी थी वह यह कि जैन दर्शन का आगमगत रूप विस्तार से प्रदर्शित नहीं हुआ था । उस कमी की पूर्ति करने का प्रयास मैंने न्यायावतार वार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना लिखकर किया था । वह प्रस्तावना "आगमयुग का जैन दर्शन" नाम से प्रकाशित भी हुई है । किन्तु उसमें भी आगमों का स्तरीकरण करके जैन दर्शन के विकासक्रम को प्रदर्शित करने का प्रयत्न नहीं है । इस कमी को दूर करने के लिए मैंने "जैन दर्शन का आदिकाल" लिखा और उसे मध्य और उत्तर काल लिखकर पूर्ण करने का मेरा इरादा था । किन्तु अब वह कार्य मुझसे होने वाला नहीं । नई पिढ़ी से मेरी प्रार्थना है कि इस कार्य को पूरा करें ।

प्रस्तुत प्रमाणमीमांसा के प्रकाशित होने के बाद उसके हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं । और उसकी प्रस्तावना और टिप्पणों का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता से "एडवान्स स्टडीझ इन इन्डियन लोजिक एण्ड मेटाफिसीक्स" के नाम से प्रकाशित हुआ है ।

मैं यहाँ प्रमाणमीमांसा की दूसरी आवृत्ति के प्रकाशन करने का पूज्य गणिवर्य शीलचन्द्र विजयजी ने जो प्रयास किया उसकी प्रशंसा करता हूँ । यह इस लिए कि अभी तक यह प्रवृत्ति देखी गई है कि पूज्य पंडित सुखलालजी के सम्पादित ग्रन्थों में से टिप्पण निकाल कर कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं । यहाँ ऐसा नहीं हुआ ।

३ । १० । '८८ —दलसुख मालवणिया

प्रमाण मीमांसा

PRAMĀṆA MĪMĀṀSĀ

ग्रन्थानुक्रम

	पृ०
१ संकेत सूची	३
२ यत्किंचित् प्रासंगिक (श्री मुनि जिन विजयजी)	७
३ सम्पादन विषयक वक्तव्य (श्री पं० सुखलालजी)	९
४ भूमिका (महामहोपाध्याय श्री पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण)	१५
५ प्रस्तावना	१ – ४४
१ ग्रन्थपरिचय (पं० सुखलालजी)	१ – ३२
२ ग्रन्थकार का परिचय (श्री रसिकलाल छो० परीख)	३२ – ४४
६ प्रमाण-मीमांसा मूल ग्रन्थ की विषयानुक्रमणिका	४५ – ५०
७ भाषाटिप्पण की विषयानुक्रमणिका	५१ – ५४
८ प्रमाण-मीमांसा (मूल ग्रन्थ)	१ – ७२
९ प्रमाण-मीमांसाके भाषाटिप्पण	१ – १४४
१० प्रमाण-मीमांसा के परिशिष्ट	१ – ३६
१ प्रमाण-मीमांसा का सूत्र पाठ	२
२ प्रमाण-मीमांसा के सूत्रों की तुलना	४
३ प्रमाण-मीमांसागत विशेषनामों की सूची	६
४ प्रमाण-मीमांसागत पारिभाषिक शब्दों की सूची	७
५ प्रमाण-मीमांसागत अवतरणों की सूची	१५
६ भाषाटिप्पणगत शब्दों और विषयों की सूची	१८
७ भाषाटिप्पणगत विशेष नामों की सूची	३१

संकेत सूची

डे०	डेला भाण्डार, अहमदाबाद की प्रति ।
ता०	जेसलमेरस्थ भाण्डार की ताड़पत्रीय प्रति ।
ता–मू०	ता० प्रति का मूल ।
मु०	प्रमाणमीमांसा की पुना में मुद्रित प्रति ।
मु–टि०	मुद्रितप्रति का टिप्पण
सं–मू०	संघवी भाण्डार पाटन की मूलसूत्र की प्रति
सम्पा०	सम्पादक

अच्युत	मासिक	(बनारस)
अनुयो०	अनुयोगद्वारसूत्र	(आगमोदयसमिति, सूरत)
अनेकान्तज०	अनेकान्तजयपताका	(यशोविजयग्रन्थमाला, काशी)
अनेकान्तज० टी०	अनेकान्तजयपताकाटीका	(,, ,,)
अन्ययो०	अन्ययोगव्यवच्छेदिका, हेमचन्द्राचार्य	
अभिधम्मत्थ०	अभिधम्मत्थसंगहो	(गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)
अभिधर्म०	अभिधर्मकोष	(काशी विद्यापीठ, काशी)
अभिधा०	अभिधानचिन्तामणि	(यशोविजयग्रन्थमाला, काशी)
अयोग०	अयोगव्यवच्छेदिका, हेमचन्द्राचार्य	
अष्टश०	अष्टशती, अकलंक	(निर्णय सागर, बंबई)
अष्टस०	अष्टसहस्री	
आचा०	आचारांगसूत्र	(आगमोदयसमिति, सूरत)
आप० श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र	
आप्तप०	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	
आव० नि०	आवश्यक निर्युक्ति	(आगमोदय समिति, सूरत)
आव० नि० हारि०	आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्री टीका	(,,)
उत्त०	उत्तराध्ययन सूत्र	(,,)
ऋग्०	ऋग्वेद	
कठो०	कठोपनिषद्	
कन्दली	प्रशस्तपादभाष्यटीका	(विजयानगरम्, काशी)
काव्यप्र०	काव्यप्रकाश	
काव्यानुशा०	काव्यानुशासन	(महावीर विद्यालय, बंबई)
खण्डन०	खण्डनखण्डखाद्य	(लाजरस, काशी)
गोम्मट०	गोम्मटसार	(परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई)
चरकसं०	चरकसंहिता	(निर्णयसागर, बंबई)
चित्सुखी		(निर्णयसागर, बंबई)
जैमि०	जैमिनीय दर्शन	(निर्णयसागर, बंबई)
जैमिनीयन्या०	जैमिनीयन्यायमाला	

टिप्पण	भाषाटिप्पणानि	(इस ग्रन्थ के हिन्दी टिप्पण)
तत्त्वकौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वचि० प्रत्यक्ष०	तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्षखण्ड	(एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)
तत्त्ववै०	तत्त्ववैशारदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह	(गायकवाड ओ० सिरीज, बरोडा)
तत्त्वसं० प०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका	(,,)
तत्त्वा०	तत्त्वार्थसूत्र	(आर्हतमतप्रभाकर, पुना)
तत्त्वार्थभा०	तत्त्वार्थभाष्य	(,,)
तत्त्वार्थभा० टी०	तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनीय टीका	(दे० ला०, सूरत)
तत्त्वार्थरा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक	(सनातनजैनग्रन्थमाला, काशी)
तत्त्वार्थश्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(गांधी नाथारंग, बंबई)
तत्त्वो० तत्त्वोप० लि०	तत्त्वोपप्लवसिंह लिखित	(गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)
तन्त्रवा०	तन्त्रवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
तर्कभाषा	मोक्षाकरीय लिखित	(मुनि श्रीपुण्यविजयजी की)
तात्पर्य०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(चौखम्बा, काशी)
तर्कदी० गंगा	तर्कसंग्रहदीपिका-गंगा टीका	(बनारस)
तर्कसंग्रहदीपिका		(छन्नूलाल ज्ञानचन्द बनारस)
दश० नि०	दशवैकालिकसूत्रनिर्युक्ति	(आगमोदय समिति, सूरत)
दशवै०	दशवैकालिकसूत्र	(आगमोदय समिति, सूरत)
दिनकरी	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली टीका	(नि० सा० बम्बई)
नन्दी०	नन्दीसूत्र	(आ० स० सूरत)
नयचक्रवृ० लि०	नयचक्रवृत्ति लिखत	(रामघाट जैनमंदिर, काशी)
न्यायकु०	न्यायकुसुमाञ्जली	(चौखम्बा, काशी)
न्यायकुमु० लि०	न्यायकुमुदचन्द्र लिखित	(पं० महेन्द्रकुमार, काशी)
न्यायप्र०	न्यायप्रवेश	(गा० ओ० सि० बरोडा)
न्यायभा०	न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य	(चौ० बनारस)
न्यायबि०	न्यायबिन्दु	(बिब्लिओथेका बुद्धिका)
न्यायबि० टी	न्यायबिन्दुटीका	(,,)
न्यायम०	न्यायमञ्जरी	(विजियानगरम्, काशी)
न्यायवा०	न्यायवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवि०	न्यायविनिश्चय लिखित	(पं० कैलाशचन्द्रजी, काशी)
न्यायवि० टी० लि०	न्यायविनिश्चयटीका लिखित	(,,)
न्याय० वृ०	न्यायसूत्र विश्वनाथवृत्ति	(चौखम्बा बनारस)
न्यायसा०	न्यायसार	(एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)
न्यायसारता०	न्यायसारतात्पर्यदीपिका	(,,)
न्या०	न्यायसूत्र	
न्याया० न्यायाव०	न्यायावतार	(जैन कोन्फरंस, बंबई)
न्याया० टी०	न्यायावतारसिद्धर्षिटीका	(,,)
न्याया० सि० टि०	न्यायावतारसिद्धर्षिटीकाटिप्पणी	(,,)
परी०	परीक्षामुख	(फूलचन्द्र शास्त्री, काशी)

पात० महा०	पातञ्जल महाभाष्य	
पुरातत्त्व	त्रैमासिक,	अहमदाबाद
पुरुषार्थ०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	(परमश्रुतप्रभावक, बंबई)
प्रकरणप०	प्रकरणपञ्जिका	(चौखम्बा काशी)
प्रमाणन०	प्रमाणनयतत्त्वालोक	(यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी)
प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्तिक	(श्रीमान् राहुल सांकृत्यायनके प्रूफसीट)
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रह, लिखित	(श्री मुनि पुण्यविजयजी)
प्रमाणस०	प्रमाणसमुच्चय	(मैसुर युनिवर्सिटी)
प्रमाणस० टी०	प्रमाणसमुच्चयटीका	(,,)
प्र० मी०	प्रमाणमीमांसा	(प्रस्तुत संस्करण)
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्तण्ड,	(निर्णय सागर, बंबई)
प्रमेयर०	प्रमेयरत्नमाला	(फुलचन्द्र शास्त्री, काशी)
प्रश०	प्रशस्तपादभाष्य	(विजियानगरम्, काशी)
बृ० स्वयं०	बृहत्स्वयंभूस्तोत्र	(प्रथमगुच्छकान्तर्गत)
बृहती		(मद्रास)
बृहतीप०	बृहतीपञ्जिका,	(मद्रास)
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्	(निर्णयसागर बंबई)
बृहदा० वा०	बृहदारण्यकवार्तिक	(आनन्दाश्रम)
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतार	(एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)
बोधिचर्या० प०	बोधिचर्यावतारपञ्जिका	(,,)
ब्र० शाङ्करभा०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	(निर्णय सागर, बंबई)
भग०	भगवतीसूत्र,	(गूजरात विद्यापीठ, अमदाबाद)
भामती	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यटीका	(निर्णय सागर, बंबई)
मज्झिम०	मज्झिमनिकाय	(पालीटेक्स्ट)
मध्य० वृ०	माध्यमिककारिकावृत्ति	(बिब्लिओथेका बुद्धिका)
मनोरथ०	प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिटीका	(श्री राहुल सांकृत्यायन)
महावग्ग०	विनयपिटक–महावग्ग	(पालीटेक्स्ट)
माठर०	सांख्यकारिका माठरवृत्ति	(चौखम्बा, काशी)
मिलि०	मिलिन्दपण्हो	
मीमांसाश्लो०	मीमांसाश्लोकवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
मुक्ता०	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	(निर्णय सागर, बंबई)
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्	(निर्णय सागर, बंबई)
यशो० वादद्वा०	यशोविजयकृत वादद्वात्रिंशिका	
यशोवि० धर्म	यशोविजयकृत धर्मपरीक्षा	
युक्त्य०	युक्त्यनुशासन	(माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बंबई)
योगभा०	योगसूत्र व्यासभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
रत्नाकरा०	रत्नाकरावतारिका	(यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी)
राजवा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक	
लघी० लघीय०	} लघीयस्त्रयी	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बंबई)
लघी० स्ववि०	लघीयस्त्रयी स्वविवृति लिखित	

विधिवि० न्यायक०	विधिविवेकन्यायकणिका	(चौखम्बा काशी)
विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्य	(यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी)
विशेषा० बृ०	विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति	(,,)
विसुद्धि०	विसुद्धिमग्ग	(पालीटेक्स्ट)
वेदान्तसार		(निर्णयसागर, बम्बई)
वै० उप०	वैशेषिकसूत्र उपस्कार	(चौखम्बा, काशी)
वै० भूषण	वैयाकरणभूषणसार	
वै० सू०	वैशेषिकसूत्र	
शाबरभा०	शाबरभाष्य	(चौखम्बा बनारस)
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका	(,,)
शास्त्रवा०	शास्त्रवार्तासमुच्चय	
शास्त्रवा० टी०	सास्त्रवार्तासमुच्चय यशोविजयटीका	
शास्त्रवा० स्वो०	शास्त्रवार्तासमुचय स्वोपज्ञटीका	
श्रीभाष्य	(लाजरस, बनारस)	
श्लो० / श्लोकवा०	मीमांसाश्लोकवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
श्लोक० न्याय०	मीमांसाश्लोकवार्तिक न्यायरत्नाकरटीका	(,,)
श्वेताश्व०	श्वेताश्वतरोपनिषद्	(निर्णयसागर, बंबई)
षड्द०	षड्दर्शनसमुच्चय	(आत्मानन्द सभा, भावनगर)
संयुत्त०	संयुत्तनिकाय	(पालीटेक्स्ट)
सन्म०	सन्मतिप्रकरण	(गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)
सन्मतिटी०	सन्मतिप्रकरणटीका	(,,)
सर्वद०	सर्वदर्शनसंग्रह	(अभ्यंकर संपादित)
सर्वार्थ०	सर्वार्थसिद्धि	(कोल्हापुर)
सांख्यत०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	(चौखम्बा काशी)
सां० का० / सांख्यका०	सांख्यकारिका	(,,)
सांख्यसू०	सांख्यसूत्र	(,,)
सि० चन्द्रो०	सिद्धान्तचन्द्रोदय	(,,)
सिद्धान्तबिन्दु		(कुम्भकोणम्)
सिद्धिवि०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखित	
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखित	
सूत्रकृ०	सूत्रकृताङ्गम्	(आगमोदय, सूरत)
स्था०	स्थानाङ्गसूत्रम्	(,,)
स्फुटा०	स्फुटार्थाभिधर्मकोषव्याख्या	(बिब्लिओथेका बुद्धिका)
स्याद्वादम०	स्याद्वादमञ्जरी	(बोम्बे सं० सिरीज़)
स्याद्वादर०	स्याद्वादरत्नाकर	(आर्हतमतप्रभाकर पुना)
हैमश०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन	(अहमदाबाद)
हैमश० बृ०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनबृहद्वृत्ति	(,,)
हेतु०	हेतुबिन्दु लिखित	(मी० तारकस् एम. ए.)
हेतुबि० टी० लि०	हेतुबिन्दुटीका लिखित	(गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)

यत्किंचित् प्रासंगिक

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचंद्र सूरि की अन्तिम कृति 'प्रमाणमीमांसा' प्रज्ञाद्दक् पण्डितप्रवर श्रीसुखलालजी द्वारा सुसम्पादित होकर सिंघी जैनग्रन्थमाला के ९ म मणि स्वरूप, सहृदय सद्विद्य पाठकों के करकमल में आज उपस्थित की जा रही है। पण्डितजी की इस विशिष्ट पाण्डित्यपूर्ण कृति के विषय में, इसी ग्रन्थमाला में, इतःपूर्व प्रकाशित इनके 'जैनतर्कभाषा' नामक ग्रन्थ के संस्करण के प्रारंभ में जो हमने 'प्रासंगिक वक्तव्य' लिखा था उसके अन्त में हमने ये पंक्तियाँ लिखी थीं–

"इसी जैनतर्कभाषा के साथ साथ, सिंघी जैनग्रन्थमाला के लिये, ऐसा ही आदर्श सम्पादनवाला एक उत्तम संस्करण, हेमचन्द्र सूरि रचित 'प्रमाणमीमांसा' नामक तर्क विषयक विशिष्ट ग्रन्थ का भी, पण्डितजी तैयार कर रहे हैं, जो शीघ्र ही समाप्तप्राय होगा। तुलनात्मक दृष्टि से दर्शनशास्त्र की परिभाषा का अध्ययन करनेवालों के लिये मीमांसा का यह संस्करण एक महत्त्व की पुस्तक होगी। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों की विशिष्ट तुलना के साथ उनका ऐतिहासिक क्रम बतलानेवाला जैसा विवेचन इस ग्रन्थ के साथ संकलित किया गया है, वैसा संस्कृत या हिन्दी के और किसी ग्रन्थ में किया गया हो ऐसा हमें ज्ञात नहीं है।"

इस कथन की प्रतीति करानेवाला यह ग्रन्थ, मर्मज्ञ अभ्यासक गण के हाथों में, आज साक्षात् उपस्थित है। इसके विषय में अब और कोई अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं। वही वाक्य फिर कहना पर्याप्त होगा कि 'हाथ कंकन को आरसी की क्या जरूरत'।

इस ग्रन्थ पर पण्डितजी ने जो टिप्पण लिखे हैं, हमारे अल्पज्ञ अभिप्राय में तो, वे हेमचन्द्रसूरि के मूलग्रन्थ से भी अधिक महत्त्व के हैं। इन टिप्पणों में न केवल हेमचन्द्रसूरि के कथन ही को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, प्रत्युत भारतीय प्रधान प्रधान दर्शन-शास्त्रों के अनेकानेक पारिभाषिक और पदार्थ विषयक कथनों का बड़ा ही मर्मोद्घाटक और तुलनात्मक विवेचन किया गया है। कई कई टिप्पण तो तत्तद्विषय के स्वतंत्र निबन्ध जैसे विस्तृत और विवेचनापूर्ण हैं। इन टिप्पणों के अध्ययन से भारतीय दर्शनविद्या के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन इन तीनों विशिष्ट तत्त्व निरूपक मतों की विभिन्न तात्त्विक परिभाषाओं में और लाक्षणिक व्याख्याओं में किस प्रकार क्रमशः विकसन, वर्धन या परिवर्तन होता गया उसका बहुत अच्छा प्रमाण-प्रतिष्ठित ज्ञान हो सकेगा। जहाँ तक हमारा ज्ञान है, अपनी भाषा में इस प्रकार का शायद यह पहला ही ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है और हमारा विश्वास है कि विद्वानों का यह यथेष्ट आदर पात्र होगा।

सिंघी जैन ग्रन्थमाला की यह मणि, अपेक्षाकृत समय से, कुछ विलम्ब के साथ प्रकाशित हो रही है–जिसका कारण पण्डितजी ने अपने संपादकीय वक्तव्य में सूचित किया ही है। गत वर्ष, ग्रीष्मकाल की छुट्टियों के पूरा होने पर, पण्डितजी अहमदाबाद से बम्बई होकर बनारस जा रहे थे, तब अकस्मात् एपिन्डीसाईट नाम की प्राणघातक व्याधि ने उन्हें आक्रान्त कर लिया और उसके कारण, बम्बई में सर हरकिसनदास अस्पताल में शस्त्र क्रिया करानी पड़ी। व्याधि बड़ी उग्र थी और पण्डितजी की शरीरशक्ति यों ही बहुत कुछ क्षीण हो रही थी, इसलिये हमारे हृदय में तीव्र वेदना और अनिष्ट आशंका उत्पन्न हो गई थी कि हेमचन्द्रसूरि की मूलकृति की तरह इनकी यह भाषाविवृति भी कहीं अपूर्ण ही न रह जाय। लेकिन

सद्भाग्य से पण्डितजी उस घात से सानन्द पार हो गये और फिर धीरे धीरे स्वास्थ्य लाभ कर, अपने प्रारब्ध कार्य का इस प्रकार समापन कर सके। हमारे लिये यह आनन्दद्योतक उद्यापन का प्रसंग है।

पण्डितजी अपने संपादकीय वक्तव्य में, प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में हमारे प्रोत्साहन के लिये आभार प्रदर्शित करते हैं, लेकिन इस पूरी ग्रन्थमाला के सम्पादन में, प्रारंभ ही से हमें जो उनका प्रोत्साहन मिल रहा है उसका आभार प्रदर्शन हम किस तरह करें। पण्डितजी की उक्त पिछली व्याधि के समय हमें तो यह शंका हो गई थी, कि यदि कहीं आयुष्कर्म के क्षय से पण्डितजी का यह पौद्गलिक शरीर ज्ञानज्योति शून्य हो गया तो फिर व्याकुलहृदय होकर हम इस ग्रन्थमाला के समूचे कार्य को ठीक चला सकेंगे या नहीं–सो भी समझ नहीं सकते थे। ग्रन्थमाला के इस सम्पादन भार को हाथ में लेने और समुच्चय लेखन-कार्य में प्रवृत्त होने में जितना बाह्य प्रोत्साहन हमें ग्रंथमाला के प्राणप्रतिष्ठाता श्रीमान् बाबू बहादुरसिंहजी से मिल रहा है उतना ही आन्तरिक प्रोत्साहन हमें अपने इन ज्ञानसखा पण्डितजी से मिल रहा है और इसलिये सिंघी जैन ग्रन्थमाला हम दोनों के समानकर्तृत्व और समाननियंतृत्व का संयुक्त ज्ञानकीर्तन है। और इस कीर्तन की प्रेरक और प्रोत्साहक है विदेही ज्ञानोपासक बाबू श्रीडालचन्दजी सिंघी की वह पुण्यकामना, जो उनके सत्पुत्र और उन्हींके सदृश ज्ञानलिप्सु श्रीमान् बाबू बहादुरसिंहजी द्वारा इस प्रकार परिपूर्ण की जा रही है। सिंघीजी की सद्भावना ही पण्डितजी के क्षीण शरीर को प्रोत्साहित कर लेखनप्रवृत्त कर रही है और हमारी कामना है कि इस ग्रंथमाला में पण्डितजी के ज्ञानसौरभ से भरे हुए ऐसे कई सुन्दर ग्रन्थपुष्प अभी और ग्रथित होकर विद्वानों के मन को आमोद प्रदान करें।

बंबई, भारतीय विद्याभवन
फाल्गुन पूर्णिमा संवत् १९९५ } जिन विजय

सम्पादन विषयक वक्तव्य

१. प्रारम्भ-पर्यवसान

सिंघी जैन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित होनेवाला प्रमाणमीमांसा का प्रस्तुत संस्करण तीसरा है। बहुत वर्ष पहले अहमदाबाद से और पीछे पूना से, इस प्रकार दो बार, प्रमाणमीमांसा पहले छप चुकी है। लगभग पचीस वर्ष पूर्व गुजरात से आगरा की ओर आते हुए बीच में पालन-पुर में मेरे परिचित मुनि श्री मोहनविजयजी ने, जो कभी काशी में रहे थे, मुझसे अतिशीघ्र प्रमाणमीमांसा पढ़ ली। वह मेरा प्रमाणमीमांसा का प्रथम परिचय था। उस समय मेरे मन पर एक प्रबल संस्कार पड़ा कि सचमुच प्रमाणमीमांसा हेमचन्द्र के अनुरूप ही कृति है और उसका संपादन भी वैसा ही होना चाहिए। पूना से प्रकाशित संस्करण पहले के संस्करण से कुछ ठीक था; पर, प्रथम के वे दोनों संस्करण अत्यन्त ही दुर्लभ हो गए थे।

इधर ई० स० १९३३ की जुलाई में काशी आना हुआ और १९३५ में हिन्दू विश्वविद्या-लय के प्राच्य-विद्या विभाग के जैन अभ्यास-क्रम का पुनर्निर्माण तथा गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस में जैन परीक्षा का प्रवेश हुआ। बंगाल संस्कृत एसोसिएशन कलकत्ता की संस्कृत परीक्षा में तो प्रमाणमीमांसा बहुत पहले से ही नियत थी। काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय तथा गवर्न्मेण्ट संस्कृत कालेज इन दोनों के अभ्यास-क्रम में भी प्रमाणमीमांसा रखी गई। इस प्रकार एक ओर विद्यार्थियों के लिए प्रमाणमीमांसा की नितांत आवश्यकता और दूसरी तरफ पुराने संस्करणों की अत्यन्त दुर्लभता ने मेरे मन में पड़े हुए पुराने संस्कार को जगा दिया।

शास्त्रसमृद्ध भूमि पर तो बैठा ही था। हेमचन्द्रसूरि के ग्रन्थों के अनन्य उपासक रूप से प्रमाणमीमांसा के संशोधन की ओर मन भी था और फिर मेरे मन के सहकारी भी मुझे मिल गये। यह सब देख कर निर्णय कर लिया कि अब काम शुरू कर दिया जाय। छुट्टी होते ही प्रमाणमीमांसा के जन्म और रक्षणधाम पाटन में मेरे साथी और मित्र श्रीदलसुखभाई के साथ पहुँचा और १९३५ के मई की पहली तारीख को काम का श्रीगणेश हुआ।

अहमदाबाद स्थित डेला उपाश्रय के भाण्डार की काग़ज़ पर लिखी हुई प्रमाणमीमांसा की प्रति साथ ले गया था। पाटन में तो सौजन्यमूर्ति मुनि श्री पुण्यविजयजी की बदौलत सब कुछ सुलभ ही था। उनके पास जेसलमेर के भाण्डार की ताड़पत्रीय प्रति की फोटो थी जिसमें वृत्ति सहित सूत्रों के अतिरिक्त अलग सूत्रपाठ भी था। पाटन स्थित संघ के भाण्डार में से एक और भी काग़ज़ पर लिखा हुआ मूल सूत्रपाठ मिल गया। पूनावाली छपी हुई नकल तो थी ही। इस तरह दो केवल मूल सूत्रपाठ की और दो वृत्तिसहित की कुल चार लिखित प्रतियों और मुद्रित पूनावाली प्रति के आधार पर पाठान्तर लेने का काम पाटन में ही तीन सप्ताह में समाप्त हुआ।

जून मास में अहमदाबाद में ही बैठकर उन लिए हुए पाठान्तरों का विचारपूर्वक स्थान निर्णीत करके यथासम्भव मूलसूत्र और वृत्ति को विशेष शुद्ध करने का तथा ग्रन्थकार के असली लेख के विशेष समीप पहुँचने का प्रयत्न किया गया। उसी साल जुलाई–अगस्त से फिर काशी में वह काम प्रारम्भ किया। मूलग्रन्थ की शुद्धि, प्राप्त टिप्पणों का यथास्थान विन्यास आदि प्रारम्भिक काम तो हो चुके थे। अब पुरानी भावना के अनुसार तथा प्राप्त सामग्री के अनुरूप उस पर यथासम्भव विशेष संस्कार करने का प्रश्न था। इधर स्याद्वाद महाविद्यालय के जैन न्यायाध्यापक पं० महेन्द्रकुमारजी, जो उस समय न्याय-कुमुदचन्द्र का संशोधन कर रहे थे, प्रस्तुत कार्य में सम्मिलित कर लिए गए। उन्होंने ग्रन्थान्तरों से अवतरणों के संग्रह

आदि का काम शुरू किया। १९३६ के मार्च तक साधन सामग्री तो अपेक्षा से अधिक एकत्र हो गई थी, पर अब सवाल आया उसके उपयोग का।

अन्य ग्रन्थों से जो और जितना संग्रह हुआ वह मूलग्रन्थ से कई गुना अधिक था और उसे ज्यों का त्यों छपवाने से इने गिने विद्वानों के अलावा दूसरों को विशेष लाभ पहुँचने का सम्भव कम था। दूसरी ओर वह संग्रह महत्त्व का होने से छोड़ने योग्य भी न था। अन्त में, ऐसा मार्ग सोचा गया जिसमें सारे उस संग्रह का उचित उपयोग भी हो, पुस्तक का व्यर्थ क़द भी न बढ़े और विशिष्ट विद्वानों, अध्यापकों, संशोधकों और विद्यार्थियों सभी के योग्य कुछ न कुछ नई वस्तु भी प्रस्तुत की जाय। और साथ ही शास्त्रीय ग्रन्थों के ऊपर लिखने का एक नया प्रकार भी अभ्यासकों के सम्मुख उपस्थित किया जाय। इसके साथ साथ यह भी सोचा कि संस्कृत में लिखने की अपेक्षा वह हिन्दी-भाषा में लिखा जाय जिससे लिखी हुई वस्तु अधिक से अधिक जिज्ञासुओं तक पहुँच सके, राष्ट्रीय भाषा में शास्त्रीय ग्रन्थों की समृद्धि भी बढ़े और अगर यह नया सा प्रस्थान विद्वानों का ध्यान खींच सके तो वह इस दिशा में काम करने के लिए औरों को भी प्रेरित कर सकें। इस विचार से उसी साल हिन्दी-भाषा में टिप्पण लिखने का सूत्रपात काशी में ही किया गया जिसका अन्तिम रूप इस पुस्तक के अन्त में भाषाटिप्पण के नाम से प्रस्तुत है। १९३६ की गरमी में सोचे हुए ख़ाके के अनुसार अहमदाबाद में भाषा-टिप्पणों का अमुक भाग लिख लिया गया था; फिर वर्षाकाल में काशी में वह काम आगे बढ़ा। इस बीच सितम्बर-अक्तूबर में कलकत्ता में भी थोड़ा सा लिखा गया और अन्त में काशी में उसकी समाप्ति हुई।

सिंघी जैनग्रन्थमाला के मुख्य सम्पादक इतिहासकोविद श्रीमान् जिनविजयजी की सूचना के अनुसार १९३७ के प्रारम्भ में ही मैटर काशी में ही छपने को दे दिया और उनकी ख़ास इच्छा के अनुसार यह भी तय कर लिया कि यथाशक्य इस पुस्तक को १९३७ के दिसम्बर तक प्रकाशित कर दिया जाय। इस निश्चय के अनुसार एक के बदले दो प्रेस पसन्द किये और साथ ही बीच के अनेक छोटे बड़े अधूरे काम पूरा करने की तथा नया लिख लेने की प्रवृत्ति भी चालू रक्खी जिससे निर्धारित समय आने पर मूलग्रन्थ, भाषाटिप्पण और कुछ परिशिष्ट छप गए।

कुछ ख़ास कारणों से १९३८ की जनवरी में इसे प्रसिद्ध करने का विचार बन्द रखना पड़ा। फिर यह विचार आया कि जब अवश्य ही थोड़ी देरी होनेवाली है तब कुछ अनुरूप प्रस्तावना क्यों न लिख दी जाय? इस विचार से १९३८ के मार्च-अप्रिल में प्रस्तावना का 'ग्रन्थ-परिचय' तो लिख दिया गया। पर, मैंने सोचा कि जब देरी अनिवार्य है तब मैं इस प्रस्तावना को अपने कुछ सुयोग्य विद्वान-मित्रों को भी दिखा दूँ जिससे कुछ न कुछ योग्य सुधार ही होगा। गरमी में अहमदाबाद में तीन मित्रों ने इसे भाषा-टिप्पण सहित पढ़ा। श्री जिनविजयजी, श्री रसिकलाल परीख और पं० बेचरदास इन तीनों ने अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार राय भी दी और सूचनाएँ भी कीं। पर एक काम बाक़ी था जो मुझे व्याकुल कर रहा था, वह था ग्रन्थ-कार का जीवन-लेखन। हेमचन्द्र मेरे मन जितने बड़े हैं वैसा ही उनका पूर्ण जीवन लिखने का मनोरथ परेशान कर रहा था। इसके वास्ते काशी की ओर यथासमय प्रस्थान तो किया पर बीच में ही बम्बई में शरीर अटक गया और उसको सुप्रवृत्त बनाने के लिये अस्पताल में उप-स्थान करना पड़ा। अनेक मित्रों, विद्यारसिकों और सन्तों की अकल्प्य परिचर्या के प्रभाव से शरीर की रक्षा तो हो गई पर काम की शक्ति बहुत कुछ क्षीणप्राय हो गई।

फिर भी १९३८ के सितम्बर में काशी पहुँच गया। पर ग्रन्थकार के जीवन का यथेष्ट परिचय लिखने जितना स्वास्थ्य न पाकर आखिर में उसका भार अपने विद्वान मित्र श्रीरसिक-लाल परीख को सौंपा। उनका लिखा हुआ 'ग्रन्थकार का परिचय' संक्षिप्त होने पर भी गम्भीर

तथा ऐतिहासिक दृष्टिपूत है। श्री परीख ने कुछ ही समय पहले हेमचन्द्राचार्यकृत काव्यानुशासन ग्रंथ का विशिष्ट संपादन किया है और उस ग्रंथ की भूमिका रूप, जो स्वतंत्र एक ग्रंथ के जैसा ही बहुत विस्तृत, अंग्रेजी निबन्ध लिखा है उसमें हेमचन्द्राचार्य के व्यक्तित्व के विषय में उन्होंने बहुत कुछ विस्तार के साथ लिखा है। अतएव उनका यह संक्षिप्तलेखन बिलकुल साधिकार है। इस तरह आचार्य हेमचन्द्र की इस अधूरी कृति के प्रकाशन में बन सके उतनी विशिष्टता लाने का प्रयत्न करके उसे पूर्ण जैसी बनाने की चिरकालीन भावना भी अनेक छोटे बड़े विघ्नों को लांघकर आज पूर्ण होती है। पर, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मित्रों का साथ न होता तो यह भावना भी मूलग्रन्थ की तरह अधूरी ही रह जाती।

२. प्रति परिचय

प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त प्रतियों का परिचय इस प्रकार है–

ता०–जिस ताड़पत्रीय प्रति की फ़ोटो काम में लाई गई है वह जेसलमेरस्थ किला गत भाण्डार की पोथी नं० ८४ है। उसमें कुल १३७ पत्र हैं जिनमें से १११ पत्रों में मूल सूत्रपाठ तथा सवृत्तिक प्रमाणमीमांसा अलग अलग हैं। बाक़ी के पत्रों में परीक्षा-मुख आदि कुछ अन्य न्यायविषयक ग्रन्थ हैं। इस प्रति की लम्बाई १५"×२" है। प्रति के अन्त में और कोई उल्लेख नहीं है। इसमें टिप्पणी है। यह प्रति दो विभागों में लिखी गई है। प्रत्येक पृष्ठ पर कम से कम तीन और अधिक से अधिक पाँच पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ७० अक्षर हैं। जहाँ पत्र के टेढ़ेपन के कारण आधी पंक्तियाँ हैं वहाँ ३५ अक्षर हैं। इस प्रति की फ़ोटो २२ प्लेटों में ली गई है। प्लेट की लम्बाई चौड़ाई १०"×१२" है।

डे०–यह प्रति अहमदाबाद के डेला उपाश्रय की है। इसमें कुल ३३ पत्र हैं। इसकी लम्बाई १०" और चौड़ाई ४३⁄४" है। प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्ति में अधिक से अधिक ६४ अक्षर हैं। प्रत्येक पत्र का मध्यभाग खाली है। मार्जिन में बहुत ही बारीक अक्षरों में कहीं कहीं टिप्पण हैं जो इस संस्करण में ले लिए गए हैं। इस प्रति का अन्त का उल्लेख प्रमाणमीमांसा पृ० ६४ की टिप्पणी में छपा है उससे मालूम होता है कि यह प्रति संवत् १७०७ में पाटन में लिखी गई है।

सं–मू०–इस प्रति का विशेष परिचय अभी मेरे पास यह लिखते समय नहीं है।

३. विशेषताएँ

प्रस्तुत संस्करण की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका संक्षेप में निर्देश करना आवश्यक है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

पहली विशेषता तो पाठ-शुद्धि की है। जहाँ तक हो सका मूलग्रन्थ को शुद्ध करने व ग्रन्थकार सम्मत पाठ के अधिक से अधिक समीप पहुँचने का पूरा प्रयत्न किया गया है। ताड़पत्र और डेला की प्रति के जहाँ जहाँ दो पाठ मिले वहाँ अगर उन दोनों पाठों में समबलता जान पड़ी तो उस स्थान में ताड़प्रति का पाठ ही मूल वाचना में रखा है और डेला प्रति का पाठ पाठान्तर रूप से नीचे फुटनोट में। इस तरह ताड़प्रति का प्रामाण्य मुख्य रूप से मान लेने पर भी जहाँ डेला प्रति का पाठ भाषा, अर्थ और ग्रन्थान्तर के संवाद आदि के औचित्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त जान पड़ा वहाँ सर्वत्र डेला प्रति का पाठ ही मूल वाचना में रखा है, और ताड़प्रति तथा मुद्रित प्रति का पाठान्तर नीचे रखा है। मूल सूत्रपाठ की दोनों प्रतियों में कहीं कहीं सूत्रों के भेदसूचक चिह्न में अंतर देखा गया है। ऐसे स्थलों में उन सूत्रों की व्याख्या-सरणी देखकर ही यह निश्चय किया गया है कि वस्तुतः ये भिन्न भिन्न सूत्र हैं, या गलती से एक ही सूत्र के दो अंश दो सूत्र समझ लिये गये हैं। ऐसे स्थानों में निर्णीत संख्यासूचक नंबर मूलवाचना में देकर पाये जानेवाले और भेद नीचे टिप्पण रूप से दे दिये गये हैं।

पाठान्तर और सूत्रों की संख्या के भेदसूचक उल्लेख के उपरान्त नीचे तीन प्रकार के टिप्पण हैं। एक तो डेलाप्रति में प्राप्त टिप्पण है। दूसरा मुद्रित पूनावाली नकल से लिया गया टिप्पण जो मु-टि० संकेत से निर्दिष्ट है। और तीसरा प्रकार संपादक की ओर से किये गये टिप्पण का है। डे० टिप्पण संक्षिप्त और विरल स्थलों पर होते हुए भी कहीं कहीं बड़े मार्के का और उपयोगी जान पड़ा। इसलिए वह पूरा का पूरा ले लिया गया है। उसकी शुद्धि करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी कुछ स्थलों में वह अनेक कारणों से संदिग्ध ही रह गया है।

दूसरी विशेषता परिशिष्टों की है। सात परिशिष्टों में से पहला परिशिष्ट सिर्फ मूल सूत्रों के पाठ का है। जो विद्यार्थी व संशोधकों के लिए विशेष उपयोगी है। दूसरे परिशिष्ट में मूल सूत्रों की उन जैन-जैनेतर ग्रन्थों से तुलना की गई है, जो ग्रन्थ हेमचन्द्र की रचना के या तो आधार हैं, या उसके विशेष निकट और उसके साथ ध्यान देने योग्य समानता वाले हैं। पूर्ववर्ती साहित्यिक संपत्ति, किसी भी ग्रन्थकार को विरासत में, शब्द या अर्थरूप से जाने अनजाने कैसे मिलती है, इसका कुछ ख़याल इस परिशिष्ट से आ सकता है। तीसरे परिशिष्ट में ग्रन्थ गत विशेष नाम और चौथे में पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं, जो ऐतिहासिकों और कोषकारों के लिए ख़ास उपयोग की वस्तु है। पाँचवें परिशिष्ट में ग्रन्थ में आये हुए सभी गद्य पद्य अवतरण उनके प्राप्त स्थानों के साथ दिये हैं जो विद्यार्थियों और संशोधकों के लिए उपयोगी हैं। छठा परिशिष्ट संक्षिप्त होने पर भी बड़ा ही है। उसमें भाषाटिप्पणगत सभी महत्त्व के शब्दों का संग्रह तथा उन टिप्पणों में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त पर सारगर्भित वर्णन है जो गवेषक विद्वानों के वास्ते बहुत ही कार्यसाधक है। सातवें परिशिष्ट में भाषा-टिप्पणों में प्रयुक्त ग्रन्थ, ग्रन्थकार आदि विशेष नामों की सूची है जो सभी के लिए उपयोगी है। इस तरह ये सातों परिशिष्ट विविध दृष्टि वाले अभ्यासियों के नानाविध उपयोग में आने योग्य हैं।

तीसरी विशेषता भाषा-टिप्पणों की है। भारतीय भाषा में और खास कर राष्ट्रीय भाषा में दार्शनिक मुद्दों पर ऐसे टिप्पण लिखने का शायद यह प्रथम ही प्रयास है। दर्शन शास्त्र के व न्याय शास्त्र के कुछ, परंतु ख़ास ख़ास मुद्दों को लेकर उन पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से कुछ प्रकाश डालने का, इन टिप्पणों के द्वारा प्रयत्न किया गया है। यद्यपि इन टिप्पणों में स्वीकृत इतिहास तथा तुलना की दृष्टि वैदिक, बौद्ध और जैन इन भारतीय परम्पराओं तक ही सीमित है; फिर भी इन तीनों परम्पराओं की अवान्तर सभी शाखाओं को स्पर्श करने का यथासंभव प्रयत्न किया गया है। जिन शास्त्रीय प्रमाणों व आधारों का अवलंबन लेकर ये टिप्पण लिखे गये हैं, वे सब प्रमाण व आधार टिप्पणों में सर्वत्र अक्षरशः परिपूर्ण न देकर अनेक स्थलों में उनका स्थान सूचित किया है और कहीं कहीं महत्त्वपूर्ण संक्षिप्त अवतरण भी दे दिये हैं जिससे अनावश्यक विस्तार न हो, फिर भी मूल स्थानों का पता लग सके।

चौथी विशेषता प्रमाणमीमांसा के सूत्र तथा उसकी वृत्ति की तुलना करने के संबन्ध में है। इस तुलना में ऐसे अनेक जैन, बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों का उपयोग किया है, जो या तो प्रमाणमीमांसा के साथ शब्दशः मिलते हैं या अर्थतः; अथवा जो ग्रन्थ साक्षात् या परम्परया प्रमाणमीमांसा की रचना के आधारभूत बने हुए जान पड़ते हैं। इस तुलना में निर्दिष्ट ग्रन्थों की सामान्य सूची को देखने मात्र से ही यह अंदाज़ लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा की रचना में कितने विशाल साहित्य का अवलोकन या उपयोग किया होगा, और इससे हेमचन्द्र के उस ग्रन्थप्रणयनकौशल का भी पता चल जाता है जिसके द्वारा उन्होंने अनेक ग्रन्थों के विविधविषयक पाठों तथा विचारों का न केवल सुसंगत संकलन ही किया है अपितु उस संकलन में अपना विद्यासिद्ध व्यक्तित्व भी प्रकट किया है।

पाँचवीं विशेषता प्रस्तावना की है जिसके ग्रन्थ परिचय में, भारतीय दर्शनों के विचार

स्रोतों का वर्गीकरण पूर्वक तुलनात्मक संक्षिप्त वर्णन करके उसमें जैन विचारप्रवाह का स्थान दिखलाया है तथा जैन साहित्य व विचार प्रवाह के युगानुरूप विकास का दिग्दर्शन भी कराया है। प्रमाणमीमांसा की विशिष्टता बतलाने के साथ साथ अनेकान्तवाद की आत्मा को भी चित्रित करने का अल्प प्रयास किया है। प्रस्तावना के 'ग्रन्थकार-परिचय' में हेमचन्द्र के आन्तर-बाह्य व्यक्तित्व का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्णन है।

४. कार्य-विभाग

प्रस्तुत संस्करण से सम्बन्ध रखनेवाले काम अनेक थे। उन सब में एक वाक्यता बनी रहे, पुनरुक्ति न हो और यथासंभव शीघ्रता भी हो, इस दृष्टि से उन कामों का विभाग हम लोगों ने पहले से ही स्थिर कर लिया था, जिसका सूचन ज़रूरी है। पाठशुद्धिपूर्वक पाठ-पाठान्तरों के स्थान निश्चित करने का, भाषाटिप्पण तथा प्रस्तावना लिखने का काम मेरे जिम्मे रहा। ग्रन्थगत अवतरणों के मूल स्थानों को ढूँढ़ निकालने का तथा तुलना में और भाषाटिप्पण लिखने में उपयोगी हो सके, ऐसे स्थलों को जैन-जैनेतर ग्रन्थों में से संचित करने का काम पं० महेन्द्रकुमारजी के जिम्मे रहा। पाठान्तर लेने और सारी प्रेस कॉपी को व्यवस्थित बनाने से लेकर छप जाने तक का प्रेस प्रूफ, गेट-अप आदि सभी कामों का, तथा सभी परिशिष्ट बनाने का भार पं० दलसुख भाई के ऊपर रहा। फिर भी सभी एक दूसरे के कार्य में आवश्य-कतानुसार सहायक तो रहे ही। मैं अपने विषय में इतना और भी स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि लिखवाते समय मुझे मेरे दोनों सहकारी मित्रों ने अनेक विषयों में केवल परामर्श ही नहीं दिया, बल्कि मेरी लिखावट में रही हुई त्रुटि या भ्रांति का उन्होंने संशोधन भी कर दिया। सचमुच मैं इन दोनों सहृदय व उदारचेता मित्रों के कारण ही एक प्रकार के विशिष्ट चिंतन में बेफिक्र निमग्न रह सका।

५. आभार-दर्शन

जिन जिन व्यक्तियों की थोड़ी या बहुत किसी न किसी प्रकार की सहायता इस कार्य में मिली है, उन सबका नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख न तो संभव है और न आवश्यक ही। फिर भी मुख्य मुख्य व्यक्तियों के प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है। प्रवर्तक श्री० कान्ति-विजयजी के प्रशिष्य सुचेता मुनि श्री पुण्यविजयजी के सक्रिय साक्षित्व में इस कार्य का श्रीगणेश हुआ। प्रस्तुत कार्य को शुरू करने के पहले से अंत तक मात्र प्रोत्साहन ही नहीं प्रत्युत मार्मिक पथ-प्रदर्शन व परामर्श अपने सदा के साथी श्रीमान् जिनविजयजी से मुझे मिला। विद्वान् मित्र श्री रसिकलाल परीख बी० ए० ने न केवल ग्रन्थकार का परिचय लिखकर ही इस कार्य में सहयोग दिया है बल्कि उन्होंने छपे हुए भाषा-टिप्पणों को तथा छपने के पहले मेरी प्रस्तावना को पढ़ कर अपना विचार भी सुझाया है। पं० बेचरदास ने मूल ग्रन्थ के कई प्रूफों में महत्त्व की शुद्धि भी की और प्रस्तावना के सिवाय बाकी के सारे छपे हुए फर्मों को पढ़ कर उनमें दिखलाई देने वाली अशुद्धियों का भी निर्देश किया है। मेरे विद्यागुरु महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र ने तो जब जब मैं पहुँचा तब तब बड़े उत्साह व आदर से मेरे प्रश्नों पर अपनी दार्शनिक विद्या का गम्भीर खज़ाना ही खोल दिया जो मुझे ख़ास कर भाषा-टिप्पण लिखते समय उपयोगी हुआ है। मीमांसकधुरीण पं० चिन्नस्वामी तथा वैयाकरणरूप पं० राज-नारायण मिश्र से भी मैंने कभी कभी परामर्श लिया है। विदुषी श्रीमती हीराकुमारीजी ने तीसरे आह्निक के भाषा-टिप्पणों का बहुत बड़ा भाग मेरे कथनानुसार लिखा और उस लेखन काल में ज़रूरी साहित्य को भी उन्होंने मुझे पढ़ सुनाया है। सातवाँ परिशिष्ट तो पूर्ण रूप से उन्हीं ने तैयार किया है। मेरे मित्र व विद्यार्थी मुनि कृष्णचन्द्रजी, शान्तिलाल तथा महेन्द्रकुमार

ने प्रूफ देखने में या लिखने आदि में निःसङ्कोच सहायता की है। अतएव मैं इन सबका अन्तः-करण से आभारी हूँ। मैं भिक्षुवर राहुल सांकृत्यायन का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रमाणवार्तिकादि अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों का उपयोग बड़ी उदारता से करने दिया।

इस ग्रन्थमाला के प्राणप्रतिष्ठापक, विद्वन्मित्र और सहोदरकल्प बा० श्रीबहादुर सिंहजी सिंघी के उदार विद्यानुराग व साहित्य प्रेम का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ जिसके कारण, इतःपूर्व प्रकाशित जैनतर्कभाषा और प्रस्तुत ग्रन्थ का सिंघी जैनग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन हो रहा है। ई० सन् १९३७ जून की पहली तारीख को आबू पर्वत पर, प्रसंगोचित वार्तालाप होते समय, मैंने श्रीमान् सिंघीजी से यों ही स्वाभाविक भाव से कह दिया था कि-यह प्रमाणमीमांसा का संपादन, शायद मेरे जीवन का एक विशिष्ट अन्तिम कार्य हो, क्योंकि शरीरशक्ति दिन प्रतिदिन अधिकाधिक क्षीण होती जा रही है और अब ऐसा गंभीर मानसिक श्रम उठाने जैसी वह क्षम नहीं है। मुझे तब इसकी तो कोई कल्पना ही नहीं थी कि अगले वर्ष यानि १९३८ के जून में, ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पूर्व ही, इस शरीर पर क्या क्रिया होनेवाली है। खैर, अभी तो मैं उस घात से पार हो गया हूँ और मेरे साहित्य संस्कारों तथा विद्योपासना का स्रोत आगे जारी रहा तो उक्त बाबूजी की सौहार्दपूर्ण प्रेरणा और सन्निष्ठा के कारण, मुख्यतया इस स्रोत के प्रवाह का सिंघी जैन ग्रन्थमाला के बाँध में संचित होना और फिर उसके द्वारा इतस्ततः प्रसारित होना स्वाभाविक ही है। अतएव यहाँ पर उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करना आवश्यक और क्रमप्राप्त है।

हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्याविभाग के भूतपूर्व प्रिंसिपल तथा इस समय हिंदू-विश्वविद्यालय के संस्कृत शिक्षण के डाइरेक्टर महामहोपाध्याय पं० श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण को मैंने छपी हुई सारी प्रमाणमीमांसा १९३७ के अंतिम दिनों में अवलोकन के लिए दी थी। वे प्रखर दार्शनिक होने के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि भी रखते हैं। उन्होंने मूल ग्रन्थ तथा सारे भाषा-टिप्पणों को बड़ी एकाग्रता व दिलचस्पी से पढ़ा। जैसा मैं चाहता था तदनुसार उन्हें कोई विस्तृत दार्शनिक निबन्ध या ऐतिहासिक समालोचना लिखने का अवकाश नहीं मिला; फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा वह मुझे गत वर्ष अप्रिल में ही मिल गया था। यहाँ मैं उसे इस वक्तव्य के अंत में ज्यों का त्यों कृतज्ञता के साथ प्रसिद्ध करता हूँ। उन्होंने जिस सौहार्द और विद्यानुरागपूर्वक भाषाटिप्पण गत कुछ स्थानों पर मुझे सूचनाएँ दीं और स्पष्टता करने के वास्ते ध्यान खींचा; एतदर्थ तो मैं उनका विशेष कृतज्ञ हूँ।

६. प्रत्याशा

चिरकाल से मन में निहित और पोषित सङ्कल्प का मूर्तरूप में सुखप्रसव, दो उत्साह-शील तरुण मनस्वी सखाओं के सहकार से, सहृदय सृष्टि के समक्ष आज उपस्थित करता हूँ। मैं इसके बदले में सहृदयों से इतनी ही आशा रखता हूँ कि वे इसे योग्य तथा उपयोगी समझें तो अपना लें। इसके गुण दोषों को अपना ही समझें और इसी बुद्धि से आगे उनका यथा-योग्य विकास और परिमार्जन करें। अगर इस कृति के द्वारा साहित्य के किसी अंश की पूर्ति और जिज्ञासुओं की कुछ ज्ञानतृप्ति हुई तो मैं अपनी चालीस वर्ष की विद्योपासना को फल-वती समझूँगा। साथ ही सिंघी जैन ग्रन्थमाला भी फलेग्रहि सिद्ध होगी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
ता० ५. ३. ३९

सुखलाल

भूमिका

गीर्वाणवाणीनिबद्धेषु दार्शनिकग्रन्थेषु जैनाचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिता प्रमाणमीमांसा आर्हतसम्प्रदाये प्रामाणिकतया परां प्रसिद्धिमुपगता वरीवर्त्ति। यस्मिन् खल्वनेहसि प्रमाणमीमांसायाः प्रादुर्भावः समजनि, तदानीन्तनेषु दार्शनिकेषु निबन्धकर्तृषु प्रायेण सर्वेष्वेव विरोधिसम्प्रदायान्तरेभ्यः स्वसम्प्रदायस्य समुत्कर्षविशेषसंस्थापनार्थं समुचितोऽनुचितो वा सुमहान् प्रयासो गतानुगतिकतया परां किल काष्ठामधिगतः समदृश्यत। तदेतत्तत्त्वं सुविदितमेवास्ति भारतीयेतिहाससतत्त्वविदां सर्वेषां प्रेक्षावताम्। जैनाचार्यकुलप्रकाण्डस्य श्रीमतो हेमचन्द्रस्यापि अस्यां प्रमाणमीमांसायां स्वसम्प्रदायसमुत्कर्षव्यवस्थापनाय सम्प्रदायान्तरसिद्धान्तखण्डनाय च समुपलभ्यमानः प्रयत्नो विशुद्धदार्शनिकदृष्ट्या रमणीयो भवतु मा वा इति न तत्र ममास्ति किञ्चिद् विशेषतो वक्तव्यम्। यद्यपि तदानीन्तनैर्विभिन्नसम्प्रदायाचार्यप्रवरैः स्वस्वसम्प्रदायसिद्धान्तसंस्थापनाय समनुसृतेयं पद्धतिर्दार्शनिकतत्त्वानां दार्ढ्यं वैशद्यं वा सम्पादयितुं प्रभवति न वेति मीमांसाया नायमवसरः, तथापि अनया पद्धत्या प्रवर्त्तमानैः प्राचीनैस्तत्तत्सम्प्रदायाचार्यैर्भारतीयेषु नानाधर्म्मसम्प्रदायेषु परस्परं द्वेषेर्ष्याकलहादिरूपविषवृक्षस्याभिमानादीनि मूलानि न श्लथीकृतानि प्रत्युत परिपोषितानीति सकलधर्म्मसम्प्रदायमहामानवसमाजमहाप्रासादभित्तिस्थानीयानां मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां चित्तपरिकर्मणां शैथिल्यस्य भारतीयजनतासंघशक्तिप्रध्वंसकरः सम्प्रसारः समजनि।

तथाहि—अस्यामेव प्रमाणमीमांसायां सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गेन यदुपन्यस्तं, जैनाचार्येण श्रीहेमचन्द्रेण, तदुदाहृत्य मदीयवक्तव्यस्याशयः प्रकटीक्रियते।

"अथ—

> "ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः।
> ऐश्वर्य्यं चैव धर्म्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्॥"

इति वचनात् सर्वज्ञत्वमीश्वरादीनामस्तु, मानुषस्य तु कस्यचिद् विद्याचरणवतोऽपि तदसम्भावनीयम्, यत्कुमारिलः—

> "अथाऽपि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
> कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम्॥"

इति; आः! सर्वज्ञापलापपातकिन्! दुर्वदवादिन्! मानुषत्वनिन्दार्थवादापदेशेन देवाधिदेवानधिक्षिपसि? ये हि जन्मान्तरार्जितोर्जितपुण्यप्राग्भाराः सुरभवभवमनुपमं सुखमनुभूय दुःखपङ्कमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्षवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखासिकामृतवृष्टयो मनुष्यलोकमवतेरुः जन्मसमयसमकालचलितासनसकलसुरेन्द्रवृन्दविहितजन्मोत्सवाः किङ्करायमाणसुरसमूहाहमहमिकारब्धसेवाविधयः स्वयमुपनतामतिप्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवदवधूय समतृणमणिशत्रुमित्रवृत्तयो निजप्रभावप्रशमितेतिमरकादिजगदुपद्रवाः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्माण आविर्भूतनिखिलभावाभावस्वभावावभासिकेवलबलदलितसकलजीवलोकमोहप्रसराः सुरासुरविनिर्म्मितां समवसरणभुवमधिष्ठाय स्वस्वभाषापरिणामिनीभिर्वाग्भिः प्रवर्त्तितधर्मतीर्थाश्चतुस्त्रिंशदतिशयमयीं तीर्थ-

नाथत्वलक्ष्मीमुपभुज्य परं ब्रह्म सततानन्दं सकलकर्म्मनिर्मोक्षमुपेयिवांसस्तान् मानुषत्वादिसाधारणधर्मोपदेशेनापवदन् सुमेरुमपि लेष्ट्वादिना साधारणीकर्तुं पार्थिवत्वेनापवदेः ! । किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्भोगदुर्ललितवृत्तीनां विविधहेतिसमूहधारिणामक्षमालाद्यायत्तमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्वविरत्वसाम्राज्यम् !, यदवदाम स्तुतौ—

"मदेन मानेन मनोभवेन, क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां, वृथैव साम्राज्यरुजा परेषा ॥" (पृ० १२–१३)"

एवमेव विरोधिसम्प्रदायान्तरप्रधानतमपुरुषापकर्षप्रतिपादकप्रबन्धाः कुमारिलभट्टाकलङ्कशान्तरक्षितप्रभृतिभिस्तत्तत्सम्प्रदायपरमाचार्यैरपि स्वस्वरचितेषु दार्शनिकग्रन्थेषु लिखिताः समुपलभ्यन्ते शतशः प्रबन्धाः; तथाहि—

बुद्धसर्वज्ञतानिराकरणप्रस्तावे श्लोकवार्त्तिके स्वयमेवोक्तं श्रीमद्भिः कुमारिलभट्टैः—

"नचापि स्मृत्यविच्छेदात् सर्वज्ञः परिकल्प्यते ।
विगानाच्छिन्नमूलत्वात् कैश्चिदेव परिग्रहात् ॥"

विस्तरभयात् अन्येषामपि सम्प्रदायाचार्याणामेतादृशभाषणानि आकरेषु सहस्रशः समुपलभ्यमानानि नात्रोदाहृतानि ।

तदस्यां "प्रमाणमीमांसायां" परमतनिराकरणनिर्बन्धातिशयद्योतिका प्राक्तनी शैली स्फुटतरं प्रतीयमानापि शारदपौर्णमासीसुधाकरे समुद्भासितकलङ्करेखेव उदारमतिभिः शिष्टैः सोढव्या भवतु मा वा नैतावता अस्य ग्रन्थस्य महाप्रयोजनत्वं केनापि प्रत्याख्यातुं शक्यते । अत्र च आर्हतसिद्धान्तानां सुनिपुणदार्शनिकप्रणाल्या यथा सूक्ष्मतया संक्षिप्ततया च विश्लेषणं विहितं तथा अन्यत्र दुरवापमिति हि निर्विप्रतिपत्तिकः प्रेक्षावतां निर्णयः । तदनुसारेणैव च काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय–प्राच्यविद्याविभागान्तर्गतजैनदर्शनशास्त्रप्रधानाध्यापकेन दार्शनिकप्रवरेण पण्डितप्रकाण्डेन श्रीमता सुखलालजैनमहोदयेन हिन्दीभाषामयीमेकां मनोरमां विवृतिं विरचय्य तया सह "प्रमाणमीमांसा" मुद्रणेन प्रकाशं नीता । अस्यां विवृतौ श्रीमता जैनमहोदयेन प्रमाणमीमांसायामालोचितानां सिद्धान्तानां सम्यक्परिचयोपयोगिनो बहवो दार्शनिका ऐतिहासिकाश्च ज्ञातव्या विषयाः समवतारिताः, तान् विलोक्य सञ्जातो मे नितरां सन्तोषः । जैनाभ्युपगतसर्वज्ञतावादाद् बौद्धाभिमतसर्वज्ञतावादस्य वैलक्षण्यं तथा बौद्धजैनाभ्युपगतसर्वज्ञतावादतो नैयायिकवेदान्तिमीमांसकाभिमतसर्वज्ञतावादानां सारूप्यं वैरूप्यं च इत्येवमादेर्निर्णयप्रसङ्गेन श्रीमता सुखलालजैनमहोदयेन यो विचारपूर्वकनिष्कर्षः प्रदर्शितस्तेनास्य विचारशैली, ऐतिहासिकता, कल्पनाकुशलता च सर्वथा सहृदयानां प्रेक्षावतां मनांसि सन्तोषयिष्यति एवेति मे सुदृढो विश्वासः ।

एतादृशहिन्दीभाषामयविवृत्या सह जैनसिद्धान्तग्रन्थमूर्द्धन्यां जैनाचार्यहेमचन्द्रविरचितां प्रमाणमीमांसां विशुद्धतया सर्वसौष्ठवोपेततया च मुद्रापयित्वा प्रकाशयता पण्डितवर्येण श्रीमता सुखलालजैनमहोदयेन जैनदर्शनतत्त्वबुभुत्सूनां सहृदयानां कृतो महानुपकार इति सर्वथायं धन्यवादमर्हतीति सविनयं निवेदयति—

श्रीप्रमथनाथतर्कभूषणशर्म्मा ।

प्रस्तावना

ग्रन्थपरिचय।

§ १ आभ्यन्तर स्वरूप।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का ठीक-ठीक और वास्तविक परिचय पाने के लिये यह अनिवार्य रूप से जरूरी है कि उसके आभ्यन्तर और बाह्य स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण किया जाय तथा जैन तर्क साहित्य में और तद्द्वारा तार्किक दर्शन साहित्य में प्रमाणमीमांसा का क्या स्थान है, यह भी देखा जाय।

आचार्य ने जिस दृष्टि को लेकर प्रमाणमीमांसा का प्रणयन किया है और उसमें प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय आदि जिन तत्त्वों का निरूपण किया है उस दृष्टि और उन तत्त्वों के हार्द का स्पष्टीकरण करना यही ग्रन्थ के आभ्यन्तर स्वरूप का वर्णन है। इसके वास्ते यहां नीचे लिखे चार मुख्य मुद्दों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है---१. जैन दृष्टि का स्वरूप, २. जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता, ३. प्रमाण शक्ति की मर्यादा, ४. प्रमेय प्रदेशका विस्तार।

१ जैन दृष्टि का स्वरूप

भारतीय दर्शन मुख्यतया दो विभागों में विभाजित हो जाते हैं कुछ तो हैं वास्तववादी और कुछ हैं अवास्तववादी। जो स्थूल अर्थात् लौकिक प्रमाणगम्य जगत् को भी वैसा ही वास्तविक मानते हैं जैसा सूक्ष्म लोकोत्तर प्रमाणगम्य जगत को अर्थात् जिनके मतानुसार व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य में कोई भेद नहीं; सत्य सब एक कोटि का है चाहे मात्रा न्यूनाधिक हो अर्थात् जिनके मतानुसार भान चाहे न्यूनाधिक और स्पष्ट-अस्पष्ट हो पर प्रमाण मात्र में भासित होनेवाले सभी स्वरूप वास्तविक हैं, तथा जिनके मतानुसार वास्तविक रूप भी वाणीप्रकाश्य हो सकते हैं—वे दर्शन वास्तववादी हैं। इन्हें विधिमुख, इदमित्थंवादी या एवं-वादी भी कह सकते हैं—जैसे चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, सांख्य-योग, वैभाषिक-सौत्रान्तिक बौद्ध और माध्वादि वेदान्त।

जिनके मतानुसार बाह्य दृश्य जगत् मिथ्या है और आन्तरिक जगत् ही परम सत्य है; अर्थात् जो दर्शन सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक अथवा सांवृतिक और वास्तविक ऐसे दो भेद करके लौकिक प्रमाणगम्य और वाणीप्रकाश्य भावको अवास्तविक मानते हैं—वे

अवास्तवादी हैं। इन्हें निषेधमुख या अनेवंवादी भी कह सकते हैं। जैसे शून्यवादी-विज्ञानवादी बौद्ध और शाङ्कर वेदान्त आदि दर्शन।

प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी जैन दृष्टिका स्वरूप एकान्ततः वास्तववादी ही है। क्योंकि उसके मतानुसार भी इन्द्रिजन्य मतिज्ञान आदिमें भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का वही स्थान है जो पारमार्थिक केवलज्ञान में भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का स्थान है अर्थात् जैनमतानुसार दोनों सत्य की मात्रामें अन्तर है, योग्यता व गुण में नहीं। केवलज्ञान में द्रव्य और उनके अनन्त पर्याय जिस यथार्थता से जिस रूप से भासित होते हैं उसी यथार्थता और उसी रूपसे कुछ द्रव्य और उनके कुछ ही पर्याय मति आदि ज्ञान में भी भासित हो सकते हैं। इसीसे जैन दर्शन अनेक सूक्ष्मतम भावों की अनिर्वचनीयता को मानता हुआ भी निर्वचनीय भावों को यथार्थ मानता है। जब कि शून्यवादी और शाङ्कर वेदान्त आदि ऐसा नहीं मानते।

२. जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता

जैन दृष्टि का जो वास्तववादित्व स्वरूप ऊपर बतलाया गया वह इतिहास के प्रारम्भ से अब तक एक ही रूप में रहा है या उसमें कभी—किसी के द्वारा थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है, यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह होता है कि अगर जैन दृष्टि सदा एकसी स्थितिशील रही और बौद्ध वेदान्त दृष्टि की तरह उसमें परिवर्तन या चिन्तन विकास नहीं हुआ तो इसका क्या कारण ?।

भगवान महावीर का पूर्व समय जबसे थोड़ा बहुत भी जैन परम्परा का इतिहास पाया जाता है तबसे लेकर आज तक जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप बिलकुल अपरिवर्तिष्णु या ध्रुव ही रहा है। जैसा कि न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य-योग आदि दर्शनों का भी वास्तववादित्व अपरिवर्तिष्णु रहा है। बेशक न्याय वैशेषिक आदि उक्त दर्शनों की तरह जैन दर्शन के साहित्य में भी प्रमाण प्रमेय आदि सब पदार्थों की व्याख्याओं में, लक्षणप्रणयन में और उनकी उपपत्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विकास तथा स्पष्टता हुई हैं, यहां तक कि नव्यन्याय के परिष्कार का आश्रय लेकर भी यशोविजय जी जैसे जैन विद्वानों ने व्याख्या एवं लक्षणों का विश्लेषण किया है फिर भी इस सारे ऐतिहासिक समय में जैन दृष्टि के वास्तववादित्व स्वरूप में एक अंश भी फर्क नहीं पड़ा है जैसा कि बौद्ध और वेदान्त परंपरा में हम पाते हैं।

बौद्ध परंपरा शुरू में वास्तववादी ही रही। पर महायान की विज्ञानवादी और शून्यवादी शाखा ने उसमें आमूल परिवर्तन कर डाला। उसका वास्तववादित्व ऐकान्तिक अवास्तववादित्व में बदल गया। यही है बौद्ध परंपरा का दृष्टि परिवर्तन। वेदान्त परम्परा में भी ऐसा ही हुआ। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र में जो अवास्तववादित्व के अस्पष्ट बीज थे और जो वास्तववादित्व के स्पष्ट सूचन थे उन सबका एक मात्र अवास्तववादित्व अर्थ में तात्पर्य बतलाकर शङ्कराचार्य ने वेदान्त में अवास्तववादित्वं की स्पष्ट स्थापना की जिसके ऊपर आगे जाकर

दृष्टिसृष्टिवाद आदि अनेक रूपों में और भी दृष्टि परिवर्तन व विकास हुआ। इस तरह एक तरफ बौद्ध और वेदान्त दो परम्पराओं की दृष्टिपरिवर्तिष्णुता और बाकी के सब दर्शनों की दृष्टि-अपरिवर्तिष्णुता हमें इस भेद के कारणों की खोज की ओर प्रेरित करती है।

स्थूल जगत् को असत्य या व्यावहारिक सत्य मानकर उससे भिन्न आन्तरिक जगत् को ही परम सत्य मानने वाले अवास्तववाद का उद्गम सिर्फ तभी संभव है जब कि विश्लेषण क्रिया की पराकाष्ठा—आत्यन्तिकता हो या समन्वय की पराकाष्ठा हो। हम देखते हैं कि यह योग्यता बौद्ध परंपरा और वेदान्त परंपरा के सिवाय अन्य किसी दार्शनिक परम्परा में नहीं है। बुद्ध ने प्रत्येक स्थूल सूक्ष्म भाव का विश्लेषण यहां तक किया कि उसमें कोई स्थायी द्रव्य जैसा तत्त्व शेष न रहा। उपनिषदों में भी सब भेदों का—विविधताओं का समन्वय एक ब्रह्म—स्थिर तत्त्व में विश्रान्त हुआ। भगवान बुद्ध के विश्लेषण को आगे जा कर उनके सूक्ष्मप्रज्ञ शिष्यों ने यहां तक विस्तृत किया कि अन्त में व्यवहार में उपयोगी होने वाले अखण्ड द्रव्य या द्रव्य-भेद सर्वथा नाम शेष हो गए। और क्षणिक किन्तु अनिर्वचनीय परम सत्य ही शेष रहा। दूसरी ओर शङ्कराचार्य ने औपनिषद परम ब्रह्म की समन्वय भावना को यहां तक विस्तृत किया कि अन्त में भेदप्रधान व्यवहार जगत नामशेष या मायिक ही होकर रहा। बेशक नागार्जुन और शङ्कराचार्य जैसे ऐकान्तिक विश्लेषणकारी या ऐकान्तिक समन्वयकर्ता न होते तो इन दोनों परम्पराओं में व्यावहारिक और परम सत्य के भेद का आविष्कार न होता। फिर भी हमें भूलना न चाहिए कि अवास्तववादी दृष्टि की योग्यता बौद्ध और वेदान्त परंपरा की भूमिका में ही निहित रही जो न्याय वैशेषिक आदि वास्तववादी दर्शनों की भूमिका में बिलकुल नहीं है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य-योग दर्शन केवल विश्लेषण ही नहीं करते बल्कि समन्वय भी करते हैं उनमें विश्लेषण और समन्वय दोनों का समप्राधान्य तथा समानबलत्व होने के कारण दोनों में से कोई एक ही सत्य नहीं है अतएव उन दर्शनों में अवास्तववाद के प्रवेश की न योग्यता है और न संभव ही है। अतएव उनमें नागार्जुन शङ्कराचार्य आदि जैसे अनेक सूक्ष्मप्रज्ञ विचारक होते हुए भी वे दर्शन वास्तववादी ही रहे। यही स्थिति जैन दर्शन की भी है। जैन दर्शन द्रव्य द्रव्य के बीच विश्लेषण करते करते अन्त में सूक्ष्मतम पर्यायों के विश्लेषण तक पहुँचता है सही, पर यह विश्लेषण के अन्तिम परिणाम स्वरूप पर्यायों को वास्तविक मान कर भी द्रव्य की वास्तविकता का परित्याग बौद्ध दर्शन की तरह नहीं करता। इसी तरह वह पर्यायों और द्रव्यों का समन्वय करते करते एक सत् तत्त्व तक पहुँचता है और उसकी वास्तविकता का स्वीकार करके भी विश्लेषण के परिणाम स्वरूप द्रव्य भेदों और पर्यायों की वास्तविकताका परित्याग, ब्रह्मवादी दर्शन की तरह नहीं करता। क्योंकि वह पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक दोनों दृष्टिओं को सापेक्ष भाव से तुल्यबल और समान सत्य मानता है। यही सबब है कि उसमें भी न बौद्ध परंपरा की तरह आत्यन्तिक विश्लेषण हुआ और न वेदान्त परंपरा की तरह आत्यन्तिक समन्वय। इसीसे जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप स्थिर ही रहा।

३. प्रमाण शक्ति की मर्यादा

विश्व क्या वस्तु है, वह कैसा है, उसमें कौनसे-कौनसे और कैसे-कैसे तत्त्व हैं, इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर तत्त्वचिन्तकों ने एक ही प्रकार का नहीं दिया। इसका सबब यही है कि इस उत्तरका आधार प्रमाण की शक्तिपर निर्भर है; और तत्त्वचिन्तकों में प्रमाण की शक्तिके बारे में नाना मत हैं। भारतीय तत्त्वचिन्तकों का प्रमाणशक्तिके तारतम्य संबंधी मत-भेद संक्षेपमें पांच पक्षों में विभक्त हो जाता है– १ इन्द्रियाधिपत्य, २ अनिन्द्रियाधिपत्य, ३ उभयाधिपत्य, ४ आगमाधिपत्य और ५ प्रमाणोपप्लव ऐसे पांच पक्ष हैं।

१. जिस पक्ष का मन्तव्य यह है कि प्रमाण की सारी शक्ति इन्द्रियों के ऊपर ही अव-लम्बित है, मन खुद इन्द्रियों का अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियों की मदद के सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियों की पहुँच न हो वहाँ कभी प्रवृत्त हो कर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता। सच्चे ज्ञान का अगर संभव है तो इन्द्रियोंके द्वारा ही, वह इन्द्रि-याधिपत्य पक्ष। इस पक्ष में चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या शब्द व्यवहाररूप आगम आदि प्रमाणों को जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहार की वस्तु है, उसे न मानता हो, फिर भी चार्वाक अपनेको प्रत्यक्षमात्रवादी– इन्द्रियप्रत्यक्षमात्रवादी कहता है; इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो पर उसका प्रामाण्य इन्द्रियप्रत्यक्ष के संवाद के सिवाय कभी संभव नहीं। अर्थात् इन्द्रियप्रत्यक्ष से बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार अगर प्रमाण कहा जाय तो इसमें चार्वाक को आपत्ति नहीं।

२. अनिन्द्रिय के अन्तःकरण– मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं जिनमें से चित्तरूप अनिन्द्रियका आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्ष में विज्ञानवाद, शून्यवाद, और शाङ्कर वेदान्त का समावेश है। इस पक्षके अनुसार यथार्थ ज्ञान का संभव विशुद्ध चित्त के द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियों की सत्यज्ञानजनन शक्ति का सर्वथा इन्कार करता है और कहता है कि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान कराने में पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य हैं। इसके मन्तव्य का निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त, खास-कर ध्यानशुद्ध सात्त्विक चित्त से बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकने वाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता, चाहे वह भले ही लोकव्यवहार में प्रमाणरूपसे माना जाता हो।

३. उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाक की तरह इन्द्रियों को ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मन का असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता और न इन्द्रियों को पंगु या धोखे-बाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्त का ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मनकी मदद से ही सही पर इन्द्रियाँ गुणसंपन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह पक्ष मानता है कि इन्द्रियों की मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान करा सकता है। इसीसे इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, आदि दर्शनों का समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियों

का सादुगुण्य मानकर भी अन्तःकरण की स्वतन्त्र यथार्थशक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मन की वैसी ही शक्ति मानते हैं पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्मा का स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य नहीं मानते क्योंकि वे प्रमाणसामर्थ्य बुद्धि में ही मानकर पुरुष या चेतन को निरतिशय मानते हैं। जब कि न्याय-वैशेषिक आदि चाहे ईश्वर के आत्मा का ही सही पर आत्मा का स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मन का अभाव होने पर भी ईश्वर में ज्ञान शक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक भी इसी पक्ष के अन्तर्गत हैं; क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनों का प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं।

४. आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी न किसी विषय में आगम के सिवाय किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रिय का प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल पूर्व मीमांसक का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयों में सांख्य-योगादि की तरह उभयाधिपत्य पक्ष का ही अनुगामी है फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयों में वह आगम मात्र का ही सामर्थ्य मानता है। यद्यपि वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के विषय में आगम का ही प्राधान्य है फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्ष में इसलिये नहीं आ सकता कि ब्रह्म विषय में ध्यानशुद्ध अन्तःकरण का भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

५. प्रमाणोपप्लव पक्ष वह है जो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय या आगम किसी का सादुगुण्य या सामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि ऐसा कोई साधन गुणसंपन्न है ही नहीं जो अबाधित ज्ञान की शक्ति रखता हो। सभी साधन उसके मत से पंगु या विप्रलम्भक हैं। इसका अनुगामी तत्त्वोपप्लववादी कहलाता है जो आखिरी हद का चार्वाक ही है। यह पक्ष जयराशि-कृत तत्त्वोपप्लव में स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है।

उक्त पाँच में से तीसरा उभयाधिपत्य पक्ष ही जैन दर्शन का है। क्योंकि वह जिस तरह इन्द्रियों का स्वतन्त्र सामर्थ्य मानता है इसी तरह वह अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का अलग अलग भी स्वतन्त्र सामर्थ्य मानता है। आत्मा के स्वतन्त्र सामर्थ्य के विषय में न्याय-वैशेषिक आदि के मन्तव्य से जैन दर्शन के मन्तव्य में फर्क यह है कि जैन दर्शन सभी आत्माओं का स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य वैसा ही मानता है जैसा न्याय आदि ईश्वर मात्र का। जैन दर्शन प्रमाणोपप्लव पक्ष का निराकरण इस लिये करता है कि उसे प्रमाणसामर्थ्य अवश्य इष्ट है। वह चार्वाक के प्रत्यक्षमात्र वाद का विरोध इस लिये करता है कि उसे अनिन्द्रिय का भी प्रमाणसामर्थ्य इष्ट है। वह विज्ञान, शून्य और ब्रह्म इन तीनों वादों का निरास इस लिये करता है कि उसे इन्द्रियों का प्रमाणसामर्थ्य भी मान्य है। वह आगमाधिपत्य पक्षका भी विरोधी है, सो इसलिये कि उसे धर्माधर्म के विषय में अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का प्रमाणसामर्थ्य इष्ट है।

४. प्रमेय प्रदेशका विस्तार

जैसी प्रमाणशक्ति की मर्यादा वैसा ही प्रमेय का क्षेत्र विस्तार अतएव मात्र इन्द्रिय-सामर्थ्य माननेवाले चार्वाक के सामने सिर्फ स्थूल या दृश्य विश्वका ही प्रमेय क्षेत्र रहा, जो एक

या दूसरे रूपमें अनिन्द्रिय प्रमाण का सामर्थ्य माननेवालों की दृष्टि में अनेकधा विस्तीर्ण हुआ। अनिन्द्रिय सामर्थ्यवादी कोई क्यों न हो पर सबको स्थूल विश्व के अलावा एक सूक्ष्म विश्व भी नजर आया। सूक्ष्म विश्व का दर्शन उन सबका बराबर होने पर भी उनकी अपनी जुदी-जुदी कल्पनाओं के तथा परंपरागत भिन्न-भिन्न कल्पनाओं के आधार पर सूक्ष्म प्रमेय के क्षेत्र में भी अनेक मत व संप्रदाय स्थिर हुए जिनको हम अति संक्षेप में दो विभागों में बाँटकर समझ सकते हैं। एक विभाग तो वह जिसमें जड़ और चेतन दोनों प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों को माननेवालोंका समावेश होता है। दूसरा वह जिसमें केवल चेतन या चैतन्य रूप ही सूक्ष्म तत्त्व को माननेवालों का समावेश होता है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा भारतीय तत्त्वज्ञान में यह एक ध्यान देने योग्य भेद है कि इसमें सूक्ष्म प्रमेयतत्त्व माननेवाला अभी तक ऐसा कोई नहीं हुआ जो स्थूल भौतिक विश्व की तह में एकमात्र सूक्ष्म जड़तत्त्व ही मानता हो और सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्वका अस्तित्व ही न मानता हो। इसके विरुद्ध ऐसे तत्त्वज्ञ भारत में होते आये हैं जो स्थूल विश्व के अन्तस्तल में एक मात्र चेतन तत्त्व का सूक्ष्म जगत मानते हैं। इसी अर्थ में भारत को चैतन्यवादी समझना चाहिए। भारतीय तत्त्वज्ञान के साथ पुनर्जन्म, कर्मवाद और बन्ध-मोक्ष की धार्मिक या आचरण लक्षी कल्पना भी मिली हुई है जो सूक्ष्म विश्व माननेवाले सभी को निर्विवाद मान्य है और सभीने अपने-अपने तत्त्व ज्ञान के ढांचे के अनुसार चेतन तत्त्वके साथ उसका मेल बिठाया है। इन सूक्ष्म तत्त्वदर्शी परंपराओं में मुख्यतया चार वाद ऐसे देखे जाते हैं, जिनके बल पर उस-उस परंपरा के आचार्यों ने स्थूल और सूक्ष्म विश्वका संबंध बतलाया है या कार्य कारण का मेल बिठाया है। वे वाद ये हैं—१ आरंभवाद, २ परिणामवाद, ३ प्रतीत्यसमुत्पादवाद और ४ विवर्तवाद।

आरम्भवाद के संक्षेप में चार लक्षण हैं—(१) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त मूल कारणों का स्वीकार, (२) कार्य और कारण का आत्यन्तिक भेद, (३) कारण नित्य हो या अनित्य पर कार्योत्पत्ति में उसका अपरिणामी ही रहना, (४) अपूर्व अर्थात् उत्पत्ति के पहिले असत् ऐसे कार्य की उत्पत्ति या किञ्चित्कालीन सत्ता।

परिणामवाद के लक्षण ठीक आरंभवाद से ऊलटे हैं—(१) एक ही मूल कारण का स्वीकार, (२) कार्यकारण का वास्तविक अभेद, (३) नित्य कारण का भी परिणामी होकर ही रहना तथा प्रवृत्त होना, (४) कार्य मात्र का अपने-अपने कारण में और सब कार्यों का मूल कारण में तीनों काल में अस्तित्व अर्थात् अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति का सर्वथा इन्कार।

प्रतीत्यसमुत्पाद वाद के तीन लक्षण हैं—(१) कारण और कार्य का आत्यन्तिक भेद, (२) किसी भी नित्य या परिणामी कारण का सर्वथा अस्वीकार, (३) और प्रथम से असत् ऐसे कार्यमात्र का उत्पाद।

विवर्तवाद के तीन लक्षण ये हैं—(१) किसी एक पारमार्थिक सत्य का स्वीकार जो न उत्पादक है और न परिणामी, (२) स्थूल या सूक्ष्म भासमान जगत् की उत्पत्ति का या

उसे परिणाम मानने का सर्वथा निषेध, (३) स्थूल जगत् का अवास्तविक या काल्पनिक अस्तित्व अर्थात् मायिक भासमात्र ।

१ आरंभवाद—इसका मन्तव्य यह है कि परमाणुरूप अनन्त सूक्ष्म तत्त्व जुदे-जुदे हैं जिनके पारस्परिक संबंधोंसे स्थूल भौतिक जगत् का नया ही निर्माण होता है जो फिर सर्वथा नष्ट भी होता है। इसके अनुसार वे सूक्ष्म आरंभक तत्त्व अनादि निधन हैं, अपरिणामी हैं। अगर फेर फार होता है तो उनके गुणधर्मों में ही होता है। इस वाद ने स्थूल भौतिक जगत् का संबंध सूक्ष्म भूत के साथ लगाकर फिर सूक्ष्म चेतनतत्त्व का भी अस्तित्व माना है। उसने परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त चेतन तत्त्व माने जो अनादिनिधन एवं अपरिणामी ही हैं। इस वाद ने जैसे सूक्ष्म भूत तत्त्वों को अपरिणामी ही मानकर उनमें उत्पन्न नष्ट होनेवाले गुण धर्मों के अस्तित्व की अलग कल्पना की वैसे ही चेतन तत्त्वों को अपरिणामी मानकर भी उनमें उत्पाद-विनाश-शाली गुण-धर्मों का अलग ही अस्तित्व स्वीकार किया है। इस मतके अनुसार स्थूल भौतिक विश्व का सूक्ष्म भूत के साथ तो उपादानोपादेय भाव संबंध है पर सूक्ष्म चेतन तत्त्व के साथ सिर्फ संयोग संबंध है।

२ परिणामवाद—इसके मुख्य दो भेद हैं (अ) प्रधानपरिणामवाद और (ब) ब्रह्म-परिणामवाद ।

(अ) प्रधानपरिणामवाद के अनुसार स्थूल विश्व के अन्तस्तल में एक सूक्ष्म प्रधान नामक ऐसा तत्त्व है जो जुदे जुदे अनन्त परमाणु रूप न होकर उनसे भी सूक्ष्मतम स्वरूप में अखण्ड रूप से वर्तमान है और जो खुद ही परमाणुओं की तरह अपरिणामी न रह कर अनादि अनन्त होते हुए भी नाना परिणामों में परिणत होता रहता है। इस वाद के अनुसार स्थूल भौतिक विश्व यह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व के दृश्य परिणामों के सिवाय और कुछ नहीं। इस वाद में परमाणुवाद की तरह सूक्ष्म तत्त्व अपरिणामी रह कर उसमें से स्थूल भौतिक विश्व का नया निर्माण नहीं होता। पर वह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व जो स्वयं परमाणु की तरह जड़ ही है, नाना दृश्य भौतिक रूप में बदलता रहता है। इस प्रधान परिणामवाद ने स्थूल विश्व का सूक्ष्म पर जड़ ऐसे एक मात्र प्रधान तत्त्व के साथ अभेद संबंध लगा कर सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्वों का भी अस्तित्व स्वीकार किया। इस वाद के चेतन तत्त्व आरंभवाद की तरह अनन्त ही हैं पर फर्क दोनों का यह है कि आरंभवाद के चेतन तत्त्व अपरिणामी होते हुए भी उत्पाद विनाश वाले गुण-धर्म युक्त हैं जब कि प्रधानपरिणामवाद के चेतन तत्त्व ऐसे गुण-धर्मों से युक्त नहीं। वे स्वयं भी कूटस्थ होने से अपरिणामी हैं और निर्धर्मक होने से किसी उत्पादविनाशशाली गुण-धर्म को भी धारण नहीं करते। उसका कहना यह है कि उत्पाद-विनाशवाले गुणधर्म जब सूक्ष्म भूत में देखे जाते हैं तब सूक्ष्म चेतन कुछ विलक्षण ही होना चाहिए। अगर सूक्ष्म चेतन चेतन हो कर भी वैसे गुण-धर्मयुक्त हों तब जड सूक्ष्म से उनका वैलक्षण्य क्या रहा ? । अतएव वह कहता है कि अगर सूक्ष्म चेतन का अस्तित्व मानना ही है तब तो सूक्ष्म भूत की अपेक्षा विलक्षणता लाने के लिये उन्हें न केवल निर्धर्मक ही मानना

उचित है बल्कि अपरिणामी भी मानना जरूरी है। इस तरह प्रधानपरिणामवाद में चेतन तत्त्व आये पर वे निर्धर्मक और अपरिणामी ही माने गए।

(ब) ब्रह्मपरिणामवाद जो प्रधानपरिणामवाद का ही विकसित रूप जान पड़ता है उसने यह तो मान लिया कि स्थूल विश्व के मूल में कोई सूक्ष्म तत्त्व है जो स्थूल विश्व का कारण है। पर उसने कहा कि ऐसा सूक्ष्म कारण जड प्रधान तत्त्व मान कर उससे भिन्न सूक्ष्म चेतन तत्त्व भी मानना और वह भी ऐसा कि जो अजागलस्तन की तरह सर्वथा अकिञ्चित्कर सो युक्ति संगत नहीं। उसने प्रधानवाद में चेतन तत्त्व के अस्तित्व की अनुपयोगिता को ही नहीं देखा बल्कि चेतन तत्त्व में अनन्त संख्या की कल्पना को भी अनावश्यक समझा। इसी समझ से उसने सूक्ष्म जगत् की कल्पना ऐसी की जिससे स्थूल जगत की रचना भी घट सके और अकिञ्चित्कर ऐसे अनन्त चेतन तत्त्वों की निष्प्रयोजन कल्पना का दोष भी न रहे। इसीसे इस वाद ने स्थूल विश्व के अन्तस्तल में जड चेतन ऐसे परस्पर विरोधी दो तत्त्व न मानकर केवल एक ब्रह्म नामक चेतन तत्त्व ही स्वीकार किया और उसका प्रधान परिणाम की तरह परिणाम मान लिया जिससे उसी एक चेतन ब्रह्म तत्त्व में से दूसरे जड चेतनमय स्थूल विश्व का आविर्भावतिरोभाव घट सके। प्रधानपरिणामवाद और ब्रह्मपरिणामवाद में फर्क इतना ही है कि पहिले में जड परिणामी ही है और चेतन अपरिणामी ही है जब दूसरे में अंतिम सूक्ष्म तत्त्व एक मात्र चेतन ही है जो स्वयं ही परिणामी है और उसी चेतन में से आगे के जड चेतन ऐसे दो परिणाम प्रवाह चले।

३ प्रतीत्यसमुत्पादवाद–यह भी स्थूल भूत के नीचे जड और चेतन ऐसे दो सूक्ष्म तत्त्व मानता है जो क्रमशः रूप और नाम कहलाते हैं। इस वाद के जड और चेतन दोनों सूक्ष्म तत्त्व परमाणु रूप हैं, आरंभवाद की तरह केवल जड तत्त्व ही परमाणु रूप नहीं। इस वाद में परमाणु का स्वीकार होते हुए भी उसका स्वरूप आरंभवाद के परमाणु से बिलकुल भिन्न माना गया है। आरंभवाद में परमाणु अपरिणामी होते हुए भी उनमें गुणधर्मों की उत्पाद-विनाश परंपरा अलग मानी जाती है। जब कि यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद उस गुणधर्मों की उत्पाद-विनाश परंपरा को ही अपने मत में विशिष्ट रूप से ढाल कर उसके आधारभूत स्थायी परमाणु द्रव्यों को बिलकुल नहीं मानता। इसी तरह चेतन तत्त्व के विषय में भी यह वाद कहता है कि स्थायी ऐसे एक या अनेक कोई चेतन तत्त्व नहीं। अलबत्ता सूक्ष्म जड उत्पाद विनाश शाली परंपरा की तरह दूसरी चैतन्यरूप उत्पादविनाशशाली परंपरा भी मूल में जड से भिन्न ही सूक्ष्म जगत् में विद्यमान है जिसका कोई स्थायी आधार नहीं। इस वाद के परमाणु इसलिये परमाणु कहलाते हैं कि वे सबसे अतिसूक्ष्म और अविभाज्य मात्र हैं। पर इसलिये परमाणु नहीं कहलाते कि वे कोई अविभाज्य स्थायी द्रव्य हों। यह वाद कहता है कि गुणधर्म रहित कूटस्थ चेतन तत्त्व जैसे अनुपयोगी हैं वैसे ही गुणधर्मों का उत्पाद विनाश मान लेने पर उसके आधार रूप से फिर स्थायी द्रव्य की कल्पना करना भी निरर्थक है। अत-एव इस वाद के अनुसार सूक्ष्म जगत् में दो धाराएँ फलित होती हैं जो परस्पर बिलकुल भिन्न

हो कर भी एक दूसरे के असर से खाली नहीं। प्रधान परिणाम या ब्रह्म परिणाम वाद से इस वाद में फर्क यह है कि इसमें उक्त दोनों वादों की तरह किसी भी स्थायी द्रव्य का अस्तित्व नहीं माना जाता। ऐसा शंकु या कीलक स्थानीय स्थायी द्रव्य न होते हुए भी पूर्व परिणाम-क्षण का यह स्वभाव है कि वह नष्ट होते होते दूसरे परिणाम-क्षण को पैदा करता ही जायगा। अर्थात् उत्तर परिणाम-क्षण विनाशोन्मुख पूर्व परिणाम के अस्तित्वमात्र के आश्रय से आप ही आप निराधार उत्पन्न हो जाता है। इसी मान्यता के कारण यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद कहलाता है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पादवाद परमाणुवाद भी है और परिणामवाद भी। फिर भी तात्त्विक रूप में वह दोनों से भिन्न है।

४ विवर्तवाद—विवर्तवाद के मुख्य दो भेद हैं (अ) नित्यब्रह्मविवर्त और (ब) क्षणिकविज्ञानविवर्त। दोनों विवर्तवाद के अनुसार स्थूल विश्व यह निरा भासमात्र या कल्पनामात्र है, जो माया या वासनाजनित है। विवर्तवाद का अभिप्राय यह है कि जगत् या विश्व कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जिसमें बाह्य और आन्तरिक या स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व अलग अलग और खण्डित हों। विश्व में जो कुछ वास्तविक सत्य हो सकता है वह एक ही हो सकता है क्योंकि विश्व वस्तुतः अखण्ड और अविभाज्य ही है। ऐसी दशा में जो बाह्यत्व-आन्तरत्व, ह्रस्वत्व-दीर्घत्व, दूरत्व-समीपत्व आदि धर्मद्वन्द्व मालूम होते हैं वे मात्र काल्पनिक हैं। अतएव इस वाद के अनुसार लोकसिद्ध स्थूल विश्व केवल काल्पनिक और प्रातिभासिक सत्य है। पारमार्थिक सत्य उसकी तह में निहित है जो विशुद्ध ध्यानगम्य होने के कारण अपने असली स्वरूप में प्राकृत जनों के द्वारा ग्राह्य नहीं।

न्याय-वैशेषिक और पूर्व मीमांसक आरंभवादी हैं। प्रधानपरिणामवाद सांख्य-योग और चरक का है। ब्रह्मपरिणामवाद के समर्थक भर्तृप्रपञ्च आदि प्राचीन वेदान्ती और आधुनिक वल्लभाचार्य हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवाद बौद्धों का है और विवर्तवाद के समर्थक शाङ्कर वेदान्ती, विज्ञानवादी और शून्यवादी हैं।

ऊपर जिन वादोंका वर्णन किया है उनके उपादानरूप विचारोंका ऐतिहासिक क्रम संभवतः ऐसा जान पड़ता है—शुरू में वास्तविक कार्यकारणभाव की खोज जड़ जगत तक ही रही। वहीं तक वह परिमित रहा। क्रमशः स्थूल के उस पार चेतन तत्त्व की शोध—कल्पना होते ही दृश्य और जड़ जगत में प्रथम से ही सिद्ध उस कार्यकारणभाव की परिणामिनित्यता रूप से चेतन तत्त्व तक पहुँच हुई। चेतन भी जड़ की तरह अगर परिणामिनित्य हो तो फिर दोनों में अन्तर ही क्या रहा? इस प्रश्न ने फिर चेतन को कायम रख कर उसमें कूटस्थ नित्यता मानने की ओर तथा परिणामिनित्यता या कार्यकारणभाव को जड जगत तक ही परिमित रखने की ओर विचारकों को प्रेरित किया। चेतन में मानी जानेवाली कूटस्थ नित्यता का परीक्षण फिर शुरू हुवा। जिसमें से अन्ततोगत्वा केवल कूटस्थ नित्यता ही नहीं बल्कि जडगत परिणामिनित्यता भी लुप्त होकर मात्र परिणमन धारा ही शेष रही। इस प्रकार एक तरफ आत्यन्तिक विश्लेषण ने मात्र परिणाम या क्षणिकत्व विचार को जन्म दिया

तब दूसरी ओर आत्यन्तिक समन्वय बुद्धि ने चैतन्यमात्रपारमार्थिकवाद को जन्माया। समन्वय बुद्धि ने अन्त में चैतन्य तक पहुँच कर सोचा कि जब सर्व व्यापक चैतन्य तत्त्व है तब उससे भिन्न जड़ तत्त्व की वास्तविकता क्यों मानी जाय? और जब कोई जड़तत्त्व अलग नहीं तब यह दृश्यमान परिणमन-धारा भी वास्तविक क्यों? इस विचार ने सारे भेद और जड़ जगत् को मात्र काल्पनिक मनवाकर पारमार्थिक चैतन्यमात्रवाद की स्थापना कराई।

उक्त विचार क्रम के सोपान इस तरह रखे जा सकते हैं—

१ जड़ मात्र में परिणामिनित्यता।

२ जड़ चेतन दोनों में परिणामिनित्यता।

३ जड़ में परिणामिनित्यता और चेतन में कूटस्थनित्यता का विवेक।

४ (अ) कूटस्थ और परिणामि दोनों नित्यता का लोप और मात्र परिणामप्रवाह की सत्यता।

(ब) केवल कूटस्थ चैतन्य की ही या चैतन्यमात्र की सत्यता और तद्भिन्न सबकी काल्पनिकता या असत्यता।

जैन परम्परा दृश्य विश्व के अलावा परस्पर अत्यन्त भिन्न ऐसे जड़ और चेतन अनन्त सूक्ष्म तत्त्वों को मानती है। वह स्थूल जगत को सूक्ष्म जड़ तत्त्वों का ही कार्य या रूपान्तर मानती है। जैन परंपरा के सूक्ष्म जड़ तत्त्व परमाणुरूप हैं। पर वे आरम्भवाद के परमाणु की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म माने गये हैं। परमाणुवादी होकर भी जैन दर्शन परिणामवाद की तरह परमाणुओं को परिणामी मानकर स्थूल जगत को उन्हीं का रूपान्तर या परिणाम मानता है। वस्तुतः जैन दर्शन परिणामवादी है। पर सांख्य-योग तथा प्राचीन वेदान्त आदि के परिणामवाद से जैन परिणामवाद का खास अन्तर है। वह अन्तर यह है कि सांख्य-योग का परिणामवाद चेतन तत्त्व से अस्पृष्ट होने के कारण जड़ तक ही परिमित है और भर्तृप्रपञ्च आदि का परिणामवाद मात्र चेतनतत्त्वस्पर्शी है। जब कि जैन परिणामवाद जड़-चेतन, स्थूल-सूक्ष्म समग्र वस्तुस्पर्शी है अतएव जैन परिणामवाद को सर्वव्यापक परिणामवाद समझना चाहिए। भर्तृप्रपञ्चका परिणामवाद भी सर्व व्यापक कहा जा सकता है फिर भी उसके और जैन के परिणामवाद में अन्तर यह है कि भर्तृप्रपञ्च का 'सर्व' चेतन ब्रह्ममात्र है तद्भिन्न और कुछ नहीं। जब कि जैन का 'सर्व' अनन्त जड़ और चेतन तत्त्वों का है। इस तरह आरम्भ और परिणाम दोनों वादों का जैन दर्शन में व्यापकरूप में पूरा स्थान तथा समन्वय है। पर उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का कोई स्थान नहीं है। वस्तुमात्र को परिणामी नित्य और समानरूप से वास्तविक सत्य मानने के कारण जैनदर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का सर्वथा विरोध ही करता है जैसा कि न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि भी करते हैं। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि की तरह जैन दर्शन चेतनबहुत्ववादी है सही, पर उसके चेतन तत्त्व अनेक दृष्टि से भिन्न स्वरूप वाले हैं। जैन दर्शन न्याय, सांख्य, आदि की तरह चेतन को न सर्वव्यापक द्रव्य मानता है और न विशिष्टाद्वैत आदि की तरह अणु

मात्र ही मानता है और बौद्ध दर्शन की तरह ज्ञान की निर्द्रव्यकधारामात्र। जैनाभिमत समग्र चेतन तत्त्व मध्यम परिमाण वाले और संकोच-विस्तारशील होने के कारण इस विषय में जड़ द्रव्यों से अत्यन्त विलक्षण नहीं। न्याय-वैशेषिक और योगदर्शन मानते हैं कि आत्मत्व या चेतनत्व समान होने पर भी जीवात्मा और परमात्माके बीच मौलिक भेद है अर्थात् जीवात्मा कभी परमात्मा या ईश्वर नहीं और परमात्मा सदा से ही परमात्मा या ईश्वर है कभी जीव–बन्धनवान नहीं होता। जैन दर्शन इससे बिलकुल उल्टा मानता है जैसा कि वेदान्त आदि मानते हैं। वह कहता है कि जीवात्मा और ईश्वर का कोई सहज भेद नहीं। सब जीवात्माओं में परमात्मशक्ति एक-सी है जो साधन पाकर व्यक्त हो सकती है और होती भी है। अलबत्ता जैन और वेदान्त का इस विषय में इतना अन्तर अवश्य है कि वेदान्त एकपरमात्मवादी है जब जैनदर्शन चेतन बहुत्ववादी होने के कारण तात्त्विकरूप से बहुपरमात्मवादी है।

जैन परम्परा के तत्त्वप्रतिपादक प्राचीन, अर्वाचीन, प्राकृत, संस्कृत कोई भी ग्रन्थ क्यों न हों पर उन सबमें निरूपण और वर्गीकरण प्रकार भिन्न भिन्न होने पर भी प्रतिपादक दृष्टि और प्रतिपाद्य प्रमेय, प्रमाता आदि का स्वरूप वही है जो संक्षेप में ऊपर स्पष्ट किया गया। 'प्रमाणमीमांसा' भी उसी जैन दृष्टि से उन्हीं जैन मन्तव्यों का हार्द अपने ढंग से प्रगट करती है।

§ २. बाह्य स्वरूप।

प्रस्तुत 'प्रमाणमीमांसा' के बाह्य स्वरूप का परिचय निम्न लिखित मुद्दों के वर्णन से हो सकेगा—शैली, विभाग, परिमाण, और भाषा।

प्रमाणमीमांसा सूत्रशैली का ग्रन्थ है। वह कणाद सूत्रों या तत्त्वार्थ सूत्रों की तरह न दश अध्यायों में है, और न जैमिनीय सूत्रों की तरह बारह अध्यायों में। बादरायण सूत्रों की तरह चार अध्याय भी नहीं और पातञ्जल सूत्रों की तरह मात्र चार पाद ही नहीं। वह अक्षपाद के सूत्रों की तरह पांच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय कणाद या अक्षपाद के अध्याय की तरह दो दो आह्निकों में परिसमाप्त है। हेमचन्द्र ने अपने जुदे २ विषय के ग्रन्थों में विभाग के जुदे जुदे क्रम का अवलम्बन करके अपने समय तक में प्रसिद्ध संस्कृत वाङ्मय के प्रतिष्ठित सभी शाखाओं के ग्रन्थों के विभाग क्रम को अपने साहित्य में अपनाया है। किसी में उन्होंने अध्याय और पाद का विभाग रखा, कहीं अध्यायमात्र का और कहीं पर्व, सर्ग काण्ड आदि का। प्रमाणमीमांसा तर्क ग्रन्थ होने के कारण उसमें उन्होंने अक्षपाद के प्रसिद्ध न्यायसूत्रों के अध्याय-आह्निक का ही विभाग रखा, जो हेमचन्द्र के पूर्व अकलङ्क ने जैन वाङ्मय में शुरू किया था।

प्रमाणमीमांसा पूर्ण उपलब्ध नहीं। उसके मूलसूत्र भी उतने ही मिलते हैं जितनों की वृत्ति लभ्य है। अतएव अगर उन्होंने सब मूलसूत्र रचे भी हों तब भी पता नहीं चल सकता कि उनकी कुल संख्या कितनी होगी। उपलब्ध सूत्र १०० ही हैं और उतने ही सूत्रों की

वृत्ति भी है। अन्तिम उपलब्ध २. १. ३५ की वृत्ति पूर्ण होने के बाद एक नये सूत्र का उत्थान उन्होंने शुरू किया है और उस अधूरे उत्थान में ही खण्डित लभ्य ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है। मालूम नहीं कि इसके आगे कितने सूत्रों से वह आह्निक पूरा होता। जो कुछ हो पर उपलब्ध ग्रन्थ दो अध्याय तीन आह्निक मात्र है जो स्वोपज्ञ वृत्ति सहित ही है।

यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि प्रमाणमीमांसा किस भाषा में है, पर उसकी भाषा विषयक योग्यता के बारे में थोड़ा जान लेना जरूरी है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा के प्रवेश के बाद उत्तरोत्तर संस्कृत भाषा का वैशारद्य और प्राञ्जल लेखपाटव बढ़ता ही आ रहा था फिर भी हेमचन्द्र का लेख वैशारद्य कमसे कम जैन वाङ्मय में तो मूर्धन्य स्थान रखता है। वैयाकरण, आलङ्कारिक, कवि और कोषकार रूप से हेमचन्द्र का स्थान न केवल समग्र जैन परंपरा में बल्कि भारतीय विद्वत्परंपरा में भी असाधारण रहा। यही उनकी असाधारणता और व्यवहारदक्षता प्रमाणमीमांसा की भाषा व रचना में स्पष्ट होती है। भाषा उनकी वाचस्पति मिश्र की तरह नपी-तूली और शब्दाडंबर शून्य सहज प्रसन्न है। वर्णन में न उतना संक्षेप है जिससे वक्तव्य अस्पष्ट रहे और न इतना विस्तार है जिससे ग्रन्थ केवल शोभा की वस्तु बना रहे।

§ ३. जैन तर्कसाहित्य में प्रमाणमीमांसा का स्थान।

जैन तर्क साहित्य में प्रमाणमीमांसा का स्थान क्या है इसे समझने के लिये जैन साहित्य के परिवर्तन या विकास संबधी युगों का ऐतिहासिक अवलोकन करना जरूरी है। ऐसे युग संक्षेप में तीन हैं—१ आगमयुग, २ संस्कृतप्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग, ३ न्याय–प्रमाणस्थापन युग।

पहला युग भगवान महावीर या उनके पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ से लेकर आगम संकलना—विक्रमीय पञ्चम-षष्ठ शताब्दी तक का करीब हजार-बारह सौ वर्ष का है। दूसरा युग करीब दो शताब्दियों का है जो करीब विक्रमीय छठी शताब्दी से शुरू होकर सातवीं शताब्दी तक में पूर्ण होता है। तीसरा युग विक्रमीय आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक करीब एक हजार वर्ष का है।

सांप्रदायिक संघर्ष और दार्शनिक तथा दूसरी विविध विद्याओं के विकास—विस्तार के प्रभाव के सबब से जैन परंपरा की साहित्य की अन्तर्मुख या बहिर्मुख प्रवृत्ति में कितना ही युगान्तर जैसा स्वरूप भेद या परिवर्तन क्यों न हुआ हो पर जैसा हमने पहिले सूचित किया है वैसा ही अथ से इति तक देखने पर भी हमें न जैन दृष्टि में परिवर्तन मालूम होता है और न उसके बाह्य-आभ्यन्तर तात्त्विक मन्तव्यों में।

१. आगमयुग

इस युग में भाषा की दृष्टि से प्राकृत या लोक भाषाओं की ही प्रतिष्ठा रही जिससे संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय के परिशीलन की ओर आत्यन्तिक उपेक्षा का होना सहज था

जैसा कि बौद्ध परंपरा में भी था। इस युग का प्रमेय निरूपण आचार लक्षी होने के कारण उसमें मुख्यतया स्वमतप्रदर्शन का ही भाव है। राजसभाओं और इतर वादगोष्ठिओ में विजय भावना से प्रेरित होकर शास्त्रार्थ करने की तथा खण्डनप्रधान ग्रन्थनिर्माण की प्रवृत्ति का भी इस युग में अभाव-सा है। इस युग का प्रधान लक्षण जड़-चेतन के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन तथा अहिंसा-संयम-तप आदि आचारोंका निरूपण करना है।

आगम युग और संस्कृत युग के साहित्य का पारस्परिक अन्तर संक्षेप से इतने ही में कहा जा सकता है कि पहिले युग का जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की तरह अपने मूल उद्देश के अनुसार लोकभोग्य ही रहा है। जब कि संस्कृत भाषा और उसमें निबद्ध तर्क साहित्य के अध्ययन की व्यापक प्रवृत्ति के बाद उसका निरूपण सूक्ष्म और विशद होता गया है सही पर साथ ही साथ वह इतना जटिल भी होता गया कि अन्त में संस्कृतकालीन साहित्य लोक-भोग्यता के मूल उद्देश से च्यूत होकर केवल विद्वद्भोग्य ही बनता गया।

२. संस्कृतप्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग

संभवतः वाचक उमास्वाति या तत्सदृश अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होते ही दूसरे युग का परिवर्तनकारी लक्षण शुरू होता है जो बौद्ध परंपरा में तो अनेक शताब्दी पहिले ही शुरू हो गया था। इस युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास की तथा उसमें ग्रन्थप्रणयन की प्रतिष्ठा स्थिर होती है। इसमें राजसभाप्रवेश, पर-वादियों के साथ वादगोष्ठी और परमतखण्डन की प्रधान दृष्टिसे स्वमत स्थापक ग्रन्थों की रचना—ये प्रधानतया नजर आते हैं। इस युग में सिद्धसेन जैसे एक-आध आचार्य ने जैन न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एकआध ग्रन्थ भले ही रचा हो पर अब तक इस युग में जैनन्याय या प्रमाणशास्त्रों की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पड़ती है और न तद्विषयक तार्किक साहित्य का निर्माण ही देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की प्रधान दिशा दार्शनिक क्षेत्रों में एक ऐसे जैन मन्तव्य की स्थापना की ओर रही है जिसके बिखरे हुए और कुछ स्पष्ट-अस्पष्ट बीज आगम में रहे और जो मन्तव्य आगे जाकर भार-तीय सभी दर्शन परंपरा में एक मात्र जैन परंपरा का ही समझा जाने लगा, तथा जिस मन्तव्य के नाम पर आज तक सारे जैन दर्शन का व्यवहार किया जाता है, वह मन्तव्य है अनेकान्त-वाद का। दूसरे युग में सिद्धसेन हो या समन्तभद्र, मल्लवादी हो या जिनभद्र सभी ने दर्शना-न्तरों के सामने अपने जैनमत की अनेकान्त दृष्टि तार्किक शैलीसे तथा परमत खण्डन के अभिप्राय से इस तरह रखी है कि जिससे इस युग को अनेकान्त स्थापन युग ही कहना समु-चित होगा। हम देखते हैं कि उक्त आचार्यों के पूर्ववर्ती किसीके प्राकृत या संस्कृत ग्रन्थ में न तो वैसी अनेकान्त की तार्किक स्थापना है और न अनेकान्त मूलक सप्तभङ्गी और नयवाद का वैसा तार्किक विश्लेषण है, जैसा हम सन्मति, द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, न्यायावतार स्वयंभूस्तोत्र, आप्त-मीमांसा, युक्त्यनुशासन, नयचक्र और विशेषावश्यक भाष्य में पाते हैं। इस युग के

तर्क-दर्शन निष्णात जैन आचार्यों ने नयवाद, सप्तभङ्गी और अनेकान्तवाद की प्रबल और स्पष्ट स्थापना की ओर इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि जिसके कारण जैन और जैनेतर परंपराओं में जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठित हुआ। और बौद्ध तथा ब्राह्मण दार्शनिक पण्डितों का लक्ष्य अनेकान्त खण्डन की ओर गया तथा वे किसी-न-किसी प्रकार से अपने ग्रन्थों में मात्र अनेकान्त या सप्तभङ्गी का खण्डन करके ही जैन दर्शन के मन्तव्यों के खण्डन की इतिश्री समझने लगे। इस युग की अनेकान्त और तन्मूलक वादों की स्थापना इतनी गहरी हुई कि जिसपर उत्तरवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने अनेकधा पल्लवन किया है फिर भी उसमें नई मौलिक युक्तियों का शायद ही समावेश हुआ है। दो सो वर्ष के इस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति में जैन न्याय और प्रमाण शास्त्र की पूर्वभूमिका तो तैयार हुई जान पड़ती है पर इसमें उस शास्त्र का व्यवस्थित निर्माण देखा नहीं जाता। इस युग की परमतों के सयुक्तिक खण्डन तथा दर्शनान्तरीय समर्थ विद्वानों के सामने स्वमत के प्रतिष्ठित स्थापन की भावना ने जैन परंपरा में संस्कृत भाषा के तथा संस्कृतनिबद्ध दर्शनान्तरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थों के परिशीलन की प्रबल जिज्ञासा पैदा कर दी और उसी ने समर्थ जैन आचार्यों का लक्ष्य अपने निजी न्याय तथा प्रमाण शास्त्र के निर्माण की ओर खींचा, जिसकी कमी बहुत ही अखर रही थी।

३. न्याय-प्रमाणस्थापन युग

उसी परिस्थिति में से अकलङ्क जैसे धुरंधर व्यवस्थापक का जन्म हुआ। संभवतः अकलङ्क ने ही पहिले-पहल सोचा कि जैन परंपरा के ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता आदि सभी पदार्थों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में वैसा ही शास्त्रबद्ध करना आवश्यक है जैसा ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा के साहित्य में बहुत पहिले से हो गया है और जिसका अध्ययन अनिवार्य रूपसे जैन तार्किक करने लगे हैं। इस विचार से अकलङ्क ने द्विमुखी प्रवृत्ति शुरू की। एक ओर तो बौद्ध और ब्राह्मण परंपराके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका सूक्ष्म परिशीलन और दूसरी ओर समस्त जैन मन्तव्यों का तार्किक विश्लेषण। केवल परमतों का निरास करने ही से अकलङ्क का उद्देश्य सिद्ध हो नहीं सकता था। अतएव दर्शनान्तरीय शास्त्रों के सूक्ष्म परिशीलन में से और जैन मत के तलस्पर्शी ज्ञान से उन्होंने छोटे-छोटे पर समस्त जैनतर्क-प्रमाण शास्त्र के आधारस्तम्भभूत अनेक न्याय-प्रमाण विषयक प्रकरण रचे जो दिङ्नाग और खासकर धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों के तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि जैसे ब्राह्मण तार्किकों के प्रभाव से भरे हुवे होने पर भी जैन मन्तव्यों की बिलकुल नये सिरे और स्वतन्त्रभाव से स्थापना करते हैं। अकलङ्कने न्याय-प्रमाण शास्त्रका जैन परंपरा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण-प्रमेय आदिका वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वादकथा आदि परमत-प्रसिद्ध वस्तुओं के संबंधमें जो जैन प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अबतक में जैन परंपरा में नहीं पर अन्य परंपराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्क-शास्त्र के अनेक पदार्थों को जैनदृष्टि से जैन परंपरा में जो सात्मीभाव किया तथा आगम सिद्ध

अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब उनके छोटे-छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय-प्रमाणस्थापन युग का द्योतक है।

अकलङ्क के द्वारा प्रारब्ध इस युग में साक्षात् या परंपरा से अकलङ्क के शिष्य-प्रशिष्यों ने ही उनके सूत्रस्थानीय ग्रन्थों को बड़े-बड़े टीकाग्रन्थों से वैसे ही अलङ्कृत किया जैसे धर्मकीर्ति के ग्रन्थों को उनके शिष्यों ने।

अनेकान्त युग की मात्र पद्यप्रधान रचना को अकलङ्क ने गद्य-पद्य में परिवर्तित किया था पर उनके उत्तरवर्ती अनुगामियों ने उस रचना को नानारूपों में परिवर्तित किया, जो रूप बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा में प्रतिष्ठित हो चूके थे। माणिक्यनन्दी अकलङ्क के ही विचार दोहन में से सूत्रों का निर्माण करते हैं। विद्यानन्द अकलङ्क के ही सूक्तों पर या तो भाष्य रचते हैं या तो पद्यवार्तिक बनाते हैं या दूसरे छोटे छोटे अनेक प्रकरण बनाते हैं। अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे तो अकलङ्कके संक्षिप्त सूक्तों पर इतने बड़े और विशद तथा जटिल भाष्य व विवरण कर डालते हैं कि जिससे तब तक में विकसित दर्शनान्तरीय विचार परंपराओं का एक तरह से जैन वाङ्मय में समावेश हो जाता है। दूसरी तरफ श्वेताम्बर परंपराके आचार्य भी उसी अकलङ्क स्थापित प्रणालीकी ओर झुकते हैं। हरिभद्र जैसे आगमिक और तार्किक ग्रन्थकार ने तो सिद्धसेन और समन्तभद्र आदि के मार्ग का प्रधानतया अनेकान्तजयपता का आदि में अनुसरण किया पर धीरे-धीरे न्याय-प्रमाण विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयन की प्रवृत्ति भी श्वेताम्बरा परंपरा में शुरू हुई। श्वेताम्बराचार्य सिंद्धसेन ने न्यायावतार रचा था। पर वह निरा प्रारंभ मात्र था। अकलङ्क ने जैन न्याय की सारी व्यवस्था स्थिर कर दी। हरिभद्रने दर्शनान्तरीय सब वार्ताओं का समुच्चय भी कर दिया। इस भूमिका को लेकर शान्त्याचार्य जैसे श्वेतांबर तार्किक ने तर्कवार्तिक जैसा छोटा किन्तु सारगर्भ ग्रन्थ रचा, इसके बाद तो श्वेताम्बर परंपरा में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह का, परिशीलन का और नये-नये ग्रन्थ निर्माण का ऐसा पूर आया कि मानो समाजमें तबतक ऐसा कोई प्रतिष्ठित विद्वान् ही न समझा जाने लगा, जिसने संस्कृत भाषा में खास कर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूपसे कुछ न कुछ लिखा न हो। इस भावना में से ही अभयदेव का वादार्णव तैयार हुआ जो संभवतः तब तक के जैन संस्कृत ग्रन्थों में सबसे बड़ा है। पर जैन परंपरा पोषक गूजरात गत सामाजिक-राजकीय सभी बलों का सबसे अधिक उपयोग वादीदेव सूरि के किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ का स्याद्वादरत्नाकर यथार्थ ही नाम रखा। क्योंकि उन्होंने अपने समय तक में प्रसिद्ध सभी श्वेताम्बर दिगम्बर तार्किकों के विचार का दोहन अपने ग्रन्थ में रख दिया जो स्याद्वाद ही था। और साथ ही उन्होंने अपनी जानीब से ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा की किसी भी शाखा के मन्तव्यों की विस्तृत चर्चा अपने ग्रन्थ में न छोड़ी। चाहें विस्तार के कारण वह ग्रन्थ पाठ्य रहा न हो पर तर्कशास्त्र के निर्माण में और विस्तृत निर्माण में प्रतिष्ठा मानने वाले जैनमत की बदौलत एक रत्नाकर जैसा समग्र मन्तव्यरत्नों का संग्रह बन गया, जो न केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही उपयोगी है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है।

आगमिक साहित्य के प्राचीन और अति विशाल खजाने के उपरान्त तत्त्वार्थ से लेकर स्याद्वादरत्नाकर तक के संस्कृत व तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन पथ में आई जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्गीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नये सर्जन की ओर प्रवृत्त हुवा जो तब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।

दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि से प्रेरित होकर सिद्धसेन ने जैन परंपरा में न्याय–परार्थानुमान का अवतार कर ही दिया था। समन्तभद्र ने अक्षपाद के प्रावादुकों (अध्याय चतुर्थ) के मतनिरास की तरह आप्त की मीमांसा के बहाने सप्तभङ्गी की स्थापना में पर प्रवादियोंका निरास कर ही दिया था। तथा उन्होंने जैनेतर शासनों से जैन शासनकी विशेष सयुक्तिकता का अनुशासन भी युक्त्यनुशासन में कर ही दिया था। धर्मकीर्ति के प्रमाण वार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि से बल पाकर तीक्ष्णदृष्टि अकलङ्क ने जैन न्याय का विशेष निश्चय–व्यवस्थापन तथा जैन प्रमाणों का संग्रह अर्थात् विभाग, लक्षण आदि द्वारा निरूपण अनेक तरह से कर दिया था। अकलङ्क ने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदिकी सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ बौद्धों को जवाब भी दिया था। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्द ने आप्त की, पत्र की और प्रमाणों की परीक्षा द्वारा धर्मकीर्ति की तथा शान्तरक्षित की विविध परीक्षाओं का जैन परंपरा में सूत्रपात भी कर ही दिया था। माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख के द्वारा न्यायबिन्दु के से सूत्र ग्रन्थ की कमी को दूर कर ही दिया था। जैसे धर्मकीर्ति के अनुगामी विनीतदेव, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट आदि प्रखर तार्किकों ने उनके सभी मूल ग्रन्थों पर छोटे बड़े भाष्य या विवरण लिखकर उनके ग्रन्थों को पठनीय तथा विचारणीय बनाकर बौद्ध न्यायशास्त्र को प्रकर्ष की भूमिका पर पहुँचाया था वैसे ही एक तरफ से दिगम्बर परंपरा में अकलङ्क के संक्षिप्त पर गहन सूक्तों पर उनके अनुगामी अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे विशारद तथा पुरुषार्थी तार्किकों ने विस्तृत व गहन भाष्य-विवरण आदि रचकर जैन न्याय शास्त्र को अतिसमृद्ध बनाने का सिलसिला भी जारी कर ही दिया था और दूसरी तरफ से श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के संस्कृत तथा प्राकृत तर्क प्रकरणों को उनके अनुगामिओं ने टीका ग्रन्थों से भूषित करके उन्हें विशेष सुगम तथा प्रचारणीय बनाने का भी प्रयत्न इसी युग में शुरू किया था। इसी सिलसिले में से प्रभाचन्द्र के द्वारा प्रमेयों के कमल पर मार्तण्ड का प्रखर प्रकाश तथा न्याय के कुमुदों पर चन्द्र का सौम्य प्रकाश डाला ही गया था। अभयदेव के द्वारा तत्त्वबोधविधायिनी टीका या वादार्णव रचा जाकर तत्त्वसंग्रह तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कार जैसे बड़े ग्रन्थों के अभाव की पूर्ति की गई थी। वादि देव ने रत्नाकर रचकर उसमें सभी पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थरत्नों का पूर्णतया संग्रह कर दिया था। यह सब हेमचन्द्र के सामने था। पर उन्हें मालूम हुआ कि उस न्याय-प्रमाण विषयक साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक २ विषय की ही चर्चा करता है या बहुत ही संक्षिप्त है। दूसरा भाग ऐसा है कि जो है तो सर्वविषयसंग्राही पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्दक्लिष्ट है कि जो सर्व साधारण के अभ्यास का विषय

बन नहीं सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो कि उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे और फिर भी वह पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि में से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ। इसमें हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती आगमिक-तार्किक सभी जैन मन्तव्यों को विचार व मनन से पचा कर अपने ढंग की विशद व अपुनरुक्त सूत्रशैली तथा सर्वसंग्राहिणी विशदतम स्वोपज्ञ वृत्ति में सन्निविष्ट किया। यद्यपि पूर्ववर्ती अनेक जैन ग्रन्थों का सुसंबद्ध दोहन इस मीमांसा में है जो हिन्दी टिप्पणों में की गई तुलना से स्पष्ट हो जाता है फिर भी उसी अधूरी तुलना के आधार से यहाँ यह भी कह देना समुचित है कि प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माण में हेमचन्द्र ने प्रधानतया किन किन ग्रन्थों या ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है। निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य तथा तत्त्वार्थ जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलङ्क, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्रायः समस्त कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी हैं। प्रभाचन्द्र के मार्तण्ड का भी इसमें पूरा असर है। अगर अनन्तवीर्य सचमुच हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती या समकालीन वृद्ध रहे होंगे तो यह भी सुनिश्चत है कि इस ग्रन्थ की रचना में उनकी छोटीसी प्रमेयरत्नमाला का विशेष उपयोग हुआ है। वादी देवसूरि की कृति का भी उपयोग इसमें स्पष्ट है; फिर भी जैन तार्किकों में से अकलङ्क और माणिक्यनन्दी का ही मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। उपयुक्त जैन-ग्रन्थों में आए हुए ब्राह्मण बौद्ध ग्रन्थों का उपयोग हो जाना तो स्वाभाविक ही था; फिर भी प्रमाणमीमांसा के सूक्ष्म अवलोकन तथा तुलनात्मक अभ्यास से यह भी पता चल जाता है कि हेमचन्द्र ने बौद्ध-ब्राह्मण परंपरा के किन किन विद्वानों की कृतिओं का अध्ययन व परिशीलन विशेषरूप से किया था जो प्रमाणमीमांसा में उपयुक्त हुआ हो। दिङ्नाग, खास कर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित ये बौद्ध तार्किक इनके अध्ययन के विषय अवश्य रहे हैं। कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्द्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर, कुमारिल आदि जुदी जुदी वैदिक परंपराओं के प्रसिद्ध विद्वानों की सब कृतियाँ प्रायः इनके अध्ययन की विषय रहीं। चार्वाक एकदेशीय जयराशि भट्ट का तत्त्वोपप्लव भी इनकी दृष्टि के बाहर नहीं था। यह सब होते हुए भी हेमचन्द्र की भाषा तथा निरूपण शैली पर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट भासर्वज्ञ, वात्स्यायन, जयन्त, वाचस्पति, कुमारिल आदि का ही आकर्षक प्रभाव पड़ा हुआ जान पड़ता है। अतएव यह अधूरे रूप में उपलब्ध प्रमाणमीमांसा भी ऐतिहासिक दृष्टि से जैन तर्कसाहित्य में तथा भारतीय दर्शनसाहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है।

§ ४ भारतीय प्रमाणशास्त्र में प्रमाणमीमांसा का स्थान

भारतीय प्रमाणशास्त्र में प्रमाणमीमांसा का तत्त्वज्ञान की दृष्टि से क्या स्थान है इसे ठीक २ समझने के लिये मुख्यतया दो प्रश्नों पर विचार करना ही होगा। जैनतार्किकों की भारतीय प्रमाणशास्त्रको क्या देन है, जो प्रमाणमीमांसा में सन्निविष्ट हुई हो और जिसको

बिना जाने किसी तरह भारतीय प्रमाणशास्त्र का पूरा अध्ययन हो ही नहीं सकता। पूर्वाचार्यों की उस देन में हेमचन्द्र ने अपनी ओर से कुछ भी विशेष अर्पण किया है या नहीं और किया है तो किन मुद्दों पर ?

१. जैनाचार्यों की भारतीय प्रमाणशास्त्र को देन

१. अनेकान्तवाद–सबसे पहली और सबसे श्रेष्ठ सब देनों की चाबी रूप जैनाचार्यों की मुख्य देन है अनेकान्त तथा नयवाद का शास्त्रीय निरूपण।

विश्व का विचार करनेवाली परस्पर भिन्न ऐसी मुख्य दो दृष्टियाँ हैं। एक है सामान्यगामिनी और दूसरी है विशेषगामिनी। पहली दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता ही देखती है पर वह धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते २ अंत में सारे विश्व को एक ही मूल में देखती है और फलतः निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उतर कर अंत में वह दृष्टि तात्त्विक-एकता की भूमिका पर आ कर ठहरती है। उस दृष्टि में जो एक मात्र विषय स्थिर होता है, वही सत् है। सत् तत्त्वमें आत्यंतिक रूप से निमग्न होने के कारण वह दृष्टि या तो भेदों को देख ही नहीं पाती या उन्हें देख कर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कह कर छोड़ ही देती है। चाहे फिर वे प्रतीतिगोचर होने वाले भेद कालकृत हों अर्थात् कालपट पर फैले हुए हों जैसे पूर्वापररूप बीज, अंकुर आदि; या देशकृत हों अर्थात् देशपट पर वितत हों जैसे समकालीन घट, पट आदि प्रकृति के परिणाम; या द्रव्यगत अर्थात् देशकाल-निरपेक्ष साहजिक हों जैसे प्रकृति, पुरुष तथा अनेक पुरुष।

इसके विरुद्ध दूसरी दृष्टि सारे विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और धीरे-धीरे उस असमानता की जड़ की खोज करते करते अंत में वह विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे एकता की तो बात ही क्या, समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः वह निश्चय कर लेती है कि विश्व एक दूसरे से अत्यंत भिन्न ऐसे भेदों का पुंज मात्र है। वस्तुतः उसमें न कोई वास्तविक एक तत्त्व है और न साम्य ही। चाहे वह एक तत्त्व समग्र देश-काल-व्यापी समझा जाता हो जैसे प्रकृति; या द्रव्यभेद होने पर भी मात्र काल व्यापी एक समझा जाता हो जैसे परमाणु।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ मूल में ही भिन्न हैं। क्योंकि एक का आधार समन्वय मात्र है और दूसरी का आधार विश्लेषण मात्र। इन मूलभूत दो विचार सरणियों के कारण तथा उनमें से प्रस्फुटित होनेवाली दूसरी वैसी ही अवान्तर विचारसरणियों के कारण अनेक मुद्दों पर अनेक विरोधी वाद आप ही आप खड़े हो जाते है। हम देखते हैं कि सामान्यगामिनी पहली दृष्टि में से समग्र देश-काल-व्यापी तथा देश-काल-विनिर्मुक्त ऐसे एक मात्र सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैत का वाद स्थापित हुआ; जिसने एक तरफ से सकल भेदों को और तद्ग्राहक प्रमाणों को मिथ्या बतलाया और साथ ही सत्-तत्त्व को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कह कर मात्र अनुभवगम्य कहा। दूसरी विशेषगामिनी दृष्टि में से भी केवल देश और काल भेद से ही भिन्न नहीं

बल्कि स्वरूप से भी भिन्न ऐसे अनंत भेदों का वाद स्थापित हुआ। जिसने एक ओर से सब प्रकार के अभेदों को मिथ्या बतलाया और दूसरी तरफ से अंतिम भेदों को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कह कर मात्र अनुभवगम्य बतलाया। ये दोनों वाद अंत में शून्यता के तथा स्वानुभवगम्यता के परिणाम पर पहुँचे सही, पर दोनों का लक्ष्य अत्यंत भिन्न होने के कारण वे आपस में बिलकुल ही टकराने और परस्पर विरुद्ध दिखाई देने लगे।

उक्त मूलभूत दो विचारधाराओं में से फूटने वाली या उनसे सम्बन्ध रखने वाली भी अनेक विचारधाराएँ प्रवाहित हुईं। किसी ने अभेद को तो अपनाया, पर उसकी व्याप्ति काल और देश पट तक अथवा मात्र कालपट तक रखी। स्वरूप या द्रव्य तक उसे नहीं बढ़ाया। इस विचार धारा में से अनेक द्रव्यों को मानने पर भी उन द्रव्यों की कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता के वाद का जन्म हुआ जैसे सांख्य का प्रकृति-पुरुषवाद। दूसरी विचार-धारा ने उसकी अपेक्षा भेद का क्षेत्र बढ़ाया। जिससे उसने कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता मान कर भी स्वरूपतः जड़ द्रव्यों को अधिक संख्या में स्थान दिया जैसे परमाणु, विभुद्रव्यवाद।

अद्वैतमात्र को या सन्मात्रको स्पर्श करनेवाली दृष्टि किसी विषय में भेद सहन न कर सकने के कारण अभेदमूलक अनेकवादों का स्थापन करे, यह स्वाभाविक ही है। हुआ भी ऐसा ही। इसी दृष्टि में से कार्य-कारण के अभेदमूलक मात्र सत्कार्यवाद का जन्म हुआ। धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि द्वंद्वों के अभेदवाद भी उसीमें से फलित हुए। जब कि द्वैत और भेद को स्पर्श करनेवाली दृष्टि ने अनेक विषयों में भेदमूलक ही नाना वाद स्थापित किये। उसने कार्य-कारण के भेदमूलक मात्र असत्कार्यवाद को जन्म दिया तथा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि अनेक द्वंद्वों के भेदों को भी मान लिया। इस तरह हम भारतीय तत्त्वचिंतन में देखते हैं कि मौलिक सामान्य और विशेष दृष्टि तथा उनकी अवान्तर सामान्य और विशेष दृष्टियों में से परस्पर विरुद्ध ऐसे अनेक मतों—दर्शनों का जन्म हुआ; जो अपने विरोधिवाद की आधारभूत भूमिका की सत्यता की कुछ भी परवा न करने के कारण एक दूसरे के प्रहार में ही चरितार्थता मानने लगे।

सद्वाद अद्वैतगामी हो या द्वैतगामी जैसा कि सांख्यादि का, पर वह कार्य-कारण के अभेद मूलक सत्कार्यवाद को बिना माने अपना मूल लक्ष्य सिद्ध ही नहीं कर सकता जब कि असद्वाद क्षणिकगामी हो जैसे बौद्धों का, स्थिरगामी हो या नित्यगामी हो जैसे वैशेषिक आदि का—पर वह असत्कार्यवाद का स्थापन बिना किये अपना लक्ष्य स्थिर कर ही नहीं सकता। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की पारस्परिक टक्कर हुई। अद्वैतगामी और द्वैतगामी सद्वाद में से जन्मी हुई कूटस्थता जो कालिक नित्यता रूप है और विभुता जो दैशिक व्यापकतारूप है उनकी—देश और कालकृत निरंश अंशवाद अर्थात् निरंश क्षणवाद के साथ टक्कर हुई; जो कि वस्तुतः सद्दर्शन के विरोधी दर्शन में से फलित होता है। एक तरफ से सारे विश्व को अखण्ड और एक तत्त्वरूप माननेवाले और दूसरी तरफ से उसे निरंश अंश-

पुंज माननेवाले अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर सकते थे जब वे अपने अभीष्ट तत्त्व को अनिर्वचनीय अर्थात् अनभिलाप्य—शब्दागोचर मानें, क्योंकि शब्द के द्वारा निर्वचन मानने पर न तो अखण्ड सत् तत्त्व की सिद्धि हो सकती है और न निरंश भेदतत्त्व की। निर्वचन करना ही मानों अखण्डता या निरंशता का लोप कर देना है। इस तरह अखण्ड और निरंशवाद में से अनिर्वचनीयत्ववाद आप ही आप फलित हुआ। पर उस वाद के सामने लक्षण-वादी वैशेषिक आदि तार्किक हुए, जो ऐसा मानते हैं कि वस्तुमात्र का निर्वचन करना या लक्षण बनाना शक्य ही नहीं बल्कि वास्तविक भी हो सकता है। इसमें से निर्वचनीयत्ववाद का जन्म हुआ और वे—अनिर्वचनीय तथा निर्वचनीयवाद आपसमें टकराने लगे।

इसी प्रकार कोई मानते थे कि प्रमाण चाहे जो हो पर हेतु अर्थात् तर्क के सिवाय किसी से अन्तिम निश्चय करना भयास्पद है। जब दूसरे कोई मानते थे कि हेतुवाद स्वतंत्र बल नहीं रखता। ऐसा बल आगम में ही होने से वही मूर्धन्य प्रमाण है। इसीसे वे दोनों वाद परस्पर टकराते थे। दैवज्ञ कहता था कि सब कुछ दैवाधीन है; पौरुष स्वतन्त्ररूप से कुछ कर नहीं सकता। पौरुषवादी ठीक इससे उलटा कहता था कि पौरुष ही स्वतन्त्रभाव से कार्यकर है। अतएव वे दोनों वाद एक दूसरे को असत्य ही मानते रहे। अर्थनय—पदार्थवादी शब्द की और शब्दनय—शाब्दिक अर्थ की परवा न करके परस्पर खण्डन करने में प्रवृत्त थे। कोई अभाव को भाव से पृथक् ही मानता तो दूसरा कोई उसे भाव स्वरूप ही मानता था और वे दोनों भाव से अभाव को पृथक् मानने न मानने के बारे में परस्पर प्रतिपक्षभाव धारण करते रहे। कोई प्रमाता से प्रमाण और प्रमिति को अत्यन्त भिन्न मानते तो दूसरे कोई उससे उन्हें अभिन्न मानते थे। कोई वर्णाश्रम विहित कर्म मात्र पर भार देकर उसीसे इष्ट प्राप्ति बतलाते तो कोई ज्ञानमात्र से आनन्दाप्ति प्रतिपादन करते जब तीसरे कोई भक्ति को ही परम पद का साधन मानते रहे और वे सभी एक दूसरे का आवेशपूर्वक खण्डन करते रहे। इस तरह तत्त्वज्ञान के व आचार के छोटे-बड़े अनेक मुद्दों पर परस्पर बिलकुल विरोधी ऐसे अनेक एकान्त मत प्रचलित हुए।

उन एकान्तों की पारस्परिक वाद-लीला देखकर अनेकान्तदृष्टि के उत्तराधिकारी आचार्यों को विचार आया कि असल में ये सब वाद जो कि अपनी अपनी सत्यता का दावा करते हैं वे आपसमें इतने लड़ते हैं क्यों? क्या उन सब में कोई तथ्यांश ही नहीं, या सब में तथ्यांश है, या किसी किसी में तथ्यांश है, या सभी पूर्ण सत्य है? इस प्रश्न के अन्तर्मुख जवाब में से उन्हें एक चाबी मिल गई जिसके द्वारा उन्हें सब विरोधों का समाधान हो गया और पूरे सत्य का दर्शन हुआ। वही चाबी अनेकान्तवाद की भूमिका रूप अनेकान्तदृष्टि है। इस दृष्टि के द्वारा उन्होंने देखा कि प्रत्येक सयुक्तिक वाद अमुक अमुक दृष्टि से अमुक अमुक सीमा तक सत्य है। फिर भी जब कोई एक वाद दूसरे वाद की आधारभूत विचार-सरणी और उस वाद की सीमा का विचार नहीं करता और अपनी आधारभूत दृष्टि तथा अपने विषय की सीमा में ही सब कुछ मान लेता है, तब उसे किसी भी तरह दूसरे वाद की सत्यता मालूम

ही नहीं हो पाती। यही हालत दूसरे विरोधी वाद की भी होती है। ऐसी दशा में न्याय इसी में है कि प्रत्येक वाद को उसी की विचार-सरणी से उसी की विषय-सीमा तक ही जाँचा जाय और इस जाँच में वह ठीक निकले तो उसे सत्य का एक भाग मान कर ऐसे सब सत्यांशरूप मणियों को एक पूर्ण सत्यरूप विचार-सूत्र में पिरो कर अविरोधी माला बनाई जाय। इस विचार ने जैनाचार्यों को अनेकान्तदृष्टि के आधार पर तत्कालीन सब वादों का समन्वय करने की ओर प्रेरित किया। उन्होंने सोचा कि जब शुद्ध और निःस्वार्थ चित्त वालों में से किन्हीं को एकत्वपर्यवसायी साम्यप्रतीति होती है और किन्हीं को निरंश अंश पर्यवसायी भेद प्रतीति होती है तब यह कैसे कहा जाय कि अमुक एक ही प्रतीति प्रमाण है और दूसरी नहीं। किसी एक को अप्रमाण मानने पर तुल्य युक्तिसे दोनों प्रतीतियाँ अप्रमाण ही सिद्ध होंगी। इसके सिवाय किसी एक प्रतीति को प्रमाण और दूसरी को अप्रमाण मानने वालों को भी अन्त में अप्रमाण मानी हुई प्रतीति के विषयरूप सामान्य या विशेष के सार्वजनिक व्यवहार की उपपत्ति तो किसी न किसी तरह करनी ही पड़ती है। यह नहीं कि अपनी इष्ट प्रतीति को प्रमाण कहने मात्र से सब शास्त्रीय-लौकिक व्यवहारों की उपपत्ति भी हो जाय। यह भी नहीं कि ऐसे व्यवहारों को उपपन्न विना किये ही छोड़ दिया जाय। ब्रह्मैकत्ववादी भेदों को व उनकी प्रतीति को अविद्यामूलक ही कह कर उनकी उपपत्ति करेगा; जब कि क्षणिकत्ववादी साम्य या एकत्व को व उसकी प्रतीति को ही अविद्यामूलक कह कर ऐसे व्यवहारों की उपपत्ति करेगा।

ऐसा सोचने पर अनेकान्त के प्रकाश में अनेकान्तवादियों को मालूम हुआ कि प्रतीति अभेदगामिनी हो या भेदगामिनी, हैं तो सभी वास्तविक। प्रत्येक प्रतीति की वास्तविकता उसके अपने विषय तक तो है पर जब वह विरुद्ध दिखाई देनेवाली दूसरी प्रतीति के विषय की अयथार्थता दिखाने लगती है तब वह खुद भी अवास्तविक बन जाती है। अभेद और भेद की प्रतीतियाँ विरुद्ध इसीसे जान पड़ती हैं कि प्रत्येक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। सामान्य और विशेष की प्रत्येक प्रतीति स्वविषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण नहीं। वह प्रमाण का अंश अवश्य है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो ऐसा ही होना चाहिए, जिससे कि वे विरुद्ध दिखाई देनेवाली प्रतीतियाँ भी अपने स्थान में रहकर उसे अविरोधीभाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिलकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें। इस समन्वय या व्यवस्थागर्भित विचार के बल पर उन्होंने समझाया कि सद्-अद्वैत और सद्-द्वैत के बीच कोई विरोध नहीं, क्योंकि वस्तु का पूर्णस्वरूप ही अभेद और भेद या सामान्य और विशेषात्मक ही है। जैसे हम स्थान, समय, रंग, रस, परिमाण आदि का विचार किये बिना ही विशाल जलराशि मात्र का विचार करते हैं तब हमें एक ही एक समुद्र प्रतीत होता है। पर उसी जलराशि के विचार में जब स्थान, समय आदि का विचार दाखिल होता है तब हमें एक अखण्ड समुद्र के स्थान में अनेक छोटे बड़े समुद्र नजर आते हैं; यहाँ तक कि अन्त में हमारे ध्यान में जलकण तक नहीं रहता उसमें

केवल कोई अविभाज्य रूप या रस आदि का अंश ही रह जाता है और अन्त में वह भी शून्यवत् भासित होता है। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र की बुद्धि भी वास्तविक है और अन्तिम अंश की बुद्धि भी। एक इसलिए वास्तविक है कि वह भेदों को अलग २ रूप से स्पर्श न करके सब को एक साथ सामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक दूसरे से व्यावृत्त हैं उनको अलग २ रूप से विषय करनेवाली बुद्धि भी वास्तविक है। क्योंकि वे भेद वैसे ही हैं। जलराशि एक और अनेक उभयरूप होने के कारण उसमें होनेवाली समुद्रबुद्धि और अंशबुद्धि अपने २ स्थान में यथार्थ होकर भी कोई एक बुद्धि पूर्ण स्वरूप को विषय न करने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं है। फिर भी दोनों मिलकर पूर्ण प्रमाण है। वैसे ही जब हम सारे विश्व को एक मात्र सत्-रूप से देखें अथवा यों कहिए कि जब हम समस्त भेदों के अन्तर्गत एक मात्र अनुगमक सत्ता स्वरूप का विचार करें तब हम कहते हैं कि एकमात्र सत् ही है; क्योंकि उस सर्वग्राही सत्ता के विचार के समय कोई ऐसें भेद भासित नहीं होते जो परस्पर में व्यावृत्त हों। उस समय तो सारे भेद समष्टिरूप में या एक मात्र सत्ता रूप में ही भासित होते हैं। और तभी सद्-अद्वैत कहलाता है। एकमात्र सामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना विशाल हो जाता है कि जिसमें कोई शेष नहीं बचता। पर हम जब उसी विश्व को गुणधर्म कृत भेदों में जो कि परस्पर व्यावृत्त हैं, विभाजित करते हैं, तब वह विश्व एक सत् रूप से मिट कर अनेक सत् रूप प्रतीत होता है। उस समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना ही छोटा हो जाता है। हम कभी कहते हैं कि कोई सत् जड़ भी है और कोई चेतन भी। हम और अधिक भेदों की ओर झुक कर फिर यह भी कहते हैं कि जडसत् भी अनेक हैं और चेतनसत् भी अनेक हैं। इस तरह जब सर्वग्राही सामान्यको व्यावर्तक भेदों में विभाजित करके देखते हैं तब हमें नाना सत् मालूम होते हैं और वही सद्-द्वैत है। इस प्रकार एक ही विश्व में प्रवृत्त होनेवाली सद्-अद्वैत बुद्धि और सद्-द्वैत बुद्धि दोनों अपने २ विषय में यथार्थ होकर भी पूर्ण प्रमाण तभी कही जायँगी जब वे दोनों सापेक्ष रूप से मिलें। यही सद्-अद्वैत और सद्-द्वैत वाद जो परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं उनका अनेकान्त दृष्टि के अनुसार समन्वय हुआ।

इसे वृक्ष और वन के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब अनेक परस्पर भिन्न वृक्ष व्यक्तियों को उस उस व्यक्ति रूप से ग्रहण न करके सामूहिक या सामान्य रूप में वन रूप से ग्रहण करते हैं; तब उन सब विशेषों का अभाव नहीं हो जाता। पर वे सब विशेष सामान्य रूप से सामान्यग्रहण में ही ऐसे लीन हो जाते हैं मानो वे हैं ही नहीं। एक मात्र वन ही वन नज़र आता है यही एक प्रकार का अद्वैत हुआ। फिर कभी हम जब एक-एक वृक्ष को विशेष रूपसे समझते हैं तब हमें परस्पर भिन्न व्यक्तियाँ ही व्यक्तियाँ नज़र आती हैं, उस समय विशेष प्रतीति में सामान्य इतना अन्तर्लीन हो जाता है कि मानों वह है ही नहीं। अब इन दोनों अनुभवों का विश्लेषण करके देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक ही सत्य है और दूसरा असत्य। अपने अपने विषय में दोनों की सत्यता होते

हुए भी किसी एक को पूर्ण सत्य नहीं कह सकते। पूर्ण सत्य दोनों अनुभवों का समुचित समन्वय ही है। क्योंकि इसी में सामान्य और विशेषात्मक वन-वृक्षों का अबाधित अनुभव समा सकता है। यही स्थिति विश्व के सम्बन्ध में सद्-अद्वैत किंवा सद्-द्वैत दृष्टि की भी है।

कालिक, दैशिक और देश-कालातीत सामान्य-विशेष के उपर्युक्त अद्वैत-द्वैतवाद से आगे बढ़ कर एक कालिक सामान्य-विशेष के सूचक नित्यत्ववाद और क्षणिकत्ववाद भी हैं। ये दोनों वाद एक दूसरे के विरुद्ध ही जान पड़ते हैं; पर अनेकान्त दृष्टि कहती है कि वस्तुतः उनमें कोई विरोध नहीं। जब हम किसी तत्त्व को तीनों कालों में अखण्डरूप से अर्थात् अनादि-अनंतरूप से देखेंगे तब वह अखण्ड प्रवाह रूप में आदि-अंत रहित होने के कारण नित्य ही है। पर हम जब उस अखण्ड प्रवाह पतित तत्त्व को छोटे बड़े आपेक्षिक काल भेदों में विभाजित कर लेते हैं, तब उस उस काल पर्यंत स्थायी ऐसा परिमित रूप ही नज़र आता है, जो सादि भी है और सान्त भी। अगर विवक्षित काल इतना छोटा हो जिसका दूसरा हिस्सा बुद्धिशस्त्र कर न सके तो उस काल से परिच्छिन्न वह तत्त्वगत प्रावाहिक अंश सबसे छोटा होने के कारण क्षणिक कहलाता है। नित्य और क्षणिक ये दोनों शब्द ठीक एक दूसरे के विरुद्धार्थक हैं। एक अनादि-अनन्त का और दूसरा सादि-सान्त का भाव दरसाता है। फिर भी हम अनेकान्तदृष्टि के अनुसार समझ सकते हैं कि जो तत्त्व अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से नित्य कहा जा सकता है वही तत्त्व खण्ड खण्ड क्षणपरिमित परिवर्तनों व पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक भी कहा जा सकता है। एक वाद की आधारदृष्टि है अनादि-अनंतता की दृष्टि। जब दूसरे की आधार है सादि-सान्तताकी दृष्टि। वस्तु का कालिक पूर्ण स्वरूप अनादि-अनंतता और सादि-सान्तता इन दो अंशों से बनता है। अतएव दोनों दृष्टियाँ अपने अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण तभी बनती हैं जब वे समन्वित हों।

इस समन्वयको दृष्टान्त से भी इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। किसी एक वृक्षका जीवन-व्यापार मूल से लेकर फल तक में कालक्रम से होने वाली बीज, मूल, अंकुर, स्कन्ध, शाखा-प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि विविध अवस्थाओं में होकर ही प्रवाहित और पूर्ण होता है। जब हम अमुक वस्तु को वृक्षरूप से समझते हैं तब उपर्युक्त सब अवस्थाओं में प्रवाहित होनेवाला पूर्ण जीवन-व्यापार ही अखण्डरूप से मनमें आता है; पर जब हम उसी जीवन-व्यापार के परस्पर भिन्न ऐसे क्रमभावी मूल, अंकुर स्कन्ध आदि एक एक अंश को ग्रहण करते हैं तब वे परिमित काल-लक्षित अंश ही हमारे मनमें आते हैं। इस प्रकार हमारा मन कभी तो उस समूचे जीवन-व्यापार को अखण्ड रूप में स्पर्श करता है और कभी उसे खण्डित रूप में एक-एक अंश के द्वारा। परीक्षण करके देखते हैं तो साफ जान पड़ता है कि न तो अखण्ड जीवन-व्यापार ही एक-मात्र पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक मात्र है और न खण्डित अंश ही पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक। भले ही उस अखण्ड में सारे खण्ड और सारे खण्डों में वह एक मात्र अखण्ड समा जाता हो फिर भी वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो अखण्ड और खण्ड दोनों में ही पर्यवसित होने के कारण दोनों पहलुओं से गृहीत होता है। जैसे वे

दोनों पहलू अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होकर भी पूर्ण तभी बनते हैं जब समन्वित किये जायँ। वैसे ही अनादि-अनन्त कालप्रवाह रूप वृक्ष का ग्रहण नित्यत्व का व्यञ्जक है और उसके घटक अंशों का ग्रहण अनित्यत्व या क्षणिकत्व का द्योतक है। आधारभूत नित्य-प्रवाह के सिवाय न तो अनित्य घटक सम्भव हैं और न अनित्य घटकों के सिवाय वैसा नित्य प्रवाह ही। अतएव एकमात्र नित्यत्व को या एकमात्र अनित्यत्व को वास्तविक कह कर दूसरे विरोधी अंश को अवास्तविक कहना ही नित्य-अनित्यवादों की टक्कर का बीज है जिसे अनेकान्तदृष्टि हटाती है।

अनेकान्तदृष्टि अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व वाद की पारस्परिक टक्कर को भी मिटाती है। वह कहती है कि वस्तु का वही रूप प्रतिपाद्य हो सकता है जो संकेत का विषय बन सके। सूक्ष्मतम बुद्धि के द्वारा किया जानेवाला संकेत भी स्थूल अंश को ही विषय कर सकता है। वस्तु के ऐसे अपरिमित भाव हैं जिन्हें संकेत के द्वारा शब्द से प्रतिपादन करना संभव नहीं। इस अर्थ में अखण्ड सत् या निरंश क्षण अनिर्वचनीय ही हैं जब कि मध्यवर्ती स्थूल भाव निर्वचनीय भी हो सकते हैं। अतएव समग्र विश्व के या उसके किसी एक तत्त्व के बारे में जो अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व के विरोधी प्रवाद हैं वे वस्तुतः अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होने पर भी प्रमाण तो समूचे रूप में ही हैं।

एक ही वस्तु की भावरूपता और अभावरूपता भी विरुद्ध नहीं। मात्र विधिमुख से या मात्र निषेधमुख से ही वस्तु प्रतीत नहीं होती। दूध, दूध रूप से भी प्रतीत होता है और अदधि या दधिभिन्न रूप से भी। ऐसी दशा में वह भाव-अभाव उभय रूप सिद्ध हो जाता है और एक ही वस्तु में भावत्व या अभावत्व का विरोध प्रतीति के स्वरूप भेद से हट जाता है। इसी तरह धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, कार्य-कारण, आधार-आधेय आदि द्वन्द्वों के अभेद और भेद के विरोध का परिहार भी अनेकान्त दृष्टि कर देती है।

जहाँ आप्तत्व और उसके मूल के प्रामाण्य में संदेह हो वहाँ हेतुवाद के द्वारा परीक्षा पूर्वक ही निर्णय करना क्षेमंकर है; पर जहाँ आप्तत्व में कोई संदेह नहीं वहाँ हेतुवाद का प्रयोग अनवस्थाकारक होने से त्याज्य है। ऐसे स्थान में आगमवाद ही मार्गदर्शक हो सकता है। इस तरह विषयभेद से या एक ही विषय में प्रतिपाद्य भेद से हेतुवाद और आगमवाद दोनों को अवकाश है। उनमें कोई विरोध नहीं। यही स्थिति दैव और पौरुषवाद की भी है। उनमें कोई विरोध नहीं। जहाँ बुद्धि-पूर्वक पौरुष नहीं, वहाँ की समस्याओं का हल दैववाद कर सकता है; पर पौरुष के बुद्धिपूर्वक प्रयोगस्थल में पौरुषवाद ही स्थान पाता है। इस तरह जुदे जुदे पहलू की अपेक्षा एक ही जीवन में दैव और पौरुष दोनों वाद समन्वित किये जा सकते हैं।

कारण में कार्य को केवल सत् या केवल असत् मानने वाले वादों के विरोध का भी परिहार अनेकान्त दृष्टि सरलता से कर देती है। वह कहती है कि कार्य उपादान में सत् भी है और असत् भी। कटक बनने के पहले भी सुवर्ण में कटक बनने की शक्ति है इसलिए

उत्पत्ति के पहले भी शक्ति रूप से या कारणाभेद दृष्टि से कार्य सत् कहा जा सकता है। शक्ति रूप से सत् होने पर भी उत्पादक सामग्री के अभाव में वह कार्य आविर्भूत या उत्पन्न न होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए वह असत् भी है। तिरोभाव दशा में जब कि कटक उपलब्ध नहीं होता तब भी कुण्डलाकारधारी सुवर्ण कटक रूप बनने की योग्यता रखता है इसलिए उस दशा में असत् भी कटक योग्यता की दृष्टि से सुवर्ण में सत् कहा जा सकता है।

बौद्धों का केवल परमाणु-पुञ्ज-वाद और नैयायिकों का अपूर्वावयवी वाद ये दोनों आपस में टकराते हैं। पर अनेकान्तदृष्टि ने स्कन्ध का—जो कि न केवल परमाणु-पुञ्ज है और न अनुभवबाधित अवयवों से भिन्न अपूर्व अवयवी रूप है—स्वीकार करके विरोध का समुचित रूप से परिहार व दोनों वादों का निर्दोष समन्वय कर दिया है। इसी तरह अनेकान्तदृष्टि ने अनेक विषयों में प्रवर्तमान विरोधी वादों का समन्वय मध्यस्थ भाव से किया है। ऐसा करते समय अनेकान्तवाद के आसपास नयवाद और भंगवाद आप ही आप फलित हो जाते हैं; क्योंकि जुदे जुदे पहलू या दृष्टिबिन्दु का पृथक्करण, उनकी विषयमर्यादा का विभाग और उनका एक विषय में यथोचित विन्यास करने ही से अनेकान्त सिद्ध होता है।

मकान किसी एक कोने में पूरा नहीं होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा में नहीं होते। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध दिशा वाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर किया जाने वाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नहीं होता, पर वह अयथार्थ भी नहीं। जुदे जुदे संभवित सभी कोनों पर खड़े रह कर किये जाने वाले सभी संभवित अवलोकनों का सार समुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसंभवी प्रत्येक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन के अनिवार्य अंग हैं। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिंतन-दर्शन भी अनेक अपेक्षाओं से निष्पन्न होता है। मन की सहज रचना, उस पर पड़ने वाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं; जिनका आश्रय लेकर वस्तुका विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टिकोण या दृष्टिबिन्दु भी कही जाती हैं। संभवित सभी अपेक्षाओं से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यों न दिखाई देती हों—किये जाने वाले चिंतन व दर्शनों का सार समुच्चय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासंभवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक एक अङ्ग है जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन में समन्वय पाने के कारण वस्तुतः अविरुद्ध ही है।

जब किसी की मनोवृत्ति विश्वके अन्तर्गत सभी भेदों को—चाहे वे गुण धर्म या स्वरूप कृत हों या व्यक्तित्व कृत हों—भुला कर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का ही विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होने वाला 'सत्' शब्द के एक मात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन

ही संग्रहनय है। गुणधर्म कृत या व्यक्तित्व कृत भेदों की ओर झुकने वाली मनोवृत्ति से किया जाने वाला उसी विश्वका दर्शन व्यवहारनय कहलाता है; क्योंकि उसमें लोकसिद्ध व्यवहारों की भूमिका रूप भेदों का खास स्थान है। इस दर्शन में 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा अखण्डित न रह कर अनेक खण्डों में विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा सिर्फ कालकृत भेदों की ओर झुक कर सिर्फ वर्तमान को ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत् रूप से देखती है और अतीत अनागत को 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा में से हटा देती है तब उसके द्वारा फलित होने वाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है। क्योंकि वह अतीत-अनागत के चक्रव्यूह को छोड़ कर सिर्फ वर्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनों मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जो शब्द का या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय बिना लिये ही किसी भी वस्तु का चिंतन करती हैं। अतएव वे तीनों प्रकार के चिंतन अर्थनय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है जो शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय ले कर ही अर्थ का विचार करती है। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थ चिंतन शब्दनय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यता शब्दनय के अधिकारी हैं; क्योंकि उन्हीं के विविध दृष्टि बिन्दुओं से शब्द-नय में विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दों को अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद न मानने पर भी लिंग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्द धर्मों के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्दनय या साम्प्रतनय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्ति सिद्ध ही मानने वाली मनोवृत्ति से विचार करने वाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जाने वाले शब्दों के अर्थ में भी व्युत्पत्ति भेद से भेद बतलाते हैं। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दों के अर्थभेद का दर्शन समभिरूढनय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नहीं, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होने वाले अर्थ की मौजूदगी और ग़ैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थभेद मानता है वह एवंभूतनय कहलाता है। इन तार्किक छः नयों के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है। जिस में निगम अर्थात् देश रूढ़ि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारों का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं। पर किसी एक अंशको अर्थात् दृष्टिकोण को अवलंबित करके प्रवृत्त होने वाले सब प्रकार के विचार उस उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

शास्त्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं पर वे नय उपर्युक्त सात नयों से अलग नहीं हैं किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिकामात्र हैं। द्रव्य अर्थात् सामान्य, अन्वय, अभेद या एकत्व को विषय करने वाला विचारमार्ग द्रव्यार्थिकनय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलंबित करके ही चलती है।

इसलिये वे भी द्रव्यार्थिक ही माने गए हैं। अलबत्ता वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध-मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष, व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होने वाला विचार-पथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारों नय पर्यायार्थिक ही माने गये हैं। अभेद को छोड़कर मात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता है इसलिये उसीको शास्त्र में पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूल आधार कहा है। पिछले शब्दादि तीन नय उसी मूल भूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र हैं।

मात्र ज्ञान को उपयोगी मानकर उसके आश्रय से प्रवृत्त विचार धारा ज्ञाननय है तो मात्र क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त विचार धारा क्रियानय है। नयरूप आधार-स्तम्भों के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्णदर्शन—अनेकान्त भी निस्सीम है।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्हींके आधार पर भङ्गवाद की सृष्टि खड़ी होती है। जिन दो दर्शनों के विषय ठीक एक दूसरे के बिलकुल विरोधी पड़ते हों ऐसे दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो संभवित वाक्य-भङ्ग बनाये जाते हैं वही सप्तभङ्गी है। सप्तभङ्गी का आधार नयवाद है। और उसका ध्येय तो समन्वय अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है। जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का बोध दूसरे को कराने के लिए परार्थ अनुमान अर्थात् अनुमान वाक्य की रचना की जाती है; वैसे ही विरुद्ध अंशों का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भङ्ग—वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भङ्गवाद अनेकान्तदृष्टि के क्षेत्र में आप ही आप फलित हो जाते हैं।

यह ठीक है कि वैदिक परंपरा के न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों में तथा बौद्ध दर्शन में किसी एक वस्तु का विविध दृष्टिओं से निरूपण की पद्धति तथा अनेक पक्षोंके समन्वय की दृष्टि[1] भी देखी जाती है फिर भी प्रत्येक वस्तु और उसके प्रत्येक पहलू पर संभवित समग्र दृष्टिबिन्दुओं से विचार करने का आत्यन्तिक आग्रह तथा उन समग्र दृष्टिबिन्दुओं के एक मात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ आग्रह जैन परंपरा के सिवाय अन्यत्र कहीं देखा नहीं जाता। इसी आग्रह में से जैन तार्किकों ने अनेकान्त, नय और सप्तभङ्गी वाद का बिलकुल स्वतन्त्र और व्यवस्थित शास्त्र निर्माण किया जो प्रमाण शास्त्र का एक भाग ही बन गया और जिसकी जोड़ का ऐसा छोटा भी ग्रन्थ इतर परंपराओं में नहीं बना। विभज्यवाद और मध्यम मार्ग होते हुए भी बौद्ध परंपरा किसी भी वस्तु में वास्तविक स्थायी अंश देख न सकी उसे मात्र क्षणभंग ही नजर आया। अनेकान्त शब्द[3] से ही अनेकान्त

---

१ उदाहरणार्थ देखो सांख्यप्रवचनभाष्य पृ० २। सिद्धान्तबिन्दु पृ० ११९ से। वेदान्तसार पृ० २५। तर्कसंग्रहदीपिका पृ० १७५। महावग्ग ६. ३१।

२ देखो, टिप्पण पृ० ६१ से

३ न्यायभाष्य २. १. १८

दृष्टि का आश्रय करने पर भी नैयायिक परमाणु, आत्मा आदि को सर्वथा अपरिणामी ही मानने मनवाने की धुन से बच न सके। व्यावहारिक-पारमार्थिक आदि अनेक दृष्टिओं का अवलम्बन करते हुए भी वेदान्ती अन्य सब दृष्टिओं को ब्रह्मदृष्टि से कम दरजे की या बिलकुल ही असत्य मानने मनवाने से बच न सके। इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि उन दर्शनों में व्यापकरूप से अनेकान्त भावना का स्थान न रहा जैसा कि जैनदर्शन में रहा। इसी कारण से जैनदर्शन सब दृष्टिओं का समन्वय भी करता है और सभी दृष्टिओं को अपने अपने विषय में तुल्य बल व यथार्थ मानता है। भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि तत्त्वज्ञान के प्राचीन मुद्दों पर ही सीमित रहने के कारण वह अनेकान्त दृष्टि और तन्मूलक अनेकान्त व्यवस्थापक शास्त्र पुनरुक्त, चर्वितचर्वण या नवीनता शून्य जान पड़ने का आपाततः संभव है फिर भी उस दृष्टि और उस शास्त्र निर्माण के पीछे जो अखण्ड और सजीव सर्वांश सत्य को अपनाने की भावना जैन परंपरा में रही और जो प्रमाण शास्त्र में अवतीर्ण हुई उसका जीवनके समग्र क्षेत्रों में सफल उपयोग होने की पूर्ण योग्यता होने के कारण ही उसे प्रमाणशास्त्र को जैनाचार्यों की देन कहना अनुपयुक्त नहीं।

तत्त्वचिन्तन में अनेकान्त दृष्टि का व्यापक उपयोग करके जैनतार्किकों ने अपने आगमिक प्रमेयों तथा सर्वसाधारण न्याय के प्रमेयों में से जो जो मन्तव्य तार्किक दृष्टि से स्थिर किये और प्रमाण शास्त्र में जिनका निरूपण किया उनमें से थोड़े ऐसे मन्तव्यों का भी निर्देश उदाहरण के तौर पर यहां कर देना जरूरी है, जो एक मात्र जैन तार्किकों की विशेषता दरसाने वाले हैं—प्रमाणविभाग, प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व, इन्द्रियज्ञान का व्यापार क्रम, परोक्ष के प्रकार, हेतु का रूप, अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, कथा का स्वरूप, निग्रहस्थान या जय-पराजय व्यवस्था, प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप, सर्वज्ञत्वसमर्थन आदि।

२. **प्रमाणविभाग**—जैन परंपरा का प्रमाण विषयक मुख्य विभाग[1] दो दृष्टिओं से अन्य परंपराओं की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। एक तो यह कि ऐसे सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य पर मुख्य विभाग अवलंबित है जिससे एक विभाग में आने वाले प्रमाण दूसरे विभाग से असंकीर्ण रूप में अलग हो जाते हैं जैसा कि इतर परंपराओं के प्रमाण विभाग में नहीं हो पाता। दूसरी दृष्टि यह है कि चाहे किसी दर्शन की न्यून या अधिक प्रमाण संख्या क्यों न हो पर वह सब बिना खींचतान के इस विभाग में समा जाती है। कोई भी ज्ञान या तो सीधे तौर से साक्षात्कारात्मक हो सकता है या असाक्षात्कारात्मक, यही प्राकृत-पंडितजन साधारण अनुभव है। इसी अनुभव को सामने रखकर जैन चिन्तकों ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो मुख्य विभाग किये जो एक दूसरे से बिलकुल विलक्षण हैं। दूसरी इसकी खूबी यह है कि इसमें न तो चार्वाक की तरह परोक्षानुभव का अपलाप है, न बौद्धदर्शन संमत प्रत्यक्ष-अनुमान द्वैविध्य की तरह आगम आदि इतर प्रमाण व्यापारों का अपलाप है या खींचातानी से अनुमान में समावेश करना पड़ता है, और न त्रिविध प्रमाणवादी सांख्य तथा प्राचीन वैशेषिक,

---

१ प्रमाणमीमांसा १. १. १० तथा टिप्पण पृ० १९. पं० २९

चतुर्विध प्रमाणवादी नैयायिक, पंचविध प्रमाणवादी प्रभाकर षड्विध प्रमाणवादी मीमांसक, सप्तविध या अष्टविध प्रमाणवादी पौराणिक आदि की तरह अपनी अपनी अभिमत प्रमाण संख्या को स्थिर बनाये रखने के लिए इतर संख्या का अपलाप या उसे तोड़ मरोड़ करके अपने में समावेश करना पड़ता है। चाहे जितने प्रमाण मान लो पर वे सीधे तौर पर या तो प्रत्यक्ष होंगे या परोक्ष। इसी सादी किन्तु उपयोगी समझ पर जैनों का मुख्य प्रमाण विभाग कायम हुआ जान पड़ता है।

३. प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व–प्रत्येक चिन्तक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। जैनदृष्टि का कहना है कि दूसरे किसी भी ज्ञान से प्रत्यक्ष का ही स्थान ऊँचा व प्राथमिक है। इन्द्रियाँ जो परिमित प्रदेश में अतिस्थूल वस्तुओं से आगे जा नहीं सकतीं, उनसे पैदा होनेवाले ज्ञान को परोक्ष से ऊँचा स्थान देना इन्द्रियों का अति मूल्य आँकने के बराबर है। इन्द्रियाँ कितनी ही पटु क्यों न हों पर वे अन्ततः हैं तो परतन्त्र ही। अतएव परतन्त्रजनित ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष मानने की अपेक्षा स्वतन्त्रजनित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना न्याय-संगत है। इसी विचार से जैन चिन्तकों ने उसी ज्ञान को वस्तुतः प्रत्यक्ष माना है जो स्वतन्त्र आत्मा के आश्रित है। यह जैन विचार तत्त्वचिन्तन में मौलिक है। ऐसा होते हुए भी लोकसिद्ध प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर उन्होंने अनेकान्त दृष्टि का उपयोग कर दिया है।[1]

४. इन्द्रियज्ञान का व्यापर क्रम–सब दर्शनों में एक या दूसरे रूप में थोड़े या बहुत परिमाण में ज्ञान व्यापार का क्रम देखा जाता है। इसमें ऐन्द्रियक ज्ञान के व्यापार क्रम का भी स्थान है। परंतु जैन परंपरा में सन्निपातरूप प्राथमिक इन्द्रिय व्यापार से लेकर अंतिम इन्द्रिय व्यापार तक का जिस विश्लेषण और जिस स्पष्टता के साथ अनुभव सिद्ध अतिविस्तृत वर्णन है वैसा दूसरे दर्शनों में नहीं देखा जाता। यह जैन वर्णन है तो अतिपुराना और विज्ञानयुग के पहिले का, फिर भी आधुनिक मानस शास्त्र तथा इन्द्रियव्यापार शास्त्र के वैज्ञानिक अभ्यासियों के वास्ते यह बहुत महत्त्व का है[2]।

५. परोक्ष के प्रकार–केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और आगम के ही प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने में मतभेदों का जंगल न था; बल्कि अनुमान तक के प्रामाण्य-अप्रामाण्य में विप्रतिपत्ति रही। जैन तार्किकों ने देखा कि प्रत्येक पक्षकार अपने पक्ष को आत्यन्तिक खींचने में दूसरे पक्षकार का सत्य देख नहीं पाता। इस विचार में से उन्होंने उन सब प्रकार के ज्ञानों को प्रमाणकोटि में दाखिल किया जिनके बल पर वास्तविक व्यवहार चलता है और जिनमें से किसी एक का अपलाप करने पर तुल्य युक्ति से दूसरे का अपलाप करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे सभी प्रमाण प्रकारों को उन्होंने परोक्ष में डालकर अपनी समन्वयदृष्टि का परिचय कराया[3]।

---

१ टिप्पण पृ० १९ पं० २९ तथा पृ० २३ पं० २४।

२ टिप्पण पृ० ४५ पं० १६।

३ प्रमाणमीमांसा १. २. २। टिप्पण पृ० ७२ पं० २१। पृ० ७५ पं० ३। पृ० ७६ पं० २५।

६. **हेतु का रूप**–हेतु के स्वरूप के विषय में मतभेदों के अनेक अखाड़े कायम हो गये थे। इस युग में जैन तार्किकों ने यह सोचा कि क्या हेतु का एक ही रूप ऐसा मिल सकता है या नहीं, जिस पर सब मतभेदों का समन्वय भी हो सके और जो वास्तविक भी हो। इस चिन्तन में से उन्होंने हेतु का एक मात्र अन्यथानुपपत्ति रूप निश्चित किया जो उसका निर्दोष लक्षण भी हो सके और सब मतों के समन्वय के साथ जो सर्वमान्य भी हो। जहाँ तक देखा गया है हेतु के ऐसे एकमात्र तात्त्विक रूप के निश्चित करने का तथा उसके द्वारा तीन, चार, पाँच और छः, पूर्वप्रसिद्ध हेतु रूपों के यथासंभव स्वीकार का श्रेय जैन तार्किकों को ही है[१]।

७. **अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था**–परार्थानुमान के अवयवों की संख्या के विषय में भी प्रतिद्वन्द्वीभाव प्रमाण क्षेत्र में कायम हो गया था। जैन तार्किकों ने उस विषय के पक्षभेद की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय श्रोता की योग्यता के आधार पर ही किया, जो वस्तुतः सच्ची कसौटी हो सकती है। इस कसौटी में से उन्हें अवयव प्रयोग की व्यवस्था ठीक २ सूझ आई जो वस्तुतः अनेकान्तदृष्टि मूलक होकर सर्वसंग्राहिणी है और वैसी स्पष्ट अन्य परंपराओं में शायद ही देखी जाती है[२]।

८. **कथा का स्वरूप**–आध्यात्मिकता-मिश्रित तत्त्वचिंतन में भी साम्प्रदायिक बुद्धि दाखिल होते ही उसमें से आध्यात्मिकता के साथ असंगत ऐसी चर्चाएँ जोरों से चलने लगीं, जिनके फल स्वरूप जल्प और वितंडा कथा का चलाना भी प्रतिष्ठित समझा जाने लगा, जो छल, जाति आदि के असत्य दाव-पेचों पर ही निर्भर था। जैन तार्किक साम्प्रदायिकता से मुक्त तो न थे, फिर भी उनकी परम्परागत अहिंसा व वीतरागत्व की प्रकृति ने उन्हें वह असंगति सुझाई जिससे प्रेरित हो कर उन्होंने अपने तर्कशास्त्र में कथा का एक वादात्मक रूप ही स्थिर किया; जिसमें छल आदि किसी भी चाल बाजी का प्रयोग वर्ज्य है और जो एकमात्र तत्त्व-जिज्ञासा की दृष्टि से चलाई जाती है। अहिंसा की आत्यंतिक समर्थक जैन परंपरा की तरह बौद्ध परम्परा भी रही, फिर भी छल आदि के प्रयोगों में हिंसा देख कर निंद्य ठहराने का तथा एक मात्र वादकथा को ही प्रतिष्ठित बनाने का मार्ग जैन-तार्किकों ने प्रशस्त किया। जिसकी ओर तत्त्व-चिंतकों का लक्ष्य जाना जरूरी है[३]।

९. **निग्रहस्थान या जय-पराजय व्यवस्था**–वैदिक और बौद्ध परम्परा के संघर्ष ने निग्रह-स्थान के स्वरूप के विषय में विकास सूचक बड़ी ही भारी प्रगति सिद्ध की थी; फिर भी उस क्षेत्र में जैन तार्किकों ने प्रवेश करते ही एक ऐसी नई बात सुझाई जो न्याय-विकास के समग्र इतिहास में बड़े मार्के की और अब तक सबसे अंतिम है। वह बात है जय-पराजय व्यवस्था का नया निर्माण करने की। वह नया निर्माण सत्य और अहिंसा दोनों तत्त्वों पर प्रतिष्ठित हुआ जो पहले की जय पराजय व्यवस्था में न थे[४]।

---

१ टिप्पण पृ० ८० पं० ३०।

२ टिप्पण पृ० ९४ पं० १४।

३ टिप्पण पृ० १०८. पं० १५। पृ० ११५. पं० २८।

४ टिप्पण पृ० ११९ पं० १४।

१०. प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप—प्रमेय जड़ हो या चेतन, पर सबका स्वरूप जैन तार्किकों ने अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग करके ही स्थापित किया और सर्व व्यापक रूप से कह दिया कि वस्तु-मात्र परिणामी नित्य है। नित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव-सिद्ध अनित्यता का इनकार करने की अशक्यता देख कर कुछ तत्त्व-चिंतक गुण, धर्म आदि में अनित्यता घटा कर उसका जो मेल नित्य-द्रव्य के साथ खींचातानी से बिठा रहे थे और कुछ तत्त्व-चिंतक अनित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव सिद्ध नित्यता को भी जो कल्पना मात्र बतला रहे थे उन दोनों में जैन तार्किकों ने स्पष्टतया अनुभव की आंशिक असंगति देखी और पूरे विश्वास के साथ बल-पूर्वक प्रतिपादन कर दिया कि जब अनुभव न केवल नित्यता का है और न केवल अनित्यता का तब किसी एक अंश को मान कर दूसरे अंश का बलात् मेल बैठाने की अपेक्षा दोनों अंशों को तुल्य सत्य-रूप में स्वीकार करना ही न्याय-संगत है। इस प्रतिपादन में दिखाई देने वाले विरोध का परिहार उन्होंने द्रव्य और पर्याय या सामान्य और विशेष ग्राहिणी दो दृष्टियों के स्पष्ट पृथक्करण से कर दिया। द्रव्य-पर्याय की व्यापक दृष्टि का यह विकास जैन-परम्परा की ही देन है[१]।

जीवात्मा, परमात्मा और ईश्वर के संबन्ध में सद्गुण-विकास या आचरण-साफल्य की दृष्टि से असंगत ऐसी अनेक कल्पनाएँ तत्त्व-चिंतन के प्रदेश में प्रचलित थीं। एकमात्र परमात्मा ही है या उससे भिन्न अनेक जीवात्मा चेतन भी हैं, पर तत्त्वतः वे सभी कूटस्थ निर्विकार और निर्लेप ही हैं। जो कुछ दोष या बन्धन है वह या तो निरा भ्रान्ति मात्र है या जड़ प्रकृति गत है। इस मतलब का तत्त्व-चिंतन एक ओर था दूसरी ओर ऐसा भी चिंतन था जो कहता कि चैतन्य तो है, उसमें दोष, वासना आदि का लगाव तथा उससे अलग होने की योग्यता भी है पर उस चैतन्य की प्रवाह-बद्ध धारा में कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। इन दोनों प्रकार के तत्त्व-चिंतनों में सद्गुण-विकास और सदाचार-साफल्य की संगति सरलता से नहीं बैठ पाती। वैयक्तिक या सामूहिक जीवन में सद्गुण विकास और सदाचार के निर्माण के सिवाय और किसी प्रकार से सामंजस्य जम नहीं सकता। यह सोच कर जैन-चिंतकों ने आत्मा का स्वरूप ऐसा माना जिसमें एक सी परमात्म शक्ति भी रहे और जिसमें दोष, वासना आदि के निवारण द्वारा जीवन-शुद्धि की वास्तविक जवाबदेही भी रहे। आत्मविषयक जैन-चिंतन में वास्तविक परमात्म-शक्ति या ईश्वर-भाव का तुल्य रूप से स्थान है, अनुभव सिद्ध आगन्तुक दोषों के निवारणार्थ तथा सहज-शुद्धि के आविर्भावार्थ प्रयत्न का पूरा अवकाश है। इसी व्यवहार-सिद्ध बुद्धि में से जीवभेदवाद तथा देहप्रमाणवाद स्थापित हुए जो संमिलित रूप से एक मात्र जैन परम्परा में ही हैं[२]।

११. सर्वज्ञत्व समर्थन—प्रमाण-शास्त्र में जैन सर्वज्ञ-वाद दो दृष्टियों से अपना खास स्थान रखता है। एक तो यह कि वह जीव-सर्वज्ञ वाद है जिसमें हर कोई अधिकारी की सर्वज्ञत्व

---

१ टिप्पण पृ० ५३. पं० ६। पृ० ५४. पं० १७। पृ० ५७. पं० २१।

२ टिप्पण पृ० ७०. पं० ८। पृ० १३६. पं० ११।

पाने की शक्ति मानी गई है और दूसरी दृष्टि यह है कि जैनपक्ष निरपवाद रूप से सर्वज्ञवादी ही रहा है जैसा कि न बौद्ध परम्परा में हुआ है और न वैदिक परम्परा में। इस कारण से काल्पनिक, अकाल्पनिक, मिश्रित यावत् सर्वज्ञत्व समर्थक युक्तियों का संग्रह अकेले जैन प्रमाण-शास्त्र में ही मिल जाता है। जो सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध में हुए भूतकालीन बौद्धिक व्यायाम के ऐतिहासिक अभ्यासियों के तथा साम्प्रदायिक भावना वालों के काम की चीज है[1]।

२. भारतीय प्रमाणशास्त्र में हेमचन्द्र का अर्पण

परम्परा प्राप्त उपर्युक्त तथा दूसरे अनेक छोटे बड़े तत्त्वज्ञान के मुद्दों पर हेमचन्द्र ने ऐसा कोई विशिष्ट चिंतन किया है या नहीं और किया है तो किस किस मुद्दे पर किस प्रकार है जो जैन तर्क शास्त्र के अलावा भारतीय प्रमाण-शास्त्र मात्र को उनकी देन कही जा सके। इसका जवाब हम हिंदी टिप्पणों में उस उस स्थान पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि द्वारा विस्तार से दे चुके हैं। जिसे दुहराने की कोई जरूरत नहीं। विशेष जिज्ञासु उस उस मुद्दे के टिप्पणों को देख लेवें।

सुखलाल।

ग्रन्थकार का परिचय।

: १ :

भारतवर्ष के इतिहास को उज्ज्वल करने वाले तेजस्वी आचार्यमण्डल में श्री हेमचन्द्राचार्य प्रतिष्ठित हैं। अपनी जन्मभूमि एवं कार्यक्षेत्र के प्रदेश की लोकस्मृति में उनका नाम सर्वदा अलुप्त रहा है; उनके पीछे के संस्कृत पण्डितों में उनके ग्रन्थों का आदर हुआ है और जिस सम्प्रदाय को उन्होंने मण्डित किया था उसमें वे 'कलिकालसर्वज्ञ' की असाधारण सम्मान्य उपाधि से विख्यात हुए हैं।

निरुक्तकार यास्काचार्य प्रसंगवशात् आचार्य शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि 'आचार्य क्यों? आचार्य आचार ग्रहण करवाता है, अथवा आचार्य अर्थों की वृद्धि करता है या बुद्धि बढ़ाता है।'[2] भाषा शास्त्र की दृष्टिसे ये व्युत्पत्तियाँ सत्य हों या न हों, परन्तु आचार्य के तीनों धर्मों का इसमें समावेश होता दिखाई देता है। आज कल की परिभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि आचार्य शिष्यवर्ग को शिष्टाचार तथा सद्वर्तन सिखाता है, विचारों की वृद्धि करता है और इस प्रकार बुद्धि की वृद्धि करता है; अर्थात् चारित्र तथा बुद्धि का जो विकास कराने में समर्थ हो वह आचार्य। इस अर्थ में श्री हेमचन्द्र गुजरात के एक प्रधान

१ टिप्पण पृ० २७. पं० १२

२ आचार्यः कस्मात्? आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा–अ० १–४, पृ० ६२ (बॉं० सं० प्रा० सीरीज)।

आचार्य हुए। यह बात उनके जीवन कार्य का और लोक में उसके परिणाम का इतिहास देखने से स्पष्ट होती है।

जिस देश-काल में आचार्य हेमचन्द्र का जीवन कृतार्थ हुआ वह एक ओर तो उनकी शक्तिओं की पूरी कसौटी करे ऐसा था और दूसरी ओर उन शक्तिओं को प्रगट होने में पूरा अवकाश देने वाला था।

: २ :

यदि जिनप्रभसूरि ने 'पुराविदों के मुख से सुनी हुई' परम्परा सत्य हो तो कह सकते हैं कि वि० सं० ५०२ (ई० स० ४४६) में लक्खाराम नाम से जो जननिवास प्रख्यात था उस जगह वि० सं० ८०२ (ई० स० ७४६) में 'अणहिल्ल गोपाल' से परीक्षित प्रदेश में 'चाउक्कड वंशके मोती सम वणराय ने' 'पत्तण' बसाया[1]। यह पत्तन अणहिल्लपुरपाटन के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इस राजधानी का शासन चावडाओं ने और सोलंकियों ने धीरे-धीरे फैलाया और इसके साथ ही साथ भिन्नमाल (अथवा श्रीमाल), वलभी तथा गिरिनगर की नगरश्रीओं की यह नगरश्री उत्तराधिकारिणी हुई। इस उत्तराधिकार में सम्राड्धानियों–कान्यकुब्ज, उज्जयिनी एवं पाटलिपुत्र के भी संस्कार थे। इस अभ्युदय की पराकाष्ठा जयसिंह सिद्धराज (वि० सं० ११५०–११९९), और कुमारपाल (वि० सं० ११९९–१२२९) के समय में दिखाई दी और पौनी शताब्दि से अधिक काल (ई० स० १०९४–११७३) तक स्थिर रही। आचार्य हेमचन्द्रका आयुष्काल इस युग में था; उन्हें इस संस्कार समृद्धि का लाभ प्राप्त हुआ था। वे उस युग से बने थे और उन्होंने उस युग को बनाया!

जयसिंह सिद्धराज के पितामह भीमदेव (प्रथम) (ई० स० १०२१–६४) और पिता कर्णदेव के काल में (ई० स० १०६४–९४) अणहिल्लपुरपाटन देश-विदेश के विख्यात विद्वानोंके समागम और निवास का स्थान बन गया था, ऐसा 'प्रभावकचरित' के उल्लेखों से मालूम होता है[2]। भीमदेव का सान्धि-विग्रहिक 'विप्र डामर', जिसका हेमचन्द्र दामोदर के नाम से उल्लेख करते हैं, अपनी बुद्धिमत्ताके कारण प्रसिद्ध हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है[3]। शैवाचार्य ज्ञानदेव, पुरोहित सोमेश्वर, सुराचार्य, मध्यदेश के ब्राह्मण पण्डित श्रीधर और श्रीपति (जो आगे जाकर जिनेश्वर और बुद्धिसागर के नाम से जैन साधु रूप में

---

१ पृ० ५१. विविधतीर्थकल्प; संपादकः मुनि श्री जिन विजयजीः सिंघी जैन-ग्रन्थमाला।

२ देखो प्रभावकचरित (निर्णय सागर) पृष्ठ २०६–३४६।

३ भीमदेव की रानी उदयमती की वापिका–बावड़ी के साथ दामोदर के कुएँ का लोकोक्तिमें उल्लेख आता है। इस पर से उसने सुन्दर शिल्प को उत्तेजन दिया होगा ऐसा प्रतीत होता है–

'राणकी वाव ने दामोदर कुवो जेणे न जोयो ते जीवता मुओ' (रानी की बावड़ी और दामोदर कुआँ जिसने न देखा वह जीते मूआ) देखो प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० ३०–३४, सिंघी जैन ग्रंथमाला और 'दामोदर' उल्लेख के लिए द्वयाश्रय ८. ६१।

प्रसिद्ध हुएँ), जयराशि भट्ट के 'तत्त्वोपप्लव' की 'युक्तियों' के बल से पाटन की सभा में वाद करने वाला भृगुकच्छ (भड़ोंच) का कौलकवि धर्म, तर्कशास्त्र के प्रौढ़ अध्यापक जैनाचार्य शान्तिसूरि जिनकी पाठशाला में 'बौद्ध तर्क में से उत्पन्न और समझने में कठिन ऐसे प्रमेयों' की शिक्षा दी जाती थी और इस तर्कशाला के समर्थ छात्र मुनिचन्द्र सूरि इत्यादि पण्डित प्रख्यात थे। 'कर्णसुन्दरी नाटिका' के कर्ता काश्मीरी पण्डित बिल्हण ने और नवाङ्गीटीकाकार अभयदेवसूरि ने कर्णदेव के राज्य में पाटन को सुशोभित किया था।

जयसिंह सिद्धराजके समयमें सिंह नामका सांख्यवादी, जैन वीराचार्य, 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' और टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' के रचयिता प्रसिद्ध तार्किक वादिदेवसूरि इत्यादि प्रख्यात थे। 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' नामक प्रकरण में जयसिंह की विद्वत्सभा का वर्णन आता है। उसमें तर्क, भारत और पराशर के महर्षि सम महर्षिका, शारदादेश (काश्मीर) में जिनकी विद्या का उज्ज्वल महोत्सव सुविख्यात था ऐसे उत्साह पण्डित का, अद्भुत मतिरूपी लक्ष्मी के लिए सागरसम सागर पण्डित का और प्रमाणशास्त्र के महार्णव के पारंगत राम का उल्लेख आता है (अंक ५, पृ० ४५)। वडनगर की प्रशस्ति के रचयिता प्रज्ञाचक्षु, प्राग्वाट (पोरवाड) कवि श्रीपाल और 'महाविद्वान्' एवं 'महामति' आदि विशेषणयुक्त भागवत देवबोध परस्पर स्पर्धा करते हुये भी जयसिंह के मान्य थे। वाराणसी के भाव बृहस्पति ने भी पाटन में आकर शैवधर्म के द्धार के लिए जयसिंह को समझाया था। इसी भाव बृहस्पति को कुमारपाल नें सोमनाथ पाटन का गण्ड (रक्षक) भी बनाया था।

इनके अतिरिक्त मलधारी हेमचन्द्र, 'गणरत्न–महोदधि' के कर्ता वर्धमानसूरि, 'वाग्भट्टालंकार' के कर्ता वाग्भट्ट आदि विद्वान् पाटन में प्रसिद्ध थे।[२]

इस पर से ऐसी कल्पना होती है कि जिस पण्डित मण्डल में आ० हेमचन्द्र ने प्रसिद्धि प्राप्त की वह साधारण न था। उस युग में विद्या तथा कला को जो उत्तेजन मिलता था[3] उससे हेमचन्द्र को विद्वान् होने के साधन सुलभ हुए होंगे, पर उनमें अग्रसर होने के लिए असाधारण बुद्धि कौशल दिखाना पड़ा होगा।

: २ :

श्री जिनविजय जी ने कहा है उसके अनुसार भारत के कोई भी प्राचीन ऐतिहासिक पुरुष विषयक जितनी ऐतिह्य सामग्री उपलब्ध होती है उसकी तुलना में आ० हेमचन्द्र विषयक लभ्य सामग्री विपुल कही जा सकती है; फिर भी आचार्य के जीवन का सुरेख चित्र चित्रित करने के लिए वह सर्वथा अपूर्ण है।

---

१ बुद्धिसागर कृत ७००० श्लोक प्रमाण संस्कृत व्याकरण जाबालिपुर (जालोर, मारवाड़) में वि० सं० ११८० (ई० स० ११२४) में पूर्ण हुआ था। जिनेश्वर ने तर्क ऊपर ग्रंथ लिखा था। देखो पुरातत्त्व पुस्तक २, पृ० ८३–८४; काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० १४४–४५।

२ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २४२-६२।

३ देखो, शिल्पकला के लिए–'कुमारपालविहारशतक'–हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र कृत, जिसमें कुमारपाल विहार नामक मंदिर का वर्णन है।

डा० ब्युल्हर ने ई० स० १८८९ में विएना में आ० हेमचन्द्र के जीवन ऊपर गवेषणापूर्वक एक निबन्ध प्रगट किया था; उसमें उन्होंने आ० हेमचन्द्र के अपने ग्रन्थ 'द्व्याश्रयकाव्य' 'सिद्धहेम की प्रशस्ति' और 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में से 'महावीर चरित' के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र सूरि कृत 'प्रभावक चरित' (वि० सं० १३३४–ई० स० १२७८), मेरुतुङ्गकृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (वि० सं० १३६१–ई० स० १३०५), राजशेखरकृत 'प्रबन्धकोश' और जिनमण्डन उपाध्याय कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' का साधन के रूप में उपयोग किया था। अब हमें इनके अलावा सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' और 'शतार्थ काव्य', यशःपालकृत "मोहराजपराजय" (वि० सं० १२२९–३२), और अज्ञातकर्तृक "पुरातन प्रबन्धसंग्रह" उपलब्ध हैं। इनमें से सोमप्रभसूरि तथा यशःपाल आ० हेमचन्द्र के लघुवयस्क समकालीन थे।

इस सामग्री में से "कुमारपाल प्रतिबोध" (वि० सं० १२४१) को आचार्य की जीवन कथा के लिए मुख्य आधार ग्रन्थ मानना चाहिए और दूसरे ग्रन्थों को पूरक मानना चाहिए।

सोमप्रभसूरिके कथनानुसार उनके पास ज्ञेय-सामग्री खूब थी, पर उस सामग्री में से उन्होंने अपने रस के विषय के अनुसार ही उपयोग किया है[1]। इसलिए हम जिसे जानना चाहें ऐसा बहुत सा वृत्तान्त गूढ़ ही रहता है।

: ४ :

'प्रभावकचरित' के अनुसार आचार्य की जन्मतिथि वि० सं० ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा है। इसके बाद के अन्य सभी ग्रन्थ यही तिथि देते हैं इसलिए इस तिथि का स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है। लघुवयस्क समकालीन सोमप्रभसूरि को आचार्य के जीवन की किसी भी घटना की तिथि देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

'मोढकुल', पिता 'चच्च' (अथवा चाचिग), माता 'चाहिणी' (अथवा पाहिणी), वासस्थान 'धंधुक्य' (धन्धुका)—ये बातें भी निर्विवाद हैं। जन्म धन्धुका में ही हुआ होगा या अन्यत्र इस बारे में सोमप्रभसूरि का स्पष्ट कथन नहीं है।

बालक का नाम 'चङ्गदेव' था। वह जिस समय माता के गर्भ में था उस समय माता ने जो आश्चर्यजनक स्वप्न देखे थे उनका वर्णन सोमप्रभसूरि करते हैं। आचार्य के अवसान के बाद बारहवें वर्ष में पूर्ण हुए[3] ग्रन्थ में इस प्रकार जो चमत्कारी पुरुष गिने जाने लगे यह समकालीन पुरुषों में उनकी जीवन-महिमा का सूचक है।

सोमप्रभसूरि की कथा के अनुसारः—

"पूर्णतल्लगच्छ के देवचन्द्रसूरि विहार करते हुए धंधुका आते हैं; वहाँ एक दिन देशना पूरी होने पर एक 'वणिक्कुमार' हाथ जोड़कर आचार्य से प्रार्थना करता है—

१ 'कुमारपाल प्रतिबोध' पृ० ३ श्लोक ३०–३१।

२ देखो पृ० ३४७ श्लोक ८४८।

३ देखो 'कुमारपाल प्रतिबोध' (वि० सं० १२४१) पृ० ४७८।

'सुचारित्ररूपी जलयान द्वारा इस संसार समुद्र से पार लगाइए।' बालक का मामा नेमि गुरु से परिचय करवाता है।

"देवचन्द्रसूरि कहते हैं कि—'इस बालक को प्राप्त कर हम इसे निःशेष शास्त्र-परमार्थ में अवगाहन करावेंगे; पश्चात् यह इस लोक में तीर्थङ्कर जैसा उपकारक होगा। इसलिए इसके पिता चच्च से कहो कि इस चङ्गदेव को व्रत-ग्रहण के लिए आज्ञा दे।'[1]

"बहुत कहने सुनने पर भी पिता अतिस्नेह के कारण आज्ञा नहीं देता; परन्तु पुत्र 'संयम-ग्रहण' करने के लिए दृढ़मना है। मामा की अनुमति से वह चल पड़ता है और गुरु के साथ 'खम्भतित्थ' (खम्भात) पहुँचता है।"

सोमप्रभसूरि के कथन से इतना तो स्पष्ट है कि पिता की अनुमति नहीं थी; माता का अभिप्राय क्या होगा इस विषय में वह मौन है। मामा की अनुमति से चंगदेव घर छोड़कर चल देता है। सोमप्रभसूरि के कथन का तात्पर्य ऐसा भी है कि बालक चंगदेव स्वयं ही दीक्षा के लिए दृढ़ था। पाँच या आठ वर्ष के बालक के लिए ऐसी दृढ़ता मनोविज्ञान की दृष्टि से कहाँ तक सम्भव है इस शंका का जिस तरह निराकरण हो उसी तरह से इस विषय का ऐतिहासिक दृष्टि से निराकरण हो सकता है। सम्भव है, केवल साहित्य की छटा लाने के लिए भी इस प्रकार सोमप्रभसूरि ने इस प्रसंग का वर्णन किया हो।

चंगदेव का श्रमण सम्प्रदाय में कब प्रवेश हुआ इस विषय में मतभेद है। 'प्रभावक चरित' के अनुसार वि० सं० ११५० (ई० स० १०९४) अर्थात् पाँच वर्ष की आयु में हुआ।[2] जिनमण्डनकृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' वि० सं० ११५४ (ई० सं० १०९८) का वर्ष बतलाता है जब कि प्रबन्ध-चिन्तामणि, पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह और प्रबन्धकोश आठ वर्ष की आयु बतलाते हैं। दीक्षा विषयक जैनशास्त्रों का अभिप्राय देखें तो आठ वर्ष से पूर्व दीक्षा सम्भव नहीं होती। इसलिए चंगदेव ने साधु का वेश आठ वर्ष की अवस्था में वि० सं० ११५४ (ई० स० १०९८) में ग्रहण किया होगा, ऐसा मानना अधिक युक्तियुक्त है।[3]

सोमप्रोभसूरि के कथनानुसारः—"उस 'सोममुह'—सौम्यमुख का नाम सोमचन्द्र रखा गया। थोड़ा समय जिनागम कथित तप करके वह गंभीर श्रुतसागर के भी पार पहुँचा। 'दुःषम समय में जिसका सम्भव नहीं है ऐसा गुणौघवाला' यह है ऐसा मनमें विचार कर श्रीदेव-चन्द्रसूरि ने उसे गणधर पद पर स्थापित किया। हेम जैसी देह की कान्ति थी और चन्द्र

१ देखो 'कुमारपाल प्रतिबोध' पृ० २१।

२ देखो प्रभावकचरित पृ० ३४७ श्लोक ८४८।

३ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २६७–८। प्रभावकचरित में वि० सं० ११५० (ई० स० १०९४) का वर्ष कैसे आया यह विचारणीय प्रश्न है। मेरा अनुमान ऐसा है कि धंधुका में देवचन्द्रसूरि की दृष्टि चंगदेव पर उस वर्ष में जमी होगी; प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार चंगदेव देवचन्द्रसूरि के साथ प्रथम कर्णावती आया; वहाँ उदयन मंत्री के पुत्रों के साथ उसका पालन हुआ और अन्त में चच्च (प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार चाचिग) के हाथों ही दीक्षा महोत्सव खम्भात में हुआ। उस समय चंगदेव की आयु आठ वर्ष की हुई होगी। चच्च की सम्मति प्राप्त करने में तीन वर्ष गए हों ऐसा मेरा अनुमान है।

की तरह लोगों को आनन्द देनेवाला था, इसलिए वह हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समग्र लोक के उपकारार्थ विविध देशों में वह विहार करता था अतः श्रीदेवचन्द्रसूरि ने उसे कहा—'गुर्जर देश छोड़कर अन्य देशों में विहार मत कर। जहाँ तू रहा है वहीं महान् परोपकार करेगा।' वह गुरु के वचन से देशान्तर में विहार करना छोड़कर यहीं (गुर्जरदेश—पाटन में) भव्यजनों को जागरित करता रहता है।"

इस वर्णन में से एक बात विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्र गुर्जर देश में और पाटन में स्थिर हुए उससे पहले उन्होंने भारतवर्ष के इतर भागों में विहार किया होगा और गुरु देवचन्द्र की आज्ञा से उनका विहार गुर्जर देश में ही मर्यादित हुआ।

सोमप्रभसूरि का वर्णन सामान्य रूप का है; आचार्य का जीवन-वृत्तान्त जाननेवालों के सामने कहा हो ऐसा है। अतएव हमारे लिए पीछे के ग्रन्थ और प्रबन्ध तफसील के लिए आधार रूप हैं।

चंगदेव के कुटुम्ब का धर्म कौनसा होगा ?। सोमप्रभसूरि पिता के लिए इतना ही कहते हैं कि 'कयदेवगुरुजणच्चो चच्चो (देव और गुरुजन की अर्चा करनेवाला चच्च)।' और वे माता चाहिणी के केवल शील का ही वर्णन करते हैं। मामा नेमि देवचन्द्रसूरि का उपदेश सुनने के लिए आया है इस पर से वह जैनधर्मानुरागी जान पड़ता है।

पीछे के ग्रन्थ चच्च को मिथ्यात्वी कहते हैं। इस पर से वह जैन तो नहीं होगा ऐसा विश्वास होता है। प्रबन्ध चिन्तामणि के उल्लेख के अनुसार पैसे की लालच दी जाने पर वह उसे 'शिवनिर्माल्य' वत् समझता है; अतएव वह माहेश्वरी (आजकल का मेश्री[3]) होगा। चाहिनी जैनधर्मानुरागी हो ऐसा सम्भव है; पीछे से वह जैन-दीक्षा लेती है ऐसा प्रबन्धों में उल्लेख है।

सोमचन्द्र को इक्कीस वर्ष की आयु में वि० सं० ११६६ (ई० स० १११०) में सूरिपद मिला। इस संवत्सर के विषय में मतभेद नहीं है। इस समय से वह हेमचन्द्र के नाम से ख्यात हुआ। कुमारपाल प्रतिबोध के अनुसार सूरिपद का महोत्सव नागपुर (नागोर—मारवाड़) में हुआ। इस प्रसंग पर ख़र्च करनेवाले वहीं के एक व्यापारी धनद का नाम बतलाया गया है।

इतनी अल्पायु में इतने महत्त्व का स्थान हेमचन्द्र को दिया गया यह समकालीनों पर पड़े हुए उनके प्रभाव का प्रतीक है। जयसिंह सिद्धराज को भी 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' के

---

१ देखो कुमारपाल प्रतिबोध पृ० २२.

२ देखो प्रबन्धचिन्तामणि पृ० ८३.

३ इस समय मेश्री बनिये प्रायः वैष्णव होते हैं।

४ एक ही कुटुम्ब में भिन्न भिन्न धर्मानुराग होने के अनेक दृष्टान्त भारत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं और दो दशक पूर्व गुजरात में अनेक वैश्य कुटुम्ब ऐसे थे जिनमें ऐसी स्थिति विद्यमान थी। देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २५९।

अनुसार आठ वर्ष की आयु में राज्याधिकार प्राप्त हुआ था और उसने भी अल्पायु में सोलंकियों के राज्य की प्रतिष्ठा स्थापित की थी।

जिसकी विद्या प्राप्ति इतनी असाधारण थी उसने विद्याभ्यास किससे, कहाँ और कैसे किया यह कुतूहल स्वाभाविक है। परन्तु इस विषय में हमें आवश्यक ज्ञातव्य सामग्री लब्ध नहीं है। उनके दीक्षागुरु देवचन्द्रसूरि स्वयं विद्वान् थे और 'स्थानाङ्गसूत्र' पर उनकी टीका प्रसिद्ध है। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में हेमचन्द्र कहते हैं कि—"तत्प्रसादादधिगतज्ञान-सम्पन्महोदयः"—अर्थात् गुरु देवचन्द्र के प्रसाद से ज्ञान सम्पत्ति का महोदय उन्हे प्राप्त हुआ था। परन्तु दीक्षागुरु देवचन्द्र विद्यागुरु होंगे कि नहीं और होंगे तो कहां तक, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।

'प्रभावक चरित' के अनुसार सोमचन्द्र को (आचार्य होने से पूर्व) तर्क, लक्षण और साहित्य के ऊपर शीघ्रता से प्रभुत्व प्राप्त हुआ था; और 'शतसहस्रपद' की धारण शक्ति से उसे सन्तोष न हुआ इसलिए 'काश्मीरदेशवासिनी' की आराधना करने के लिए काश्मीर जाने की अनुमति गुरु से मांगी पर उस 'काश्मीर देशवासिनी ब्राह्मी' के लिए उन्हें काश्मीर जाना न पड़ा; किन्तु काश्मीर के लिए प्रयाण करते ही खम्भात से बाहर श्रीरैवत विहार में उस ब्राह्मी का उन्हें साक्षात्कार हुआ और इस तरह स्वयं 'सिद्धसारस्वत' हुए।[2]

'प्रभावक चरित' के इस कथन से ऐतिहासिक तात्पर्य क्या निकालना यह विचारणीय है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमचन्द्र भले काश्मीर न गये हों तो भी उन्होंने काश्मीरी पण्डितों से अध्ययन किया होगा। काश्मीरी पण्डित गुजरात में आते जाते थे यह बिल्हण के आगमन से सूचित होता है। 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' नाटक के अनुसार जयसिंह की सभा में उत्साह नामक काश्मीरी पण्डित था। हेमचन्द्र को व्याकरण लिखने से पूर्व व्याकरण ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी थी जिन्हें लेने के लिए उत्साह पण्डित काश्मीर देश में गया था और वहां से आठ व्याकरण लेकर आया था। जब 'सिद्धहेम' पूरा हुआ तब उन्होंने उसे शारदा देश में भेजा था। इसके अतिरिक्त काव्यानुशासन में हेमचन्द्र जिस बहुमान से आचार्य अभिनव

---

१ प्रबन्धों के अनुसार जयसिंह वि० सं० ११५० (ई० स० १०९४) में सिंहासनारूढ हुआ। उस समय यदि उसकी आयु आठ वर्ष की मान लें तो उसका जन्म वि० सं० ११४२ में और इस तरह हेमचन्द्र से आयु में जयसिंह को तीन वर्ष बड़ा समझना चाहिए। 'प्रबन्धचिन्तामणि' उसकी आयु तीन वर्ष की जब कि 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' आठ वर्ष की बताता है जो कि हेमचन्द्र के 'द्व्याश्रय' में कथित 'स्तम्बेकरित्रीहि' के साथ ठीक बैठता है (काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० १६५)। कुमारपाल का जन्म यदि वि० सं० ११४९ (ई० स० १०९३) में स्वीकार करें तो हेमचन्द्र कुमारपाल से चार वर्ष बड़े हुए—देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २०१ और पृ० २७१।

प्रमाणनयतत्त्वालोक और स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता महान् जैन तार्किक वादिदेवसूरि से आयु में हेमचन्द्र दो वर्ष छोटे थे; परन्तु हेमचन्द्र आचार्य की दृष्टि से आठ वर्ष बड़े थे। संभव है, दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के साथ वादयुद्ध के समय देवसूरि की ख्याति अधिक हो—देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २७०, फुटनोट।

२ देखो प्रभावकचरित पृ० २९८-९९।

गुप्त का उल्लेख करते हैं वह भी उनका काश्मीरी पण्डितों के साथ गाढ़ विद्या परिचय सूचित करता है ।

वि० सं० ११६६ (ई० स० १११०) में इक्कीस वर्ष की आयु में सोमचन्द्र हेमचन्द्रसूरि हुए यह युवावस्था में प्राप्त असाधारण पाण्डित्य का प्रभाव होगा । तर्क, लक्षण और साहित्य ये उस युग की महाविद्याएँ थीं और इस त्रयी का पाण्डित्य राजदरबार और जनसमाज में अग्रगण्य होने के लिए आवश्यक था । इन तीनों में हेमचन्द्र को अनन्य साधारण पाण्डित्य था यह उनके उस उस विषय के ग्रन्थों पर से स्पष्ट दिखाई देता है ।

आचार्य होने के बाद और पहले हेमचन्द्र ने कहाँ कहाँ विहार किया होगा इसे ब्योरे से जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है । आचार्य होने से पूर्व गुजरात के बाहर खूब घूमे होंगे यह सम्भव है; परन्तु, ऊपर जैसा कहा है, गुरुकी आज्ञा से गुर्जर देश में ही अपना क्षेत्र मर्यादित करने के लिए बाध्य हुए ।

हेमचन्द्र अणहिल्लपुर पाटन में सबसे पहले किस वर्ष में आए, जयसिंह के साथ प्रथम-समागम कब हुआ इत्यादि निश्चित रूप से जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है । परन्तु वह राजधानी पण्डितों के लिए आकर्षण थी । इसलिए विद्याप्राप्ति एवं पाण्डित्य की कसौटी पर कसने के लिए हेमचन्द्र का आचार्य होने से पूर्व ही वहां आना-जाना हुआ हो यह संभव है ।

'प्रभावक चरित' और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के अनुसार कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ के समय हेमचन्द्र उपस्थित थे अर्थात् वि० सं० ११८१ (ई० स० ११२५) में वे जयसिंह सिद्धराज की पण्डित सभा में विद्यमान थे । उस समय उनकी आयु इकत्तीस वर्ष की होगी तथा आचार्यपद मिले एक दशक बीत गया होगा । उस समय हेमचन्द्र वादी देवचन्द्रसूरि जितने प्रतिष्ठित नहीं होंगे, अथवा उनका वाद कौशल शान्तिसूरि आदि की तार्किक परम्परा वाले वादिदेवसूरि जितना नहीं होगा ।

'प्रभावकचरित' के अनुसार जयसिंह और हेमचन्द्र का प्रथम मिलन अणहिल्लपुर के किसी तंग मार्ग पर हुआ था जहां से जयसिंह के हाथी को गुज़रने में रुकावट पड़ी थी और जिस प्रसंग पर एक तरफ से हेमचन्द्र ने 'सिद्ध' को निश्शंक होकर अपने गजराज को ले जाने के लिए कहा और श्लेष से स्तुति[2] की । परन्तु इस उल्लेख में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, यह कहना कठिन है[3] ।

सिद्धराज जयसिंह के मालवा की अंतिम विजय के समय भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि उसे अभिनन्दन देने के लिए आए; उस समय जैन-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में

---

१ उल्लेखनीय यह है कि 'काव्यप्रकाश' की सम्भाव्य प्रथम टीका 'संकेत' गुजरात के माणिक्यचन्द्र ने लिखी है ।

२. कारय प्रसरं सिद्ध हस्तिराजमशङ्कितम् । त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः ॥ ६७ ॥

३. 'कुमारपाल प्रबन्ध' हेमचन्द्र और जयसिंह का प्रथम-समागम इस प्रसंग से पूर्व भी हुआ था ऐसा सूचित करता है ।

हेमचन्द्र ने स्वागत किया था। उस प्रसंग का उनका श्लोक[1] प्रसिद्ध है। यह घटना वि० सं० ११९१–९२ में (ई० स० ११३६ के प्रारम्भ) में घटित हुई होगी। उस समय हेमचन्द्र की आयु छयालीस-सैंतालीस वर्ष की होगी।

जयसिंह सिद्धराज और हेमचन्द्र का सम्बन्ध कैसा होगा इसका अनुमान करनेके लिए प्रथम आधारभूत ग्रंथ 'कुमारपाल प्रतिबोध' से कुछ जानकारी मिलती है–

"बुधजनों के चूड़ामणि भुवन प्रसिद्ध सिद्धराज को सम्पूर्ण संशय स्थानों में वे प्रष्टव्य हुए। मिथ्यात्व से मुग्धमति होने पर भी उनके उपदेश से जयसिंह राजा जिनेन्द्र के धर्म में अनुरक्तमना हुआ। उनके प्रभाव में आकर ही उसने उसी नगर (अणहिल्लपुर) में रम्य 'राजविहार' बनाया और सिद्धपुर में चार जिन प्रतिमाओं से समृद्ध 'सिद्धविहार' निर्मित किया।[2] जयसिंह देव के कहने पर इन मुनीन्द्र ने 'सिद्धहेम व्याकरण' बनाया जो कि निःशेष शब्द लक्षण का निधान है। अमृतमयी वाणी में विशाल उन्हें न मिलने पर जयसिंहदेव के चित्त में एक क्षण भी सन्तोष नहीं होता था।" –कुमारपाल प्रतिबोध पृ० २२।

इस कथन में बहुत सा ऐतिहासिक तथ्य दिखाई देता है। हेमचन्द्र और जयसिंह का सम्बन्ध क्रमशः गाढ़ हुआ होगा, और हेमचन्द्र की विद्वत्ता एवं विशद प्रतिपादन शैली से (जो कि उनके ग्रन्थों में प्रतीत होती है) वे उसके विचारसारथि हुए होंगे। जयसिंह के उत्तेजन से हेमचन्द्र को व्याकरण, कोश, छन्द तथा अलङ्कार शास्त्र रचने का निमित्त प्राप्त हुआ और अपने राजा का कीर्तन करनेवाले, व्याकरण सिखानेवाले तथा गुजरात के लोक-जीवन के प्रतिबिम्ब को धारण करनेवाले 'द्व्याश्रय' नामक काव्य रचने का मन हुआ।

इष्ट देवता की उपासना के विषय में जयसिंह कट्टर शैव ही रहा यह 'कुमारपाल प्रतिबोध' के 'मिच्छत्त-मोहिय-मई'—मिथ्यात्वमोहितमति विशेषण से ही फलित होता है। परन्तु ऐसा मानने का कारण है कि धर्म विचारणा के विषय में सार ग्रहण करने की उदार विवेक-बुद्धि से हेमचन्द्र की चर्चाएँ होती होंगी; और बहुत सम्भव है कि इधर धर्मों पर आक्षेप किए बिना ही उन्होंने जैन-धर्म के सिद्धान्तों को समझाकर जयसिंह को उनमें 'अनुरक्त मन वाला' किया हो।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' के 'सर्वदर्शनमान्यता' नामक प्रबन्ध का यहाँ उल्लेख करना उचित होगा–"संसार सागर से पार होने का इच्छुक श्रीसिद्धराज 'देवतत्त्व', और 'पात्रतत्त्व' की जिज्ञासा से सब दार्शनिकों से पूछता है, और सब अपनी स्तुति तथा दूसरों की निन्दा करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र पुराणों में से कथा कहकर, साँढ़ बना हुआ पति सच्ची ओषधि

---

१ भूमिं क. . "वि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा। मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप त्वं पूर्णकुम्भी भव॥
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणान्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः॥
प्रभावक चरित पृ० ३००

२ द्व्याश्रय (सर्ग १५, श्लो० १६) के अनुसार सिद्धपुर में जयसिंह ने चरम तीर्थंकर महावीर स्वामी का मन्दिर बनवाया था। अन्य उल्लेखों के लिए देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना १८८।

खाने से जिस प्रकार पुनः मनुष्य हो सका उसी प्रकार भक्तिसे सर्वदर्शन का आराधन करने से स्वरूप न जानने पर भी मुक्ति मिलती है, ऐसा अभिप्राय देते हैं।"

यह 'सर्वदर्शनमान्यता' की दृष्टि साम्प्रदायिक चातुरी की थी जैसा कि डॉ० ब्युल्हर मानते हैं, अथवा सारग्राही विवेक बुद्धि में से परिणत थी इसका निर्णय करने का कोई बाह्य साधन नहीं है। परन्तु अनेकान्तवाद के रहस्यज्ञ हेमचन्द्र में ऐसी विवेकबुद्धि की सम्भावना है क्योंकि हेमचन्द्र और अन्य जैन तार्किक अनेकान्त को 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रूप में भी घटाते हैं। इसके अलावा उस युग में दूसरे सम्प्रदायों में भी ऐसी विशालदृष्टि के विचारकों के दृष्टान्त भी मिलते हैं। प्रथम भीमदेव के समय में शैवाचार्य ज्ञानभिक्षु और सुविहित जैन साधुओं को पाटन में स्थान दिलानेवाले पुरोहित सोमेश्वर के दृष्टान्त 'प्रभावक चरित' में वर्णित हैं। अर्थात् प्रत्येक सम्प्रदाय में ऐसे थोड़े बहुत उदारमति आचार्यों के होने की सम्भावना है।

ऐसा मानने के लिए कारण है कि मालव-विजय के बाद से जयसिंह की मृत्युपर्यन्त उसके साथ हेमचन्द्र का सम्बन्ध अबाधित रहा; अर्थात् वि० सं० ११९१ के अन्त से वि० सं० ११९९ के आरम्भ तक लगभग सात वर्ष यह सम्बन्ध अस्खलित रहा। जयसिंह की मृत्यु के समय हेमचन्द्र की आयु ५४ वर्ष की थी। इन सात वर्षों में हेमचन्द्र की साहित्य-प्रवृत्ति के अनेक फल गुजरात को मिले।

: ५ :

आचार्य हेमचन्द्र का कुमारपाल के साथ प्रथम परिचय किस वर्ष में हुआ यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' पर से ऐसा ज्ञात होता है कि मंत्री वाग्भटदेव—बाहडदेव द्वारा कुमारपाल के राजा होने के पश्चात् वह हेमचन्द्र के साथ गाढ परिचय में आया होगा। परन्तु, डॉ० ब्युल्हर के कथनानुसार साम्राज्य निमित्तक युद्ध पूर्ण होनेके अनन्तर प्रथम परिचय हुआ होगा ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। फिर भी धर्म का विचार करने का अवसर उस प्रौढवय के राजा को उसके बाद ही मिला होगा।

जयसिंह के साथ का परिचय समवयस्क विद्वान् मित्र जैसा लगता है जब कि कुमारपाल के साथ गुरु-शिष्य जैसा प्रतीत होता है। हेमचन्द्र के उपदेश से, ऐसा मालूम होता है कि, कुमारपाल का जीवन उत्तरावस्था में प्रायः द्वादश व्रतधारी श्रावक जैसा हो गया होगा। परन्तु इस पर से ऐसा अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है कि उसने अपने कुल-देव शिव की पूजा छोड़ ही दी होगी।[3]

---

१ देखो सिद्धहेम—'सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणम्'-इत्यादि पृ० २ और सिद्धर्षि की विवृति सहित 'न्यायावतार' पृ० १२८।

२ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २८३।

३ एक ओर जिस तरह हेमचन्द्र अपने ग्रन्थों में उसे 'परमार्हत' कहते हैं उसी तरह दूसरी ओर प्रभासपाटन के 'गण्ड' भाव बृहस्पति ने वि० सं० १२२९ (ई० स० ११७३) के भद्रकाली के शिलालेख में

हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने अपने जीवन में न केवल परिवर्तन ही किया किन्तु गुजरात को दुर्व्यसनों में से मुक्त करने का योग्य प्रयास भी किया। जिसमें भी विशेषतः उसने जुए और मद्य का प्रतिबन्ध करवाया, और निर्वंश के धनापहरण का कानून भी बन्द किया। हेमचन्द्र के सदुपदेश से यज्ञ-यागादि में पशुहिंसा बन्द हुई और कुमारपाल के सामन्तों के शिलालेखों के अनुसार अमुक अमुक दिन के लिए पशुहिंसा का प्रतिबन्ध भी हुआ था। कुमारपाल ने अनेक जैन-मन्दिर भी बनवाए थे जिनमें से एक 'कुमार-विहार' नामक मन्दिर का वर्णन हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने 'कुमार-विहार-शतक' में किया है। 'मोहराजपराजय' नामक समकालीनप्राय नाटक में भी इन घटनाओं का रूपकमय उल्लेख है।

उस समय के अन्य महापुरुषों के साथ हेमचन्द्र के सम्बन्ध तथा वर्तन विषयक थोड़ी सी ज्ञातव्य सामग्री मिलती है। इस बात को पहले कह ही चुके हैं कि उदयन मंत्री के घर में उसके पुत्रों के साथ बचपन में चङ्गदेव रहा था। हेमचन्द्र को साधु बनाने में भी उदयन मंत्री ने अत्यधिक भाग लिया था। उसके बाद उसके पुत्र बाहड़ द्वारा कुमारपाल के साथ गाढ़ परिचय हुआ था इसका भी निर्देश कर चुके हैं।

'प्रभावक चरित' 'महामति भागवत देवबोध' का उल्लेख करता है। उसके साथ हेमचन्द्र का परस्पर विद्वत्ता की कद्र करनेवाला मैत्री सम्बन्ध था। वड़नगर की प्रशस्ति के कवि श्रीपाल से भी हेमचन्द्र का गाढ़ परिचय था।

उस समय हेमचन्द्र की साहित्यिक प्रवृत्ति पूर्ण उत्साह से चल रही थी। सिद्धहेम शब्दानुशासन के बाद काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन कुमारपाल के समय में प्रसिद्ध हो गए थे। संस्कृत द्व्याश्रय के अन्तिम सर्ग तथा प्राकृत द्व्याश्रय—कुमारपाल चरित भी इसी समय लिखे गए।

अपूर्ण उपलब्ध 'प्रमाणमीमांसा' की रचना अनुशासनों के बाद हुई। सम्भव है, वह हेमचन्द्र के जीवन की अन्तिम कृति हो। योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित नामक विशाल जैन-पुराण, स्तोत्र आदि की रचना भी कुमारपाल के राजत्वकाल में ही हुई थी। इनके अतिरिक्त पूर्व-रचित ग्रन्थों में संशोधन और उन पर स्वोपज्ञ टीकाएँ लिखने की भी प्रवृत्ति चलती थी।

'प्रभावक चरित' में हेमचन्द्र के 'आस्थान' (विद्यासभा) का वर्णन है वह उल्लेखनीय है।

"हेमचन्द्र का आस्थान जिसमें विद्वान् प्रतिष्ठित हैं, जो ब्रह्मोल्लास का निवास और भारती का पितृ-गृह है, जहाँ महाकवि अभिनव-ग्रन्थ निर्माण में आकुल हैं, जहाँ पट्टिका (तख्ती) और पट्ट पर लेख लिखे जा रहे हैं, शब्दव्युत्पत्ति के लिए ऊहापोह होते रहने

कुमारपाल को 'माहेश्वरनृपाग्रणी' कहा है। और, संस्कृत 'द्व्याश्रय' के बीसवें सर्ग में कुमारपाल की शिवभक्ति का उल्लेख है। देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० ३३३ और २८७।

१ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २८९ तथा पृ० २५५–२६१।

से जो सुन्दर लगता है, जहाँ पुराणकवियों द्वारा प्रयुक्त शब्द दृष्टान्तरूप से उल्लिखित किए जाते हैं।"[1]

: ६ :

हेमचन्द्र ने राजकीय विषयों में कितना भाग लिया होगा यह जानने के लिए नहीं जैसी ज्ञेय-सामग्री है। वे एक राजा के सम्मान्य मित्र तुल्य और दूसरे के गुरुसम थे। राज दरबार में अग्रगण्य अनेक जैन गृहस्थों के जीवन पर उनका प्रभाव था। उदयन और वाग्भटादि मंत्रियों के साथ उनका गाढ़ सम्बन्ध था। ऐसी वस्तुस्थिति में कुछ लोग हेमचन्द्र को राजकीय विषयों में महत्त्व देते हैं। परन्तु राजनीतिक कही जा सके ऐसी एक ही बात में परामर्शदाता के रूप से हेमचन्द्र का उल्लेख 'प्रबन्धकोश' में आता है। जैसे सिद्धराज का कोई सीधा उत्तराधिकारी न था वैसे ही कुमारपाल का भी कोई नहीं था। इसलिए सिंहासन किसे देना इसकी सलाह लेने के लिए वृद्ध कुमारपाल वृद्ध हेमचन्द्र से मिलने के लिए उपाश्रय में गया; साथ में वसाह आभड़ नामक जैन-महाजन भी था। हेमचन्द्र ने द्रौहित्र प्रतापमल्ल को (जिसकी प्रशंसा गण्ड भाव बृहस्पति के शिलालेख में भी आती है) 'धर्म स्थैर्य' के लिए गद्दी देने का परामर्श दिया क्योंकि स्थापित 'धर्म' का अजयपाल से ह्रास सम्भव है। जैन-महाजन वसाह आभड़ ने ऐसी सलाह दी कि 'कुछ भी हो पर अपना ही काम का' इस कहावत के अनुसार अजयपाल को ही राज दिया जाय।[2]

इसके अलावा हेमचन्द्र ने अन्य किसी राजकीय चर्चा में स्पष्टतः भाग लिया हो तो उसका प्रमाण मुझे ज्ञात नहीं।

सिद्धराज को हेमचन्द्र कितने मान्य थे इसका कुमारपाल प्रतिबोध में संक्षेप से ही वर्णन है जब कि कुमारपाल को हेमचन्द्र ने किस तरह जैन बनाया इसके लिए सारा ग्रन्थ ही लिखा गया है। ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक है—"प्रभु हेमचन्द्र की असाधारण उपदेश शक्ति की हम स्तुति करते हैं, जिन्होंने अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होकर भी राजा को प्रबोधित किया।"[3]

'प्रभावकचरित' के अनुसार हेमचन्द्र वि० सं० १२२९ (ई० सं० ११७३) में ८४ वर्ष की आयु में दिवंगत हुए।

: ७ :

हेमचन्द्र विरचित ग्रन्थों की समालोचना का यह स्थान नहीं है। प्रत्येक ग्रन्थ के

---

१ अन्यदाभिनवग्रन्थगुम्फाकुलमहाकवौ। पट्टिकापट्टसंघातलिख्यमानपदव्रजे॥
शब्दव्युत्पत्तयेऽन्योन्यं कृतोहापोहबन्धुरे। पुराणकविसंदृष्टदृष्टान्तीकृतशब्दके॥
ब्रह्मोल्लासनिवासेऽत्र भारतीपितृसन्दिरे। श्रीहेमचन्द्रसूरीणामास्थाने सुस्थकोविदे॥
प्रभावक चरित पृ० ३१४ श्लो० २९२-९४

२ इस मन्त्रणा का समाचार हेमचन्द्र के एक विद्वेषी शिष्य बालचन्द्र द्वारा अजयपाल को मिला था। देखो, प्रबन्धकोश पृ० ९८।

३ "स्तुमस्त्रिसन्ध्यं प्रभुहेमसूरेरनन्यतुल्यामुपदेशशक्तिम्। अतीन्द्रियज्ञानविवर्जितोऽपि यत्क्षोणिभर्तुर्व्यधित प्रबोधम्॥"-कुमारपाल प्रतिबोध; पृ० ४७६।

संक्षिप्त परिचय के लिए भी एक एक लेख की आवश्यकता हो सकती है। शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, अभिधानचिन्तामणि और देशीनाममाला—इन ग्रन्थों में उस उस विषय की उस समय तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का संग्रह हुआ है। ये सब उस उस विषय के आकर ग्रन्थ हैं। ग्रन्थों की रचना देखते हुए हमें जान पड़ता है कि वे ग्रन्थ क्रमशः आगे बढ़नेवाले विद्यार्थीयों की आवश्यकता पूर्ण करने के प्रयत्न हैं। भाषा और विशदता इन ग्रन्थों का मुख्य लक्षण है। मूल सूत्रों तथा उस पर की स्वोपज्ञ टीका में प्रत्येक व्यक्ति को तत्तद्विषयक सभी ज्ञातव्य विषय मिल सकते हैं। अधिक सूक्ष्मता तथा तफ़सील से गम्भीर अध्ययन के इच्छुक विद्यार्थी के लिए बृहत् टीकाएँ भी उन्होंने रची हैं। इस तरह तर्क, लक्षण और साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने के साधन देकर गुजरात को स्वावलम्बी बनाया, ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी। हेमचन्द्र गुजरात के इस प्रकार विद्याचार्य हुए।

द्व्याश्रय संस्कृत एवं प्राकृत काव्य का उद्देश भी पठनपाठन ही है। इन ग्रन्थों की प्रवृत्ति व्याकरण सिखाना और राजवंश का इतिहास कहना—इन दो उद्देशों की सिद्धि के लिए है। बाह्यरूप क्लिष्ट होने पर भी इन दोनों काव्यों के प्रसंग-वर्णनों में कवित्व स्पष्ट झलकता है। गुजरात के सामाजिक जीवन के गवेषक के लिए द्व्याश्रय का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है।

प्रमाणमीमांसा नामक अपूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ में प्रमाणचर्चा है जिसका विशेष परिचय आगे दिया गया है।

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित तो एक विशाल पुराण है। हेमचन्द्र की विशाल-प्रतिभा को जानने के लिए इस पुराण का अभ्यास आवश्यक है; उसका परिशिष्ट पर्व भारत के प्राचीन इतिहास की गवेषणा में बहुत उपयोगी है।

योगशास्त्र में जैनदर्शन के ध्येय के साथ योग की प्रक्रिया के समन्वय का समर्थ प्रयास है। हेमचन्द्र को योग का स्वानुभव था ऐसा उनके अपने कथन से ही मालूम होता है।

द्वात्रिंशिकाएँ तथा स्तोत्र साहित्यिक-दृष्टि से हेमचन्द्र की उत्तम कृतियाँ हैं। उत्कृष्ट बुद्धि तथा हृदय की भक्ति का उनमें सुभग संयोग है।[1]

भारत भूमि और गुजरात के इतिहास में हेमचन्द्र का स्थान प्रमाणों के आधार से कैसा माना जाय? भारतवर्ष के संस्कृत-साहित्य के इतिहास में तो ये महापण्डितों की पंक्ति में स्थान पाते हैं; गुजरात के इतिहास में उनका स्थान विद्याचार्य रूप से और राजा-प्रजा के आचार के सुधारक रूप से प्रभाव डालने वाले एक महान् आचार्य का है।[2]

रसिकलाल छो० परिख

---

१ देखो डॉ० आनन्दशंकर ध्रुव की स्याद्वादमञ्जरी की प्रस्तावना पृ० १८ और २४।

२ यह लेख बुद्धिप्रकाश पु० ८६ अंक ४थे में पृ० ३७७ पर गुजराती में छपा है। उसीका यह अविकल अनुवाद है—संपादक।

विषयानुक्रमणिका ।

प्रमाणमीमांसा ।

प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	प्रमाणमीमांसाया वृत्तेर्मङ्गलम्	१	१
	वृत्तिविधाने प्रयोजनम्	१	३
	सूत्राणां निर्मूलत्वाशङ्का तन्निरासश्च	१	५
	सूत्राण्येव कथं रचितानि, कथं न प्रकरणम्, इत्याशङ्कायाः समाधानम्	१	११
	पद-सूत्रादिस्वरूपनिर्देशपूर्वकं शास्त्र-परिमाणस्योक्तिः	१	१४
१	**अन्वर्थनामसूचनगर्भं शास्त्रकरणस्य प्रतिज्ञावचनम्**	१	१७
	अथशब्दस्य अर्थत्रयप्रदर्शनम्	१	१८
	प्रमाणशब्दस्य निरुक्तिः	२	५
	शास्त्रस्योद्देशादिरूपेण त्रिविधप्रवृत्तेः मीमांसाशब्देन सूचनम्	२	६
	मीमांसाशब्दस्य अर्थान्तरकथनेन शास्त्रप्रतिपाद्यविषयाणां सूची	२	१२
२.	**प्रमाणस्य लक्षणम्**	२	२०
	लक्षणस्य प्रयोजनकथनम्	२	२१
	निर्णयपदस्यार्थः सार्थक्यञ्च	३	१
	अर्थस्य हेयोपादेयोपेक्ष्यतया त्रिविधत्वस्थापनम्	३	३
	अर्थपदस्य सार्थक्यम्	३	८
	सम्यक्पदस्य सार्थक्यम्	३	९
	'स्वनिर्णयोऽपि प्रमाणलक्षणे वाच्यः' इति मतं समर्थयमानेन पूर्वपक्षिणा स्वसंवेदनसिद्धिप्रकारप्रदर्शनम्	३	१४
३.	**स्वसंवेदनमनुमोदमानेनापि सिद्धान्तिना स्वनिर्णयस्य अतिव्यापितया लक्षणानङ्गत्वकथनम्**	४	१०
	गृहीतग्राहिणां धारावाहिकज्ञानानां व्यावृत्तये प्रमाणलक्षणे 'अपूर्व'पदमुपादेयमित्याशङ्का	४	१५
४.	**गृहीतग्राहिणां धारावाहिकज्ञानानां प्रामाण्यसमर्थनेन अपूर्वपदस्यानुपादेयतासूचनम्**	४	१९
	द्रव्यापेक्षया पर्यायापेक्षया च ज्ञाने गृहीतग्राहित्वासंभवसमर्थनम्	४	२०
	अवग्रहादीनां गृहीतग्राहित्वेनैव प्रामाण्यसमर्थनम्	४	२४
	गृहीतग्राहित्वेऽपि स्मृतेः प्रामाण्याभ्युपगमप्रदर्शनम्	५	१
	स्मृत्यप्रामाण्ये न गृहीतग्राहित्वं प्रयोजकमित्यत्र जयन्तसंवादः	५	३
५.	**संशयस्य लक्षणम्**	५	७
६.	**अनध्यवसायस्य लक्षणम्**	५	१३
७.	**विपर्ययलक्षणम्**	५	१७
	प्रामाण्यनिश्चयो स्वतः परतो वा न घटते इति पूर्वपक्षः	५	२२
८.	**सिद्धान्तिना स्वतः परतो वा प्रामाण्यनिश्चयस्य समर्थनम्**	६	१
	अभ्यासदशापन्नप्रत्यक्षेऽनुमाने च स्वतः प्रामाण्यनिश्चयसमर्थनम्	६	२
	अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे परतः निश्चयसमर्थनम्	६	९
	दृष्टादृष्टार्थके शाब्दे परतः प्रामाण्यनिश्चयसमर्थनम्	६	१३
	नैयायिकस्य प्रमाणलक्षणस्य निरासः	६	१६
	भासर्वज्ञोक्तस्य प्रमाणलक्षणस्य निरासः	६	२३
	सौगतस्य प्रमाणलक्षणस्य निरासः	६	२६
९.	**प्रमाणस्य द्वेधा विभजनम्**	७	७
	अन्यथाविभागवादिनां मतान्युल्लिख्य निरासः	७	१०
	प्रमाणद्वैविध्यं किं सौगतवत् प्रत्यक्षानुमानरूपमुतान्यथा इत्याशङ्का	७	१४
१०.	**प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणविभागः**	७	१६
	अक्षशब्दस्य अर्थद्वयदर्शनेन प्रत्यक्षद्वैविध्यसूचनम्	७	१७

सू०	विषयः	पं०	पृ०
	परोक्षशब्दस्य निरुक्तिः	७	२०
	सूत्रगतचकारेण सर्वप्रमाणानां समबलत्वसूचना	७	२१
	'न प्रत्यक्षादन्यत् प्रमाणम्' इति लौकायतिकानामाशङ्का	७	२५
११.	**प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिसमर्थनेन शङ्कानिरासः**	७	२६
	प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थावर्त्मना परोक्षप्रमाणस्य सिद्धिः	७	२८
	परचेतोवृत्त्यधिगमान्यथानुपपत्त्या पुनः तस्यैव सिद्धिः	८	७
	परलोकादिनिषेधान्यथानुपपत्त्यापि तस्यैव सिद्धिः	८	१०
	अर्थाव्यभिचारात् प्रत्यक्षप्रामाण्यवत् परोक्षप्रामाण्यसिद्धिः	८	१३
	परोक्षप्रामाण्यसिद्धौ संवादकतया धर्मकीर्त्युक्तेरुल्लेखः	८	१८
	परोक्षार्थविषयमनुमानमेवेति सौगतमतस्य निरासः	८	२२
	अभावस्तु निर्विषयत्वात् न प्रमाणमिति न प्रमाणान्तर्भूत इति निर्देशः	८	२८
	अभावः कथं निर्विषय इत्याशङ्का	८	२६
१२.	**अभावस्य निर्विषयत्वसमर्थनेन तत्समाधानम्**	८	३०
	वस्तुनो भावाभावोभयात्मकत्वसमर्थनेन अभावैकरूपवस्तुनो निराकरणद्वारा अभावप्रमाणस्य निर्विषयत्वाविष्करणम्	८	३१
	प्रत्यक्षपरोक्षयोः भावाभावोभयग्राहकत्वसमर्थनम्	६	२
	अभावांशोऽभावप्रमाणगोचर इति कुमारिलस्य पूर्वपक्षः	६	६
	अभावो प्रत्यक्षगोचर इति कृत्वा निरासः	६	१७
	अभावस्तुच्छरूपत्वादज्ञानरूप इति तस्य प्रामाण्याभावस्योपसंहारः	६	२१
१३.	**प्रत्यक्षस्य लक्षणम्**	९	२६
१४.	**वैशद्यस्य लक्षणे**	१०	६
१५.	**मुख्यप्रत्यक्षरूपकेवलज्ञानस्य लक्षणम्**	१०	१४
	आत्मनः प्रकाशस्वभावत्वसिद्धिः	१०	२१

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	प्रकाशस्वभावत्वेप्यात्मनः सावरणत्वसिद्धिः	१०	२७
	अनादेरपि आवरणस्य सुवर्णमलवत् विलयोपपत्तिसमर्थनम्	११	३
	अमूर्तत्वेऽपि आत्मन आवरणसंभवः	११	६
	आत्मनः कूटस्थनित्यत्वे दूषणम्	११	८
	परिणामिनित्यात्मसमर्थनम्	११	११
	मुख्यप्रत्यक्षस्य तद्वतो वा सिद्धौ प्रत्यक्षादीनामसामर्थ्यात् तदसिद्धिपरा कुमारिलस्याशङ्का	११	१७
१६.	**साधकप्रमाणद्वारा केवलज्ञानसमर्थनेनोक्तशङ्कानिरासः**	११	२९
	अतिशयत्व–प्रमेयत्व–ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तिभिर्हेतुभिः केवलज्ञानस्य सिद्धिः	१२	१
	नोदना हि त्रैकालिकविषयावगमिका इति मन्यमानेन शबरस्वामिना सर्वज्ञः स्वीकार्य एव इति युक्त्या सर्वज्ञसमर्थनम्	१२	८
	सिद्धसंवादेनागमेन सर्वज्ञसिद्धिः	१२	१५
	प्रत्यक्षेण सर्वज्ञसिद्धिः	१२	२४
	'भवतु यथाकथञ्चिदीश्वरादयः सर्वज्ञाः, मनुष्यस्तु न' इति वदन्तं कुमारिलं प्रत्याचार्यस्य रोषवृष्टिः	१२	२६
	ब्रह्मादीनां रागादिमत्त्वं सर्वज्ञत्वं च कथं स्यादिति विरोधस्य सोपहासमाविष्करणम्	१३	११
	ब्रह्मादीनां वीतरागत्वे तु विप्रतिपत्त्यभावकथनम्	१४	१
१७.	**बाधकप्रमाणाभावाच्च केवलज्ञानस्य सिद्धिः**	१४	८
	प्रत्यक्षस्याबाधकत्वप्रदर्शनम्	१४	१०
	अनुमानस्याबाधकत्वोपदर्शनम्	१४	२१
	आगमस्याप्याबाधकत्वप्रकटनम्	१५	१
१८.	**मुख्यप्रत्यक्षत्वेन अवधिमनःपर्याययोर्निर्देशः**	१५	४
	अवधिज्ञानस्य निरूपणम्	१५	७
	मनःपर्यायस्य निरूपणम्	१५	११
१९.	**अवधिमनःपर्याययोर्वैलक्षण्यस्य निरूपणम्**	१५	१७
	विशुद्धिकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	१८

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	क्षेत्रकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	२१
	स्वामिकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	२३
	विषयकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	२७
२०.	**सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य लक्षणम्**	१६	२
	बौद्धसंमतस्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रकारस्य स्वेष्टप्रत्यक्षे समावेशनम्	१६	१२
२१.	**इन्द्रियलक्षणानां तद्भेदानां च निरूपणम्**	१६	१७
	इन्द्रियाणां आत्मसृष्टत्वस्य आत्मलिङ्गत्वस्य च समर्थनम्	१६	१६
	इन्द्रियाणां लिङ्गत्वे तज्जन्यात्मवर्तिज्ञानस्यानुमानिकत्वापत्त्यानवस्थाप्रदर्शनम्	१६	२३
	भावेन्द्रियाणां स्वसंविदितत्वसमर्थनेनानवस्थाभङ्गप्रकटनम्	१६	२४
	इन्द्रियाणां निरुक्त्यन्तरप्रदर्शनम्	१६	२५
	द्रव्यभावेन्द्रिययोः स्वरूपम्	१६	२७
	इन्द्रियस्वामिनां निरूपणम्	१७	५
	इन्द्रियसंख्याविषये सांख्यस्य विप्रतिपत्तिः तन्निरासश्च	१७	१८
	परस्परमिन्द्रियाणां भेदाभेदसिद्धिः	१७	२२
	आत्मन इन्द्रियाणा भेदाभेदसिद्धिः	१८	१
	द्रव्येन्द्रियाणामपि परस्परं स्वारम्भकपुद्गलेभ्यश्च भेदाभेदसमर्थनम्	१८	५
	इन्द्रियविषयाणां स्पर्शादीनामपि भेदाभेदात्मकत्वनिरूपणम्	१८	७
२२.	**द्रव्येन्द्रियस्य लक्षणम्**	१८	११
२३.	**लब्ध्युपयोगतया भावेन्द्रियस्य द्वैविध्यप्रकटनम्**	१८	१९
	लब्ध्युपयोगयोः स्वरूपनिर्देशः	१८	२०
	स्वार्थसंविदि योग्यतात्वेन लब्धीन्द्रियं तत्रैव पुनर्व्यापारात्मकत्वेन उपयोगेन्द्रियं निरूप्य द्वयोरन्तरप्रदर्शनम्	१८	२५
	उपयोगेन्द्रियस्य इन्द्रियत्वाभावाशङ्का तत्समाधानं च	१६	१
२४.	**मनसो लक्षणम्**	१९	८
	मनोद्वैविध्यप्रकटनम्	१६	१७
	अर्थालोकावपि ज्ञाननिमित्तत्वेन वाच्याविति शङ्का	१६	२०
२५.	**अर्थालकयोर्ज्ञाननिमित्तत्वाभावप्रतिपादनेनोक्तशङ्कानिरासः**	१९	२५
	अर्थालोकयोरभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिसमर्थनम्	१६	२८
	सौगतसंमतस्य ज्ञानार्थयोर्जन्यजनकभावस्य निरासः	२०	६
	सौगतसंमतस्य तदुत्पत्तितदाकारवादस्य निराकरणम्	२०	१७
२६.	**अवग्रहस्य लक्षणम्**	२१	२
	सौगतसंमतात् मानसविकल्पादवग्रहस्य भेदप्रतिपादनम्	२१	१२
२७.	**ईहाया लक्षणम्**	२१	१५
	ईहोहयोर्भेदप्रतिपादनम्	२१	२१
	ईहायाः प्रामाण्यसमर्थनम्	२१	२५
२८.	**अवायस्य लक्षणम्**	२१	२८
२९.	**धारणाया लक्षणम्**	२२	१
	धारणायाः संस्काराभिन्नत्वस्य कालपरिमाणस्य च निरूपणम्	२२	२
	वैशेषिकसंमतस्य संस्कारस्वरूपस्य निरासः	२२	५
	वृद्धाचार्यैर्धारणात्वेनोक्ताया अविच्युतेरपि अवाये स्वेष्टधारणायाञ्च समावेशविधिः	२२	६
	अवग्रहादीनां कथञ्चिदेकत्वप्रतिपादनम्	२२	१७
	नैयायिकसंमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य निरासः	२२	२२
	प्रसङ्गाच्चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धिः	२३	३
	धर्मकीर्त्यभिमतप्रत्यक्षस्य निरासः	२३	८
	मीमांसकाभिमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य निरासः	२३	१६
	वृद्धसांख्याचार्यैष्टस्येश्वरकृष्णस्य च प्रत्यक्षलक्षणस्य खण्डनम्	२४	१३
३०.	**प्रमाणविषयस्य लक्षणम्**	२४	२६
	लक्षणगतानां पदानां व्यावृत्तिप्रदर्शनम्	२५	५
३१.	**अर्थक्रियासमर्थत्वात् द्रव्यपर्यायात्मकस्य वस्तुनो विषयत्वेनावधारणम्**	२५	१२
३२.	**वस्तुनोऽर्थक्रियासामार्थ्यरूपात्मकस्य व्यवस्थापनम्**	२५	१६
	नित्यैकरूपद्रव्यात्मकवस्तुनः क्रमयौग-		

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	पद्याभ्यामर्थक्रियाकरणाभावसमर्थनेन सत्त्वाभावप्रतिपादनम्	२५	२४
	अनित्यैकरूपपर्यायात्मकवस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणाभावसमर्थनेन सत्त्वाभावप्रतिपादनम्	२६	२०
	काणादाभिमतस्य परस्परात्यन्तभिन्नद्रव्यपर्यायवादस्य निरासः	२७	१४
	जैनाभिमते द्रव्यपर्याययोर्कथञ्चिद्भेदाभेदवादे विरोधादिदूषणानि तन्निरासश्च	२८	१
	वस्तुनः द्रव्यपर्यायात्मकत्वपक्षेपि अर्थक्रियाकरणाभावाशङ्कोपन्यासः	२८	२४
३३.	द्रव्यपर्यायात्मकवस्तुनः अर्थक्रियासामर्थ्यप्रतिपादनेन उक्ताशङ्काया निरासः	२९	५
३४.	अर्थप्रकाशस्य प्रमाणव्यवहितफलत्वेन प्रतिपादनम्	२९	१७
३५–३७.	एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदेपि ज्ञानस्य कर्तृस्थव्यापारत्वेन कर्मोन्मुखव्यापारत्वेन च व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावं प्रदर्श्य तयोर्भेदव्यवस्थापनम्	२९	२६
३८.	अव्यवहितस्याज्ञाननिवृत्तिरूपफलान्तरस्य निरूपणम्	३०	१२
३९.	व्यवहितफलप्रदर्शनव्याजेन ईहादीनां क्रमोपजनधर्माणां प्रमाणफलोभयत्वसमर्थनम्	३०	१८
४०.	हानादिबुद्धीनामपि प्रमाणफलत्वेन निर्देशः	३१	४
४१.	मतान्तरनिरासपूर्वकं प्रमाणफलयोः भेदाभेदसमर्थनम्	३१	८
४२.	प्रमातुर्लक्षणम्	३१	२१
	प्रमातुः स्वपराभासित्वसमर्थनम्	३१	२२
	प्रमातुर्परिणामित्वसमर्थनम्	३२	१

द्वितीयमाह्निकम् ।

सू०	विषयः	पृ०	पं०
१.	परोक्षस्य लक्षणम्	३३	३
२.	परोक्षविभागस्य निरूपणम्	३३	७
	स्मृत्यादीनां परोक्षत्वप्रकटनम्	३३	१०
३.	स्मृतेर्लक्षणम्	३३	१६
	स्मृतेर्प्रामाण्यप्रतिपादनम्	३३	२३
४.	प्रत्यभिज्ञानस्य लक्षणम्	३४	११
	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञायां समावेशः	३५	५
	प्रत्यभिज्ञानं स्मृत्यनुभवरूपज्ञानद्वयात्मकत्वेन मन्वानस्य सौगतस्य निराकरणम्	३५	१६
	प्रत्यभिज्ञानं न प्रत्यक्षादन्यत् इति नैयायिकमतस्य निराकरणम्	३५	२५
	प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यप्रतिपादनम्	३६	१३
५.	ऊहस्य लक्षणम्	३६	२०
	व्याप्तिग्रहे प्रत्यक्षानुमानयोरसामर्थ्यप्रकटनेन ऊहस्य तत्सामर्थ्यसमर्थनम्	३६	२४
	बौद्धसंमतप्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पे व्याप्तिग्रहणसामर्थ्यस्य निषेधः	३७	७
	वैशेषिकसंमतस्य ऊहापोहविकल्पे व्याप्तिग्रहणसामर्थ्यस्य निषेधः	३७	१५
	यौगाभिमतस्य तर्कसहकृतप्रत्यक्षे व्याप्तिग्रहसामर्थ्यस्य निरासः	३७	२०
६.	व्याप्तेर्निरूपणम्	३८	३
	व्याप्तेर्व्यापकधर्मतया निरूपणम्	३८	५
	व्याप्तेर्व्याप्यधर्मत्वेन प्रतिपादनम्	३८	११
	व्याप्तेरुक्तोभयधर्मप्रतिपादनस्य फलप्रदर्शनम्	३८	१६
७.	अनुमानस्य लक्षणम्	३८	२२
८.	स्वार्थपरार्थभेदादनुमानस्य विभागः	३९	४
९.	स्वार्थानुमानस्य लक्षणम्	३९	८
	साधनस्य लक्षणम्	३९	१०
	सौगतेन हेतोस्त्रैलक्षण्यसमर्थनम्	३९	१६
	सिद्धान्तिना त्रैलक्षण्यस्य निरासः	४०	११
	नैयायिकाभिमतस्य हेतोः पञ्चलक्षणकत्वस्यापि निराकरणम्	४१	१
१०.	अविनाभावस्य लक्षणम्	४१	१२
	प्रत्यक्षानुमानयोरविनाभावनिश्चये		

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	सामर्थ्याभावं प्रदर्श्य कुतः प्रमाणात् तन्निश्चय इत्याशङ्का	४१	१७
११.	ऊहात्प्रमाणात् अविनाभावनिश्चयस्य प्रतिपादनेन उक्ताशङ्कायाः समाधानम्	४१	२४
१२.	स्वभावादिभेदेन लिङ्गस्य विभजनम्	४२	१
	स्वभावलिङ्गस्य निरूपणम्	४२	४
	असाधारणधर्मे साधनत्वाभावं मन्वानस्य सौगतस्य निराकरणम्	४२	५
	कारणस्य लिङ्गत्वसमर्थनम्	४२	२२
	लिङ्गत्वेन संमतस्य कारणस्वरूपस्य निर्देशः	४३	१०
	कार्यलिङ्गस्य निरूपणम्	४३	१८
	प्राणादिरूपस्यासाधारणकार्यस्य लिङ्गत्वसमर्थनम्	४४	८
	व्यतिरेकस्यैव हेतुनियामकरूपत्वेन निर्णयः	४४	११
	एकार्थसमवायिलिङ्गस्य प्रतिपादनम्	४४	२२
	स्वभावादीनां विधिसाधनत्वनिर्देशः	४५	६
	सूत्रस्थचकारेण स्वभावाद्यनुपलब्धेर्निषेधसाधकत्वस्थापनम्	४५	११
	विरोधिलिङ्गस्य प्रतिपादनम्	२५	१६
१३.	साध्यस्य लक्षणम्	४५	२०
	सूत्रस्थसिपाधयिषितपदस्य व्यावृत्तिप्रदर्शनम्	५४	२१
	असिद्धपदस्य व्यावृत्तिनिर्देशः	४५	२६
	अबाध्यपदस्य फलम्	४५	२६
१४.	बाधाया विधाप्रदर्शनम्	४६	२
१५.	धर्मस्य धर्मिणश्च साध्यत्वसमर्थनम्	४६	१२
१६.	धर्मिणः प्रमाणसिद्धत्वप्रदर्शनम्	४६	१८
	धर्मी बुद्ध्यारूढ एवेति सौगतमतस्य प्रतिक्षेपः	४६	२०
१७.	धर्मिणो बुद्धिसिद्धत्वस्यापि समर्थनम्	४७	२
	बुद्धिसिद्धे धर्मिणि सौगतस्याशङ्का तन्निरासश्च	४७	७
	उभयसिद्धस्यापि धर्मिणः प्रदर्शनम्	४७	१६
१८.	दृष्टान्तस्यानुमानाङ्गत्वनिरासः	४७	२४
१९.	दृष्टान्तस्यानुमानानङ्गत्वे हेतूपन्यासः	४७	२७
	दृष्टान्ते अनुमानाङ्गत्वस्य विकल्प्य दूषणम्	४८	१
२०.	दृष्टान्तस्य लक्षणम्	४८	९
	अनुमानाङ्गत्वाभावेऽपि लक्षणप्रणयनस्य प्रयोजनम्	४८	१२
२१.	दृष्टान्तस्य साधर्म्यवैधर्म्यतया विभागवचनम्	४८	१८
२२.	साधर्म्यदृष्टान्तस्य लक्षणम्	४८	२२
२३.	वैधर्म्यदृष्टान्तस्य लक्षणम्	४९	२६

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

सू०	विषयः	पृ०	पं०
१.	परार्थानुमानस्य लक्षणम्	४९	२
२.	वचनेऽनुमानव्यवहारस्योपचारेण स्वीकरणम्	४९	७
३.	वचनात्मकपरार्थानुमानस्य द्वैविध्यप्रकटनम्	४९	२०
४.	तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां परार्थानुमानस्य प्रयोगभेदप्रदर्शनम्	४९	२३
५.	प्रयोगभेदेऽपि तात्पर्याभेदस्य प्रकटनम्	५०	६
६.	तात्पर्याभेदे द्वयोर्युगपत् प्रयोगस्य वैकल्यप्रदर्शनम्	५०	१५
७.	प्रतिज्ञायाः प्रयोजनम्	५०	२४
	प्रतिज्ञाप्रयोगस्य समर्थनम्	५१	१
	प्रतिज्ञार्थस्य अर्थादापन्नत्वात् प्रतिज्ञायाः प्रयोगे पौनरुक्त्यमिति सौगतस्याशङ्का	५१	१६
८.	पक्षधर्मोपसंहारवचनवत् प्रतिज्ञावचनसार्थक्यसमर्थनेन उक्ताशङ्काया निराकरणम्	५१	२१
	अनुमानप्रयोगे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्	५२	४
९.	स्वामिमतपेक्षप्रयोगप्रदर्शनेन विप्रतिपत्तिनिरासः	४२	८

सू०	विषयः	पृ०	पं०
१०.	बोध्यमपेक्ष्य प्रयोगप्रदर्शनम्	५२	१६
११.	प्रतिज्ञायाः लक्षणम्	५२	२४
१२.	हेतोर्लक्षणम्	५२	२९
१३.	उदाहरणस्य लक्षणम्	५३	६
१४.	उपनयस्य लक्षणम्	५३	१३
१५.	निगमनस्य लक्षणम्	५३	१७
	अवयवपञ्चकशुद्धिं प्रदर्श्य दशावयवप्रयोगप्रकटनम्	५३	२०
१६.	हेत्वाभासस्य विभागवचनम्	५४	३
	हेत्वाभासशब्दप्रयोगस्य औपचारिकत्वप्रकटनम्	५४	४
	हेत्वाभासस्य संख्यान्तरनिराकरणम्	५४	७
१७.	असिद्धहेत्वाभासस्य निरूपणम्	५४	१६
	स्वरूपासिद्धस्य निरूपणे सौगतस्याशङ्का तन्निरासश्च	५४	१८
	सन्दिग्धासिद्धस्य प्ररूपणम्	५४	२५
१८.	वाद्यादिभेदेन असिद्धभेदस्य विधानम्	'.५	४
१९.	विशेष्यासिद्धादीनां स्वेष्टभेदेष्वन्तर्भाववचनम्	५५	१४
२०.	विरुद्धहेत्वाभासस्य लक्षणम्	५५	२७
	अन्याभिमतविरुद्धभेदानां संग्रहः	५६	६
२१.	अनैकान्तिकस्य निरूपणम्	५६	१७
	अन्याभिमतानैकान्तिकभेदानां स्वेष्टानैकान्तिकेऽन्तर्भावः	५६	२१
२२.	दृष्टान्ताभासानां संख्यावचनम्	५७	९
२३.	साध्यसाधनोभयविकलतया साधर्म्यदृष्टान्ताभासानां निरूपणम्	५७	१४
२४.	साध्यसाधनोभयाव्यावृत्तत्वेन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासानां प्ररूपणम्	५७	२०
२५.	सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेकाणां दृष्टान्ताभासानां प्रतिपादनम्	५८	२
२६.	विपरीतान्वयव्यतिरेकयोर्दृष्टान्ताभासयोर्निरूपणम्	५८	१६
२७.	अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकयोर्दृष्टान्ताभासयोः प्रतिपादनम्	५८	२५
	सर्वदृष्टान्ताभासानां अनन्वयाव्यतिरेकाभिन्नत्वेन तन्निरूपणे तयोः पृथग्वचनानर्थक्यसमर्थनम्	५९	७
२८.	दूषणस्य लक्षणम्	५९	१५
२९.	दूषणाभासस्य लक्षणम्	५९	२०
	दूषणाभासत्वेन संमतानां चतुर्विंशतेर्जात्युत्तरप्रयोगाणां क्रमशो विस्ततः प्रदर्शनम्	६०	१
	जात्युत्तरप्रयोगस्य प्रतिसमाधानप्रदर्शनम्	६२	१६
	दूषणाभासत्वेन संमतानां छलानां निरूपणम्	६२	२२
३०.	वादस्य लक्षणम्	६३	६
	तत्त्वरक्षणं जल्पवितण्डयोर्प्रयोजनमिति नैयायिकमतमाशङ्क्य तन्निराकरणम्	६३	२१
	जल्पवितण्डयोर्कथान्तरत्वाभावसमर्थनेन वादात्मकैकैव कथेति स्वेष्टसमर्थनम्	६३	३०
३१.	जयस्य लक्षणम्	६४	२६
३२.	पराजयस्य लक्षणम्	६५	३
३३.	निग्रहस्य निरूपणम्	६५	८
३४.	नैयायिकसंमतस्य विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रस्य पराजयहेतुत्वस्य निराकरणम्	६५	१३
	नैयायिकसंमतानां द्वाविंशतिभेदभिन्नानां निग्रहस्थानानां क्रमशो निरूपणम्, परीक्षा च	६५	२०
३५.	सौगतसंमतस्य असाधनाङ्गवचनादोषोद्भावनयोर्निग्रहहेतुत्वस्य परीक्ष्य निराकरणम्	७२	१०
	असाधनाङ्गवचनमित्यस्य त्रिरूपलिङ्गावचनमित्यादिप्रथमव्याख्यानस्य खण्डनम्	७२	१६
	असाधनाङ्गमित्यस्य साधर्म्येण हेतोर्वचनइत्यादिरूपव्याख्यानान्तरस्य निषेधः	७३	१४
	अदोषोद्भावनमित्यस्य प्रसज्यप्रतिषेध इत्यादिव्याख्यानस्य निषेधः	७४	१८
	पत्रवाक्यस्य लक्षणकरणप्रतिज्ञा	७४	२७

भाषाटिप्पणानि।

प्रथमाध्याय का प्रथमाह्निक।

नं०		पृ०	पं०
१	पाणिनि, पिङ्गल, कणाद और अक्षपाद के ग्रन्थों का निर्देश	१	६
२	वाचकमुख्य उमास्वाति का परिचय	१	८
३	दिगम्बराचार्य अकलङ्क के ग्रन्थों का निर्देश	१	११
४	धर्मकीर्ति के कुछ ग्रन्थों का निर्देश	१	१४
५	प्रथम सूत्र की शब्द रचना के आधार का ऐतिहासिक दिग्दर्शन	१	२१
६	आचार्य हेमचन्द्र ने 'अथ' के जो तीन अर्थ किये हैं उनके मूल का ऐतिहासिक अवलोकन	२	११
७	जैनपरंपराप्रसिद्ध पांच परमेष्ठिओं का निर्देश	३	६
८	हेमचन्द्राचार्य कृत प्रमाणनिर्वचन के मूल का निर्देश	३	११
९	शास्त्र-प्रवृत्ति के दो, तीन, और चार प्रकारों के विवाद का रहस्य। हेमचन्द्र द्वारा इस विषय में किये गए नैयायिकों के अनुकरण का निर्देश	३	१७
१०	मीमांसा शब्द के विशिष्ट अर्थ का आधार क्या है? और उससे आचार्य को क्या अभिप्रेत है उसका निदर्शन	४	२१
११	कणादकृत कारणशुद्धिमूलक प्रमाण-सामान्य लक्षण और उसमें नैयायिक-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध द्वारा किए गए उत्तरोत्तर विकास का तुलनात्मक ऐतिहासिक दिग्दर्शन। जैनाचार्यों के प्रमाण लक्षणों की विभिन्न शब्द रचना के आधार का ऐतिहासिक अवलोकन। जैन परंपरा में हेमचन्द्र के संशोधन का अवलोकन	५	१
१२	लक्षण के प्रयोजन के विषय में दार्शनिकों की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन	८	६
१३	सूत्र १. १. २ की व्याख्या के आधार की सूचना	८	१६
१४	अर्थ के प्रकारों के विषय में दार्शनिकों के मतभेद का दिग्दर्शन	९	५
१५	स्वप्रकाश के स्थापन में प्रयुक्त युक्तियो के आधार का निर्देश	१०	२५
१६	प्रमाण लक्षण में स्वपद क्यों नहीं रखा उसका आचार्यकृत खुलासा	११	८
१७	दर्शनशास्त्र में जब धर्मकीर्ति ने धारावाहि के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा दाखिल की तब उसके विषय में सभी दार्शनिकों ने जो मन्तव्य प्रगट किया है उसका रहस्योद्घाटन	११	१७
१८	सूत्र १. १. ४ की रचना के उद्देश्य और वैशिष्ट्य का सूचन	१४	५
१९	सूत्र १. १. ४ और उसकी वृत्ति की विशिष्टता तत्त्वोपप्लव के आचार्यकृत अवलोकन से फलित होने की संभावना	१४	१५
२०	संशय के विभिन्न लक्षणों की तुलना	१४	२२
२१	प्रशस्तपाद कृत अनध्यवसाय के स्वरूप का निर्देश	१५	८
२२	हेमचन्द्र कृत विपर्यय के लक्षण की तुलना	१५	२३
२३	प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतः परतः की चर्चा के प्रारंभ का इतिहास और इस विषय में दार्शनिकों के मन्तव्य का दिग्दर्शन	१६	१८
२४	परोक्षार्थक आगम के प्रामाण्य के समर्थन में अक्षपाद की तरह मन्त्रायुर्वेद को दृष्टान्त न करके आचार्य हेमचन्द्र ने ज्योतिष शास्त्र का दृष्टान्त दिया है उसका ऐतिहासिक दृष्टि से रहस्योद्घाटन	१८	१२
२५	आचार्य द्वारा बौद्ध-नैयायिकों के प्रमाण लक्षण का निरास	१९	४
२६	जैन परंपरा में पाई जानेवाली आगमिक और तार्किक ज्ञान-चर्चा का ऐतिहासिक दृष्टि से विस्तृत अवलोकन	१९	२९
२७	वैशेषिक संमत प्रमाणद्वित्ववाद और प्रमाणत्रित्ववाद का निर्देश	२३	८
२८	प्रत्यक्षपरक अक्षशब्द के अर्थों में		

नं०		पृ०	पं०
	दार्शनिकों के मतभेद का दिग्दर्शन	२३	२४
२९	भिन्न-भिन्न दार्शनिको के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रमाण को ज्येष्ठ मानने की परंपराओं का वर्णन	२४	१३
३०	सूत्र १. १. ११ की आधारभूत कारिका की सूचना और उसकी व्याख्या की न्यायावतार वृत्ति के साथ तुलना	२५	३
३१	अभावप्रमाणवाद के पक्षकार और प्रतिपक्षियों का निर्देश। सूत्र १. १. १२ की व्याख्या की न्यायावतार वृत्ति के साथ तुलना	२६	१
३२	प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में भिन्न २ परंपराओं का वर्णन	२६	११
३३	सर्वज्ञवाद और धर्मज्ञवाद का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन। सर्वज्ञ के विषय में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन। सर्वज्ञ और धर्मज्ञ की चर्चा में मीमांसक और बौद्धों के द्वारा दी गई मनोरंजक दलीलों का वर्णन	२७	१२
३४	पुनर्जन्म और मोक्ष माननेवाले दार्शनिकों के सामने आनेवाले समान प्रश्नों का तथा उनके समान मन्तव्यों का परिगणन	३४	१०
३५	समानभाव से सभी दार्शनिकों में पाये जानेवाले सांप्रदायिक रोष का निदर्शन	३६	१६
३६	सूत्र १. १. १७ को ठीक २ समझने के लिये तत्त्वसंग्रह देखने की सूचना	३६	२०
३७	वक्तृत्व आदि हेतुओं की सर्वज्ञत्व विषयक असाधकता को प्रगट करनेवाले आचार्यों का निर्देश	३७	१
३८	मनःपर्यायज्ञान के विषय में दो परंपराओं के स्वरूप संबंधी मतभेद का वर्णन	३७	७
३९	इन्द्रिय पद की निरुक्ति, इन्द्रियों का कारण, उनकी संख्या, उनके विषय, उनके आकार, उनका पारस्परिक भेदाभेद, उनके प्रकार तथा उनके स्वामी इत्यादि इन्द्रिय निरूपण विषयक दार्शनिकों के मन्तव्यों का तुलनात्मक दिग्दर्शन	३८	२१
४०	मनके स्वरूप, कारण, कार्य, धर्म और स्थान आदि अनेक विषयों में दार्शिनिकों के मतभेदों का संक्षिप्त वर्णन	४२	१४
४१	आचार्यवर्णित चार प्रत्ययों के मूल स्थान का निर्देश	४३	२८
४२	अर्थालोककारणतावाद नैयायिक-बौद्ध उभय मान्य होने पर भी उसे बौद्ध सम्मत ही समज कर जैनाचार्यों ने जो खण्डन किया है उसका खुलासा	४४	१२
४३	तदुत्पत्ति-तदाकारता का सिद्धान्त सौत्रान्तिक सम्मत होने की तथा योगाचार बौद्धों के द्वारा उसके खण्डन की सूचना	४४	२६
४४	ज्ञानोत्पत्ति के क्रम का दार्शनिकों के द्वारा भिन्न भिन्न रूप से किये गए वर्णन का तुलनात्मक निरूपण	४५	१६
४५	अनध्यवसाय, मानसज्ञान और अवग्रह के परस्पर भिन्न होने की आचार्यकृत सूचना का निर्देश। प्रतिसंख्यानिरोध का स्वरूप	४६	६
४६	अवाय और अपाय शब्द के प्रयोग की भिन्न २ परंपरा का और अकलंक कृत समन्वय का वर्णन	४६	१४
४७	धारणा के अर्थ के विषय में जैनाचार्यों के मतभेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्णन	४७	५
४८	हेमचन्द्र ने स्वमतानुसार प्रत्यक्ष का लक्षण स्थिर करके परपरिकल्पित लक्षणों का निरास करने में जिस प्रथा का अनुकरण किया है उसके इतिहास पर दृष्टिपात	४८	१४
४९	अक्षपादीय प्रत्यक्षसूत्र की वाचस्पति की व्याख्या पर 'पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन' इस शब्द से आचार्य ने जो आक्षेप किया है और जो असंगत दिखता है उसकी संगति दिखाने का प्रयत्न	४९	७
५०	इन्द्रियों के प्राप्याप्राप्यकारित्व के विषय में दार्शनिकों के मतभेदों की सूची	४९	२३
५१	प्रत्यक्षलक्षण विषयक दो बौद्ध परंपराओं का निर्देश और उन दोनो के लक्षणों के निरास करने वाले कुछ		

नं० पृ० पं०

आचार्यों का निर्देश ५० १०

५२ कल्पना शब्द की अनेक अर्थों में प्रसिद्धि होने की सूचना ५१ ८

५३ जैमिनी के प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या के विषय में मीमांसकों के मतभेदों का निर्देश और उस सूत्र का खण्डन करने वाले दार्शनिकों का निर्देश ५१ २०

५४ सांख्यदर्शनप्रसिद्ध प्रत्यक्षलक्षण के तीन प्रकारों का निर्देश और उनके कुछ खण्डन करनेवालों की सूचना ५२ १९

५५ प्रमाण की विषयभूत वस्तु के स्वरूप तथा वस्तुस्वरूपनिश्चायक कसौटिओं के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन। बौद्धों की अर्थक्रियाकारित्व-रूप कसौटी का अपने पक्ष की सिद्धि में आचार्य द्वारा किये गये उपयोग का निर्देश ५३ ६

५६ व्याकरण, जैन तथा जैनेतर दार्शनिक साहित्य में द्रव्य शब्द की भिन्न भिन्न अर्थों में प्रसिद्धि का ऐतिहासिक सिंहावलोकन। जैनपरंपराप्रसिद्ध गुण-पर्याय के भेदाभेदवाद का संक्षिप्त इतिहास और गुण-पर्याय तथा द्रव्य के भेदाभेद-वाद के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन ५४ १७

नं० पृष्ठ पं०

५७ केवल नित्यत्व आदि भिन्न २ वादों के समर्थन में सभी दार्शनिकों के द्वारा प्रयुक्त बंध-मोक्ष की व्यवस्था आदि समान युक्तियों का ऐतिहासिक दिग्दर्शन ५७ २१

५८ सन्तान का वर्णन और उसका खण्डन करने वालों का निर्देश ६० २०

५९ अनेकान्तवाद के इतिहास पर दृष्टिपात ६१ ५

६० अनेकान्तवाद पर दिये जाने वाले दोषों की संख्या विषयक भिन्न भिन्न परंपराओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन ६५ ८

६१ फल के स्वरूप और प्रमाण-फल के भेदाभेदवाद के विषय में वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरा के मन्तव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक वर्णन ६६ ७

६२ आत्मा के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का संक्षिप्त वर्णन ७० ८

द्वितीयाह्निक।

६३ भिन्न भिन्न दार्शनिकों के द्वारा रचित स्मरण के लक्षणों के भिन्न भिन्न आधारों का दिग्दर्शन ७२ २

६४ अधिक से अधिक संस्कारोद्बोधक निमित्तों के संग्राहक न्यायसूत्र का निर्देश ७२ १६

६५ स्मृति ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में दार्शनिको की युक्तियों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक दिग्दर्शन ७२ २१

६६ 'नाकारणं विषयः' इस विषय में सौत्रान्तिक और नैयायिकों के मन्तव्य की तुलना ७४ २४

६७ प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप और प्रामाण्य के बारे में दार्शनिकों के मतभेद का तुलनात्मक दिग्दर्शन ७५ ३

६८ ऊह और तर्क शब्दों का निर्देश तथा उसके स्वरूप और प्रामाण्य के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यो की तुलना ७६ २५

६९ हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत अर्चटोक्त व्याप्ति का रहस्योद्घाटन ७८ २५

७० अनुमान और प्रत्यक्ष के स्वार्थ-परार्थरूप दो भेदों के विषय में दार्शनिकों का मन्तव्य ८० १६

७१ हेतु के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न परंपराओं का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विचार ८० ३०

७२ हेतु के प्रकारोंके बारे में जैनाचार्यों के मन्तव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन ८३ २३

७३ कारणलिङ्गक अनुमान के विषय में धर्मकीर्ति के साथ, अपना मतभेद होने पर भी हेमचन्द्र ने उनके लिये 'सूक्ष्म-

नं०		पृ०	पं०
	दर्शिन्' विशेषण का प्रयोग किया है इससे धर्मकीर्ति के ऊपर उनके आदर की सूचना	८५	२६
७४	'प्राणादिमत्त्वात्' इस हेतु की सत्यता के बारे में इतर दार्शनिकों के साथ बौद्धों के मतभेद का दिग्दर्शन	८६	१
७५	हेतु के नियामक रूप के बारे में धर्मकीर्ति का जो मत हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है उसकी निर्मूलता के बारे में शंका और समाधान। अन्वय और व्यतिरेकविषयक जैन-बौद्ध मन्तव्यों का समन्वय	८६	१२
७६	पक्ष का लक्षण, लक्षणगत पदों का फल, पक्ष के आकार और प्रकार इन बातों में दार्शनिकों के मन्तव्यों का ऐतिहासिक अवलोकन	८७	२६
७७	दृष्टान्त के लक्षण और उपयोग के बारे में नैयायिक और जैन-बौद्ध मन्तव्यों का दिग्दर्शन	९०	१५

द्वितीयाध्याय का प्रथमाह्निक ।

नं०		पृ०	पं०
७८	वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरागत परार्थानुमान की चर्चा का इतिहास	९२	१
७९	परार्थानुमान के प्रयोग प्रकारों के बारे में वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरा के मन्तव्यों की तुलना	९२	२०
८०	परार्थानुमान में पक्ष प्रयोग करने न करने के मतभेद का दिग्दर्शन। हेमचन्द्र द्वारा अपने मन्तव्य की पुष्टि में वाचस्पति का अनुकरण	९३	१७
८१	परार्थानुमान स्थल में प्रयोग परिपाटी के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन	९४	१४
८२	अनुमान के शब्दात्मक पांच अवयवों के वर्णन में हेमचन्द्र कृत अक्षपाद के अनुकरण की सूचना	९६	९
८३	हेत्वाभास के विभाग के बारे में दार्शनिकों की विप्रतिपत्ति का ऐतिहासिक अवलोकन	९६	१४
८४	दार्शनिकों के असिद्धविषयक मन्तव्य का तुलनात्मक वर्णन	९८	१६
८५	दार्शनिकों के विरुद्धविषयक मन्तव्य का तुलनात्मक दिग्दर्शन	९९	१५
८६	अनैकान्तिक के बारे में दार्शनिकों के मतभेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन	१००	१४
८७	दृष्टान्ताभास के निरूपण का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक अवलोकन	१०३	२६
८८	दूषण-दूषणाभास का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन	१०८	१५
८९	वादकथा का इतिहास	११५	२८
९०	निग्रह-स्थान तथा जय-पराजय व्यवस्था का तुलनात्मक वर्णन	११९	१४

वृद्धि पत्रक ।

नं०		पृ०	पं०
९१	निर्विकल्प के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्य की तुलना	१२५	१
९२	ज्ञान की स्वप्रकाशकता के विषय में दार्शनिकों के मन्तव्य	१३०	७
९३	प्रत्यक्ष विषयक दार्शनिकों के मन्तव्य	१३२	७
९४	प्रतिसंख्यान	१३५	३०
९५	हेमचन्द्र की प्रमाण-फल व्यवस्था में उनका वैयाकरणत्व	१३६	१
९६	आत्मप्रत्यक्ष का विचार	१३६	११
९७	अनुमानप्रमाण का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन	१३८	१
९८	दिङ्नाग का हेतुचक्र	१४२	१४

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

प्रमाण मीमांसा

स्वोपज्ञवृत्तिसहिता

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

स्वोपज्ञवृत्तिसहिता

॥ प्र मा ण मी मां सा ॥

अनन्तदर्शन[1]ज्ञानवीर्यानन्दमयात्मने ।
नमोऽर्हते कृपाक्लृप्त[2]धर्मतीर्थाय तायिने ॥ १ ॥
बोधि[3]बीजमुपस्कर्तुं तत्त्वाभ्यासेन धीमताम् ।
जैनसिद्धान्तसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥ २ ॥

§ १. ननु यदि भवदीयानीमानि जैनसिद्धान्तसूत्राणि तर्हि भवतः पूर्वं कानि किमीया[4]नि वा तान्यासन्निति ? अत्यल्पमिदमन्वयुङ्क्थाः । पाणिनि-पिङ्गल-कणादा-ऽक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणीत्येतदपि पर्यनुयुङ्क्ष्व ! अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते । किं नाश्रौषीः 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति ? यदि वा प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्रचूडामणिभूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति ।

§ २. यद्येवम्—अकलङ्क-धर्मकीर्त्यादिवत् प्रकरणमेव किं नारभ्यते, किमनया सूत्रकारत्वाहोपु[5]रुषिकया ? मैवं वोचः; भिन्नरुचिर्ह्ययं जनः ततो नास्य स्वेच्छाप्रतिबन्धे लौकिकं राजकीयं वा शासनमस्तीति यत्किञ्चिदेतत् ।

§ ३. तत्र वर्णसमूहात्मकैः पदैः, पदसमूहात्मकैः सूत्रैः, सूत्रसमूहात्मकैः प्रकरणैः, प्रकरणसमूहात्मकैः आह्निकैः, आह्निकसमूहात्मकैः पञ्चभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः । तस्य च प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गमभिधेयमभिधातुमिदमादिसूत्रम्—

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥

§ ४. अथ-इत्यस्य अधिकारार्थत्वाच्छास्त्रेणाधिक्रियमाणस्य प्रस्तूयमानस्य प्रमाणस्याभिधानात् सकलशास्त्रतात्पर्यव्याख्याने[6]र्न प्रेक्षावन्तो बोधिताः प्रवर्तिताश्च भवन्ति । आनन्तर्यार्थो वा अथ-शब्दः, शब्द-काव्य-छन्दोनुशासनेभ्योऽनन्तरं प्रमाणं मीमांस्यत

१ तत्त्वश्रद्धानं सामान्यज्ञानं वा दर्शनम् । २ ०रचित० । ३ प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिर्बोधिस्तस्य बीजं सम्यक्त्वम् । ४ कस्य सत्कानि ? ५ वृथाभिनिवेशेन । ६ –०व्याख्याने प्रेक्षा०-ता० ।

इत्यर्थः। अनेन शब्दानुशासनादिभिरस्यैककर्तृकत्वमाह। अधिकारार्थस्य च अथ-शब्दस्यान्यार्थनीयमानकुसुमदामजलकुम्भादेर्दर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायापि कल्पत इति। मङ्गले च सति परिपन्थिविघ्नविघातात् अक्षेपेण शास्त्रसिद्धिः, आयुष्मच्छ्रोतृकता च भवति। परमेष्ठिनमस्कारादिकं तु मङ्गलं कृतमपि न निवेशितं लाघवार्थिना सूत्रकारेणेति।

5 §५. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्, तस्य मीमांसा–उद्देशादिरूपेण पर्यालोचनम्। त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं परीक्षा च। तत्र नामधेयमात्रकीर्त्तनमुद्देशः, यथा इदमेव सूत्रम्। उद्दिष्टस्यासाधारणधर्म्मवचनं लक्षणम्। तद् द्वेधा सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च। सामान्यलक्षणमनन्तरमेव सूत्रम्। विशेषलक्षणम् "**विशदः प्रत्यक्षम्**" [१.१.१३] इति। विभा-

10 गस्तु विशेषलक्षणस्यैवाङ्गमिति न पृथगुच्यते। लक्षितस्य 'इदमित्थं भवति नेत्थम्' इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा, यथा तृतीयं सूत्रम्।

§६. पूजितविचारवचनश्च मीमांसा-शब्दः। तेन न प्रमाणमात्रस्यैव विचारोऽत्राधिकृतः, किन्तु तदेकदेशभूतानां दुर्नयनिराकरणद्वारेण परिशोधितमार्गाणां नयानामपि-"**प्रमाणनयैरधिगमः**" [तत्त्वा० १.६.] इति हि वाचकमुख्यः, सकलपुरुषार्थेषु मूर्द्धाभिषिक्तस्य

15 सोपायस्य सप्रतिपक्षस्य मोक्षस्य च। एवं हि पूजितो विचारो भवति। प्रमाणमात्रविचारस्तु प्रतिपक्षनिराकरणपर्यवसायी वाक्कलहमात्रं स्यात्। तद्विवक्षायां तु "**अथ प्रमाणपरीक्षा**" [प्रमाणपरी० पृ० १] इत्येव क्रियेत। तत् स्थितमेतत्–प्रमाणनयपरिशोधितप्रमेयमार्गं सोपायं सप्रतिपक्षं मोक्षं विवक्षितुं मीमांसाग्रहणमकार्याचार्येणेति ॥ १ ॥

§७. तत्र प्रमाणसामान्यलक्षणमाह–

20 **सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥ २ ॥**

§८. प्रमाणम्-इति लक्ष्यनिर्देशः, शेषं लक्षणम्, प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धस्य विधानं लक्षणार्थः। तत्र यत्तदविवादेन प्रमाणमिति धर्म्मि प्रसिद्धं तस्य सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वं धर्मो विधीयते। अत्र प्रमाणत्वादिति हेतुः। न च धर्म्मिणो हेतुत्वमनुपपन्नम्; भवति हि विशेषे धर्म्मिणि तत्सामान्यं हेतुः, यथा अयं धूमः साग्निः, धूमत्वात्, पूर्वोपलब्ध-

25 धूमवत्। न च दृष्टान्तमन्तरेण न गमकत्वम्; अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यसिद्धेः, 'सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादिवदिति दर्शयिष्यते।

१ अस्य–शास्त्रस्य। २ आयुष्मन्तः श्रोतारोऽस्मिन्। ३ आदे. स्तुति-नामसङ्कीर्त्तने। ४ -०र्थिना शास्त्रका०-डे० मु०। ५ आदिग्रहणात् विपर्ययानध्यवसायौ। ६ सङ्ख्याद्वारेण भेदकथनं विभागः, यथा "**प्रमाणं द्वेधा। प्रत्यक्षं परोक्षं च।**" [१.१.९-१०]। ७ -०स्तु लक्ष०-ता०। ८ अङ्गम्-अवयवः कारणमिति यावत्। ९ -०तीयसू०-डे०। १० परिशोधितः प्रमाणानां मार्गोऽनेकान्तात्मकं वस्तु यैः। ११ अधिगमाय शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न वाक्कलहाय। १२ ज्ञानदर्शनचारित्ररूपोपायसहितस्य। १३ प्रतिपक्षः संसारः। १४ यथा अकलङ्केन (?) [इयं टिप्पणकारस्य भ्रान्तिः मूलादायाता भाति। वस्तुतः प्रमाणपरीक्षा न अकलङ्ककृता किन्तु विद्यानन्दकृता -सम्पा०]। १५ अनेकान्तात्मकवस्तुरूपो मार्गो यस्य मोक्षस्य। १६ व्यक्तिरूपे धर्मिणि, तद्यथा विवादाध्यासितं घटप्रत्यक्षं सम्यगर्थनिर्णयात्मकम्, प्रत्यक्षत्वादिति। १७ "**न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम्**" [१. २. १८] इति सूत्रे।

§ ९. तत्र निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम् । ततो निर्णय-पदेनाज्ञानरूपस्येन्द्रियसन्निकर्षादेः[3], ज्ञानरूपस्यापि संशयादेः प्रमाणत्वनिषेधः ।

§ १०. अर्यतेऽर्थ्यते वा अर्थो हेयोपादेयोपेक्षणीयलक्षणः, हेयस्य हातुम्, उपादेयस्योपादातुम्, उपेक्षणीयस्योपेक्षितुम् अर्थ्यमानत्वात् । न चानुपादेयत्वादुपेक्षणीयो हेय एवान्तर्भवति; अहेयत्वादुपादेय एवान्तर्भावप्रसक्तेः । उपेक्षणीय एव च मूर्द्धाभिषिक्तोऽर्थः, योगिभिस्तस्यैवार्यमाणत्वात् । अस्मदादीनामपि हेयोपादेयाभ्यां भूयानेवोपेक्षणीयोऽर्थः; तन्नायमुपेक्षितुं क्षमः । अर्थस्य निर्णय इति कर्मणि षष्ठी, निर्णीयमानत्वेन व्याप्यत्वादर्थस्य । अर्थग्रहणं च स्वनिर्णयव्यवच्छेदार्थं तस्य सतोऽप्यलक्षणत्वादिति वक्ष्यामः ।

§ ११. सम्यग्-इत्यविपरीतार्थमव्ययं समञ्चतेर्वा रूपम् । तच्च निर्णयस्य विशेषणम्, तस्यैव सम्यक्त्वाऽसम्यक्त्वयोगेन विशेष्टुमुचितत्वात्; अर्थस्तु स्वतो न सम्यग् नाप्यसम्यगिति सम्भवव्यभिचारयोरभावान्न विशेषणीयः । तेन सम्यग् योऽर्थनिर्णय इति विशेषणाद्विपर्ययनिरासः । ततोऽतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवदोषविकलमिदं प्रमाणसामान्यलक्षणम् ॥ २ ॥

§ १२. ननु अर्थनिर्णयवत् स्वनिर्णयोऽपि वृद्धैः प्रमाणलक्षणत्वेनोक्तः-"**प्रमाणं स्वपराभासि**" [न्यायाव० १] इति, "**स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**" [तत्त्वार्थश्लोकवा० १.१०.७७] इति च । न चासावसन्, 'घटमहं जानामि' इत्यादौ कर्तृकर्मवत् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति । न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावनम्, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् । उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था । अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः । एतेन 'अर्थस्य सम्भवो नोपपद्येत न चे[त्] ज्ञानं स्यात्' इत्यर्थापत्त्यापि तदुपलम्भः प्रत्युक्तः; तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात् । अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञाने अनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेस्तदवस्थः परिभवः । तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयापि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वनिर्णयात्मकत्वमप्यस्ति । ननु अनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः; मैवं वोचः; ज्ञातुर्ज्ञातृत्वेनेव अनुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात् । न चानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः; अर्थापेक्षयानुभूतित्वात्, स्वापेक्षयाऽनुभाव्यत्वात्, स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववत् विरोधाभावात् । न च स्वात्मनि क्रियाविरोधः; अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः । अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः; तथाहि–ज्ञानं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत् ।

१ प्रथमाक्षसन्निपातेन यत् ज्ञानम् । यद्यप्यनध्यवसाय एव निर्विकल्पकं तथाप्याहत्य सौगतमतनिराकरणायाविकल्पकत्वेनेति पदम् । २-०ल्पत्व०-डे० । ३ आदिपदात् ज्ञातृव्यापारः । ४ अर्थ्यमानत्वात् । ५ "शकधृष......" [हैमश० ५. ४. ९०] इति तुम् । ६ योग्यः । ७ तत्तु निर्ण०-ता० । ८ जडत्वात् । ९ सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद् भवति । १० निश्चयात्मकम् । ११ स्वनिर्णयः । १२ पुरुषस्य । १३ स्वनिर्णयोपलम्भ० । १४ अनवस्थादोषेण । १५ अर्थोऽस्यास्तीत्येवंरूपो व्यवहारः । १६ न चेतत् ज्ञा०-डे० । १७ अर्थोपलम्भोपलम्भः । १८ अर्थापत्तिज्ञाने । १९ अर्थापत्त्यन्तरस्यापि ज्ञानार्थं पुनरप्यर्थापत्त्यन्तरं कल्प(ल्प्य)मित्यनवस्था । २० यदा त्वर्थापत्त्यन्तरस्य प्रस्तुतार्थापत्तेः ज्ञानं तदेतरेतराश्रयः । २१ कर्मत्वात् ।

संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात् प्रकाशकत्वमसिद्धमिति[1] चेत्; न; अज्ञाननिरासा[2]दिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः। न च नेत्रादिभिरनैकान्तिकता; तेषां भावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा, संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः यथा घटः। तथा, यत् ज्ञानं तत् आत्मबोधं प्रत्यनपेक्षितपर[3]व्यापारम्, यथा गोचरा[4]न्तरग्राहिज्ञाना[5]त् प्राग्भावि गोचरान्तरग्राहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्, ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानमिति। संवित्[6] स्वप्रकाशे स्वा[7]वान्तरजातीयं नापेक्षते, वस्तुत्वात्, घटवत्। संवित् परप्रकाश्या, वस्तुत्वात्, घटवदिति चेत्; न; अस्याप्रयोजकत्वात्, न खलु घटस्य वस्तुत्वात् परप्रकाश्यता अपि तु बुद्धिव्यतिरिक्तत्वात्। तस्मात् स्वनिर्णयो[8]ऽपि प्रमाणलक्षणमस्त्वित्याशङ्क्याह–

स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्॥ ३॥

§ १३. सन्नपि–इति परोक्तमनुमोदते। अयमर्थः–न हि अस्ति इत्येव सर्वं लक्षणत्वेन वाच्यं किन्तु यो धर्मो विपक्षाद्व्यावर्त्तते। स्वनिर्णयस्तु अप्रमाणेऽपि संशयादौ वर्त्तते; नहि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम। ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदोषः॥ ३॥

§ १४. ननु च परिच्छिन्नमर्थं परिच्छिन्दता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात्। तथा च गृहीतग्राहिणां धारावाहिज्ञा[9]नानामपि प्रामाण्यप्रसङ्गः। ततोऽपूर्वार्थनिर्णय इत्यस्तु लक्षणम्, यथाहुः–"स्वा[10]पूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" [परीक्षामु० १.१] इति, "त[11]त्रापूर्वार्थविज्ञानम्" इति[12] च। तत्राह–

ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्॥४॥

§ १५. अयमर्थः–द्रव्यापेक्षया वा गृहीतग्राहित्वं विप्रतिषिध्येत पर्यायापेक्षया वा? तत्र पर्यायापेक्षया धारावाहिज्ञा[13]नानामपि गृहीतग्राहित्वं न सम्भवति, क्षणिकत्वात् पर्यायाणाम्; तत्कथं त[14]न्निवृत्त्यर्थं विशेषणमुपादीयेत[15]? अथ द्रव्यापेक्षया; तदप्ययुक्तम्; द्रव्यस्य नित्यत्वादेकत्वेन गृहीतग्रहीष्यमाणावस्थयोर्न भेदः। ततश्च कं विशेषमाश्रित्य ग्रहीष्यमाणग्राहिणः प्रामाण्यम्, न गृहीतग्राहिणः? अपि च अवग्रहेहादीनां गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रामाण्यमिष्यत एव। न चैषां भिन्नविषयत्वम्; एवं ह्यवगृहीतस्य अनीहनात्, ईहितस्य अनिश्चयादसमञ्जसमापद्येत। न च पर्यायापेक्षया अनधिगतविशेषावसायादपूर्वार्थत्वं वाच्यम्; एवं हि न कस्यचिद् गृहीतग्राहित्वमित्युक्तप्रायम्।

---

१ –०मिति न अज्ञा०–ता०। २ आदेः संशयादिनिरासः। ३ ज्ञानान्तरानपेक्षितव्यापारम्। ४ घटविषयम्। ५ –०ज्ञानग्रा०–डे०। ६ केवलान्वय्यनुमानम्। ७ ज्ञानान्तरम्। ८ लक्षणं वाच्यं–डे०। ९ –०वाहिकज्ञाना०–डे०। १० स्वस्य अपूर्वार्थस्य च। ११ तथापू०–डे०। तवेति प्रत्यं···भट्टः (?)। १२ प्राभाकराः। १३–०हिकज्ञा०–डे०। १४ गृहीतार्थग्राहिज्ञाननिरासायेत्यर्थः। १५ दीयते–डे०।

§ १६. स्मृतेश्च प्रमाणत्वेनाभ्युपगताया गृहीतग्राहित्वमेव सतत्त्वम् । यैरपि स्मृतेर-प्रामाण्यमिष्टं तैरप्यर्थादनुत्पाद एव हेतुत्वेनोक्तो न गृहीतग्राहित्वम्, यदाह–

"न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम् ।
अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्" [न्यायम० पृ० २३]

इति ॥ ४ ॥　　5

§ १७. अथ प्रमाणलक्षणप्रतिक्षिप्तानां संशयानध्यवसायविपर्ययाणां लक्षणमाह–

अनुभयत्रोभयकोटिसंस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥ ५ ॥

§ १८. अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शनशीलं ज्ञानं सर्वात्मना शेत इवात्मा यस्मिन् सति स संशयः, यथा अन्धकारे दूरादूर्ध्वाकारवस्तूपलम्भात् साधकबाधकप्रमाणा-भावे सति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति प्रत्ययः । अनुभयत्रग्रहणमुभयरूपे वस्तुन्युभयको-　10 टिसंस्पर्शेऽपि संशयत्वनिराकरणार्थम्, यथा 'अस्ति च नास्ति च घटः', 'नित्यश्चानित्य-श्चात्मा' इत्यादि ॥ ५ ॥

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥ ६ ॥

§ १९. दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मावमर्शरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मकत्वात् अनध्यवसायः, यथा 'किमेतत्' इति । यदप्यविकल्पकं प्रथमक्षणभावि परेषां प्रत्यक्ष-　15 प्रमाणत्वेनाभिमतं तदप्यनध्यवसाय एव, विशेषोल्लेखस्य तत्राप्यभावादिति ॥ ६ ॥

अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥ ७ ॥

§ २०. यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यासरूपत्वा-द्विपर्ययः, यथा धातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादिप्रत्ययः, तिमिरादिदोषात् एक-स्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः, नौयानात् अगच्छत्स्वपि वृक्षेषु गच्छत्प्रत्ययः, आशुभ्र-　20 मणात् अलातादावचक्रेऽपि चक्रप्रत्यय इति । अवसितं प्रमाणलक्षणम् ॥ ७ ॥

§ २१. ननु अस्तूक्तलक्षणं प्रमाणम्; तत्प्रामाण्यं तु स्वतः, परतो वा निश्चीयेत ? न तावत् स्वतः; तद्धि श्व(स्व)संविदितत्वात् ज्ञानमित्येव गृह्णीयात्, न पुनः सम्यक्त्वलक्षणं प्रा-माण्यम्, ज्ञानत्वमात्रं तु प्रमाणाभाससाधारणम् । अपि च स्वतः प्रामाण्ये सर्वेषामविप्रतिप-त्तिप्रसङ्गः । नापि परतः; परं हि तद्गोचरगोचरं वा ज्ञानम् अभ्युपेयेत, अर्थक्रियानिर्भासं वा,　25 तद्गोचरनान्तरीयकार्थदर्शनं वा ? तच्च सर्वं स्वतोऽनवधृतप्रामाण्यमव्यवस्थितं सत् कथं पूर्वं प्रवर्तकं ज्ञानं व्यवस्थापयेत् ? स्वतो वाऽस्य प्रामाण्ये कोऽपराधः प्रवर्तकज्ञानस्य येन तस्यापि तन्न स्यात् ? न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्युक्तमेव, परतस्त्वनवस्थेत्याशङ्क्याह–

१ स्वरूपम् । २ उभयेत्युपलक्षणम् आ(त्र्या)दिकोटिसंस्पर्शेऽपि संशयस्य सद्भावात् । ३ –०टिसंस्प०-डे० । ४ –०दिद्रव्ये०-डे० । ५ उल्मुकादौ । ६ प्रमाणम् । तद्धि संवि०-डे० । ७ तस्य प्रथमज्ञानस्य गोचरो विषयो जलादिः, स गोचरो यस्य द्वितीयज्ञानस्य । ८ तस्य ज्ञानस्य गोचरोऽग्न्यादिस्तदविनाभूतो धूमादिः । ९ पूर्वप्रवर्तकज्ञानं-डे० । १० तत्–स्वतः प्रामाण्यम् ।

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥

§ २२. प्रामाण्यनिश्चयः क्वचित् स्वतः यथाऽभ्यासदशापन्ने स्वकरतलादिज्ञाने, स्नानपानावगाहनोदन्योपशमादावर्थक्रियानिर्भासे वा प्रत्यक्षज्ञाने; नहि तत्र परीक्षाकाङ्क्षास्ति प्रेक्षावताम्, तथाहि–जलज्ञानम्, ततो दाहपिपासार्त्तस्य तत्र प्रवृत्तिः, ततस्तत्प्राप्तिः, ततः स्नानपानादीनि, ततो दाहोदन्योपशम इत्येतावतैव भवति कृती प्रमाता; न पुनर्दाहोदन्योपशमज्ञानमपि परीक्षते इत्यस्य स्वतः प्रामाण्यम्। अनुमाने तु सर्वस्मिन्नपि सर्वथा निरस्तसमस्तव्यभिचाराशङ्के स्वत एव प्रामाण्यम्, अव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्; न लिङ्गाकारं[1] ज्ञानं लिङ्गं विना, न च लिङ्गं लिङ्गिनं विनेति।

§ २३. क्वचित् परतः प्रामाण्यनिश्चयः, यथा अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे। नहि तत् अर्थेन गृहीताव्यभिचारमिति तदेक[2]विषयात् संवादकात् ज्ञानान्तराद्वा, अर्थक्रियानिर्भासाद्वा, नान्तरीयार्थदर्शनाद्वा तस्य प्रामाण्यं निश्चीयते। तेषां[3] च स्वतः प्रामाण्यनिश्चयान्नानवस्थादिदौस्थ्यावकाशः।

§ २४. शाब्दे तु प्रमाणे दृष्टार्थेऽर्थाव्यभिचारस्य दुर्ज्ञानत्वात् संवादाद्यधीनः परतः प्रामाण्यनिश्चयः; अदृष्टार्थे तु दृष्टार्थग्रहोपराग-नष्ट-मुष्ट्यादिप्रतिपादकानां[4] संवादेन प्रामाण्यं निश्चित्य संवादमन्तरेणाप्याप्तोक्तत्वेनैव प्रामाण्यनिश्चय इति सर्वमुपपन्नम्।

§ २५. "**अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्**" इति नैयायिकाः। तत्रार्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रम्; तदा तत् सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं करणं हेतुशब्देन विवक्षितम्; तर्हि तत् ज्ञानमेव युक्तं नेन्द्रियसन्निकर्षादि, यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति स[5] तत्[6]करणम्। न च इन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावे स[7] भवति, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिष्यते, व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दधिभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः। तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्, अन्यत्रोपचारात्।

§ २६. "**सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्**" [न्यायसा० पृ० १] इत्यत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्य प्रमाणत्वं सिध्यति, तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैवेति तदेव प्रमाणत्वेनैष्टव्यम्।

§ २७. "**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्**" [प्रमाणवा० २. १] इति सौगताः। तत्रापि यद्यविकल्पकं ज्ञानम्; तदा न तद् व्यवहारजननसमर्थम्। सांव्यवहारिकस्य[8] चैतत् प्रमाणस्य लक्षणमिति च भवन्तः, तत्कथं तस्य[9] प्रामाण्यम्? उत्तरकालभाविनो व्यवहारजननसमर्थाद्विकल्पात् तस्य प्रामाण्ये याचितकमण्डनन्यायः, वरं च व्यवहारहेतोर्विकल्पस्यैव

१ लिङ्गग्रहणपरिणामि। २ तदेकदेशविष०–डे०। ३ तदेकविषयसंवादकज्ञानान्तरादीनाम्। ४ वाक्यानाम्। ५ स–ज्ञानलक्षणोऽर्थः। ६ तस्योपलब्धत्वकारणम्। ७ अर्थोपलम्भः। ८ संगतो व्यवहारः प्रयोज[न]मस्येति। ९ अविकल्पकस्य।

प्रामाण्यमभ्युपगन्तुम्; एवं हि परम्परापरिश्रमः परिहृतो भवति । विकल्पस्य चाप्रामाण्ये कथं तन्निमित्तो व्यवहारोऽविसंवादी ? दृष्ट(श्य)विकल्प(ल्प्य)योरर्थयोरेकीकरणेन[1] तैमिरिकज्ञानवत् संवादाभ्युपगमे चोपचरितं संवादित्वं स्यात् । तस्मादनुपचरितमविसंवादित्वं प्रमाणस्य लक्षणमिच्छता निर्णयः प्रमाणमेष्टव्य इति ॥ ८ ॥

§ २८. प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा परीक्ष्य च विशेषलक्षणं वक्तुकामो विभाग- 5 मन्तरेण तद्वचनस्याशक्यत्वात् विभागप्रतिपादनार्थमाह–

प्रमाणं द्विधा ॥ ९ ॥

§ २९. सामान्यलक्षणसूत्रे प्रमाणग्रहणं परीक्षयान्तरितमिति न 'तदा'[2] परामृष्टं किन्तु साक्षादेवोक्तं प्रमाणम्-इति । द्विधा द्विप्रकारमेव, विभागस्यावधारणफलत्वात् । तेन प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः, प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणमिति वैशेषिकाः, 10 तान्येवेति साङ्ख्याः, सहोपमानेन चत्वारीति नैयायिकाः, सहार्थापत्त्या पञ्चेति प्राभाकराः, सहाऽभावेन षडिति भाट्टाः इति न्यूनाधिकप्रमाणवादिनः प्रतिक्षिप्ताः । तत्प्रतिक्षेपश्च वक्ष्यते ॥ ९ ॥

§ ३०. तर्हि प्रमाणद्वैविध्यं किं तथा यथाहुः सौगताः **"प्रत्यक्षमनुमानं च"** [प्रमाणस० १. २, न्यायबि० १ ३ ।] इति, उतान्यथा ? इत्याह– 15

प्रत्यक्षं[3] परोक्षं च ॥१०॥

§ ३१. अश्नुते अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानिति अक्षो जीवः, अश्नुते विषयम्[4] इति अक्षम्–इन्द्रियं च। प्रतिः प्रतिगतार्थः । अक्षं प्रतिगतं तदाश्रितम्, अक्षाणि चेन्द्रियाणि तानि प्रतिगतमिन्द्रियाण्याश्रित्योज्जिहीते यत् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणलक्षणम् । अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति परेणेन्द्रियादिना चोक्ष्यत इति परोक्षं 20 वक्ष्यमाणलक्षणमेव । चकारः स्वविषये द्वयोस्तुल्यबलत्वख्यापनार्थः । तेन यदाहुः– **"सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षम्"** इति तदपास्तम् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वादितरप्रमाणानां तस्य ज्येष्ठतेति चेत्; न; प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणान्तरपूर्वकत्वोपलब्धेः, लिङ्गात् आप्तोपदेशाद्वा वह्न्यादिकमवगम्य प्रवृत्तस्य तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेः ॥ १० ॥

§ ३२. न प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमिति लौकायतिकाः । तत्राह– 25

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥११॥

§ ३३. प्रमाणाप्रमाणविभागस्य, परबुद्धेः, अतीन्द्रियार्थनिषेधस्य च सिद्धिर्नानुमानादिप्रमाणं विना । चार्वाको हि काश्चिज्ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं

१ "दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य" –तत्त्वोप० लि० पृ० १११; बृहतीप० १. १. ५-पृ० ५३ –सम्पा० ।
२ 'तत्'शब्देन । ३ –०क्षं च परो०–डे० मु० मं–मू० । ४ विषयमिन्द्रि०–ता० । ५ –०क्षमितिपूर्व०–डे० ।

प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च सन्निहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते । न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च परोक्षान्तर्गतमनुमानरूपं प्रमाणान्तरमुपासीत ।

§ ३४. अपि च [अ]प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको न परीक्षकः' इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् । न च प्रत्यक्षेण परचेतोवृत्तीनामधिगमोस्ति । चेष्टाविशेषदर्शनात्तदवगमे च परोक्षस्य प्रामाण्यमनिच्छतोऽप्यायातम् ।

§ ३५. परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, सन्निहितमात्रविषयत्वात्तस्य । परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते[1] प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः ।

§ ३६. किञ्च, प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यं तच्चार्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतः परोक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते ? व्यभिचारिणोपि परोक्षस्य दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत् ; प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषादप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः । प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत् ; इतरत्रापि[2] तुल्यमेतदन्यत्र पक्षपातात् । धर्मकीर्त्तिरप्येतदाह—

"प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥ १ ॥
अर्थस्यासम्भवेऽभावात्[3] प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ २ ॥ इति ।

§ ३७. यथोक्तसङ्ख्यायोगेऽपि च परोक्षार्थविषयमनुमानमेव सौगतैरुपगम्यते; तदयुक्तम् ; शब्दादीनामपि प्रमाणत्वात् तेषां चानुमानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वात् । एकेन तु सर्वसङ्ग्राहिणा प्रमाणेन प्रमाणान्तरसङ्ग्रहे नायं दोषः । तत्र यथा इन्द्रियजमानसात्मसंवेदनयोगिज्ञानानां प्रत्यक्षेण सङ्ग्रहस्तथा स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमानां परोक्षेण सङ्ग्रहो लक्षणस्याविशेषात् । स्मृत्यादीनां च विशेषलक्षणानि स्वस्थान एव वक्ष्यन्ते । एवं परोक्षस्योपमानस्य प्रत्यभिज्ञाने, अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावोऽभिधास्यते ॥ ११ ॥

§ ३८. यत्तु प्रमाणमेव न भवति न तेनान्तर्भूतेन बहिर्भूतेन वा किञ्चित् प्रयोजनम्, यथा अभावः । कथमस्याप्रामाण्यम् ? निर्विषयत्वात् इति ब्रूमः । तदेव कथम् ? इति चेत्—

भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥१२॥

§ ३९. नहि भावैकरूपं वस्त्वस्ति विश्वस्य वैश्वरूप्यप्रसङ्गात्, नाप्यभावैकरूपं नीरू-

---

१ ०सुखेनास्ते०-डे० । २ इत्यत्रा०-डे० । ३ -०वे भावा०-डे० ।

पत्वप्रसङ्गात्; किन्तु स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावरूपं वस्तु तथैव प्रमाणानां प्रवृत्तेः । तथाहि-प्रत्यक्षं तावत् भूतलमेवेदं घटादिर्न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकद्वारेण वस्तु परिच्छिन्दत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति कं विषयमाश्रित्याभावलक्षणं प्रमाणं स्यात् ? । एवं परोक्षाण्यपि प्रमाणानि भावाभावरूपवस्तुग्रहणप्रवणान्येव, अन्यथाऽसङ्कीर्णस्वस्वविषयग्रहणासिद्धेः, यदाह- 5

"अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः ।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते ॥"

इति ।　　[श्लोकवा० अभाव० श्लो. १५.]

§ ४०. अथ भवतु भावाभावरूपता वस्तुनः, किं नश्छिन्नम् ?, वयमपि हि तथैव प्रत्यपीपदाम । केवलं भावांश इन्द्रियसन्निकृष्टत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणगोचरः अभावांशस्तु 10 न तथेत्यभावप्रमाणगोचर इति कथमविषयत्वं स्यात् ?, तदुक्तम्-

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥१॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥२॥" 15

इति ।　　[श्लोकवा० अभाव० श्लो. १८, २७]

§ ४१. ननु भावांशादभावांशस्याभेदे कथं प्रत्यक्षेणाग्रहणम् ?, भेदे वा घटाद्यभावरहितं भूतलं प्रत्यक्षेण गृह्यत इति घटादयो गृह्यन्त इति प्राप्तम्, तदभावा[२]ग्रहणस्य तद्भावग्रहणनान्तरीयकत्वात् । तथा चाभा[३]वप्रमाणमपि पश्चात्प्रवृत्तं न त्वनुत्सारयितुं पटिष्ठं स्यात्, अन्यथा[४]ऽसङ्कीर्णस्य सङ्कीर्णताग्रहणात् प्रत्यक्षं भ्रान्तं स्यात् । 20

§ ४२. अपि चायं प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपत्वात् तुच्छः । तत एवाज्ञानरूपः कथं प्रमाणं भवेत् ? । तस्मादभावांशात्कथञ्चिदभिन्नं भावांशं परिच्छिन्दता प्रत्यक्षादि[५]ना प्रमाणेनाभावांशो गृहीत एवेति तदतिरिक्तविषयाभावान्निर्विषयोऽभावः । तथा च न प्रमाण[६]मिति स्थितम् ॥१२॥

§ ४३. विभागमुक्त्वा विशेषलक्षणमाह- 25

विशदः प्रत्यक्षम् ॥१३॥

§ ४४. सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इति प्रमाणसामान्यलक्षणमनूद्य 'विशदः' इति विशेषलक्षणं प्रसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य विधीयते । तथा च प्रत्यक्षं धर्मि । विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकमिति साध्यो धर्मः । प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः । यद्विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकं न भवति न तत् प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षमिति व्यतिरेकी । 30

---

१ घटादि न भव० -डे० । २ तदभावग्रहण०-डे० । ३ चाभावग्रहणमपि-डे० । ४ अन्यथा सङ्की०-डे० । ५-०दिनाभावां०-ता० । ६ प्रमाणमिति । विभाग०-ता० ।

धर्म्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयदोष इति चेत्; न; विशेषे धर्मिणि धर्मिसामान्यस्य हेतुत्वात्। तस्य च विशेषनिष्ठत्वेन विशेषेष्वन्वयसम्भवात्। सपक्षे वृत्तिमन्तरेणापि च विपक्षव्यावृत्तिबलाद्गमकत्वमित्युक्तमेव ॥१३॥

§४५. अथ किमिदं वैशद्यं नाम?। यदि स्वविषयग्रहणम्; तत् परोक्षेप्यक्षूणम्[1]। अथ 5 स्फुटत्वम्; तदपि स्वसंविदितत्वात् सर्वविज्ञानानां सममित्याशङ्क्याह–

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥१४॥

§४६. प्रस्तुतात् प्रमाणाद् यदन्यत् प्रमाणं शब्दलिङ्गादिज्ञानं तत् प्रमाणान्तरं तन्निरपेक्षता 'वैशद्यम्'। नहि शाब्दानुमानादिवत्[2] प्रत्यक्षं स्वोत्पत्तौ शब्दलिङ्गादिज्ञानं प्रमाणान्तरमपेक्षते इत्येकं वैशद्यलक्षणम्। लक्षणान्तरमपि 'इदन्तया प्रतिभासो वा' इति, 10 इदन्तया विशेषनिष्ठतया यः प्रतिभासः सम्यगर्थनिर्णयस्य सोऽपि 'वैशद्यम्'। 'वा'शब्दो लक्षणान्तरत्वसूचनार्थः ॥१४॥

§४७. अथ मुख्यसांव्यवहारिकभेदेन द्वैविध्यं प्रत्यक्षस्य हृदि निधाय मुख्यस्य लक्षणमाह–

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥१५॥

15 §४८. 'तत्' इति प्रत्यक्षपरामर्शार्थम्[3], अन्यथानन्तरमेव वैशद्यमभिसम्बध्येत। दीर्घकालनिरन्तरसत्कारासेवितरत्नत्रयप्रकर्षपर्यन्ते एकत्ववितर्काविचारध्यानबलेन निःशेषतया ज्ञानावरणादीनां[5] घातिकर्मणां प्रक्षये सति चेतनास्वभावस्यात्मनः प्रकाशस्वभावस्येति यावत्, स्वरूपस्य प्रकाशस्वभावस्य सत एवावरणापगमेन 'आविर्भावः' आविर्भूतं स्वरूपं मुखमिव शरीरस्य सर्वज्ञानानां प्रधानं 'मुख्यम्' प्रत्यक्षम्। तच्चेन्द्रियादिसाहायकविरहात् 20 सकलविषयत्वादसाधारणत्वाच्च 'केवलम्' इत्यागमे प्रसिद्धम्।

§४९. प्रकाशस्वभावता कथमात्मनः सिद्धेति चेत्; एते ब्रूमः–आत्मा प्रकाशस्वभावः, असन्दिग्धस्वभावत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासावसन्दिग्धस्वभावो यथा घटः, न च तथात्मा, न खलु कश्चिदहमस्मि न वेति सन्दिग्धे इति नासिद्धो हेतुः। तथा, आत्मा प्रकाशस्वभावः, बोद्धृत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासौ बोद्धा यथा घटः, 25 न च न बोद्धात्मेति। तथा, यो यस्याः क्रियायाः कर्त्ता न स तद्विषयो यथा गतिक्रियायाः कर्त्ता चैत्रो न तद्विषयः, ज्ञप्तिक्रियायाः कर्ता चात्मेति।

§५०. अथ प्रकाशस्वभावत्व आत्मनः कथमावरणम्?, आवरणे वा सततावरणप्रसङ्गः; नैवम्; प्रकाशस्वभावस्यापि चन्द्रार्कादेरिव रजोनीहाराभ्रपटलादिभिरिव ज्ञाना-

---

१ टुक्षु-रु-कुंक् शब्दे-गण–II 26, 27, 28। उणादौ स्थाक्षुतोरूच्च [१८५] इति णे क्षूणमपराधः।
२ शब्दानु०– डे०। ३ प्रत्यक्षस्य परा०–डे०। ४ बहुमान०। ५ ज्ञानावरणीयादीनाम्–डे०।

वरणीयादिकर्म्मभिरावरणस्य सम्भवात्, चन्द्रार्कादेरिव[1] च प्रबलपवमानप्रायैर्ध्यानभावनादिभिर्विलयस्येति[2][3]।

§५१. ननु सादित्वे स्यादावरणस्योपायतो विलयः; नैवम्; अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्, तद्वदेवानादेरपि ज्ञानावरणीयादिकर्मणः प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः। 5

§५२. न चामूर्त्तस्यात्मनः कथमावरणमिति वाच्यम्; अमूर्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणदर्शनात्।

§५३. अथावरणीयतत्प्रतिपक्षाभ्यामात्मा विक्रियेत न वा ? । किं चातः ? ।

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥" 10

इति चेत्; न; अस्य दूषणस्य कूटस्थनित्यतापक्ष एव सम्भवात्, परिणामिनित्यश्चात्मेति तस्य पूर्वापरपर्यायोत्पादविनाशसहितानुवृत्तिरूपत्वात्[4], एकान्तनित्यक्षणिकपक्षयोः सर्वथार्थक्रियाविरहात्, यदाह–

"अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता॥" [लघी० २.१] 15

इति॥१५॥

§५४. ननु प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था। न च मुख्यप्रत्यक्षस्य तद्वतो वा सिद्धौ किञ्चित् प्रमाणमस्ति। प्रत्यक्षं हि रूपादिविषयविनियमितव्यापारं[5] नातीन्द्रियेऽर्थे प्रवर्तितुमुत्सहते। नाप्यनुमानम्, प्रत्यक्षदृष्टलिङ्गलिङ्गिसम्बन्धबलो[प][6]जननधर्मकत्वात्तस्य। आगमस्तु यद्यतीन्द्रियज्ञानपूर्वकस्तत्साधकः; तदेतरेतराश्रयः[7]– 20

"नर्ते तदागमात्सिध्येन्न च तेनागमो विना।"
[श्लोकवा० सू० २. श्लो० १४२]

इति। अपौरुषेयस्तु तत्साधको नास्त्येव। योऽपि–

"अपाणिपादो ह्यमनो[8][9] ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं[10] न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥" 25
[श्वेताश्व० ३. १९.]

इत्यादिः कश्चिदर्थवादरूपोऽस्ति नासौ प्रमाणम् विधावेव प्रामाण्योपगमात्। प्रमाणान्तराणां चात्रानवसर एवेत्याशङ्कयाह–

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः॥१६॥

१ चन्द्रादेरिव -ता०। २ -०पवनप्राय०-ता०। ३ विलयस्य चेति-डे० मु०। ४ -०सहितानुवृत्तरूप०-डे०। ५ विषयविनिर्मित-डे० मु०। ६ -०बलोपर्जानितध० -डे० मु०। ७ -०श्रयम्-ता०। ८ -०पादौ ह्यम० -ता०। ९ अत्र 'जवनो' इत्येव सम्यक्, तस्यैव शङ्करेण व्याख्यातत्वात्। १० नेदं-श्वेता०।

§ ५५. प्रज्ञाया अतिशयः – तारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम्, अतिशयत्वात्, परिमाणातिशयवदित्यनुमानेन निरतिशयप्रज्ञासिद्ध्या तस्य केवलज्ञानस्य सिद्धिः, तत्सिद्धिरूपत्वात् केवलज्ञानसिद्धेः । 'आदि'ग्रहणात् सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् घटवदित्यतो, ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तेश्च तत्सिद्धिः, यदाह–

5 "धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ॥"

[सिद्धिवि० पृ० ४१३A]

§ ५६. अपि च–"नोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमेवञ्जातीयकमर्थमवगमयति नान्यत्किञ्चनेन्द्रियम्" - [शाबर भा० १. १. २.]

10 इति वदता भूताद्यर्थपरिज्ञानं कस्यचित् पुंसोऽभिमतमेव, अन्यथा कस्मै वेदस्त्रिकालविषयमर्थं निवेदयेत् ? । स हि निवेदयंस्त्रिकालविषयतत्त्वज्ञमेवाधिकारिणमुपादत्ते, तदाह–

"त्रिकालविषयं तत्त्वं कस्मै वेदो निवेदयेत् ।
अक्षय्यावरणैकान्तान्न चेद्वेद तथा नरः ॥"[सिद्धिवि० पृ० ४१४A]

इति त्रिकालविषयवस्तुनिवेदनाऽन्यथानुपपत्तेरतीन्द्रियकेवलज्ञानसिद्धिः ।

15 § ५७. किञ्च, प्रत्यक्षानुमानसिद्धसंवादं शास्त्रमेवातीन्द्रियार्थदर्शिसद्भावे प्रमाणम् । य एव हि शास्त्रस्य विषयः स्याद्वादः स एव प्रत्यक्षादेरपीति संवादः, तथाहि–

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥"

इति दिशा प्रमाणसिद्धं स्याद्वादं प्रतिपादयन्नागमोऽर्हतस्सर्वज्ञतामपि प्रतिपादयति,

20 यदस्तुम–

"यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमात्मभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥"

[अयोग० २१]

इति । प्रत्यक्षं तु यद्यप्यैन्द्रियि(य)कं नातीन्द्रियज्ञानविषयं तथापि समाधिबललब्धजन्मकं[1]

25 योगिप्रत्यक्षमेव बाह्यार्थस्येव स्वस्यापि वेदकमिति प्रत्यक्षतोऽपि तत्सिद्धिः ।

§ ५८. अथ–

"ज्ञानमप्रतिघं[2] यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥"

इति वचनात्सर्वज्ञत्वमीश्वरादीनामस्तु मानुषस्य तु कस्यचिद्विद्याचरणवतोपि तदसम्भाव-

30 नीयम्, यत्कुमारिलः–

"अथापि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ? ॥"

[तत्त्वसं० का० ३२०८]

१ –०जन्मकयोगि० –डे० मु० । २ अप्रतिघातम् ।

इति ; आः ! सर्वज्ञापलापपातकिन् ! दुर्वदवादिन् ! मानुषत्वनिन्दार्थवादापदेशेन देवाधिदेवानधिक्षिपसि ? । ये हि जन्मान्तरार्जितोर्जितपुण्यप्राग्भाराः सुरभवभवमनुपमं सुखमनुभूय दुःखपङ्कमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्षवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखासिकामृतवृष्टयो मनुष्यलोकमवतेरुः जन्मसमयसमकालचलितासनसकलसुरेन्द्रवृन्दविहितजन्मोत्सवाः किङ्करायमाणसुरसमूहाहमहमिकारब्धसेवाविधयः स्वयमुपनतामतिप्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवदवधूय समतृणमणिशत्रुमित्रवृत्तयो निजप्रभावप्रशमितेतिमरकादिजगदुपद्रवाः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्माण आविर्भूतनिखिलभावाभावस्वभावावभासिकेवलबलदलितसकलजीवलोकमोहप्रसराः सुरासुरविनिर्मितां समवसरणभुवमधिष्ठाय स्वस्वभाषापरिणामिनीभिर्वाग्भिः प्रवर्तितधर्मतीर्थाश्चतुस्त्रिंशदतिशयमयीं तीर्थनाथत्वलक्ष्मीमुपभुज्य परं ब्रह्म सततानन्दं सकलकर्मनिर्मोक्षमुपेयिवांसस्तान्मानुषत्वादिसाधारणधर्मोपदेशेनापवदन् सुमेरुमपि लेष्ट्वादिना साधारणीकर्तुं पार्थिवत्वेनापवदेः ! । किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्भोगदुर्ललितवृत्तीनां विविधहेतिसमूहधारिणामक्षमालाद्यायत्तमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्ववित्त्वसाम्राज्यम् !, यदवदाम स्तुतौ–

> "मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन ।
> पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥"

[अयोग-२५]

---

१ अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ॥ –मु-टि०

२ मरको मारिः ।

३ अतिशयाः ३४–

"तेषां च देहोद्भुतरूपगन्धो निरामयः स्वेदलवोज्झितश्च ।
श्वासोऽब्जगन्धो रुधिरामिषं तु गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम् ॥१॥
आहारनीहारविधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः ।
क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ॥२॥
वाणी नृतिर्यक्सुरलोकभाषा संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ॥३॥
साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा वैरेतयो मार्यतिवृष्ट्यवृष्टयः ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥४॥
खे धर्मचक्रं चमराः सपादपीठं मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्रत्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासे च चामीकरपङ्कजानि ॥५॥
वप्रत्रयं चारु चतुर्मुखाङ्गता चैत्यद्रुमोऽधोवदनाश्च कण्टकाः ।
द्रुमानतिर्दुन्दुभिनाद उच्चकैर्वातोऽनुकूलः शकुनाः प्रदक्षिणाः ॥६॥
गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टिः कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ॥ ७॥
ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूलत्वमित्यमी ।
एकोनविंशतिर्दैव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिताः ॥८॥" [अभिधा० १. ५६-६३] मु-टि०

४ लोभेन च सम्म०-डे० ।

इति । अथापि रागादिदोषकालुष्यविरहिताः सततज्ञानानन्दमयमूर्तयो ब्रह्मादयः; तर्हि तादृशेषु तेषु न विप्रतिपद्यामहे, अवोचाम हि–

"यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥"

5 [अयोग-३१]

इति । केवलं ब्रह्मादिदेवताविषयाणां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासकथानां वैतथ्यमासज्येत । तदेवं साधकेभ्यः प्रमाणेभ्योऽतीन्द्रियज्ञानसिद्धिरुक्ता ॥१६॥

बाधकाभावाच्च ॥१७॥

§ ५९. सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वात् सुखादिवत् तत्सिद्धिः इति सम्बध्यते । तथाहि 10 केवलज्ञानबाधकं भवत् प्रत्यक्षं वा भवेत् प्रमाणान्तरं वा ? । न तावत् प्रत्यक्षम् ; तस्य विधावेवाधिकारात्–

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना ।" [श्लोकवा० सू० ४. श्लो० ८४]

इति स्वयमेव भाषणात् ।

§ ६०. अथ न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं तद्बाधकं किन्तु निवर्तमानम् तत् ; तर्हि(द्धि)यदि 15 नियतदेशकालविषयत्वेन बाधकं तर्हि सम्प्रतिपद्यामहे । अथ सकलदेशकालविषयत्वेन; तर्हि न तत् सकलदेशकालपुरुषपरिषत्साक्षात्कार[3]मन्तरेण सम्भवतीति सिद्धं नः समीहितम् । न च जैमिनिरन्यो वा सकलदेशादिसाक्षात्कारी सम्भवति सत्त्वपुरुषत्वादेः रथ्यापुरुषवत् । अथ प्रज्ञायाः सातिशयत्वात्तत्प्रकर्षोऽप्यनुमीयते; तर्हि तत एव सकलार्थदर्शी किं नानुमीयते ? । स्वपक्षे चानुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञाभावे कुतः प्रमाणयेद- 20 विशेषात् ? ।

§ ६१. न चानुमानं तद्बाधकं सम्भवति; धर्मिग्रहणमन्तरेणानुमानाप्रवृत्तेः, धर्म्मिग्रहणे वा तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वादनुत्थानमेवानुमानस्य । अथ विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् पुरुषत्वाद्वा रथ्यापुरुषवदित्यनुमानं तद्बाधकं ब्रूषे ; तदसत्; यतो यदि प्रमाणपरिदृष्टार्थवक्तृत्वं हेतुः; तदा विरुद्धः, तादृशस्य वक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव 25 भावात् । अथासद्भूतार्थवक्तृत्वम् ; तदा सिद्धसाध्यता, प्रमाणविरुद्धार्थवादिनामसर्वज्ञत्वेनेष्टत्वात् । वक्तृत्वमात्रं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकम् ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात् , प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वक्तृत्वातिशयस्यैवोपलब्धेः । एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम् । पुरुषत्वं हि यदि रागाद्यदूषितं तदा विरुद्धम्, ज्ञानवैराग्यादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्य सर्वज्ञतामन्तरेणानुपपत्तेः । रागादिदूषिते तु पुरुषत्वे सिद्धसाध्यता । पुरुषत्वसामान्यं तु 30 सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमित्यबाधकम् ।

१ प्रमाणोपपन्न० । २ निवर्तमानम् । (तद्धि) यदि मु० । ३ -०साक्षात्करणम०-डे० ।

§ ६२. नाप्यागमस्तद्बाधकः तस्यापौरुषेयस्यासम्भवात्; सम्भवे वा तद्बाधकस्य तस्यादर्शनात् । सर्वज्ञोपज्ञश्चागमः कथं तद्बाधकः ?, इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति ॥ १७ ॥

§ ६३. न केवलं केवलमेव मुख्यं प्रत्यक्षमपि त्वन्यदपीत्याह–

तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च[2] ॥१८॥

§ ६४. सर्वथावरणविलये केवलम्, तस्यावरणविलयस्य 'तारतम्ये' आवरणक्षयोपशमविशेषे तन्निमित्तकः 'अवधिः' अवधिज्ञानं 'मनःपर्यायः' मनःपर्यायज्ञानं च मुख्यमिन्द्रियानपेक्षं प्रत्यक्षम् । तत्रावधीयत इति 'अवधिः' मर्यादा सा च "रूपिष्ववधेः" [तत्त्वा० १.२८] इति वचनात् रूपवद्द्रव्यविषया अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । स द्वेधा भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च । तत्राद्यो देवनारकाणां पक्षिणामिव वियद्गमनम् । गुणप्रत्ययो मनुष्याणां तिरश्चां च ।

§ ६५. मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं 'मनःपर्यायः' । तथाविधमनःपर्यायान्यथानुपपत्त्या तु यद्बाह्यचिन्तनीयार्थज्ञानं तत् आनुमानिकमेव न मनःपर्यायप्रत्यक्षम्, यदाहुः–

"जाणइ बज्झेणुमाणेणं ।"　　[विशेषा० गा० ८१४] इति । ॥१८

§ ६६. ननु रूपिद्रव्यविषयत्वे क्षायोपशमिकत्वे च तुल्ये को विशेषोऽवधिमनःपर्याययोरित्याह–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥१९॥

§ ६७. सत्यपि कथञ्चित्साधर्म्ये विशुद्ध्यादिभेदादवधिमनःपर्यायज्ञानयोर्भेदः । तत्रावधिज्ञानान्मनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम् । यानि हि मनोद्रव्याणि अवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि जानीते ।

§ ६८. क्षेत्रकृतश्चा[3]नयोर्भेदः–अवधिज्ञानमङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागादिषु भवति आ सर्वलोकात्, मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति ।

§ ६९. स्वामिकृतोऽपि–अवधिज्ञानं संयतस्यासंयतस्य संयतासंयतस्य च सर्वगतिषु भवति; मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्य प्रकृष्टचारित्रस्य प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु गुणस्थानकेषु भवति । तत्रापि वर्धमानपरिणामस्य नेतरस्य । वर्धमानपरिणामस्यापि ऋद्धिप्राप्तस्य नेतरस्य । ऋद्धिप्राप्तस्यापि कस्यचिन्न सर्वस्येति ।

§ ७०. विषयकृतश्च–रूपवद्द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धस्तदनन्तभागे[4] मनःपर्यायस्य इति । अवसितं मुख्यं प्रत्यक्षम् ॥१९॥

---

१ उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्–अभि० ६. ९–सम्पा० । २ अष्टादशं एकोनविंशतितमं चेति सूत्रद्वयं ता– मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना एकसूत्रत्वेन लिखितं दृश्यते । ३ क्षेत्रतश्च–ता० । ४ मनोलक्षणे ।

§ ७१. अथ सांव्यवहारिकमाह-

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥२०॥

§ ७२. इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि, मनश्च निमित्तं कारणं यस्य स तथा । सामान्यलक्षणानुवृत्तेः सम्यगर्थनिर्णयस्येदं विशेषणं तेन 'इन्द्रियमनोनिमित्तः' सम्यगर्थनिर्णयः । कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह-'अवग्रहेहावायधारणात्मा' । अवग्रहादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः त आत्मा यस्य सोऽवग्रहेहावायधारणात्मा । 'आत्म'ग्रहणं च क्रमेणोत्पद्यमानानामप्यवग्रहादीनां नात्यन्तिको भेदः किन्तु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तररूपतया परिणामादेकात्मकत्वमिति प्रदर्शनार्थम् । समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारस्तत्प्रयोजनं 'सांव्यवहारिकम्' प्रत्यक्षम् । इन्द्रियमनोनिमित्तत्वं च समस्तं व्यस्तं च बोद्धव्यम् । इन्द्रियप्राधान्यात् मनोबलाधानाच्चोत्पद्यमान इन्द्रियजः । मनस एव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानो मनोनिमित्त इति ।

§ ७३. ननु स्वसंवेदनरूपमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति तत् कस्मान्नोक्तम् ?, इति न वाच्यम् ; इन्द्रिय[1]जज्ञानस्वसंवेदनस्येन्द्रियप्रत्यक्षे, अनिन्द्रियजसुखादि[2]संवेदनस्य मनःप्रत्यक्षे, योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावात् । स्मृत्यादिस्वसंवेदनं तु मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम प्रत्यक्षमस्तीति भेदेन[3] नोक्तम् ॥२०॥

§ ७४. इन्द्रियेत्युक्तमितीन्द्रियाणि लक्षयति-

स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि[4] ॥२१॥

§ ७५. स्पर्शादिग्रहणं लक्षणं येषां तानि यथासङ्ख्यं स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि, तथाहि स्पर्शाद्युपलब्धिः करणपूर्वा क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् । तत्रेन्द्रेणकर्मणा सृष्टानीन्द्रियाणि नामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गानि वा, कर्ममलीमसस्य हि स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्यात्मनोऽर्थोपलब्धौ निमित्तानि इन्द्रियाणि ।

§ ७६. नन्वेवमात्मनोऽर्थज्ञानमिन्द्रियात् लिङ्गादुपजायमानमानुमानिकं स्यात् । तथा च लिङ्गपरिज्ञानेऽनुमानानुदयात् । तस्यानुमानात्परिज्ञानेऽनवस्थाप्रसङ्गः; नैवम् ; भावेन्द्रियस्य स्वसंविदितत्वेनानवस्थानवकाशात् । यद्वा, इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गान्यात्मगमकानि इन्द्रियाणि करणस्य वास्यादिवत्कर्त्रधिष्ठितत्वदर्शनात् ।

§ ७७. तानि च द्रव्यभावरूपेण भिद्यन्ते । तत्र द्रव्येन्द्रियाणि नामकर्मोदयनिमि-

१ इन्द्रियज्ञा०-ता० । २ -०सुखादिस्वसं०-मु० । ३ भेदेनोक्तम्-डे० मु० । ४ 'इन्द्रियाणि' इत्यन्तमेकं 'भेदानि' इत्यन्तं च अपरम् इति सूत्रद्वयं सं-मू०प्रतौ दृश्यते ।

त्तानि, भावेन्द्रियाणि पुनस्तदावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्तानि । सैषा पञ्चसूत्री स्पर्शग्रहणलक्षणं स्पर्शनेन्द्रियं, रसग्रहणलक्षणं रसनेन्द्रियमित्यादि । सकलसंसारिषु भावाच्छरीरव्यापकत्वाच्च स्पर्शनस्य पूर्वं निर्देशः, ततः क्रमेणाल्पाल्पजीवविषयत्वाद्रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणाम् ।

§ ७८. तत्र स्पर्शनेन्द्रियं तदावरणक्षयोपशमसम्भवं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनां शेषेन्द्रियावरणवतां स्थावराणां जीवानाम् । तेषां च "पुढवी चित्तमन्तमक्खाया" [दशवै० ४.१] इत्यादेराप्तागमात्सिद्धिः । अनुमानाच्च–ज्ञानं क्वचिदात्मनि परमापकर्षवत् अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणवत्, यत्र तदपकर्षपर्यन्तस्त एकेन्द्रियाः स्थावराः । न च स्पर्शनेन्द्रियस्याप्यभावे भस्मादिषु ज्ञानस्यापकर्षो युक्तः । तत्र हि ज्ञानस्याभाव एव न पुनरपकर्षस्ततो यथा गगनपरिमाणादारभ्यापकृष्यमाणविशेषं परिमाणं परमाणौ परमापकर्षवत् तथा ज्ञानमपि केवलज्ञानादारभ्यापकृष्यमाणविशेषमेकेन्द्रियेष्वत्यन्तमपकृष्यते । पृथिव्यादीनां च प्रत्येकं जीवत्वसिद्धिरग्रे वक्ष्यते । स्पर्शनरसनेन्द्रिये कृमि-अपादिका-नूपुरक-गण्डूपद-शङ्ख-शुक्तिका-शम्बूका-जलूकाप्रभृतीनां त्रसानाम् । स्पर्शन-रसन-घ्राणानि पिपीलका-रोहणिका[1]-उपचिका-कुन्थु-तुबरक[2]-त्रपुस[3]-बीज[4]-कर्पासास्थिका-शतपदी-श्येनक-तृणपत्र-काष्ठहारकादीनाम् । स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षूंषि भ्रमर-वटर[5]-सारङ्ग-मक्षिका-पुत्तिका[6]-दंश-मशक-वृश्चिक-नन्द्यावर्त्त-कीटक-पतङ्गादीनाम् । सह श्रोत्रेण तानि मत्स्य-उरग-भुजग-पक्षि-चतुष्पदानां तिर्यग्योनिजानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानामिति ।

§ ७९. ननु वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दहेतवो[7] वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणान्यपीन्द्रियाणीति साङ्ख्यास्तत्कथं पञ्चैवेन्द्रियाणि ?; न; ज्ञानविशेषहेतूनामेवेहेन्द्रियत्वे-[8]नाधिकृतत्वात्, चेष्टाविशेषनिमित्तत्वेनेन्द्रियत्वकल्पनायामिन्द्रियानन्त्यप्रसङ्गः, चेष्टाविशेषाणामनन्तत्वात्, तस्माद्व्यक्तिनिर्देशात् पञ्चैवेन्द्रियाणि ।

§ ८०. तेषां च परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थादेशात्, स्याद्भेदः पर्यायार्थादेशात्[9], अभेदैकान्ते हि स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादेरपि ग्रहणप्रसङ्गः । तथाचेन्द्रियान्तरकल्पना वैयर्थ्यम्, कस्यचित् साकल्ये वैकल्ये वान्येषां साकल्यवैकल्यप्रसङ्गश्च । भेदैकान्तेऽपि तेषामेकत्र[10] सकल(सङ्कलन)ज्ञानजनकत्वाभावप्रसङ्गः सन्तानान्तरेन्द्रियवत् । मनस्तस्य जनकमिति चेत्; न; तस्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वाभावात् । इन्द्रियापेक्षं मनोऽनुसन्धानस्य जनकमिति चेत्; सन्तानान्तरेन्द्रियापेक्षस्य कुतो न जनकत्वमिति वाच्यम् ? । प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्; अत्र का प्रत्यासत्तिरन्यत्रैकद्रव्यतादात्म्यात् ?, प्रत्यासत्त्यन्तरस्य[11] च

१ रोहिणिकापेचिका-डे० । २ तुबरका०–ता० । तुंबुरक–मु० । ३ त्रिपुस–डे० । ४ बीजककर्पा०–ता० । ५ वठर-डे० । ६ पुत्तित्रिका–डे० । पुत्तिका-मु० । ७ हेतूनि वाक्-डे० । ८ –०हेतूनामेवेन्द्रि०–ता० । ९ –०र्थाभेदात्-डे० । १० "तेषामेकत्वसङ्कलनज्ञानजनकत्वाभावप्रसङ्गात्"–तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ३२७ । ११ -०स्य व्य०-ता० ।

व्यभिचारादिति । एतेन तेषामात्मना भेदाभेदैकान्तौ प्रतिव्यूढौ । आत्मना करणानामभेदैकान्ते कर्तृत्वप्रसङ्गः, आत्मनो वा करणत्वप्रसङ्गः, उभयोरुभयात्मकत्वप्रसङ्गो वा, विशेषाभावात् । ततस्तेषां भेदैकान्ते चात्मनः करणत्वाभावः सन्तानान्तरकरणवद्विपर्ययो वेति प्रतीतिसिद्धत्वाद्बाधकाभावाच्चानेकान्त एवाश्रयणीयः ।

5 §८१. द्रव्येन्द्रियाणामपि परस्परं स्वारम्भकपुद्गलद्रव्येभ्यश्च भेदाभेदद्वारानेकान्त एव युक्तः, पुद्गलद्रव्यार्थादेशादभेदस्य पर्यायार्थादेशाच्च भेदस्योपपद्यमानत्वात् ।

§८२. एवमिन्द्रियविषयाणां स्पर्शादीनामपि द्रव्यपर्यायरूपतया भेदाभेदात्मकत्वमवसेयम्, तथैव निर्बाधमुपलब्धेः । तथा च न द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वेन्द्रियविषय इति स्पर्शादीनां कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्वं च द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

10 §८३. 'द्रव्यभावभेदानि' इत्युक्तं तानि क्रमेण लक्षयति–

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः[1] ॥२२॥

§८४. 'द्रव्येन्द्रियम्' इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । नियतो विशिष्टो बाह्य आभ्यन्तरश्चाकारः संस्थानविशेषो येषां ते 'नियताकाराः' पूरणगलनधर्माणः स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः 'पुद्गलाः', तथाहि श्रोत्रादिषु यः कर्णशष्कुलीप्रभृतिर्बाह्यः पुद्गलानां प्रचयो यश्चाभ्यन्तरः 15 कदम्बगोलकाद्याकारः स सर्वो द्रव्येन्द्रियम्, पुद्गलद्रव्यरूपत्वात् । अप्राधान्ये वा द्रव्यशब्दो यथा अङ्गारमर्दको द्रव्याचार्य इति । अप्रधानमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम्, व्यापारवत्यपि तस्मिन् सन्निहितेऽपि चालोकप्रभृतिनि सहकारिपटले भावेन्द्रियं विना स्पर्शाद्युपलब्ध्यसिद्धेः[2] ॥२२॥

भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥२३॥

20 §८५. लम्भनं 'लब्धिः' ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः । यत्सन्निधानादात्मा[3] द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामविशेष उपयोगः । अत्रापि 'भावेन्द्रियम्' इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । भावशब्दोऽनुपसर्जनार्थः[4] । यथैवेन्दनधर्मयोगित्वेनानुपचरितेन्द्रत्वो भावेन्द्र उच्यते तथैवेन्द्रलिङ्गत्वादिधर्मयोगेनानुपचरितेन्द्रलिङ्गत्वादिधर्मयोगि 'भावेन्द्रियम्' ।

25 §८६. तत्र लब्धिस्वभावं तावदिन्द्रियं स्वार्थसंवित्तावात्मनो योग्यतामादधद्भावेन्द्रियतां प्रतिपद्यते । नहि तत्रायोग्यस्य तदुत्पत्तिराकाशवदुपपद्यते स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिरिति । उपयोगस्वभावं पुनः स्वार्थसंविदि व्यापारात्मकम् । नह्यव्यापृतं स्पर्शनादिसंवेदनं स्पर्शादि[5] प्रकाशयितुं शक्तम्, सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाशकत्वप्राप्तेः ।

---

१ द्वाविंशतितमं त्रयोविंशतितमं च सूत्रद्वयमेकत्वेन ता-मू० प्रतौ दृश्यते । २ -०लब्ध्ययोग्यतया सिद्धेः-ता० । ३ -०धानाद्वात्मा-डे० । ०धानाद्ध्यात्मा-मु० । ४ प्राधान्यार्थः । ५ स्पर्शादि०-ता० ।

§ ८७. स्वार्थप्रकाशने व्यापृतस्य संवेदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिन्द्रियत्वानुपपत्तिरिति चेत्; नः कारणधर्मस्य कार्येऽनुवृत्तेः । नहि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येन्द्रियत्वम्, तेनैव फलत्वमिष्यते येन विरोधः स्यात् । साधकतमस्वभावेन हि तस्येन्द्रियत्वं क्रियारूपतया च फलत्वम् । यथैव हि प्रदीपः प्रकाशात्मना प्रकाशयतीत्यत्र साधकतमः प्रकाशात्मा करणम्, 5 क्रियात्मा फलम्, स्वतन्त्रत्वाच्च कर्त्तेति सर्वमिदमनेकान्तवादे न दुर्लभमित्यलं प्रसङ्गेन॥२३॥

§ ८८. 'मनोनिमित्तः' इत्युक्तमिति मनो लक्षयति—

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥२४॥

§ ८९. सर्वे न तु स्पर्शनादीनां स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्तेऽनेनेति 'सर्वार्थग्रहणं मनः' 'अनिन्द्रियम्' इति 'नोइन्द्रियम्' इति चोच्यते । सर्वार्थं मन 10 इत्युच्यमाने आत्मन्यपि प्रसङ्ग इति करणत्वप्रतिपादनार्थं 'ग्रहणम्' इत्युक्तम् । आत्मा तु कर्त्तेति नातिव्याप्तिः, सर्वार्थग्रहणं च मनसः प्रसिद्धमेव । यत् वाचकमुख्यः "**श्रुतमनिन्द्रियस्य ।**" [तत्त्वा० २.२२] श्रुतमिति हि विषयिणा विषयस्य निर्देशः । उपलक्षणं च श्रुतं मतेः तेन मतिश्रुतयोर्यो विषयः स मनसो विषय इत्यर्थः । "**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**"[1] [तत्त्वा० १.२७] इति वाचकवचनान्मतिश्रुतज्ञानयोः सर्वविषयत्व 15 मिति मनसोऽपि सर्वविषयत्वं सिद्धम् ।

§ ९०. मनोऽपि पञ्चेन्द्रियवद्[2] द्रव्यभावभेदात् द्विविधमेव। तत्र द्रव्यमनो मनस्त्वेन परिणतानि पुद्गलद्रव्याणि। भावमनस्तु तदावरणीयकर्मक्षयोपशमात्मा लब्धिरात्मनश्चार्थग्रहणोन्मुखो व्यापारविशेष इति ॥२४॥

§ ९१. नन्वत्यल्पमिदमुच्यते 'इन्द्रियमनोनिमित्तः' इति । अन्यदपि हि चक्षुर्ज्ञानस्य 20 निमित्तमर्थ आलोकश्चास्ति, यदाहुः—

> "**रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रजायते[3] ।**
> **विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोशकृद्भ्य इवानलः ॥**"

इत्यत्राह—

नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥२५॥ 25

§ ९२. बाह्यो विषयः प्रकाशश्च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणम्, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते, ज्ञानावरणादिक्षयोपशमसामग्र्यामारादुपकारित्वेनाञ्जनादिवच्चक्षुरुपकारित्वेन चाभ्युपगमात् । कुतः पुनः साक्षान्न कारणत्वमित्याह—'अव्यतिरेकात्' व्यतिरेकाभावात् । न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम्,

---

१ निबन्धः सर्वद्रव्ये०- तत्त्वा० । २ मनोपि चेन्द्रि०-डे० । ३ संप्रवर्तते ।

अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि। न चासावर्थालोकयोर्हेतुभावेऽस्ति; मरुमरीचिकादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानस्य, वृषदंशादीनां चालोकाभावेऽपि सान्द्रतमतमःपटलविलिप्त[1]देशगतवस्तुप्रतिपत्तेश्च दर्शनात्। योगिनां चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य[2] निमित्तत्वम्?। निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः।

5 §९३. न च प्रकाश्या[3]दात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वम्, प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वदर्शनात्। ईश्वरज्ञानस्य च नित्यत्वेनाभ्युपगतस्य कथमर्थजन्यत्वं नाम?। अस्मदादीनामपि जनकस्यैव ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः। येषां चैकान्तक्षणिकोऽर्थो जनकश्च ग्राह्य[4] इति दर्शनम् तेषामपि जन्यजनकयोर्ज्ञानार्थयोर्भिन्नकालत्वान्न ग्राह्यग्राहकभावः सम्भवति। अथ न जन्यजनक-
10 भावातिरिक्तः सन्दंशायोगोलकवत् ज्ञानार्थयोः कश्चिद् ग्राह्यग्राहकभाव इति मतम्,

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्" [प्रमाणवा० ३. २४७]

इति वचनात्; तर्हि सर्व[5]ज्ञज्ञानस्य वार्तमानिकार्थविषयत्वं न कथञ्चिदुपपद्यते वार्तमानिकक्षणस्याजनकत्वात् अजनकस्य चाग्रहणात्। स्वसंवेदनस्य च स्वरूपाजन्यत्वे कथं ग्राहकत्वं
15 स्वरूपस्य वा कथं ग्राह्यत्वमिति चिन्त्यम्। तस्मात्[6] स्वस्वसामग्रीप्रभवयो[7]र्दीपप्रकाशघटयोरिव ज्ञानार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्भवान्न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थालोकयोरिति स्थितम्।

§९४. नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था?, तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते, तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात्; नैवम्; तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः।
20 तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्याश्रयणीया, अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः। तदाकारता त्वर्थाकारसङ्क्रान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात्। अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यमित्यर्थविशेषग्रहणपरिणा[8]म एव साभ्युपेया[9]। अतः–

"अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम्" [प्रमाण वा० ३.३०५]

25 इति यत्किञ्चिदेतत्।

§९५. अपि च व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम्। यदि व्यस्ते; तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति, तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते; तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्; तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरपूर्वज्ञानग्राहकत्वं प्रस-
30 ज्येत। तन्न योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारणं पश्यामः॥ २५॥

१ ०विलुप्त०। २ किमर्थनिमि०–ता०। ३ प्रका···दात्म०–ता०। ४ ग्राह्यत इति–डे०। ५ सार्वज्ञ०–डे०। ६ तस्मात् स्वसाम०–डे०। ७ –०प्रभवयोः प्रका०–डे। ८ –०णाम स एवाभ्यु०–ता०। ९ –०पेया ततः–डे०।

§ ९६. 'अवग्रहेहावायधारणात्मा' इत्युक्तमित्यवग्रहादीँल्लँक्षयति—

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥ २६ ॥

§ ९७. 'अक्षम्' इन्द्रियं द्रव्यभावरूपम्, 'अर्थः' द्रव्यपर्यायात्मा तयोः 'योगः' सम्बन्धोऽनतिदूरासन्नव्यवहितदेशाद्यवस्थानलक्षणा योग्यता । नियता हि सा विषयविषयिणोः, यदाह, 5

"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासए अपुट्ठं तु ॥" [आव० नि० ५]

इत्यादि । तस्मिन्नक्षार्थयोगे सति 'दर्शनम्' अनुल्लिखितविशेषस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः । तदनन्तरमिति क्रमप्रतिपादनार्थमेतत् । एतेन दर्शनस्यावग्रहं प्रति परिणामितोक्ता[1], नह्यसत एव सर्वथा कस्यचिदुत्पादः, सतो वा सर्वथा विनाश इति दर्शनमेवोत्तरं परिणामं प्रतिपद्यते । 'अर्थस्य' द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थक्रियाक्षमस्य 'ग्रहणम्', 'सम्यगर्थनिर्णयः' इति 10 सामान्यलक्षणानुवृत्तेर्निर्णयो न पुनरविकल्पकं दर्शनमात्रम् 'अवग्रहः' ।

§ ९८. न चायं मानसो विकल्पः, चक्षुरादिसन्निधानापेक्षत्वात् प्रतिसङ्ख्यानेनाप्रत्याख्येयत्वाच्च[3] । मानसो हि विकल्पः प्रतिसङ्ख्यानेन[4] निरुध्यते, न चायं तथेति न विकल्पः ॥ २६ ॥

अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा[5] ॥ २७ ॥ 15

§ ९९. अवग्रहगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य 'किमयं शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा' इति संशये सति 'माधुर्यादयः शाङ्खधर्मा[6] एवोपलभ्यन्ते न कार्कश्यादयः शार्ङ्गधर्माः' इत्यन्वयव्यतिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा मतेश्चेष्टा 'ईहा' । इह चावग्रहेहयोरन्तराले अभ्यस्तेऽपि विषये संशयज्ञानमस्त्येव आशुभावात्तु नोपलक्ष्यते । न तु प्रमाणम्, सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वाभावात् । 20

§ १००. ननु परोक्षप्रमाणभेदरूपमूहाख्यं प्रमाणं वक्ष्यते तत्कस्तस्मादीहाया भेदः ? । उच्यते—त्रिकालगोचरः साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणपटुरूहो यमाश्रित्य **"व्याप्तिग्रहणकाले योगीव सम्पद्यते प्रमाता"** इति न्यायविदो वदन्ति । ईहा तु वार्त्तमानिकार्थविषया प्रत्यक्षप्रभेद इत्यपौनरुक्त्यम् ।

§ १०१. ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्ष- 25 भेदत्वमस्याः । न चानिर्णयरूपत्वादप्रमाणत्वमस्याः शङ्कनीयम्; स्वविषयनिर्णयरूपत्वात्[7], निर्णयान्तरासादृश्ये निर्णयान्तराणामप्यनिर्णयत्वप्रसङ्गः ॥२७॥

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ २८ ॥

§ १०२. ईहाक्रोडीकृते वस्तुनि विशेषस्य 'शाङ्ख एवायं शब्दो न शार्ङ्गः' इत्येवंरूपस्यावधारणम् 'अवायः' ॥ २८ ॥ 30

१पारिणामिककारणतोक्ता-डे० । २ बौद्धानामिव । ३ अनिराकार्यत्वात् । ४ विरुद्धार्थचिन्तमेन । ५-०विशेषका०-डे० । ६ शङ्ख०-डे० । ७ स्वविषये निर्णयत्वात्-डे० ।

स्मृतिहेतुर्धारणा ॥ २९ ॥

§ १०३. 'स्मृतेः' अतीतानुसन्धानरूपाया 'हेतुः' परिणामिकारणम्, संस्कार इति यावत्, सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं ज्ञानस्यावस्थानं 'धारणा'। अवग्रहादयस्तु त्रय आन्तर्मौहूर्त्तिकाः।

5 § १०४. संस्कारस्य च प्रत्यक्षभेदरूपत्वात् ज्ञानत्वमुन्नेयम्, न पुनर्यथाहुः परे[1]– "ज्ञानादतिरिक्तो भावनाख्योऽयं संस्कारः" इति। अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, नहि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति। अज्ञानरूपत्वे चास्यात्मधर्मत्वं न स्यात्, चेतनधर्मस्याचेतनत्वाभावात्।

§ १०५. नन्वविच्युतिमपि धारणामन्वशिषन् वृद्धाः, यद्भाष्यकारः–"अविच्चुई 10 धारणा होइ[2]" [विशेषा० गा० १८०] तत्कथं स्मृतिहेतोरेव धारणात्वमस्त्रयः ?। सत्यम्, अस्त्यविच्युतिर्नाम धारणा, किन्तु साऽवाय एवान्तर्भूतेति न पृथगुक्ता। अवाय एव हि दीर्घदीर्घोऽविच्युतिर्धारणेत्युच्यत इति। स्मृतिहेतुत्वाद्वाऽविच्युतिर्धारणयैव सङ्गृहीता। न ह्यवायमात्रादविच्युतिरहितात्[3] स्मृतिर्भवति, गच्छत्तृणस्पर्शप्रायाणामवायानां परिशीलनविकलानां स्मृतिजनकत्वादर्शनात्। तस्मात् स्मृतिहेतू अविच्युतिसंस्कारावनेन स- 15 ङ्गृहीतावित्यदोषः। यद्यपि स्मृतिरपि धारणाभेदत्वेन सिद्धान्तेऽभिहिता तथापि परोक्षप्रमाणभेदत्वादिह नोक्तेति सर्वमवदातम्।

§ १०६. इह च क्रमभाविनामप्यवग्रहादीनां कथञ्चिदेकत्वमवसेयम्। विरुद्धधर्माध्यासो ह्येकत्वप्रतिपत्तिपरिपन्थी। न चाऽसौ प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रत्यर्थितां भजते। अनुभूयते हि खलु हर्षविषादादिविरुद्धविवर्त्ताक्रान्तमेकं चैतन्यम्। विरुद्धधर्म्माध्यासाच्च बिभ्य- 20 द्भिरपि कथमेकं चित्रपटी[4] ज्ञानमेकानेकाकारोल्लेखशेखरमभ्युपगम्यते सौगतैः, चित्रं वा रूपं नैयायिकादिभिरिति ?।

§ १०७ नैयायिकास्तु–"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्या० १. १. ४.] इति प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते। अत्र च पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन सङ्ख्यावद्भिस्त्रिलोचनवाचस्पतिप्रमुखैरयमर्थः समर्थि- 25 तो यथा–इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्येवं[5] प्रत्यक्षलक्षणम्। 'यतः'-शब्दाध्याहारेण च यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादुक्तविशेषणविशिष्टं ज्ञानं यतो भवति तत् तथाविधज्ञानसाधनं ज्ञानरूपमज्ञानरूपं वा प्रत्यक्षं प्रमाणमिति। अस्य च फलभूतस्य ज्ञानस्य द्वयी गतिरविकल्पं[6] सविकल्पं[7] च। तयोरुभयोरपि प्रमाणरूपत्वमभिधातुं विभागवचनमेतद् 'अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकम्' इति।

30 § १०८. तत्रोभयरूपस्यापि ज्ञानस्य प्रामाण्यमुपेक्ष्य 'यतः'शब्दाध्याहारक्लेशेनाऽज्ञानरूपस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यसमर्थनमयुक्तम्। कथं ह्यज्ञानरूपाः सन्निकर्षादयोऽर्थपरि-

१ वैशेषिकाः। २ धारणा तस्स-विशेषा०। ३ –०दविच्युतिविर०–डे०। ४ –०टीयं ज्ञान०–डे०। ५ –०त्येवं प्र०–डे। ६ –०ल्पकं स०–डे। ७ –०ल्पकं वा। तयो० –डे०।

च्छित्तौ साधकतमा भवन्ति व्यभिचारात्[1], सत्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षेऽर्थोपलब्धेरभावात् । ज्ञाने सत्येव भावात्, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिति ।

§ १०९. सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्तः संयोगादिसम्बन्धस्तर्हि स चक्षुषोऽर्थेन सह नास्ति अप्राप्यकारित्वात्तस्य । दृश्यते हि काचाभ्र[1]स्फटिकादिव्यवहितस्या[2]प्यर्थस्य चक्षुषोपलब्धिः । अथ प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद्वास्यादिवदिति ब्रूषे; तर्ह्ययस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन[3] व्यभिचारः । न च संयुक्तसंयोगादिः सन्निकर्ष[4]स्तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसङ्गादिति ।

§ ११०. सौगतास्तु **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्"** [न्यायबि० १.४] इति लक्षणमवोचन् । **"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना तया रहितम्[5]"**–[न्यायबि० १.५,६] कल्पनापोढम् इति । एतच्च व्यवहारानुपयोगित्वात्प्रमाणस्य लक्षणमनुपपन्नम्, तथाहि एतस्माद्विनिश्चित्यार्थमर्थक्रियार्थिनस्तत्समर्थेऽर्थे प्रवर्तमाना विसंवादभाजो मा भूवन्निति प्रमाणस्य लक्षणपरीक्षायां प्रवर्तन्ते परीक्षकाः । व्यवहारानुपयोगिनश्च तस्य वायसं[6]सदसद्दशनपरीक्षायामिव निष्फलः परिश्रमः[7] । निर्विकल्पोत्तरकालभाविनः सविकल्पकात्तु व्यवहारोपगमे वरं तस्यैव प्रामाण्यमास्थेयम्, किमविकल्पकेन शिखण्डिनेति[8] ! ।

§ १११. जैमिनीयास्तु धर्मं प्रति अनिमित्तत्वव्याजेन **"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्"** [जैमि० १.१.४] इत्यनुवादभङ्ग्या प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते, यदाहुः–

"एवं सत्यनुवादित्वं[9] लक्षणस्यापि सम्भवेत् ।" [श्लोकवा० सू० ४.३९]

इति । व्याचक्षते च–इन्द्रियाणां सम्प्रयोगे सति पुरुषस्य जायमाना बुद्धिः प्रत्यक्षमिति ।

§ ११२. अत्र संशयविपर्ययबुद्धिजन्मनोऽपीन्द्रियसंप्रयोगे[10] सति प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिः । अथ 'सत्सम्प्रयोग' इति सता सम्प्रयोग इति व्याख्यायते तर्हि निरालम्बनविभ्रमा एवार्थनिरपेक्षजन्मानो निरस्ता भवेयुर्न सालम्बनौ संशयविपर्ययौ । अथ सति सम्प्रयोग इति सत्सप्तमीपक्ष एव न त्यज्यते संशयविपर्ययनिरासाय च 'सम्प्रयोग' इत्यत्र 'सम्' इत्युपसर्गो वर्ण्यते, यदाह–

"सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात्" [श्लोकवा०सू० ४. ३८–९]

१ काचाभ्रपटलस्फ०-डे० । २ -०स्यार्थस्य-डे० । ३ –०न्निकर्षेण व्य०–ता० । ४ –०गादिसन्नि० –डे० । ५ रहितम् तथापोढम्–डे० । रहितम् तयापोढम् –मु० । ६ वायससदसन(वायसदशन)परी० –ता० ।

७ एतत्समानम्–काकस्य कति वा दन्ता मेषस्याण्डं कियत्पलम् ।
गर्दभे कति रोमाणीत्येषा मूर्खविचारणा ॥ –मु-टि०

८ शिखण्डिन्–स्वयंवरे वृतेन भीष्मेणापाकृता काचिदम्बानाम्नी राजकन्या तपसा पुरुषत्वं प्राप्ता । सैव शिखण्डीति सञ्ज्ञया व्यवजह्रे । स च स्त्रीपूर्वत्वान्निन्दास्पदम् । ततो भारते युद्धे तं पुरस्कृत्यार्जुनो भीष्मं जघान । सोऽपि च शिखण्डी पश्चादश्वत्थाम्ना हतः । –मु-टि० । ९ –०वादत्वं–मु० । १० –०संयोगे–डे० ।

इति; तथापि प्रयोगसम्यक्त्वस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षानवगम्यत्वात्कार्यतोऽवगतिर्वक्तव्या। कार्यं च ज्ञानम् न च तदविशेषितमेव प्रयोगसम्यक्त्वावगमनायालम् । न च तद्विशेषणपरमपरमिह पदमस्ति। सतां सम्प्रयोगइति च वरं निरालम्बनविज्ञाननिवृत्तये, 'सति'इति तु सप्तम्यैव गतार्थत्वादनर्थकम् ।

5 §११३. येऽपि **"तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं यद्विषयं ज्ञानं तेन[1] सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं यदन्यविषयंज्ञानमन्यसम्प्रयोगे भवति न तत्प्रत्यक्षम् ।"** [शाबरभा० १.१.५] इत्येवं त[3]त्सतोर्व्यत्ययेन लक्षणमनवद्यमित्याहुः, तेषामपि क्लिष्टकल्पनैव, संशयज्ञानेन व्यभिचारानिवृत्तेः । तत्र हि यद्विषयं ज्ञानं तेन सम्प्रयोग इन्द्रियाणामस्त्येव । यद्यपि चोभ-

10 यविषयं संशयज्ञानं तथापि तयोरन्यतरेणेन्द्रियं संयुक्तमेव उभयावमर्शित्वाच्च संशयस्य येन संयुक्तं चक्षुस्तद्विषयमपि तज्ज्ञानं भवत्येवेति नातिव्याप्तिपरिहारः । अव्याप्तिश्च चाक्षुषज्ञानस्येन्द्रियसम्प्रयोगजत्वाभावात् । अप्राप्यकारि च चक्षुरित्युक्तप्रायम् ।

§११४. **"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्"** इति वृद्धसाङ्ख्याः । अत्र श्रोत्रादीनामचेतनत्वात्तद्वृत्तेः सुतरामचैतन्यमिति कथं प्रमाणत्वम्? । चेतनसंसर्गात्तच्चैत-

15 न्याभ्युपगमे वरं चित एव प्रामाण्यमभ्युपगन्तुं युक्तम्। न चाविकल्पकत्वे[4] प्रामाण्यमस्तीति यत्किञ्चिदेतत् ।

§११५. **"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्[5]"** [सां०का०५] इति प्रत्यक्षलक्षणमितीश्वरकृष्णः । तदप्यनुमानेन व्यभिचारित्वादलक्षणम् ।अथ 'प्रतिः' आभिमुख्ये वर्तते तेनाभिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमित्युच्यते; तदप्यनुमानेन तुल्यम् घटोऽयमितिवदयं

20 पर्वतोऽग्निमानित्याभिमुख्येन प्रतीतेः । अथ अनुमानादिविलक्षणो अभिमुखोऽध्यवसायः प्रत्यक्षम्; तर्हि प्रत्यक्षलक्षणमकरणीयमेव शब्दानुमानलक्षणविलक्षणतयैव तत्सिद्धेः ।

§११६. ततश्च परकीयलक्षणानां दुष्टत्वादिदमेव 'विशदः प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम् ॥ २९ ॥

§११७. प्रमाणविषयफलप्रमातृरूपेषु चतुर्षु विधिषु[6] तत्त्वं परिसमाप्यत इति विषया-

25 दिलक्षणमन्तरेण प्रमाणलक्षणमसम्पूर्णमिति विषयं लक्षयति-

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥ ३० ॥

§११८. प्रत्यक्षस्य प्रकृतत्वात्तस्यैव विषयादौ लक्षयितव्ये 'प्रमाणस्य' इति प्रमाणसामान्यग्रहणं प्रत्यक्षवत् प्रमाणान्तराणामपि विषयादिलक्षणमिहैव वक्तुं युक्तमविशेषात्तथा च लाघवमपि भवतीत्येवमर्थम्[7] । जातिनिर्देशाच्च प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां 'विषयः' गोचरो 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु' । द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम् ।

---

१ सता सम्प्र-ता० डे० । २ तेनैव सम्प्र० -मु-पा० । ३ तत्सर्वतोव्य०-डे० । ४ -०कल्पत्वे-डे० । ५ दृष्टमति प्रत्य०-ता० । ६ विधेषु इत्यपि पठितुं शक्यं ना० प्रतौ । ७ -०मर्थजाति०-डे० ।

पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्ध्वतासामान्यमिति यावत् । परियन्त्युत्पाद-विनाशधर्म्माणो भवन्तीति पर्याया विवर्त्ताः । तच्च ते चात्मा स्वरूपं यस्य तत् द्रव्य-पर्यायात्मकं वस्तु, परमार्थसदित्यर्थः, यद्वाचकमुख्यः-"**उत्पादव्ययध्रौ[1]व्ययुक्तं सद्**" [तत्त्वा० ५.२९] इति, पारमर्षमपि "**उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा**" इति ।

§ ११९. तत्र 'द्रव्यपर्याय'ग्रहणेन द्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तवादिपरिकल्पितविषयव्यु-दासः । 'आत्म'ग्रहणेन चात्यन्तव्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायवादिकाणादयौगाभ्युपगतविषय-निरासः । यच्छ्रीसिद्धसेनः-

"**दोहिं वि नएहिं नीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं ।**
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नो[2]न्ननिरविक्ख[3]" ॥ [सन्म० ३. ४९] **त्ति** ॥३०॥

§ १२०. कुतः पुनर्द्रव्यपर्यायात्मकमेव वस्तु प्रमाणानां विषयो न द्रव्यमात्रं पर्याय-मात्रमुभयं वा स्वतन्त्रम् ? इत्याह-

अर्थक्रियासामर्थ्यात्[4] ॥ ३१ ॥

§ १२१. 'अर्थस्य' हानोपादानादिलक्षणस्य 'क्रिया' निष्पत्तिस्तत्र 'सामर्थ्यात्', द्रव्य-पर्यायात्मकस्यैव वस्तुनोऽर्थक्रियासमर्[5]थत्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

§ १२२. यदि नामैवं ततः किमित्याह-

तल्लक्षणत्वाद्[6]वस्तुनः ॥ ३२ ॥

§ १२३. 'तद्' अर्थक्रियासामर्थ्यं 'लक्षणम्' असाधारणं रूपं यस्य तत् तल्लक्षणं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । कस्य ? । 'वस्तुनः' परमार्थसतो रूपस्य । अयमर्थः-अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रमाणमन्वेषते, अपि[7] नामेतः प्रमेयमर्थक्रियाक्षमं विनिश्चित्य कृतार्थो भवेयमिति न व्यसनितया । तद्यदि प्रमाणविषयोऽर्थोऽर्थक्रियाक्षमो न भवेत्तदा नासौ प्रमाणपरीक्षण-माद्रियेत । यदा[8]ह-

"**अर्थक्रियाऽसमर्थस्य विचारैः किं तदर्थिनाम् ।**
षण्ढस्य रूपवैरूप्ये कामिन्याः किं परीक्षया ? ॥" [प्रमाणवा० १.२१५] इति ।

§ १२४. तत्र न द्रव्यैकरूपोऽर्थोऽर्थक्रियाकारी, स ह्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः कथमर्थ-क्रियां कुर्वीत क्रमेणाक्रमेण वा ?, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न क्रमेण; स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्; न तर्हि तस्य सामर्[9]थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्, "**सापेक्षम-समर्थम्**" [पात० महा० ३.१.८] इति हि किं नाश्रौषीः ?। न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्तेऽपि तु

---

१ ध्रौव्याणां योगः । २ अन्ननिर०-मु० । अणुण्णनिर०-डे० । ३ निरपेक्षौ नयौ । ४ एकत्रिंशत्तमं द्वात्रिंशत्तमं च सूत्रद्वयं सं-मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते -सम्पा० । ५ -०क्रियार्थसम०-डे० । ६ -०त्वाद्वा वस्तुनः-सं-मू० । ७ प्रमाणान्वेषणभावनायाम् । ८ यदाहुः-ता० । ९ सामर्थ्ये पर०-ता० ।

कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्; तत्किं स भावोऽसमर्थः ?। समर्थश्चेत्; किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्[1]युपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति ?। ननु समर्थमपि बीज-मिला[2]जलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा; तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुप-क्रियेत, न वा ?। नो चेत्; स किं पूर्ववन्नोदास्ते। उपक्रियेत चेत्; स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियत[3] इति निर्वचनीयम्। अभेदे स एव क्रियते इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता। भेदे स कथं तस्योपकारः?, किं न सह्यविन्ध्याद्रे[4]रपि?। तत्सम्बन्धात्त-स्यायमिति चेत्; उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः ?। न संयोगः; द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। नापि समवायस्तस्य प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतस-म्बन्धिसम्बन्धत्वं[5]युक्तम्, तत्त्वे वा तत्[6]कृत उपकारोऽस्या[7]भ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्यु-पकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वम्। निय[8]तसम्बन्धिसम्ब न्धत्वे समवायस्य विशेषणविशेष्यभावो हेतुरिति चेत्; उपकार्योपकारकभावाभावे तस्यापि प्रतिनियमहेतुत्वाभावात्। उपकारे तु पुनर्भेदाभेदविकल्पद्वारेण तदेवावर्तते। तन्नैकान्तनित्यो भावःक्रमेणार्थक्रियां कुरुते।

§ १२५. नाप्यक्रमेण। न ह्येको भावः सकलकालक[9]लाभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्?। करणे वा क्रमपक्ष-भा[10]वी दोषः। अकरणेऽनर्थक्रियाकारित्वादवस्तुत्वप्रसङ्गः – इत्येकान्तनित्यात् क्रमा-क्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थ-क्रियाकारित्वं निवर्तयति तद[11]पि स्वव्याप्यं सत्त्वमित्यसन् द्रव्यैकान्तः।

§ १२६. पर्यायैकान्तरूपोऽपि प्रतिक्षणविनाशी भावो न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्ति-र्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न चैकान्तविनाशिनि सास्ति। यदाहुः–

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावा[12]नामिह[13] विद्यते॥"

§ १२७. न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति, सन्तानस्याऽवस्तु-त्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वम्; सु[14]स्थितः पर्यायैकान्तवादः ! यदा[15]हुः–

---

१ कार्याणि। २ बीजमिलादि०–डे०। ३ क्रियेत इति–डे०। ४ –०न्ध्याद्रेर०–डे०। ५ नियतसम्ब-न्धिकृतः। ६ समवायस्य। ७ ०–त्वम् सम्बन्धत्वे –डे०। ८ नियतसम्बन्धिनोर्बीजोपकारयोः सम्बन्धत्वे-ऽनयोः समवाय इति विशेषणविशेष्यभावः। ९ कलाशब्देनांशाः। १० स हि कालान्तरभाविनीः क्रिया इत्यादिको ग्रन्थ आवर्तनीयः। ११ तदप्यर्थक्रियाकारित्वं व्यापकं निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयति। १२ कर्तरि षष्ठी। १३ पर्यायैकान्तवादे। १४ –०त्वं न सु०–डे०। १५ यदुक्तम्–डे०।

"अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्ताननामानमुपैषि भावम् ।
उत्तिष्ठ भिक्षो ! फलितास्तवाशाः[1] सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥"
[न्यायम० पृ० ४६४] इति ।

§ १२८. नाप्यक्रमेण क्षणिकेऽर्थक्रिया सम्भवति । स ह्येको रूपादि[2]क्षणो युगपदनेकान्[3] रसादिक्षणान् जनयन् यद्येकेन स्वभावेन जनयेत्तदा तेषामेकत्वं स्यादेकस्वभावजन्यत्वात् । 5
अथ नानास्वभावैर्जनयति – किञ्चिदुपादानभावेन किञ्चित् सहकारित्वेन; ते तर्हि स्वभावास्तस्यात्मभूता अनात्मभूता वा ? । अनात्मभूताश्चेत्; स्वभावहानिः । यदि तस्यात्मभूताः; तर्हि तस्यानेकत्वं स्वभावानां चैकत्वं प्रसज्येत । अथ य एवैकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते; तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्य[4]कारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च मा भूत् । अथाक्रमात् क्रमिणामनुत्पत्तेर्नैवमिति चेत्; एकांनंश[5]- 10
कारणात् युगपदनेककारणसाध्यानेककार्यविरोधात् क्षणिकानामप्यक्रमेण[6] कार्यकारित्वं मा भूदिति पर्यायैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्याऽर्थक्रियापि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तत इत्यसन् पर्यायैकान्तोऽपि ।

§ १२९. काणादास्तु द्रव्यपर्यायावुभावप्युपागमन्[7] पृथिव्यादीनि गुणाद्याधाररूपाणि द्रव्याणि, गुणादयस्त्वाधेयत्वात्पर्यायाः । ते च केचित् क्षणिकाः[8], केचिद्यावद्द्रव्य[9]- 15
भाविनः, केचिन्नित्या[10] इति केवलमितरेतरविनिर्लुठित[11]धर्मिधर्माभ्युपगमान्न समीचीनविषयवादिनः । तथाहि–यदि द्रव्यादत्यन्तविलक्षणं सत्त्वं तदा द्रव्यमसदेव भवेत् । सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्; असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम् ?, सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्; तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन ? । सत्तायोगात् प्राक् भावो न सन्नाप्यसन्, सत्तासम्बन्धात्तु सन्निति चेत्; वाङ्मात्रमेतत्, सदस- 20
द्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात् । अपि च 'पदार्थः[12] सत्ता योगः' इति न त्रितयं चकास्ति । पदार्थसत्तयोश्च योगो यदि तादात्म्यम्, तदनभ्युपगमबाधितम् । अत[13] एव न संयोगः[14], समवायस्त्वनाश्रित इति सर्वं सर्वेण सम्बध्नीयान्न वा किञ्चित् केनचित् । एवं द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वादिभिः[15], द्रव्यस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषैः, पृथिव्यप्तेजोवायूनां पृथिवीत्वादिभिः, आकाशादीनां च द्रव्याणां स्वगुणैर्योगे यथायोगं 25
सर्वमभिधानीयम्, एकान्तभिन्नानां केनचित्[16] कथञ्चित् सम्बन्धायोगात् इत्यौलूक्यपक्षेऽपि विषयव्यवस्था दुःस्था ।

---

१ –०ता तवा०–डे० । २ बीजपूरादौ । ३ युगपदेकान्–ता० । ४ नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेणेत्यादिको ग्रन्थो न घटते । ५ न हि एकांश उपादानस्वरूपोऽन्यश्च सहकारिस्वरूपो भवन्मतेऽस्ति । ६ –०मेणाकारि० –डे० । ७ –०वुभावप्यभ्युपा०–डे० । ८ बुद्ध्यादयः । ९ घटरूपादयः । १० आप्यरूप्या(पा)दयः [जलादिपरमाणुरूपादीनां नित्यत्वात्] । ११ –०भिन्न० । १२ ,ऽर्थस० –डे० । १३ अनभ्युपगमबाधितत्वात् एव । १४ संयोगो हि द्रव्ययोरेव । १५ आदेर्गुणत्वकर्मत्वे । १६ केनचित् सम्ब०–ता० मु० ।

§ १३०. ननु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनस्तदवस्थमेव दौस्थ्यम्; तथाहि–द्रव्यपर्याययोरैकान्तिकभेदाभेदपरिहारेण कथञ्चिद्भेदाभेदवादः स्याद्वादिभिरुपेयते, न चासौ युक्तो विरोधादिदोषात्–विधिप्रतिषेधरूपयोरेकत्र[1] वस्तुन्यसम्भवान्नीलानीलवत् १। अथ केनचिद्रूपेण भेदः केनचिदभेदः; एवं सति भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् २। यं चात्मानं[2] पुरोधाय भेदो यं चाश्रित्याभेदस्तावप्यात्मानौ भिन्नाभिन्नावन्यथैकान्तवादप्रसक्तिस्तथा च सत्यनवस्था ३। येन च रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्च येन चाभेदस्तेनाप्यभेदश्च भेदश्चेति सङ्करः[3] ४। येन रूपेण भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः[4] ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनो विविक्तेनाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ६। ततश्चाप्रतिपत्तिः ७ इति न विषयव्यवस्था ८। नैवम्; प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधस्यासम्भवात्। यत्सन्निधाने यो नोपलभ्यते स तस्य[5] विरोधीति निश्चीयते। उपलभ्यमाने च वस्तुनि को विरोधगन्धावकाशः?। नीलानीलयोरपि[6] यद्येकत्रोपलम्भोऽस्ति तदा नास्ति विरोधः। एकत्र चित्रपटीज्ञाने सौगतैर्नीलानीलयोर्विरोधानभ्युपगमात्, यौगैश्चैकस्य[7] चित्रस्य रूपस्याभ्युपगमात्[8], एकस्यैव[9] च पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः प्रकृते को विरोधशङ्कावकाशः?। एतेन वैयधिकरण्यदोषोऽप्यपास्तः; तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रागुक्तयुक्तिदिशा प्रतीतेः। यदप्यनवस्थानं दूषणमुपन्यस्तम् तदप्यनेकान्तवादिमतानभिज्ञैनैव, तन्मतं हि द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यपर्यायावेव भेदः भेदध्वनिना तयोरेवाभिधानात्, द्रव्यरूपेणाभेदः इति द्रव्यमेवाभेदः एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः। यौ च सङ्करव्यतिकरौ तौ मेचकज्ञाननिदर्शनेन[10] सामान्यविशेषदृष्टान्तेन च परिहृतौ। अथ तत्र तथाप्रतिभासः समाधानम्; परस्यापि तदेवास्तु प्रतिभासस्यापक्षपातित्वात्। निर्णीते चार्थे संशयोऽपि न युक्तः, तस्य सकम्पप्रतिपत्तिरूपत्वादकम्पप्रतिपत्तौ दुर्घटत्वात्। प्रतिपन्ने च वस्तुन्यप्रतिपत्तिरिति साहसम्। उपलब्ध्यभिधानादनुपलम्भोऽपि न सिद्धस्ततो नाभाव इति दृष्टेष्टाविरुद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्त्विति ॥३२॥

§ १३१. ननु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनः कथमर्थक्रिया नाम?। सा हि क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ता द्रव्यपर्यायैकान्तवदुभयात्मकादपि व्यावर्तताम्। शक्यं हि वक्तुमुभयात्मा[11] भावो न क्रमेणार्थक्रियां कर्तुं समर्थः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। न च सहकार्यपेक्षा युक्ता, द्रव्यस्याविकार्यत्वेन सहकारिकृतोपकारनिरपेक्षत्वात्। पर्यायाणां च क्षणिकत्वेन पूर्वापरकार्यकालाप्रतीक्षणात्[12]। नाप्यक्रमेण, युगपद्धि सर्वकार्याणि कृत्वा पुनरकुर्वतोऽनर्थ-

---

१ भेदाभेदरूपयोः। २ स्वभावम्। ३ युगपदुभयप्राप्तिः सङ्करः। ४ परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। ५ छायेवातपस्य। ६ परोक्तदृष्टान्तं दूषयन्नाह। ७ योगः प्रत्याहारादिस्तं वेत्त्यधीते वा यौगः "तद्वेत्त्यधीते" [हैमश० ६. २. ११७] इत्यण्। ८ चित्ररूपस्य एकस्याऽवयविताऽभ्युपगमात्। ९ एकस्यैव पटा० –डे०। १० विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्। ११ द्रव्यपर्यायात्मा। १२ प्रथमद्वितीयकाय(र्य)योः कालः।

क्रियाकारित्वादसत्त्वम्, कुर्वतः क्रमपक्षभावी दोषः । द्रव्यपर्यायवादयोश्च यो दोषः स उभयवादेऽपि समानः–

"प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः ?"

इति वचनादित्याह–

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षण[1]परिणामेनास्या[2]र्थक्रियोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

§ १३२. 'पूर्वोत्तरयोः' 'आकारयोः' विवर्तयोर्यथासङ्ख्येन यौ 'परिहारस्वीकारौ' ताभ्यां स्थितिः सैव 'लक्षणम्' यस्य स चासौ परिणामश्च, तेन 'अस्य' द्रव्यपर्यायात्मकस्यार्थक्रियोपपद्यते ।

§ १३३. अयमर्थः–न द्रव्यरूपं न पर्यायरूपं नोभय[3]रूपं वस्तु, येन तत्तत्पक्षभावी दोषः स्यात्, किन्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकं शबलं जात्यन्तरमेव वस्तु । तेन तत्तत्सहकारिसन्निधाने क्रमेण युगपद्वा तां तामर्थक्रियां कुर्वतः सहकारिकृतां चोपकारपरम्परामुपजीवतो भिन्नाभिन्नोपकारादि[4]नोदनानुमोदनाप्रमुदितात्मनः उभयपक्षभाविदोषशङ्काकलङ्काऽकान्दिशीक[5]स्य भावस्य न व्यापका[6]नुपलब्धिबलेनार्थक्रियायाः, नापि तद्व्याप्य[7]सत्त्वस्य निवृत्तिरिति सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमाणस्य विषयः ॥३३॥

§ १३४. फलमाह–

फलमर्थ[8]प्रकाशः ॥३४॥

§ १३५. 'प्रमाणस्य' इति वर्तते, प्रमाणस्य 'फलम्' 'अर्थप्रकाशः' अर्थसंवेदनम् ; अर्थार्थी हि सर्वः प्रमातेत्यर्थसंवेदनमेव फलं युक्तम् । नन्वेवं प्रमाणमेव फलत्वेनोक्तं स्यात्, ओमिति चेत्, तर्हि प्रमाणफलयोरभेदः स्यात् । ततः किं स्यात् ? । प्रमाणफलयोरैक्ये सदसत्पक्षभावी दोषः स्यात्, नासतः करणत्वं न सतः फलत्वम् । सत्यम्, अस्त्ययं दोषो जन्मनि न व्यवस्थायाम् । यदाहुः–

"नासतो हेतुता नापि सतो हेतोः[9,10] फलात्मता ।
इति जन्मनि दोषः स्याद् व्यवस्था तु न दोषभाग् ॥" इति ॥३४॥

§ १३६. व्यवस्थामेव दर्शयति–

कर्म[11]स्था क्रिया ॥३५॥

§ १३७. कर्मोन्मुखो ज्ञानव्यापारः फलम् ॥३५॥

१ –०क्षणेन परि० –सं–मू० । २ –०नास्य क्रियो० –सं–मू० । ३ स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायरूपम् । ४ आदेरुपकार्युपकारयोः सम्बन्धः । ५ "कान्दिशीको भयद्रुते"–अभि० चि० ३.३० । ६ क्रमाक्रमौ व्यापकौ तयोः । ७ –०प्यस्य सत्त्व०–डे० । ८ अर्थक्रियाक्षमं वस्तु अत्रार्थशब्देनोच्यते । ९ अविद्यमानप्रमाणस्य । १० फलात् प्रमाणस्याभेदो भवन्मते । ततश्च फलस्य साध्यत्वेनासत्त्वात् प्रमाणस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः । असच्च न करणं भवति सिद्धस्यैवाङ्गीकारात् । तथा, प्रमाणात् फलस्य यद्यभेदः तदा प्रमाणस्य सत्त्वात् फलमपि सदेव स्याद्विद्यमानस्य च [न] फलत्वं साध्यस्यैव फलत्वाभ्युपगमात् । ११ पञ्चत्रिंशत्तमं षट्त्रिंशत्तमं च सूत्रद्वयं ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते–सम्पा० ।

§ १३८. प्रमाणं किमित्याह–

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

§ १३९. कर्तृव्यापारमुल्लिखन् बोधः प्रमाणम् ॥३६॥

§ १४०. कथमस्य प्रमाणत्वम् ? । करणं हि तत् साधकतमं च करणमुच्यते।
5 अव्यवहितफलं च[3] तदित्याह–

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥

§ १४१. 'तस्याम्' इति कर्तृस्थायां प्रमाणरूपायां क्रियायां 'सत्याम्' 'अर्थप्रकाशस्य' फलस्य 'सिद्धेः' व्यवस्थापनात् । एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात्तु भेद इति भेदाभेदरूपः स्याद्वादमबाधितमनुपतति प्रमाणफलभाव
10 इतीदमखिलप्रमाणसाधारणमव्यवहितं फलमुक्तम् ॥ ३७ ॥

§ १४२. अव्यवहितमेव फलान्तरमाह–

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

§ १४३. प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वं प्रमातुर्विवक्षिते विषये यत् 'अज्ञानम्' तस्य 'निर्वृत्तिः' फलमित्यन्ये । यदाहुः–

15　　**"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।**
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥" [न्याया० २८] इति ॥३८॥

§ १४४. व्यवहितमाह–

अवग्रहादीनां वा क्रमो[6]पजनधर्मा[7]णां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥

20　§ १४५. अवग्रहेहावायधारणास्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानानां क्रमेणोपजायमानानां यद्यत् पूर्वं तत्तत्प्रमाणं यद्यदुत्तरं तत्तत्फलरूपं प्रतिपत्तव्यम् । अवग्रहपरिणामवान् ह्यात्मा ईहारूपफलतया परिणमति इतीहाफलापेक्षया अवग्रहः प्रमाणम् । ततोऽपीहा प्रमाणमवायः फलम् । पुनरवायः प्रमाणं धारणा फलम् । ईहाधा[9]रणयोर्ज्ञानो[10]पादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया । ततो धारणा प्रमाणं स्मृतिः फलम् । ततोऽपि स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं फलम् ।

---

१ कर्मस्था प्र० – ता–मू० । २ तथाहि कर्मस्था कर्तृस्था चेत् (स्था च) क्रिया प्रतीयते तथा (?) ज्ञानस्यापि । त(य)थाहि वह्निगता तावत् काचिद्दाहिका शक्तिरभ्युपेया यद्व्यापारात् काष्ठानि दग्धानि भवन्ति तथा काष्ठगता दाहक्रिया काचिदस्ति यस्यास्तानि भस्मीभवन्ति । एवमन्यत्रापि ज्ञानार्थयोर्भावनीयम् । ३ –०फलं तदि०–डे० । ४ वस्तुत ऐक्येऽपि ज्ञानोन्मुखोऽर्थप्रकाशः अर्थोन्मुखी अज्ञाननिवृत्तिः इति भेदः । ५ अव्यवहितम् । ६ –०पजननधर्मा०–सं–मू० । ७ –०धर्मणाम्–ता० । ८ एकोनचत्वारिंशत्तमं चत्वारिंशत्तमं च सूत्रद्वयं ता– मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते–सम्पा० । ९ ईहायाश्चेष्टारूपत्वात् धारणायाश्च संस्काररूपत्वात् अज्ञानत्वमिति परस्य अभिसन्धिः । १० ज्ञानमुपादानं ययोर्ज्ञानस्योपादनं वा ।

ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमूहः फलम् । ततोऽप्यूहः प्रमाणमनुमानं फलमिति प्रमाणफलविभाग इति ॥ ३९ ॥

§ १४६. फलान्तरमाह–

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

§ १४७. हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो वा प्रमाणस्य फलम् । फलबहुत्वप्रतिपादनं सर्वेषां फलत्वेन न विरोधो वैवक्षिकत्वात् फलस्येति प्रदिपादनार्थम् ॥ ४० ॥

§ १४८. एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिमतपरीक्षार्थमाह–

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

§ १४९. करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेदः । अभेदे प्रमाणफलभेदव्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत् । अप्रमाणाद्व्यावृत्त्या प्रमाणव्यवहारः, अफलाद्व्यावृत्त्या च फलव्यवहारो भविष्यतीति चेत्; नैवम्; एवं सति प्रमाणान्तराद्व्यावृत्त्याऽप्रमाणव्यवहारः, फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलव्यवहारोऽप्यस्तु, विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुनः ।

§ १५०. तथा, तस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः । भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः । अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणया प्रत्यासत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति नात्मान्तरे तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; समवायस्य नित्यत्वाद्व्यापकत्वान्नियतात्मवत्सर्वात्मस्वप्यविशेषान्न ततो नियतप्रमातृसम्बन्धप्रतिनियमः तत् सिद्धमेतत् प्रमाणात्फलं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं चेति ॥ ४१ ॥

§ १५१ प्रमातारं लक्षयति–

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

§ १५२. स्वम् आत्मानं परं चार्थमाभासयितुं शीलं यस्य स 'स्वपराभासी' स्वोन्मुखतयाऽर्थोन्मुखतया चावभासनात् घटमहं जानामीति कर्मकर्तृक्रियाणां प्रतीतेः, अन्यतरप्रतीत्यपलापे प्रमाणाभावात् । न च परप्रकाशकत्वस्य स्वप्रकाशकत्वेन विरोधः प्रदीपवत् । नहि प्रदीपः स्वप्रकाशे परमपेक्षते । अनेनैकान्तस्वाभासिपराभासिवादिमतनिरासः । स्वपराभास्येव 'आत्मा प्रमाता' ।

---

१ –०पेक्षया बु०–ता० । २ अर्थप्रकाशादीनाम् । ३ –०क्षितत्वात्–ता० । ४ अ[न्य]प्रमाणात् । ५ –०लत्वव्य० –डे० । ६ प्रमाणान्तरात् । ७ यथैकात्मगतस्य प्रमाणस्य सम्बन्धि द्वितीयात्मगतं फलं न भवति तथैकात्मगतयोरपि मा भूदत्यन्तभेदस्योभयपक्षयोरप्यविशिष्टत्वात् । ८ –०तारं कथयति–डे० । ९ एतत्सूत्रानन्तरं ता–मू० प्रतौ एवं लिखितं वर्तते–"इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम् । सं–मू० प्रतौ तु –०ध्यायस्याद्याह्निकम् । १० बौद्धस्य ।

§ १५३. तथा, परिणाम उक्तलक्षणः स विद्यते यस्य स 'परिणामी'। कूटस्थनित्ये ह्यात्मनि हर्षविषादसुखदुःखभोगादयो विवर्ताः प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्माणो न वर्तेरन्। एकान्तनाशिनि[1] च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्युन्मार्गणप्रभृतयश्च प्रतिप्राणिप्रतीता व्यवहारा विशीर्येरन्। परिणामिनि तूत्पादव्ययध्रौव्यधर्मण्यात्मनि सर्वमुपपद्यते। यदाहुः–

"यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम्।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते॥
तथैव नित्यचैतन्यस्वरूपस्यात्मनो हि न।
निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि वा॥
किं त्वस्य विनिवर्तन्ते सुखदुःखादिलक्षणाः।
अवस्थास्ताश्च जायन्ते चैतन्यं त्वनुवर्तते॥
स्यातामत्यन्तनाशे हि कृतनाशाकृतागमौ।
सुखदुःखादिभोगश्च नैव स्यादेकरूपिणः॥
न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थां समाश्रिते।
ततोऽवस्था[2]वतस्तत्त्वात्[3] कर्तै[4]वाप्नोति तत्फलम्॥" [तत्त्वसं०का० २२३–२२७]

इति अनेनैकान्तनित्यानित्यवादव्युदासः। 'आत्मा' इत्यनात्मवादिनो व्युदस्यति। कायप्रमाणता त्वात्मनः प्रकृतानुपयोगान्नोक्तेति सुस्थितं प्रमातृलक्षणम्॥४२॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्[5]

---

१ एकान्तनाशिनी (?) २ अवस्थायाः। ३ –०वतस्तात्त्वात्–डे०। ०स्थासु तत्तत्त्वात्–तत्त्वसं० का० २२७। ४ एकत्वात्। ५ –०कम्। श्रेयः–ता०।

॥ अथ द्वितीयमाह्निकम् ॥

§ १. इहोद्दिष्टे प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणे प्रमाणद्वये लक्षितं प्रत्यक्षम्। इदानीं परोक्ष-लक्षणमाह–

अविशदः परोक्षम्[1] ॥ १ ॥

§ २. सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इत्यनुवर्तते। तेनाविशदः सम्यगर्थनिर्णयः परोक्षप्रमाणमिति ॥१॥

§ ३. विभागमाह–

स्मृतिप्रत्यभिज्ञा[2]नोहानुमानागमास्तद्विधयः ॥ २ ॥

§ ४. 'तद्' इति परोक्षस्य परामर्शस्तेन परोक्षस्यैते प्रकारा न तु स्वतन्त्राणि प्रमाणान्तराणि प्रक्रान्तप्रमाणसङ्ख्याविघातप्रसङ्गात्।

§ ५. ननु स्वतन्त्राण्येव स्मृत्यादीनि प्रमाणानि किं नोच्यन्ते?, किमनेन द्रविडमण्डकभक्षणन्यायेन? । मैवं वोचः, परोक्षलक्षणसङ्गृहीतानि परोक्षप्रमाणान्न विभेदवर्तीनि; यथैव हि प्रत्यक्षलक्षणसङ्गृहीतानीन्द्रियज्ञान-मानस-स्वसंवेदन-योगिज्ञानानि सौगतानां न प्रत्यक्षादतिरिच्यन्ते, तथैव हि परोक्षलक्षणाक्षिप्तानि स्मृत्यादीनि न मूलप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थीनीति। स्मृत्यादीनां पञ्चानां द्वन्द्वः ॥२॥

§ ६. तत्र स्मृतिं लक्षयति–

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

§ ७. 'वासना[3]' संस्कारस्तस्याः 'उद्बोधः[4]' प्रबोधस्तद्धेतुका तन्निबन्धना,

"कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा" [विशेषा० गा० ३३३]

इति वचनाच्चिरकालस्थायिन्यपि वासनाऽनुद्बुद्धा न स्मृतिहेतुः, आवरणक्षयोपशमसदृशदर्शनादिसामग्रीलब्धप्रबोधा[5] तु स्मृतिं जनयतीति 'वासनोद्बोधहेतुका' इत्युक्तम्। अस्या उल्लेखमाह 'तदित्याकारा[6]' सामान्योक्तौ नपुंसकनिर्देशस्तेन स घटः, सा पटी, तत् कुण्डल[7]मित्युल्लेखवती[8] मतिः स्मृतिः।

§ ८. सा च प्रमाणम् अविसंवादित्वात् स्वयं[9] निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। नन्वनुभूयमानस्य विषयस्याभावान्निरालम्बना स्मृतिः कथं प्रमाणम्? । नैवम्, अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्या[10]प्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यं प्रसज्येत। स्वविषया[11]वभासनं स्मृतेरप्यविशिष्टम्। विनष्टो विषयः कथं स्मृतेर्जनकः?, तथा-

१ अत्र प्रथमं द्वितीयं च सूत्रद्वयं ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते–सम्पा०। २ –०भिज्ञोहा०–सं–मू०। ३ धारणा। ४ स्मृतिजननाभिमुख्यम्। ५–०धा अनुस्मृ०-मु-पा०। ६ अभ्यासदशापन्नायां गुणनादौ तदित्याकाराभावात् प्रायिकमिदम्। ७ कुण्डमि०–डे०। ८ –०वती स्मृ०–डे०। ९ अविसंवादित्वमस्या [अ]सिद्धमिति चेदित्याह। १० यद्यनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वेऽपि स्मृतेरप्रामाण्यमातिष्ठसे तदा प्रत्यक्षस्यापि किं नाप्रामाण्यं भवेदिति एकोद्देशेन तस्यापि निरालम्बनत्वात्। ११ अनुभूतविषय०।

चार्थाजन्यत्वान्न प्रामाण्यमस्या इति चेत्; तत् किं प्रमाणान्तरेऽप्यर्थजन्यत्वम[1]विसंवाद-हेतुरिति विप्रलब्धोऽसि?। मैवं मुहः, यथैव हि प्रदीपः स्वसामग्रीबललब्धजन्मा घटादि-भिरजनितोऽपि तान् प्रकाशयति तथैवावरणक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियानिन्द्रियबललब्ध-जन्म संवेदनं विषयमवभासयति। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाकारणं
5 विषयः" इति तु प्रलापमात्रम्, योगिज्ञानस्यातीतानागतार्थगोचरस्य तदजन्यस्यापि प्रामाण्यं प्रति विप्रतिपत्तेरभावात्। किंच, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानाय दत्तो जलाञ्जलिः, तया व्याप्तेरविषयी[2]करणे तदुत्थानायोगात्; लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणपूर्वकमनुमानमिति हि सर्ववादिसिद्धम्। ततश्च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति[3] सिद्धम् ॥ ३ ॥

10 § ९. अथ प्रत्यभिज्ञानं लक्षयति–

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रति-योगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

§ १०. 'दर्शनम्' प्रत्यक्षम्, 'स्मरणम्' स्मृतिस्ताभ्यां[4] सम्भवो यस्य तत्तथा दर्शन-स्मरण[5]कारणकं सङ्क[6]लनाज्ञानं 'प्रत्यभिज्ञानम्'। तस्योल्लेखमाह–'तदेवेदम्', सामान्यनिर्दे-
15 शेन नपुंसकत्वम्, स एवायं घटः, सैवेयं पटी, तदेवेदं कुण्डमिति। 'तत्सदृशः' गोस-दृशो गवयः, 'तद्विलक्षणः' गोविलक्षणो महिषः, 'तत्प्रतियोगि' इदमस्मादल्पं महत् दूरमासन्नं वेत्यादि। 'आदि'ग्रहणात्–

"रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारयेः॥" [न्यायम० पृ० १४३]
20 "पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्षट्पादै[7]र्भ्रमरः स्मृतः।
सप्तपर्णस्तु विद्वद्भिर्विज्ञेयो विषमच्छदः॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः॥"

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव चैत्रहंसादीनवलोक्य तथा[8] सत्यापयति यदा, तदा
25 तदपि संकलना[9]ज्ञानमुक्तम्, दर्शनस्मरणसम्भवत्वाविशेषात्। यथा वा औदीच्येन[10] क्रमेलकं

---

१ अर्थजन्यत्वात् ज्ञानस्य प्रामाण्याभ्युपगमे मरुमरीचिकादौ जलज्ञानमप्यर्थजन्यत्वात् प्रमाणं स्यात्। अथ प्रतिभासमानार्थजन्यं प्रमाणमिष्यते तदानुमानं न स्यात् प्रमाणम्। अनुमानं ह्यनर्थसामान्यप्रतिभासि, न च तेन जन्यम्, भवन्मते सामान्यस्यावस्तुत्वात्। यत् प्रमाणं तदनर्थजन्य(तदर्थज)मेवेति अतिव्याप्ति (०वेति व्याप्ति)रपि दुष्टा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण व्यभिचारात् तद्धि स्वात्मविषयं, न च तेन जन्यम्। २ व्याप्तेरग्रहणेऽग्रहणं त्वप्रमाणत्वात्। ३ रिति ॥ अथ मु-पा। ४ क्वचिद्द्वयस्ताभ्यामपि यथेदमस्माद्भिन्नमित्यादिकं प्रत्यभिज्ञानं दर्श-नादेव स्मरणरहितात्। तस्मात् भिन्नमित्यादिकं केवलादेव स्मरणात् प्रत्यभिज्ञानम्। ५ मदीयेन गृहस्थितेन गवा सदृशोऽयं गवय इत्यादिकम् [अत्र टिप्पणकारेण उभयकारणकत्वं उदाहृतम्–सम्पा०]। ६ एकत्वसादृ-श्यवैसदृश्यादिनाऽर्थद्वयघटनं सङ्कलना। ७ –०पदै०–मु०। ८ तथा वचनं सत्या०-डे०। ९ संकलनमु०-डे०। १० अत्र उदीच्येन इति सुचारु।

निन्दतोक्तम् 'धिक्करभमतिदीर्घवक्रग्रीवं[1] प्रलम्बोष्ठं कठोरतीक्ष्णकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपशदं[2][3] पशूनाम्'इति । तदुपश्रुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापथं गतस्तादृशं वस्तूपलभ्य 'नूनमयमर्थोऽस्य करभशब्दस्य'इति [यदेवैति[4]] तदपि दर्शनस्मरणकारणकत्वात् सङ्कलनाज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।

§ ११. येषां तु सादृश्यविषयमुपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं प्रमाणान्तरमनुषज्येत । यदाहुः[5]–

"उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्[6] ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥" [लघीय० ३. १०]

"इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु[7] नेति वा ।
व्यपेक्षातः[8] समक्षेऽर्थे विकल्पः[9] साधनान्तरम्[10] ॥" [लघीय० ३. १२] इति ।

§ १२. अथ साधर्म्यमुपलक्षणं योग[11]विभागो[12] वा करिष्यत इति चेत्; तर्ह्यकुशलः सूत्रकारः स्यात्, सूत्रस्य लक्षणरहितत्वात् । यदाहुः–

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तो[13]भमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

अस्तोभमनधिकम् ।

§ १३. ननु 'तत्'इति स्मरणम् 'इदम्' इति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यामन्यत् प्रत्यभिज्ञानाख्यं प्रमाणमुत्पश्यामः । नैतद्युक्तम्, स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञाविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । पूर्वापराकारैक[14]धुरीणं हि द्रव्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। न च तत् स्मरणस्य गोचरस्तस्यानुभूतविषयत्वात् । यदाहुः[15]–

"पूर्व[16]प्रमितमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः ।
स एवायमितीयं तु प्रत्यभिज्ञा[17]ऽतिरेकिणी ॥" [तत्त्वसं० का० ४५३]

नापि प्रत्यक्षस्य[18] गोचरः, तस्य[19] वर्तमानविवर्त[20]मात्रवृत्तित्वात् । न च दर्शनस्मरणाभ्यामन्य[21]द् ज्ञानं नास्ति, दर्शनस्मरणोत्तरकालभाविनो ज्ञानान्तरस्यानुभूतेः । न चानुभूयमानस्यापलापो युक्तः अतिप्रसङ्गात् ।

§ १४. ननु प्रत्यक्षमेवेदं प्रत्यभिज्ञानम् इत्येके[22] । नैवम्, तस्य सन्निहितवार्तमानिकार्थविषयत्वात् ।

"सम्बद्धं[23] वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" [श्लोकवा० सूत्र ४ श्लो० ८४]

इति मा स्म विस्मरः । ततो नातीतवर्तमानयोरेकत्वमध्यक्षज्ञानगोचरः । अथ स्मरण[24]सह-

---

१ –०ग्रीवप्र०-ता० । २–०मपसदं –मु० –०मपशब्दं–डे० । ३ निकृष्टम् । ४ तात्पर्य० पृ० १९८ । ५ यदाह–ता० । ६ सादृश्यसाधनम् । ७ दीर्घम् । ८ अपेक्षका ह्यल्पमहदादिव्यापाराः । ९ अक्षनिरपेक्षं मानसं ज्ञानं विकल्पः । १० प्रमाणान्तरं प्राप्नोति । ११ उपमानमिति सूत्रावयवयोगः । १२ उपमानं द्विधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्चेति विभागः । १३ पूरणार्थवादिनिपातरहितमस्तोभम् । १४ तदेवेदमित्यत्रैकत्वं विषयः, गोसदृशो गवय इत्यत्र तु सादृश्यम् । १५ यदाह–ता० । १६ पूर्वप्रवृत्तमा०–मु–पा । १७ पूर्वप्रमितमात्रादधिका । १८–०स्य तस्य विव०–डे० । १९ तस्येति प्रत्यक्षस्य । २० विवर्तः परिणामः पर्यायः इति यावत् । २१–०मन्यज्ञा०–डे० । २२ वैशेषिकादयः । २३ चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धि । २४ सहायम् ।

कृतमिन्द्रियं तदेकत्वविषयं प्रत्यक्षमुपजनयतीति प्रत्यक्षरूपतास्य गीयत इति चेत्; न, स्वविषय[1]विनियमितमूर्तेरिन्द्रियस्य विषयान्तरे[2] सहकारिशतसमवधानेऽप्यप्रवृत्तेः। नहि परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुरिन्द्रियमविषये गन्धादौ प्रवर्त्तते। अविषयश्चातीतवर्तमानावस्थाव्याप्येकं द्रव्यमिन्द्रियाणाम्। नाप्यदृष्ट[3]सहकारिसहितमिन्द्रियमेकत्वविषयमिति

5 वक्तुं युक्तम् उक्तादेव हेतोः[4]। किंच, अदृष्टसव्यपेक्षादेवात्मनस्तद्विज्ञानं भवतीति वरं वक्तुं युक्तम्। दृश्यते हि स्वप्नविद्यादिसंस्कृतादात्मनो विषयान्तरेऽपि विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः। ननु यथाञ्जनादिसंस्कृतं चक्षुः सातिशयं भवति तथा स्मरणसहकृतमेकत्वविषयं भविष्यति। नैवम्, इन्द्रियस्य स्वविषयानतिलङ्घनेनैवातिशयोपलब्धेः, न विषयान्तरग्रहणरूपेण। यदाह भट्टः–

10 "यश्चाप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तितः॥" [श्लोकवा० सूत्र २ श्लो० ११४]

इति। तत् स्थितमेतत् विषयभेदात्प्रत्यक्षादन्यत्परोक्षान्तर्गतं प्रत्यभिज्ञानमिति।

§ १५. न चैतदप्रमाणम् विसंवादाभावात्। क्वचिद्विसंवादादप्रामाण्ये[11] प्रत्यक्षस्यापि तथा प्रसङ्गो दुर्निवारः। प्रत्यभिज्ञानपरिच्छिन्न[12]स्य चात्मादीनामेकत्वस्याभावे बन्धमो-

15 क्षव्यवस्था नोपपद्यते। एकस्यैव हि बद्धत्वे मुक्त[13]त्वे च बद्धो दुःखितमात्मानं जानन् मुक्तिसुखार्थी प्रयतेत। भेदे त्वन्य एव दुःख्यन्य एव सुखीति कः किमर्थं वा प्रयतेत?। तस्मात्सकलस्य[14] दृष्टादृष्टव्यवहारस्यैकत्वमूलत्वादेकत्वस्य च प्रत्यभिज्ञायत्तजीवितत्वाद्भवति प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति॥ ४॥

§ १६. अथोहस्य लक्षणमाह–

20 **उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः॥ ५॥**

§ १७. 'उपलम्भः' प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते न प्रत्यक्षमेव अनुमेयस्यापि साध[15]नस्य सम्भवात्, प्रत्यक्ष[16]वदनुमेयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात्। 'व्याप्तिः' वक्ष्यमाणा तस्या 'ज्ञानम्' तद्ग्राही निर्णयविशेष 'ऊहः'।

§ १८. न चायं व्याप्तिग्रहः प्रत्यक्षादेवेति वक्तव्यम्। नहि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद्

25 धूमः स देशान्तरे कालान्तरे वा पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च।

§ १९. नाप्यनुमानात्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाता सम्पद्यत इत्ये-

---

१ स्वविषयवार्तमानिकरूपादौ। २ विषयान्तरे गन्धादौ। ३ अदृष्टं भाग्यं कर्मेत्यर्थः। ४ विषयान्तराप्रवृत्तिरूपाद्धेतोः। ५–०द्यासं०–डे०। ६ नहि संस्कृतमपि चक्षुर्गन्धादिग्रहणे शक्तम्। ७ स्वविषय०। ८ दूरसूक्ष्मादिदर्शनेन चक्षुषोऽतिशयो भवति, न श्रवणस्य, रूपविषयेष्वव्यापारात्। ९ नहि रूपे श्रौत्री वृत्तिः संक्रामति। १० विषयभेदादित्ययं हेतुः। ११ यथा स एव क्षिप्रो जक्ष्यते (?)। १२ स एवायमिति। १३–०त्वे सति च–डे०। १४–०स्य दृष्टव्य०–डे०। १५ शब्दानित्यत्वे साध्ये कृतकत्वं हि साधनम् प्रत्ययभेदभेदित्वेनानुमेयम्। १६ बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमाने धूमेऽग्नेरनुमेयस्यापि साधनत्वं वक्ष्यते।

वंभूतभारासमर्थत्वात् । सामर्थ्येऽपि प्रकृतमेवानुमानं व्याप्तिग्राहकम्, अनुमानान्तरं वा ? । तत्र प्रकृतानुमानात् व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयः[1] । व्याप्तौ हि प्रतिपन्नायामनुमानमात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुमानान्तरात्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्था तस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्यैव प्रकृतानुमानव्याप्तिग्राहकत्वात् । तद्व्याप्तिग्रहश्च यदि स्वत एव, तदा पूर्वेण किमपराद्धं येनानुमानान्तरं मृग्यते । अनुमानान्तरेण चेत्; 5
तर्हि युगसहस्रेष्वपि व्याप्तिग्रहणासम्भवः ।

§ २०. ननु यदि निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमविचारकम् तर्हि तत्पृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं ग्रहीष्यतीति चेत्; नैतत्, निर्विकल्पकेन व्याप्तेरग्रहणे विकल्पेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य । अथ निर्विकल्पकविषयनिरपेक्षोऽर्थान्तरगोचरो विकल्पः; स तर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा ? । प्रमाणत्वे[2] प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणान्तरं 10
तितिक्षितव्यम् । अप्रामाण्ये तु ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा षण्ढात्तनयदोहदः । एतेन[3]–"अनु[4]पल[5]म्भात् कारणव्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारणव्याप्य[6]व्यापकभावावगमः" इति प्रत्युक्तम्[7], अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविशेषत्वेन कारणव्यापकानुपलम्भयोश्च लिङ्गत्वेन[8] तज्ज[9]नितस्य तस्यानुमानत्वात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां च व्याप्तिग्रहणे दोषस्याभिहितत्वात् ।

§ २१. वैशेषिकास्तु प्रत्यक्षफलेनोहापोहविकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्याहुः । 15
तेषामप्यध्यक्षफलस्य प्रत्यक्षा[10]नुमानयोरन्यतरत्वे व्याप्ते[11]रविषयीकरणम्, तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः । अथ व्याप्तिविकल्पस्य फल[12]त्वान्न प्रमाणत्वमनुयोक्तुं युक्तम्; न, एतत्फलस्या[13]नुमानलक्षणफलहेतुतया प्रमाणत्वाविरोधात् सन्निकर्षफलस्य विशेषण[14]ज्ञानस्येव विशेष्य[15]ज्ञानापेक्षयेति ।

§ २२. यौगास्तु तर्क[16]सहितात् प्रत्यक्षादेव [17]व्याप्तिग्रह इत्याहुः । तेषामपि यदि 20
न केवलात् प्रत्यक्षाद्व्याप्तिग्रहः किन्तु तर्कसहकृतात् तर्हि तर्कादेव व्याप्तिग्रहोऽस्तु । किमस्य तपस्विनो यशोमार्जनेन, प्रत्यक्षस्य वा तर्कप्रसादलब्धव्याप्तिग्रहापलापकृतघ्नत्वारोपेणेति ? । अथ तर्कः प्रमाणं न भवतीति न ततो व्याप्तिग्रहणमिष्यते । कुतः पुनरस्य न प्रमाणत्वम्, अव्यभिचारस्तावदिहापि प्रमाणान्तरसाधारणोऽस्त्येव[18] ? । व्याप्तिलक्षणेन विषयेण विष[19]-

१–°श्रयम्–डे° । २–°त्वे न प्रत्य°–डे° । ३ एतेनानुपलम्भात् कार्य°–डे° । ४ (?) न उपलम्भात् प्रत्यक्षात् । नानुमानात् । नाऽत्र धूमोऽग्नेरभावादित्यनुपलम्भः ॥१॥ नात्र शिंशपा वृक्षाऽभावात् ॥२॥ "**धूमाधी[:] वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥**" ५ (?) नास्त्यत्र घटो अनुपलम्भात् स्वप्रत्यक्षानुपलम्भादित्यर्थः, स्वभावानुपलम्भो हि धूमाधीरित्युल्लेखलक्षणः कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावावगमे व्यापिपर्ति ततस्तस्मादपि भवति स बौद्धमते । ६ (?) कार्यकारणस्यावगमो व्यापकानुपलम्भाद्व्याप्यव्यापकत्वस्यानुपलम्भात् तूभयस्य किन्तु सोप्यूहादेवेति । ७ निराकृतम् । ८ अनुमानत्वेन । ९ यद्धि लिङ्गाज्जायते ज्ञानं तदनुमानमेव । १० प्रत्यक्षस्य हि फलं प्रत्यक्षमनुमानं वा । तत्र प्रत्यक्षं घटोऽयमिति अनुमानं तु अग्निरत्र धूमादिति । ११ अग्रहणमित्युक्तयुक्तेः । १२ प्रत्यक्षफलत्वेनेति हि उक्तम् । १३ फलस्याप्यनु°– मु–पा° । १४ सामान्यज्ञानाद्विशेषज्ञानम् (?) । १५ विशेष्यज्ञानं विशेषणज्ञानं प्रमाणम् (?) । १६ व्याप्याभ्युपगमे व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः । [१७ "**व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च । साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते ॥**" "**प्रयोगेऽन्वयवत्येवं व्यतिरेके विपर्ययः ।**" १८–°स्त्वेव–डे° । १९ प्रमेयाधीना प्रमाणव्यवस्था ।

यवत्त्वमपि न नास्ति। तस्मात् प्रमाणान्तरागृहीतव्याप्तिग्रहणप्रवणः प्रमाणान्तरमूहः ॥५॥

§ २३. व्याप्तिं लक्षयति–

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥ ६ ॥

§ २४. 'व्याप्तिः' इति यो[1] व्याप्नोति यश्च[2] व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः[3]। तत्र यदा व्यापक-[4]धर्मतया विवक्ष्यते तदा 'व्यापकस्य[5]' गम्यस्य 'व्याप्ये[6]' धर्मे 'सति', यत्र धर्मिणि[7] व्याप्य[8]-मस्ति तत्र सर्वत्र 'भाव एव' व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः। ततश्च[9] व्याप्यभावापेक्षा[10] [11]व्याप्यस्यैवं[12] व्याप्तताप्रतीतिः[13]। नत्वेवमवधार्यते–व्यापकस्यैव व्याप्ये सति भाव इति, हेत्व-भावप्रसङ्गात्[14] अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादे[15]स्तत्र भावात्। नापि–व्याप्ये सत्येवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरीयकत्वादे[16]रहेतुत्वापत्तेः, साधारणश्च[17] हेतुः स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्।

§ २५. यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा 'व्याप्यस्य वा' गमकस्य 'तत्रैव' व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि[18] व्यापकोऽस्ति तत्रैव 'भावः' न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति। अत्रापि नैवमवधार्यते–व्याप्यस्यैव तत्र भाव इति, हेत्व[19]भावप्रसङ्गादव्याप्यस्यापि तत्र[20] भावात्। नापि–व्याप्यस्य तत्र[21] भाव एवेति, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात्, प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति।

§ २६. व्याप्यव्यापकधर्मतासङ्कीर्तनं तु व्याप्तेरुभयत्र[22] तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रती-तिर्मा भूदिति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि–पूर्वत्रा[23]योगव्यवच्छेदेनावधारणम् उत्तरत्रा[24]न्ययोग-व्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः?। तदुक्तम्–

> "लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः।
> नियमस्य विपर्यासे[25]ऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः॥" इति ॥ ६ ॥

§ २७. अथ क्रमप्राप्तमनुमानं लक्षयति–

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

---

१ अग्न्यादिः। २ धूमादिः। ३ पर्वतः (?)। ४ अग्नितया। ५ अग्निरूपस्य साध्यस्य। ६ धूमे। ७ पर्वतादौ। ८ धूमः। ९ ननु व्याप्तेरुभयधर्माविशेषे कथं व्याप्तताप्रतीतिः हेतोरेव, न व्यापकस्यापि, हेतोरेव हि व्याप्ततां स्मरन्ति तथा चाहुः–"**व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः**" [हेतु० १] इत्याशङ्क्याह—ततश्चेति। १० –०पेक्षया–डे०। ११ व्याप्यस्यैव प्रतीतिः–ता०। १२–०स्यैव व्याप्यताप्रतीतिः–मु०। १३ व्यापकेन साध्येन कर्त्रा व्याप्यभावो व्याप्यत्वं हेतोस्तदा(द)पेक्षते व्याप्तताप्रतीतिः। १४ अग्नेर्हेतुत्वं स्यात् (?)। १५ [अ]व्यापकस्यापि हेतोर्मूर्तत्वादेस्तत्र पर्वते भावात्। १६ कृतकत्वादेः अत्र हि व्याप्यस्य सत्त्वमेव नास्ति विद्युदादिना व्यभिचारात्। विद्युदादौ व्यापकत्वम(कम)नित्यत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिविनाप्यस्ति इति। १७ साधारणहेत्वाभासोऽसम्यग् हेतुः स्यादिति। १८ पर्वतादौ। १९ व्याप्यस्य धूमस्य हेतुत्वं न स्यात्। व्याप्तौ सत्यां हेतुभावः। व्याप्तिस्त्वीदृशी कुत्रापि नास्ति। २० व्यापकस्यापि वह्नेस्तत्र पर्वते भावात्। २१ यत्र व्यापकोऽस्ति तत्र। २२ उभयत्रेति साध्ये साधने च। २३ भाव एव। २४ व्यापकधर्मत्वे। २५ लिङ्ग एव लिङ्गी लिङ्गिनि सति इतरद्भवत्येवेति विपर्यासः।

§ २८. साधनं साध्यं च वक्ष्यमाणलक्षणम् । दृष्टा[1]दुपदिष्टाद्वा[2] 'साधनात्' यत् 'साध्यस्य' 'विज्ञानम्' सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेति 'अनुमानम्' लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात्[3] परिच्छेदनम् ॥ ७ ॥

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥ ८ ॥

§ २९. 'तत्' अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थ-परार्थभेदात् । स्वव्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'स्वार्थम्'[4] । परव्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'परार्थम्'[5] ॥ ८ ॥

§ ३०. तत्र स्वार्थं लक्षयति–

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥ ९ ॥

§ ३१. साध्यं विनाऽभवनं साध्याविनाभावः स्वेनात्मना निश्चितः[6] साध्याविनाभाव[7] एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणम्' तस्मात्तथाविधात् 'साधनात्' लिङ्गात् 'साध्यस्य' लिङ्गिनो 'ज्ञानम' 'स्वार्थम्' अनुमानम्। इह च न योग्यतया लिङ्गं परोक्षार्थप्रतिपत्तेरङ्गम्, यथा बीजमङ्कुरस्य, अदृष्टाद्[8] धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः; नापि स्वनिश्च(स्वविष)यज्ञानापेक्षं यथा प्रदीपो घटादेः, दृष्टादप्यनिश्चिताविनाभावादप्रतिपत्तेः । तस्मात्परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य व्यापार इति 'निश्चित'ग्रहणम्[9] ।

§ ३२. ननु चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति त्रैलक्षण्यमाचक्षते भिक्षवः। तथाहि–अनुमेये धर्मिणि लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमित्येकं रूपम् । अत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि[10] निरस्तम् । एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तो यथा अनित्यानि पृथिव्यादीनि भूतानि गन्धवत्त्वात् । अत्र पक्षीकृतेषु पृथिव्यादिषु चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यामेव गन्धवत्त्वम् । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृते[11]नैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमित्युच्येत श्रावणत्व[12]मेव हेतुः[13] स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धा[14]सिद्धः सर्वो निरस्तः । सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम्। इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः[15]। स हि नास्ति सपक्षे। एवकारेण साधारणानैकान्तिकः[16], स हि न सपक्षे एव वर्तते किं तु विपक्षेऽपि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वमवधारणकरणेन सपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादे[17]र्हेतुत्वमुक्तम्, पश्चादवधारणे

---

१ दृष्टिपथमागतात् । २ परार्थानुमाने कथितात् । ३ अनेन अतः पश्चादर्थता । ४ स्वस्मायिदं स्वार्थं येन स्वयं प्रतिपद्यते । ५ परस्मायिदं परार्थं येन परः प्रतिपद्यते । ६–० श्चितं सा०–डे० । ७–०भावैक० –डे० । ८–अग्निज्ञानं प्रति धूमस्य योग्यता शक्तिविशेषोऽस्त्येव परं दृष्टो हि धूमो धूमध्वजं गमयति नादृष्ट इति । ९ एतेन धूमो धूमवत्त्वेन निश्चिताविनाभावस्य गमको नान्यथा इत्यावेदितम् । १० यथाऽनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवदित्यत्र शब्दे चाक्षुषत्वमसिद्धम् । ११ सत्त्वपदाऽग्रतः । १२–०श्रावणमेव–डे० । १३ यथाऽनित्यः शब्दः श्रावणत्वादित्यनित्यत्वे साध्ये श्रावणत्वमेव हेतुर्घटे व्यभिचरतीति । १४ धूमो बाष्पो वा इति सन्देहे धूमादेरग्निसाधनम् । १५ अनेन सत्त्ववचनेन साधारणोऽपि निरस्यते । १६ निरस्त इति संबन्धः । १७ यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत् । घटे प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विद्यते, न विद्युति परम्, तथापि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य हेतुत्वं सपक्षैकदेशत्वात् ।

हि अयमर्थः स्यात्—सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात्। निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे[3] सर्वज्ञे सन्दिग्धम्। विपक्षे त्वसत्त्वमेव निश्चितमिति तृतीयं रूपम्। तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः। विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति। एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हि साध्येऽनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति, आकाशादौ नास्ति। ततो नियमेनास्य निरासोऽसत्त्वशब्दात्। पूर्वस्मिन्नवधारणे हि अयमर्थः स्यात्—विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः, तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि नास्ति ततो न हेतुः स्यात्ततः पूर्वं न कृतम्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः। तदेवं त्रैरूप्यमेव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारक्षममिति तदेवाभ्युपगन्तुं युक्तमिति किमेकलक्षणकत्वेनेति?।

§ ३३. तदयुक्तम्, अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्। तच्चासिद्धस्य विरुद्धस्य व्यभिचारिणो वा न सम्भवति। त्रैरूप्ये तु सत्यप्यविनाभावाभावे हेतोरगमकत्वदर्शनात्, यथा स श्यामो मैत्रतनयत्वात् इतरमैत्रपुत्रवदित्यत्र। अथ विपक्षान्नियमवती व्यावृत्तिस्तत्र न दृश्यते ततो न गमकत्वम्; तर्हि तस्या एवाविनाभावरूपत्वादितररूप[10]सद्भावेऽपि तदभावे[11] हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ सैव प्रधानं लक्षणमस्तु। तत्सद्भावे[12]ऽपररूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेश्च, यथा सन्त्यद्वैतवादिनो[13]ऽपि प्रमाणानि इष्टानिष्टसाधन[14]दूषणान्यथानुपपत्तेः। न चात्र पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति, केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वोपपत्तिः[15]। ननु पक्षधर्मताऽभावे श्वेतः प्रासादः काकस्य कार्ष्ण्यादित्यादयोऽपि हेतवः प्रसज्येरन्; नैवम्, अविनाभावबलेनैवापक्षधर्माणामपि गमकत्वाभ्युपगमात्। न चेह सोऽस्ति। ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्, सति तस्मिन्नसत्यपि त्रैलक्षण्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात्। न तु त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम् अव्यापकत्वात्[16]। तथा च सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्र मूर्द्धाभिषिक्ते साधने सौगतैः सपक्षेऽसतोऽपि हेतोः सत्त्वस्य गमकत्वमिष्यत एव। तदुक्तम्—

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?॥" इति।

---

१ सपक्षे दर्शनमन्वयः। २ मीमांसकं प्र.ा जैनो वक्ति। ३ सर्वज्ञस्य सर्वस्य सपक्षत्वात्। ४ अनित्यो घटः कृतकत्वात् शब्दवत्। कृतकत्वं शब्देऽस्ति नाकाशादौ। ५ यथा प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो अनित्यत्वात् घटवत्। ६ सपक्षे त्वस्ति एव। ७ यथा असर्वज्ञोऽयं वक्तृत्वात्। ८ अनैकान्तिकस्य। ९ पूर्वस्मिन्ननुमाने। १० पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वलक्षणं रूपद्वयं। ११ विपक्षान्नियमवत्या व्यावृत्तेरभावे। १२ विपक्षान्नियमवत्या व्यावृत्तेः। १३ शून्याद्वैतवादिनः। १४ तन्मते प्रमाणलक्षणः पक्षोऽपि नास्ति कुतः पक्षधर्मता?। १५ –०पपत्तेः-मु–पा०। १६ स श्यामो मैत्रातनयत्वादित्यादौ।

§ ३४. एतेन पञ्चलक्षणकत्वमपि नैयायिकोक्तं प्रत्युक्तम्, तस्याप्यविनाभावप्रपञ्चत्वात् । तथाहि-त्रैरूप्यं पूर्वोक्तम्, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि । तत्र प्रत्यक्षागमबाधितकर्म[1]निर्देशा[2]नन्तरप्रयुक्तत्वं बाधितविषयत्वं यथाऽनुष्णस्तेजोवयवी कृतकत्वात् घटवत् । ब्राह्मणेन सुरा पेया [द्रव]द्रव्य[3]त्वात् क्षीरवत् इति । तन्निषेधादबाधितविषयत्वम् । प्रतिपक्षहेतुबाधितत्वं सत्प्रतिपक्षत्वं यथाऽनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः । अत्र प्रतिपक्षहेतुः-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरिति । तन्निषेधादसत्प्रतिपक्षत्वम् । तत्र बाधितविषयस्य[4] सत्प्रतिपक्षस्य चाविनाभावाभावादविनाभावेनैव रूपद्वयमपि सङ्गृहीतम् । यदाह[5]-"**बाधाविनाभावयोर्विरोधात्**" [हेतु०परि० ४] इति । अपि च, स्वलक्षणलक्षितपक्षविषयत्वाभावात् तद्दोषे[6]णैव दोषद्वयमिदं चरितार्थं किं पुनर्वचनेन ? । तत् स्थितमेतत् साध्याविनाभावैकलक्षणादिति ॥ ९ ॥

§ ३५. तत्राविनाभावं लक्षयति-

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥

§ ३६. 'सहभाविनोः'एकसामग्र्यधीनयोः फलादिगतयो रूपरसयोः व्याप्य[7]व्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वयोः, 'क्रमभाविनोः' कृत्तिकोदयशकटोदययोः, कार्यकारणयोश्च धूमधूमध्वजयोर्यथासङ्ख्यं यः 'सहक्रमभावनियमः'-सहभाविनोः सहभावनियमः क्रमभाविनोः क्रमभावनियमः, साध्यसाधनयोरिति प्रकरणाल्लभ्यते सः 'अविनाभावः' ॥१०॥

§ ३७. अथैवंविधोऽविनाभावो निश्चितः[8] साध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम् । तन्निश्चयश्च कुतः प्रमाणात् ? । न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्यैन्द्रियकस्य सन्निहितविषयविनियमितव्यापारत्वात् । मनस्तु यद्यपि सर्वविषयं तथा[9]पीन्द्रियगृहीतार्थगोचरत्वेनैव तस्य प्रवृत्तिः । अन्यथान्ध-बधिराद्य[10]भावप्रसङ्गः । सर्वविषयता तु सकलेन्द्रियगोचरार्थविषयत्वेनैवोच्यते न स्वातन्त्र्येण । योगिप्रत्यक्षेण त्वविनाभावग्रहणेऽ[11]नुमेयार्थप्रतिप[12]त्तिरेव ततोऽस्तु, किं तपस्विनाऽनुमानेन ? । अनुमानात्त्वविनाभावनिश्चयेऽ[13]नवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग उक्त एव । न च प्रमाणान्तरमेवंविधविषयग्रहणप्रवणमस्तीत्याह-

ऊहात् तन्निश्चयः ॥ ११ ॥

§ ३८. 'ऊहात्'तर्कादुक्तलक्षणात्तस्याविनाभावस्य 'निश्चयः' ॥ ११ ॥

§ ३९. लक्षितं परीक्षितं च साधनम् । इदानीं तत् विभजति-

---

१ साध्यमनुमेयमिति यावत् । २-०तधर्म०-डे० । ३ तात्पर्य० पृ० ३४०. । ४ -०स्य तत्प्र०-डे० । ५ यदाहुः-ता० । ६ पक्षदोषावेवैतौ । ७ साध्यसाधनयोः । ८ स्वनिश्चित इत्यनेन निश्चितः सन् । ९ प्रत्यक्षग्राह्यबाह्यार्थापेक्षया सुखादींश्च एवमेव गृह्णाति । १० मनसैव सर्वेन्द्रियार्थग्रहणात् । ११ अग्न्यादि । १२ -०पत्तिरपि ततो०-डे० । १३ अनुमानतो ह्यविनाभावनिश्चये तस्याप्यनुमानस्याविनाभावनिश्चये कमनुमानान्तरं चिन्त्यम्(?) । ..स्यापि अन्यदित्याद्यनवस्था । इतरेतराश्रयस्तु अनुमानादविनाभावनिश्चयो अविनाभावे च निश्चिते अनुमानोत्थानमिति ।

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥ १२ ॥

§ ४०. स्वभावादीनि चत्वारि विधेः साधनानि, विरोधि तु निषेधस्येति पञ्चविधम् 'साधनम्'। 'स्वभावः' यथा शब्दानित्यत्वे साध्ये कृतकत्वं श्रावणत्वं वा।

§ ४१. ननु श्रावणत्वस्यासाधारणत्वात् कथं व्याप्तिसिद्धिः ?। विपर्यये[1] बाधकप्रमाणबलात् सत्त्वस्येवेति ब्रूमः। न चैवं सत्त्वमेव[2] हेतुः तद्विशेषस्योत्पत्तिमत्त्व-कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्व-प्रत्ययभेदभेदित्वादेरहेतुत्वापत्तेः[3]। किंच, किमिदमसाधारणत्वं नाम ?। यदि पक्ष एव वर्तमानत्वम्; तत् सर्वस्मिन् क्षणिके साध्ये सत्त्वस्यापि समानम्। साध्यधर्मवतः पक्षस्यापि सपक्षता चेत्; इह कः प्रद्वेषः ?। पक्षादन्यस्यैव सपक्षत्वे लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवदित्यत्र पार्थिवत्वमपि लोहलेख्यतां वज्रे गमयेत्। अन्यथानुपपत्तेरभावान्नेति चेत्; इदमेव तर्हि हेतुलक्षणमस्तु। अपक्षधर्मस्यापि साधनत्वापत्तिरिति चेत्; अस्तु यद्यविनाभावोऽस्ति, शकटोदये[4] कृत्तिकोदयस्य, सर्वज्ञसद्भावे संवादिन उपदेशस्य[5] गमकत्वदर्शनात्। काकस्य कार्ष्ण्यं न प्रासादे धावल्यं विनानुपपद्यमानमित्यनेकान्तादगमकम्। तथा, घटे चाक्षुषत्वं[6] शब्देऽनित्यतां विनाप्युपपद्यमानमिति। तन्न श्रावणत्वादिरसाधारणोऽप्यनित्यतां व्यभिचरति। ननु कृतकत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वे साध्ये पर्यायवद् द्रव्येऽप्यनित्यता प्राप्नोति। नैवम्, पर्यायाणामेवानित्यतायाः साध्यत्वात्, अनुक्तमपीच्छाविषयीकृतं साध्यं भवतीति किं स्म[7] प्रस्मरति भवान् ?। ननु कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्ये साधनवत् साध्यस्य सिद्धत्वम्, साध्यवच्च साधनस्य साध्यत्वं प्रसजति। सत्यमेतत्, किं तु मोहनिवर्तनार्थः प्रयोगः। यदाह–

> "सादेरपि न सान्तत्वं व्यामोहाद्योऽधिगच्छति।
> साध्यसाधनतैकस्य तं प्रति स्यान्न दोषभाक्॥"

§ ४२. 'कारणं'[9] यथा बाष्पभावेन मशक[10]वर्तिरूपतया वा सन्दिह्य[11]माने धूमेऽग्निः, विशिष्टमेघो[12]न्नतिर्वा वृष्टौ[13]। [14]कथमयमाबालगोपालाविपालाङ्गनादिप्रसिद्धोऽपि नोपलब्धः सूक्ष्मदर्शिनापि न्यायवादिना ?। कारण[15]विशेषदर्शनाद्धि सर्वः कार्यार्थी प्रवर्तते। स तु विशेषो ज्ञातव्यो योऽव्यभिचारी। कारणत्वनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति चेत्; अस्त्वसौ

---

१ अनित्यत्वविपरीते नित्यत्वे अश्राव्यरूपः पूर्वं शब्दः पश्चात् कथं उच्चारणात् श्राव्यो जात इति बाधकप्रमाणं तस्मान्नित्यत्वेऽघटमानकं श्रावण[त्व]मनित्यत्वं व्यवस्थापयति। २ सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वम्। तच्चानित्यपक्ष एव घटत इति श्रावणत्वमपि सत्त्वमायातम्। ३ –०तुत्वोपपत्ते.–ता०। ४ गम्ये(य)शकटोदयाभावे कृत्तिकोदयात्। ५ कश्चित् पुरुषः सर्वभावसाक्षात्कर्त्ताऽस्ति अविसंवादिज्योतिर्ज्ञानान्यथानुपपत्तेः। ६ शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वादित्यस्मिन्ननुमाने शब्दानित्यतां विनाऽपि घटादौ चाक्षुषत्वमुपपद्यते इत्यन्यत्रोपपद्यमानं शब्दस्यानित्यतां न साधयति। ७ स्म विस्म०–डे०। ८ अनित्यत्वम्। ९ करणम्–मु–पा०। १० मशवर्ति०– डे०। ११ अयं धूमोऽग्नेः। १२ वृष्टिर्भाविनी विशिष्टमेघोन्नतेः। १३ गम्यायां वृष्टौ। १४ सूरिराह। १५ अविकलकारणम्।

लिङ्गविशेषनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः[1], फले तु भाविनि नानुमानादन्यन्निबन्धनमुत्पश्यामः । क्वचिद् व्यभिचारात्[2] सर्वस्य हेतोरहेतुत्वे कार्यस्यापि तथा प्रसङ्गः । बाष्पादेरकार्यत्वान्नेति चेत्; अत्रापि यत् यतो न भवति न तत् तस्य कारणमित्यदोषः । यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्[3]कार्यम्; तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम् । यद्वदेवाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः । अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम् । यदाह[4]—

"एकसामग्र्य[5]धीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।
हेतु[6]धर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥" [प्रमाणवा० १. १०] इति ।

§ ४३. न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः । अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तर[7]वैकल्यम् । तत्[8] कुतो विज्ञायत इति चेत्; अस्ति तावद्विगुणादितरस्य विशेषः । तत्परिज्ञानं तु प्रायः पांशुर[9]पादानामप्यस्ति । यदाहुः—

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥" [न्यायम० पृ० १२९]
"रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥" [न्यायम० पृ० १२९] इति ।

§ ४४. 'कार्यम्' यथा वृष्टौ विशिष्टनदीपूरः, कृशानौ धूमः, चैतन्ये प्राणादिः[10] । पूरस्य वैशिष्ट्यं कथं[11] विज्ञायत इति चेत्; उक्तमत्र नैयायिकैः । यदाहुः[12]—

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुट[13]फेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहलशेवालफलशाद्वल[14]सङ्कुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते[15] न न वेदितुम् ॥" [न्यायम० पृ० १३०]

इति धूमप्राणादीनामपि कार्यत्वनिश्चयो न दुष्करः । यदाहुः[16]—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्य[17]धर्मानुवृत्तितः ।
स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥" [प्रमाणवा० १. ३५]

---

१ प्रत्यक्षतः –मु-पा० । २ नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति । ३ कार्य गमकं । ४ यदाहुः –ता० । ५ यथा धूमादग्निर्ज्ञायते तथाग्निरिन्धन(?)विकारकर्ता दाहकोऽपि ज्ञायते । अयं रसो विशिष्टसामग्रीवा(मा)न् वैशिष्ट्यस्यान्यथानुपपत्तेरिति कारणा(कार्या)द्विशिष्टसामग्रीज्ञानं तस्माच्च रूपादिजनकत्वज्ञानम् । ६ हेतुः कारणं तस्य धर्मो रूपादिजनकत्वं तस्यानुमानं तस्य लिङ्गात् परिच्छेदः । ७ सहकारिकारणम् । ८ साकल्यमप्रतिबद्धस्वभावश्च । ९ हलधरादीनामपि । १० प्राणादि पू०-ता० । ११ कथं ज्ञाय०-डे० । १२ यदाह –ता० । १३ –०स्फुटः फेन०–डे० । १४ शाड्वल –डे० । १५ शक्यते न निवे०–डे० । १६ यदाह –ता० । १७ कार्यधर्मः कारणे सति भवनम्, कारणाऽभावे वाऽभवनम् ।

§ ४५. कारणाभावेऽपि कार्यस्य भावे अहेतुत्व[1]मन्य[2]हेतुत्वं वा भवेत्। अहेतुत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा[3] भवेत्। अन्यहेतुत्वे दृष्टादन्यतोऽपि भवतो न दृष्टजन्यता अन्याभावेऽपि दृष्टाद्भवतो नान्यहेतुकत्वमित्यहेतुकतैव स्यात्। तत्र चोक्तम्–"यस्त्वन्यतोऽपि भवन्नुपलब्धो न तस्य धूमत्वं हेतुभेदात्। कारणं च वह्निर्धूमस्य इत्युक्तम्।"
5 अपि च–

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा यद्यग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्॥" [प्रमाणवा० १. ३७] इति।

§ ४६. तथा चेतनां विनानुपपद्यमानः कार्यं प्राणादिरनुमापयति तां श्रावणत्वमिवानित्यताम्, विपर्यये बाधकवशात्सत्त्वस्येवास्यापि व्याप्तिसिद्धेरित्युक्तप्रायम्। तन्न
10 प्राणादिरसाधारणोऽपि चेतनां व्यभिचरति।

§ ४७. किंच, नान्वयो हेतो रूपं तदभावे हेत्वाभासाभावात्। विपक्ष एव सन् विरुद्धः, विपक्षे[5]ऽपि–अनैकान्तिकः, सर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तृत्वस्यापि व्यतिरेकाभाव एव हेत्वाभासत्वे निमित्तम्, नान्वयसन्देह इति न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभासावुक्तौ। असाधारणोऽपि यदि साध्याभावेऽसन्निति निश्चीयेत तदा प्रकारान्तरा-
15 भावात्साध्यमुपस्थापयन्नानैकान्तिकः स्यात्। अपि च यद्यन्वयो रूपं स्यात् तदा यथा विपक्षैकदेशवृत्तेः कथञ्चिद्व्यतिरेकादगमकत्वम्, एवं सपक्षैकदेशवृत्तेरपि स्यात् कथञ्चिदनन्वयात्। यदाह–

"रूपं यद्यन्वयो हेतोर्व्यतिरेकवदिष्यते।
स सपक्षो[6]भयो न स्यादसपक्षोभयो यथा॥"

20 सपक्ष एव सत्त्वमन्वयो न सपक्षे सत्त्वमेवेति चेत्; अस्तु, स तु व्यतिरेक एवेत्यस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं स्यात्। वयमपि हि प्रत्यपीपदाम अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरिति।

§ ४८. तथा, एकस्मिन्नर्थे दृष्टेऽदृष्टे वा समवाय्या[7]श्रितं साधनं साध्येन। तच्चैका[8]र्थसमवायित्वम् एकफलादिगतयो[9] रूपरसयोः, शकटोदय-कृत्तिकोदययोः, चन्द्रोदय-समुद्रवृद्ध्योः, वृष्टि-साण्डपिपीलिकाक्षोभयोः, नागवल्लीदाह-पत्रकोथयोः। तत्र 'एकार्थसमवायी'
25 रसो रूपस्य, रूपं वा रसस्य; नहि समानकालभाविनोः कार्यकारणभावः सम्भवति।

§ ४९. ननु समानका[10]लकार्यजनकं कारणमनुमास्यते इति चेत्; न तर्हि कार्यमनुमितं स्यात्। कारणानुमाने सामर्थ्यात् कार्यमनुमितमेव, जन्याभावे जनकत्वाभावा-

---

१ अहेतुकत्वम्। २ अग्नेरन्यो हेतुरस्य। ३ वा अन्य –डे०। वा भावयेत् अन्य० –मु-पा०। ४ वल्मीकस्य। ५ न केवलं सपक्षे किन्तु विपक्षेऽपि। ६ सपक्षे उभयं सत्त्वमसत्त्वं वा यस्य। ७ समवायाश्रितम्–ता०। ८ इदं फलं विशिष्टरूपवत् विशिष्टरसवत्त्वात्। इदं नभःखण्डं भाविशकटोदयं कृत्तिकोदयवत्त्वात्। अयं कालः समुद्रवृद्धिमान् चन्द्रोदयवत्त्वात्। एवम् अग्रेऽपि कालो धर्मी। ९ –०गतरूप०–डे०। १० कार्यरूपाद्रूपकारणं ज्ञायते। तच्च कीदृशम्?। समानकालं यत्कार्यं रसलक्षणं तज्जनकमनुमीयते।

दिति चेत्; हन्तैवं कारणं कार्यस्यानुमापकमित्यनिष्टमापद्येत। शकटोदयकृत्तिकोदया-[1] दीनां तु यथाऽविनाभावं साध्यसाधनभावः। यदाह–

"एकार्थसमवायस्तु यथा येषां तथैव ते।
गमका गमकस्तन्न शकटः कृत्तिकोदितेः॥"

एवमन्येष्वपि साधनेषु वाच्यम्। ननु कृतकत्वानित्यत्वयोरेकार्थसमवायः कस्मान्ने- 5
ष्यते ?; न, तयोरेकत्वात्। यदाह–

"आद्यन्तापेक्षिणी सत्ता कृतकत्वमनित्यता।
एकैव हेतुः साध्यं च द्वयं नैकाश्रयं ततः॥" इति।

§ ५०. स्वभावादीनां चतुर्णां साधनानां विधिसाधनता, निषेधसाधनत्वं तु विरोधिनः। स हि स्वसन्निधानेनेतरस्य प्रतिषेधं साधयति अन्यथा विरोधासिद्धेः। 10

§ ५१. 'च'शब्दो यत एते स्वभावकारणकार्यव्यापका[2] अन्यथानुपपन्नाः स्वसाध्य-मुपस्थापयन्ति तत[3] एव तदभावे स्वयं न भवन्ति, तेषामनुपलब्धिरप्यभावसाधनीत्याह। तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र घटः, द्रष्टुं योग्यस्यानुपलब्धेः। कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात्। कार्यानुपलब्धिर्यथा नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमा[4]भावात्। व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्। 15

§ ५२. विरोधि तु प्रतिषेध्यस्य तत्कार्यकारणव्यापकानां च विरुद्धं विरुद्ध-कार्यं[5] च। यथा न शीतस्पर्शः, नाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि, न रोमहर्षविशेषाः, न तुषारस्पर्शः, अग्नेर्धूमाद्वेति प्रयोगनानात्वमिति॥ १२॥

§ ५३. साधनं लक्षयित्वा विभज्य च साध्यस्य लक्षणमाह–

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः॥१३॥ 20

§ ५४. साधयितुमिष्टं 'सिषाधयिषितम्'। अनेन साधयितुमनिष्टस्य साध्यत्वव्यव-च्छेदः, यथा वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति। शास्त्रोक्तत्वाद्वैशेषिकेणाभ्युपगतस्याप्याका-शगुणत्वादेर्न साध्यत्वम्, तदा साधयितुमनिष्टत्वात्। इष्टः पुनरनुक्तोऽपि पक्षो भवति, यथा परार्थाश्चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदित्यत्र परार्था[6] इत्यात्मार्थाः। बुद्धि-मत्कारणपूर्वकं[7] क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राऽशरीरसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति। 25

§ ५५. 'असिद्धम्'इत्यनेनानध्यवसाय-संशय-विपर्ययविषयस्य वस्तुनः साध्यत्वम्, न सिद्धस्य[8] यथा श्रावणः शब्द इति। **"नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते"** [न्यायभा० १.१.१] इति हि सर्वपार्षदम्।

§ ५६. 'अबाध्यम्' इत्यनेन प्रत्यक्षादिबाधितस्य साध्यत्वं मा भूदित्याह। एतत् साध्यस्य लक्षणम्। 'पक्षः' इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत्॥१३॥ 30

---

१ शकटोदये प्रत्यक्षे सति कृत्तिकोदयस्यापि प्रत्यक्षत्वात् नानुमानतस्तदवगमः। २ एकार्थसमवायिनो व्यापका इति। ३ अन्यथानुपपन्नत्वादेव। ४ धूमाभावाद्वा व्या०–ता०। ५ कार्यं यथा –डे०। ६ परार्था बुद्धि० –डे०। ७ –०पूर्वं क्षि० –डे०। ८ इत्याह।

§ ५७. अबाध्यग्रहणव्यवच्छेद्यां बाधां दर्शयति–

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधाः ॥१४॥

§ ५८. प्रत्यक्षादीनि [1]तद्विरुद्धार्थोपस्थापनेन बाधकत्वात् 'बाधाः'। तत्र प्रत्यक्षबाधा यथा अनुष्णो[2]ऽग्निः, न मधु[3] मधुरम्, न सुगन्धि विदलन्मालतीमुकुलम्[4], अचाक्षुषो[5] घटः, अश्रावणः शब्दः, नास्ति बहिरर्थ[6] इत्यादि। अनुमानबाधा यथा सरोम[7] हस्ततलम्, नित्यः शब्द इति वा। अत्रानुपलम्भेन कृतकत्वेन चानुमानबाधा। आगमबाधा यथा प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति। परलोके सुखप्रदत्वं धर्मस्य सर्वागमसिद्धम्। लोकबाधा यथा शुचि नरशिरःकपालमिति। लोके हि नरशिरःकपालादीनामशुचित्वं सुप्रसिद्धम्। स्ववचनबाधा यथा माता मे वन्ध्येति[8]। प्रतीतिबाधा यथा अचन्द्रः[9] शशीति। अत्र शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं प्रतीतिसिद्धमिति प्रतीतिबाधा ॥१४॥

§ ५९. अत्र साध्यं धर्मः, धर्मधर्मिसमुदायो वेति संशयव्यवच्छेदायाह–

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

§ ६०. 'साध्यम्' साध्यशब्दवाच्यं पक्षशब्दाभिधेयमित्यर्थः। किमित्याह 'साध्यधर्मेण' अनित्यत्वादिना 'विशिष्टो धर्मी' शब्दादिः। एतत् प्रयोगकालापेक्षं[10] साध्यशब्दवाच्यत्वम्। 'क्वचित्तु' व्याप्तिग्रहणकाले 'धर्मः' साध्यशब्देनोच्यते, अन्यथा व्याप्तेरघटनात्। नहि धूमदर्शनात् सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुं प्रमाणविरोधादिति॥१५॥

धर्मिस्वरूपनिरूपणायाह–

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥

§ ६१. 'प्रमाणैः' प्रत्यक्षादिभिः प्रसिद्धो 'धर्मी' भवति यथाग्निमानयं देश इति। अत्र हि देशः प्रत्यक्षेण सिद्धः। एतेन–"**सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारो**[11][12][13] **बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन, न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते**" इति सौगतं मतं प्रतिक्षिपति। नहीयं विकल्पबुद्धिरन्तर्बहिर्वाऽनासादितालम्बना धर्मिणं व्यवस्थापयति, तद्वास्तवत्वे[14] तदाधार[15]स्साध्यसाधनयोरपि वास्तवत्वानुपपत्तेः तद्बुद्धेः[16] पारम्पर्येणापि[17] वस्तुव्यवस्थापकत्वायोगात्। ततो विकल्पेनान्येन[18] वा व्यवस्थापितः पर्वतादिर्विषयभावं[19] भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यते। तथा च सति प्रमाणसिद्धस्य धर्मिता युक्तैव ॥१६॥

---

१ साध्य०। २ कृतकत्वादिति हेतुः। ३ विचित्ररसप्रभवत्वात् अनेकरससंयोगवत्। ४ लतैकदेशत्वात् पत्रवत्। ५ रूपादत्यन्तव्यतिरिक्तत्वात् वायुवत्। ६ यथावस्थेन रूपेणाप्रतिभासमानत्वात् यदस्ति तद्यथावस्थितरूपेणाप्रतिभासमानमपि नास्ति यथा ज्ञानम्। ७ शरीरावयवत्वात् बाहुवत्। ८ वन्ध्यास्त्रीसमानाङ्गत्वात्। ९ चन्द्रशब्दवाच्यः शशी न भवति आकाशोदितत्वात् सूर्यवत्। १० –०लापेक्ष्यं –ता०। ११ साधनम्। १२ साध्यम्। १३ –०मेयस्य व्य०-ता०। १४ धर्मिणः। १५ स धर्मी आधारो ययोः। १६ तद्बुद्धेर्विकल्पज्ञानस्य। १७ निर्विकल्पकं प्राप्तविषयम्, तद्विकल्पोऽपि प्राप्तविषय इति। एवंलक्षणपारम्पर्येणापि। १८ निर्विकल्पेन। १९ विकल्पस्य विषयभावम्।

§ ६३. अपवादमाह–

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

§ ६४. नैकान्तेन प्रमाणसिद्ध एव धर्मी किंतु विकल्पबुद्धिप्रसिद्धोऽपि धर्मी[1] भवति। 'अपि' शब्देन प्रमाण-बुद्धिभ्यामुभाभ्यामपि सिद्धो धर्मी भवतीति दर्शयति। तत्र बुद्धिसिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सत्त्वमसत्त्वं च प्रमाणबलेन साध्यते यथा अस्ति[2] सर्वज्ञः, नास्ति षष्ठं भूतमिति[3]। 5

§ ६५. ननु धर्मिणि साक्षादसति भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वेनानुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्त्वासत्त्वयोः साध्यत्वम् ?। तदाह–

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
विरुद्धो धर्मोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ? ॥" [प्रमाणवा० १.१९२-३] इति। 10

§ ६६. नैवम्, मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात्। न च तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्, तदभ्युपेतमपि वैयात्याद्यो न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानस्य साफल्यात्। न च मानसज्ञानात् खरविषाणादेरपि सद्भावसम्भावनातोऽतिप्रसङ्गः, तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययविप्लावितसत्ताकवस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्। कथं तर्हि षष्ठभूतादेर्धर्मित्वमिति चेत्; धर्मिप्रयोगकाले बाधकप्रत्ययानुदयात्सत्त्वसम्भावनोपपत्तेः। न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वसंशीतिः, सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र संशयायोगात्। 15

§ ६७. उभयसिद्धो धर्मी यथा अनित्यः शब्द इति। नहि प्रत्यक्षेणार्वाग्दर्शिभिरनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दाः शक्या निश्चेतुमिति शब्दस्य प्रमाणबुद्ध्युभयसिद्धता तेनानित्यत्वादिर्धर्मः प्रसाध्यत इति ॥ १७ ॥ 20

§ ६८. ननु दृष्टान्तोऽप्यनुमानाङ्गतया प्रतीतः। तत् कथं साध्यसाधने एवानुमानाङ्गमुक्ते न दृष्टान्तः ?, इत्याह–

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥ १८ ॥

§ ६९. 'दृष्टान्तः' वक्ष्यमाणलक्षणो नानुमानस्य 'अङ्गम्' कारणम् ॥ १८ ॥ 25

§ ७०. कुत इत्याह–

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

§ ७१. दृष्टान्तरहितात्साध्यान्यथानुपपत्तिलक्षणात् 'साधनात्' अनुमानस्य साध्यप्रतिपत्तिलक्षणस्य भावान्न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गमिति।

---

१ धर्मी भवति किं–डे०। २ अविसंवादिज्योतिर्ज्ञानान्यथानुपपत्तेः। ३ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। ४ हेतूनाम्। ५ धर्मिणि। ६ हेतुरुभयधर्मः। ७ विरुद्धधर्मो –मु०। विरुद्धोऽधर्मो –डे०। ८ सत्ता सार्वज्ञी। ९ नैवम्––डे०। १० धर्मिणः। ११ सत्त्वम्। १२ विषयाणाम्। १३ सन्देहः। १४ सुखादिवच्च सत्त्व० मु–पा०। १५ प्रमातृभिः। १६ –०रनियतदिग्दर्शिभिर्नियतदिग्देश –डे०। १७ किं सिद्धम् ?। १८ प्रसाध्य इति–ता०। १९ अष्टादशमेकोनविंशतितमं च सूत्रद्वयं ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते। अत्रास्माकमपि द्वयोरेकत्वं सुचारु भाति–सम्पा०।

§ ७२. स[1] हि साध्यप्रतिपत्तौ वा, अविनाभावग्रहणे वा, व्याप्तिस्मरणे वोपयुज्येत ? । न तावत् प्रथमः पक्षः, यथोक्तादेव हेतोः साध्यप्रतिपत्तेरुपपत्तेः । नापि द्वितीयः, विपक्षे[2] बाधकादेवाविनाभावग्रहणात् । किंच, व्यक्तिरूपो दृष्टान्तः । स कथं साकल्येन व्याप्तिं गमयेत् ? । व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं दृष्टान्तान्तरं मृग्यम् । तस्यापि व्यक्तिरूपत्वेन साकल्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वादपरापरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् । नापि तृतीयः, गृहीतसम्बन्धस्य[3] साधनदर्शनादेव व्याप्तिस्मृतेः । अगृहीतसम्बन्धस्य[4] दृष्टान्ते[5]ऽप्यस्मरणात् उपलब्धि[6]पूर्वकत्वात् स्मरणस्येति ॥ १९ ॥

§ ७३. दृष्टान्तस्य लक्षणमाह–

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

§ ७४. 'स' इति दृष्टान्तो लक्ष्यं 'व्याप्तिः'लक्षितरूपा 'दर्शनम्' परस्मै प्रतिपादनं तस्य 'भूमिः'आश्रय इति लक्षणम् ।

§ ७५ ननु यदि दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गं न भवति तर्हि किमर्थं लक्ष्यते ? । उच्यते । परार्थानुमाने बोध्या[7]नुरोधादापवादिकस्योदाहरणस्यानुज्ञास्यमानत्वात्[8] । तस्य[9] च दृष्टान्ताभिधानरूपत्वादुपपन्नं दृष्टान्तस्य लक्षणम् । प्रमातुरपि कस्यचित् दृष्टान्तदृष्टबहिर्व्याप्तिबलेनान्तर्व्याप्तिप्रतिपत्तिर्भवतीति स्वार्थानुमानपर्वण्य[10]पि दृष्टान्तलक्षणं नानुपपन्नम् ॥ २० ॥

§ ७६. तद्विभागमाह–

स[11] साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥

§ ७७. स दृष्टान्तः 'साधर्म्येण' अन्वयेन 'वैधर्म्येण' च व्यतिरेकेण भवतीति द्विप्रकारः ॥२१॥

§ ७८. साधर्म्यदृष्टान्तं विभजते–

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

§ ७९. साधन[12]धर्मेण प्रयुक्तो[13] न तु काकतालीयो यः साध्य[14]धर्मस्तद्वान् 'साधर्म्यदृष्टान्तः' । यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये घटादिः ॥२२॥

§ ८०. वैधर्म्यदृष्टान्तं व्याचष्टे–

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः[15] ॥२३॥

§ ८१. साध्यधर्मनिवृत्त्या प्रयुक्ता न यथाकथञ्चित् या साधनधर्मनिवृत्तिः तद्वान् 'वैधर्म्यदृष्टान्तः' । यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये आकाशादिरिति ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

---

१ दृष्टान्तः । २ वर्तमानस्य हेतोः । ३ पुंसः । ४ पुंसः । ५ सति । ६ दर्शनम् । ७ शिष्य० । ८ अनुमंस्यमानत्वात् । ९ उदाहरणस्य । १० प्रस्तावे । ११ ता–मू०–सं–मू०–प्रत्योः सवृत्तिकताडपत्रीयसूत्रे च 'स' नास्ति । १२ साधनमेव धर्मः । १३ कृतः । १४ साध्यो धर्म०–डे० । १५ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् । प्रथमोऽध्यायः समाप्तः–ता–मू० । इत्या···द्वितीयाह्निकम् । प्रथमाध्यायः—सं–मू० ।

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

§१. लक्षितं स्वार्थमनुमानमिदानीं क्रमप्राप्तं परार्थमनुमानं लक्षयति–

यथोक्त[1]साधनाभिधानजः परार्थम् ॥ १ ॥

§२. 'यथोक्तम्[2]' स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणं यत् 'साधनम्' तस्याभिधानम्। अभिधीयते परस्मै प्रतिपाद्यते अनेनेति 'अभिधानम्' वचनम्, तस्माज्जातः सम्यगर्थनिर्णयः 'परार्थम्' अनुमानं परोपदेशापेक्षं साध्यविज्ञानमित्यर्थः ॥१॥

§३. ननु वचनं परार्थमनुमानमित्याहुस्तत्कथमित्याह–

वचनमुपचारात् ॥ २ ॥

§४. अचेतनं हि वचनं न साक्षात्प्रमितिफलहेतुरिति न निरुपचरितप्रमाणभावभाजनम्, मुख्यानुमानहेतुत्वेन तूपचरितानुमानाभिधानपात्रतां[3] प्रतिपद्यते। उपचारश्चात्र कारणे कार्यस्य। यथोक्तसाधनाभिधानात् तद्विषया स्मृतिरुत्पद्यते, स्मृतेश्चानुमानम्, तस्मादनुमानस्य परम्परया यथोक्तसाधनाभिधानं कारणम्, तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। कार्ये वा प्रतिपादकानुमानजन्ये वचने कारणस्यानुमानस्योपचारः। वचनमौपचारिकमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः।

§५. इह च मुख्यार्थबाधे प्रयोजने निमित्ते चोप[4]चारः प्रवर्तते। तत्र मुख्योऽर्थः साक्षात्प्रमितिफलः सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणश[5]ब्दसमानाधिकरणस्य परार्थानुमानशब्दस्य, तस्य[6] बाधा, वचनस्य निर्णयत्वानुपपत्तेः। प्रयोजनम् अनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, निर्णयात्मन्य[7]नंशे तद्[8]व्यवहारानुपपत्तेः। निमित्तं[9] तु निर्णयात्मकानुमानहेतुत्वं वचनस्येति ॥ २ ॥

तद् द्वेधा ॥ ३ ॥

§६. 'तद्' वचनात्मकं परार्थानुमानं 'द्वेधा' द्विप्रकारम् ॥ ३ ॥

§७. प्रकारभेदमाह–

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥ ४ ॥

---

१ प्रथमं द्वितीयं च सूत्रद्वयं ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते। २ यथा उक्तम्। ३ अनुमानशब्दवाच्यताम्। ४ मुख्यार्थस्योपचारः। ५ –० शब्दः समा –०डे०। ६ अग्निर्माणवक इव इत्यत्र मुख्य .र्थ दाहकत्वम्, वर्जनीयत्वबुद्धिः प्रयोजनम्, शाब्दप्रवृत्तौ निमित्तमुपतापकत्वम्। ७ परार्थानुमाने। ८ पूर्वोक्त०। ९ प्रवृत्तौ।

§८. 'तथा' साध्ये सत्येव 'उपपत्तिः' साधनस्येत्येकः प्रकारः । 'अन्यथा' साध्याभावे 'अनुपपत्तिः'चेति द्वितीयः प्रकारः । यथा अग्निमानयं पर्वतः तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः, अन्यथा धूमवत्त्वानुपपत्तेर्वा । एतावन्मात्रकृतः परार्थानुमानस्य भेदो न पारमार्थिकः स इति भेदपदेन दर्शयति ॥ ४ ॥

5 §९. एतदेवाह-

नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥ ५ ॥

§१०. 'न' 'अनयोः'तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपयोः प्रयोगप्रकारयोः 'तात्पर्ये' 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्येवंलक्षणे तत्परत्वे, 'भेदः' विशेषः । एतदुक्तं भवति अन्यदभिधेयं शब्दस्यान्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम् । तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते,
10 प्रकाश्यं त्वभिन्नम्, अन्वये कथिते व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिरित्युभयत्रापि साधनस्य साध्याविनाभावः प्रकाश्यते । न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र तात्पर्यभेदोऽपि । नहि पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदोऽस्तीति तात्पर्येणापि भेत्तव्यमिति भावः ॥५॥

§११. तात्पर्याभेदस्यैव फलमाह-

15 अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥ ६ ॥

§१२. यत एव नानयोस्तात्पर्ये भेदः 'अत एव नोभयोः' तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्त्योर्युगपत् 'प्रयोगः' युक्तः । व्याप्त्युपदर्शनाय हि तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतोः प्रयोगः क्रियते । व्याप्त्युपदर्शनं चैकयैव सिद्धमिति विफलो द्वयोः प्रयोगः । यदाह-

"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
20 **द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥"** [न्याया० १७]

§१३. ननु यद्येकेनैव प्रयोगेण हेतोर्व्याप्त्युपदर्शनं कृतमिति कृतं विफलेन द्वितीयप्रयोगेण; तर्हि प्रतिज्ञाया अपि मा भूत् प्रयोगो विफलत्वात् । नहि प्रतिज्ञामात्रात् कंश्चिदर्थं प्रतिपद्यते, तथा सति हि विप्रतिपत्तिरेव न स्यादित्याह-

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

25 §१४. 'विषयः' यत्र तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा हेतुः स्वसाध्यसाधनाय प्रार्थ्यते, तस्य 'उपदर्शनम्' परप्रतीतावारोपणं तदर्थं पुनः 'प्रतिज्ञा' प्रयोक्तव्येति शेषः ।

१ अग्निमत्त्वे सत्येव । २ -०क इति ०-डे० । ३ डे० प्रतौ 'न' नास्ति । ४ यः शब्दस्य परार्थस्तत् तात्पर्यमिति भावः । ५ यः परः प्रकृष्टोऽर्थोऽस्य । ६ शब्दस्यार्थः -ता० । ७ (?) यस्तथोपपत्त्या विधिर्वाच्यः अन्यथानुपपत्त्या तु निषेधः । ८ निति(?) शेषः । ९ सूत्रार्थस्य । १० क्वचिदर्थ-ता० । ११ प्रतिज्ञामात्रादर्थप्रतिपत्तेः । १२ विषयप्रद० -ता-मू० । १३ स्वसाध०-डे० ।

§ १५. अयमर्थः–परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयता प्रेक्षावता तदेव परे बोधयितव्या यद्बुभुत्सन्ते । तथासत्यनेन बुभुत्सिताभिधायिना परे बोधिता भवन्ति । न खल्वश्वान् पृष्टो गवयान् ब्रुवाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति । अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम ?। यथा च शैक्षो भिक्षुणाचचक्षे–भोः शैक्ष, पिण्ड[1]पा[2]तमाहरेति । स–एवमाच[3]रामीत्यनभिधाय यदा [4]तदर्थं प्रयतते तदाऽस्मै क्रुध्यति भिक्षुः–आः शिष्याभास भिक्षुखेट, अस्मानवधीरयसीति[5] वि[6]ब्रुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय अनित्यः शब्द इति विषय[7]मनुपदर्श्य यदेव किञ्चिदुच्यते–कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा, कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा, तत् सर्वमस्या[8]नपेक्षितमापा[9]ततोऽसम्बद्धाभिधानबुद्ध्या; तथा चान[10]वहितो न बोद्धुमर्हतीति ।

§ १६. यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेत्; न, परस्पराश्रयात् । अवधाने हि सत्य[11]तो[12]ऽर्थनिश्चयः, तस्मा[13]च्चावधानमिति । न च पर्षत्प्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवा[14]दिनौ यदे[15]तद्वचनसम्बन्धाय प्रयतिष्येते । तथा[16]सति न हेत्वाद्यपेक्षे[17]याताम्, [18]तद्व[19]चनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षिते उक्ते कुत इत्याशङ्कायां कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेः कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेर्वेत्युपतिष्ठते, तदिदं विषयोपदर्शनार्थत्वं प्रतिज्ञाया इति ॥७॥

§ १७. ननु यत् कृतकं तदनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इत्युक्ते गम्यत एतद् अनित्यः शब्द इति, तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात्, तथापि तद्वचने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, "[20]**अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम्**" [न्यायसू० ५. २. १५] । आह च–**डिण्डि[21]करागं परित्यज्याक्षिणी[22] निर्मील्य चिन्तय तावत् किमियता[23] [24]प्रतीतिः स्यान्नवेति, [25]भावे किं प्रपञ्चमालया**" [हेतु० परि० १] इत्याह–

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥ ८ ॥

§ १८. साध्यमेव धर्मस्तस्याधारस्तस्य सन्देहस्तदपनोदाय–यः कृतकः सोऽनित्य इत्युक्तेऽपि धर्मिविषयसन्देह एव–किमनित्यः शब्दो घटो वेति ?, तन्निराकरणाय गम्यमानस्यापि साध्यस्य[26] निर्देशो युक्तः, साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोप-

१ भैक्षान्नम् । २ –०पानमा०–डे० । ३ करोमि । ४ पिण्डपानार्थम् । ५ –०ति ब्रुवा०–ता० । ६ निन्दन् । ७ शब्दलक्षणम् । ८ प्रतिपाद्यस्य । ९ प्रथमतः । १० असावधानः । ११ वचनात् । १२ –०ऽर्थे नि०–डे० । १३ अर्थनिश्चयात् । १४ प्रमाणीकृतो वादी यकाभ्याम् । १५ वादि० । १६ प्रमाणीकृतवादित्वेऽपि सति । १७ पर्षत्प्रतिवादिनौ । १८ तच्छब्देन वादी । १९ तद्वचना०–ता० । २० सामर्थ्यात् । २१ डिण्डिको नाम रक्तवर्णो मूषकविशेषः । तद्वत् रागं रक्तिमानं नेत्रगतां परित्यज्य नेत्रे विमलीकृत्येत्यर्थः–मु–टि० । डिण्डिका हि प्रथमनामलिखने विवादं कुर्वन्ति । २२ निर्मील्य–डे० । २३–०यता मदुक्तेन प्र०–डे० । २४ अनित्यत्वस्य । २५ प्रतीतिभावे । २६ सिषाधयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः ।

संहारवचनवत् । यथा हि साध्यव्याप्तसाधनदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थम्–कृतकश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारवचनं तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय प्रतिज्ञावचनमप्युपपद्यत एवेति ॥ ८ ॥

§ १९. ननु प्रयोगं प्रति विप्रतिपद्यन्ते वादिनः, तथाहि–प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानीति 5 त्र्यवयवमनुमानमिति साङ्ख्याः । सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसकाः । सहनिगमनेन पञ्चावयवमिति नैयायिकाः । तदेवं विप्रतिपत्तौ कीदृशोऽनुमानप्रयोग इत्याह–

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥ ९ ॥

§ २०. 'एतावान्' एव यदुत तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च । 10 'प्रेक्षाय' प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः 'प्रयोगः' न त्वधिको यथाहुः साङ्ख्यादयः, नापि हीनो यथाहुः सौगताः–"**विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः**" [प्रमाणवा० १. २८] इति ॥ ९ ॥

§ २१. ननु परार्थप्रवृत्तैः कारुणिकैर्यथाकथञ्चित् परे प्रतिबोधयितव्या नासभ्यवस्थोपन्यासैरमीषां प्रतिभाभङ्गः करणीयः, तत्किमुच्यते एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ?, इत्या- 15 शङ्क्य द्वितीयमपि प्रयोगक्रममुपदर्शयति–

बोध्यानुरोधात्प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

§ २२. 'बोध्यः' शिष्यस्तस्य 'अनुरोधः' तदवबोधनप्रतिज्ञापारतन्त्र्यं तस्मात्, प्रतिज्ञादीनि पञ्चापि प्रयोक्तव्यानि । एतानि चावयवसञ्ज्ञया प्रोच्यन्ते । यदक्षपादः–"**प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः**" [न्यायसू० १. १. ३२] इति । 'अपि' शब्दात् प्रति- 20 ज्ञादीनां शुद्धयश्च पञ्च बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्याः । यच्छ्रीभद्रबाहुस्वामिपूज्यपादाः–

"**कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुट्ठं ति ॥**"

[दश० नि० ५०]

§ २३. तत्र प्रतिज्ञाया लक्षणमाह–

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

25 § २४. साध्यं सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी, निर्दिश्यते अनेनेति निर्देशो वचनम्, साध्यस्य निर्देशः 'साध्यनिर्देशः' 'प्रतिज्ञा' प्रतिज्ञायतेऽनयेति कृत्वा, यथा अयं प्रदेशोऽग्निमानिति ॥ ११ ॥

§ २५. हेतुं लक्षयति–

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥ १२ ॥

१ तथाहि–डे० । २ सामान्यतः साधनधर्माधारावव(ग)तिः । ३ –०ज्ञानवच०–डे० । ४ यदाहुः–डे० । ५ "तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः । ख्याप्येते" । ६ परे बोध० -डे० । ७ परेषाम् । ८ प्रतिभङ्गः–डे० । प्रतीतिभङ्गः –मु० । ९ –०वान् प्रयो०–ता० ।

§ २६. साधनत्वाभिव्यञ्जिका विभक्तिः पञ्चमी तृतीया वा तद्[1]न्तम्, 'साधनस्य' उक्तलक्षणस्य 'वचनम्' हेतुः । धूम इत्यादिरूपस्य हेतुत्वनिराकरणाय प्रथमं पदम् । अव्या[2]प्तव[3]चनहेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयमिति । स द्विविधस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्याम्, तद्यथा धूमस्य तथैवोपपत्तेर्धूमस्यान्यथानुपपत्तेर्वेति ॥ १२ ॥

§ २७. उदाहरणं लक्षयति–

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

§ २८. 'दृष्टान्तः' उक्तलक्षणस्तत्प्रतिपादकं 'वचनम्' 'उदाहरणम्' तदपि द्विविधं दृष्टान्तभेदात् । साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं साधर्म्योदाहरणम्, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसप्रदेशः । साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं वैधर्म्योदाहरणम्, यथा योऽग्निनिवृत्तिमान् स धूमनिवृत्तिमान् यथा जलाशयप्रदेश इति ॥१३॥

§ २९ उपनयलक्षणमाह–

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

§ ३०. दृष्टान्तधर्मिणि [4]विसृ[5]तस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः 'उपसंहारः' सः 'उपनयः' उप[6]संह्रियतेऽनेनोपनीय[7]तेऽनेनेति वचनरूपः, यथा धूमवांश्चायमिति ॥१४॥

§ ३१. निगमनं लक्षयति–

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

§ ३२. साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगम्[8]यते पूर्वेषामवयवानाम[9]र्थोऽनेनेति 'निगमनम्', यथा तस्मादग्निमानिति ।

§ ३३. एते नान्[10]तरीयक[11]त्वप्रतिपादका वाक्यैकदेशरूपाः पञ्चावयवाः । एतेषामेव शुद्धयः पञ्च । यतो न शङ्[12]कितसमारोपितदोषाः पञ्चाप्यवयवाः स्वां स्वामनादीनवामर्थविषयां धियमाधातुमल[13]मिति प्रतिज्ञादीनां तं तं दोषमाशङ्क्य [14]तत्परिहाररूपाः पञ्चैव शुद्धयः प्रयोक्तव्या इति दशावयवमिदमनुमानवाक्यं बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्यमिति ॥१५॥

§ ३४. इह शास्त्रे येषां लक्षणमुक्तं[15] ते तल्लक्षणाभावे तदाभासाः सुप्रसिद्धा एव । यथा प्रमाणसामान्यलक्षणाभावे संशयविपर्ययानध्यवसायाः प्रमाणाभासाः, संशयादिलक्षणाभावे संशयाद्याभासाः, प्रत्यक्षलक्षणाभावे प्रत्यक्षाभा[16]सम्, परोक्षान्तर्गतानां स्मृत्यादीनां स्वस्वलक्षणाभावे तत्तदाभासतेत्यादि । एवं हेतूनामपि स्वलक्षणाभावे हेत्वाभासता

१ तदन्तसा०–डे० । २ अव्याप्तस्य हेतोर्वचनं तस्य हेतुत्वम् । ३ –०चने हे०–डे० । ४ विस्तृतस्य । ५ विप्रसृतस्य–डे० । ६ प्रस्तुते धर्मिणि ढौक्यते साधनधर्मः । ७ उपसंहारव्य(व्यु)त्पत्तिरुपनयव्युत्पत्तिः । ८ निश्चीयते । ९ प्रयोजनम् । १० सा(ना)न्तरीयकोऽविनाभावी साधनलक्षणोऽर्थः । ११ –०कत्वं प्रति०– डे० । १२ शङ्किताः सन्दिग्धाः समारोपिताश्च दोषा एषाम् । १३ समर्थाः । १४ तत्तत्प०–डे० । १५ –० क्त तल्ल०–डे० । १६ –० भासः परो० –मु० ।

सुज्ञानैव। केवलं हेत्वाभासानां सङ्ख्यानियमः प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं च नेषत्करप्रतिपत्तीति तल्लक्षणार्थमाह–

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

§ ३५. अहेतवो हेतुवदाभासमानाः 'हेत्वाभासाः' असिद्धादयः। यद्यपि साधनदोषा एवैते अदुष्टे साधने तदभावात् तथापि साधनाभिधायके हेतावुपचारात् पूर्वाचार्यैरभिहितास्ततस्तत्प्रसिद्धिबाधामनाश्रयद्भिरस्माभिरपि हेतुदोषत्वेनैवोच्यन्त इति।

§ ३६. 'त्रयः' इति सङ्ख्यान्तरव्यवच्छेदार्थम्। तेन कालातीत-प्रकरणसमयोर्व्यवच्छेदः। तत्र कालातीतस्य पक्षदोषेष्वन्तर्भावः। **"प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः"** इति हि तस्य लक्षणमिति, यथा अनुष्णस्तेजोऽवयवी कृतकत्वाद् घटवदिति। प्रकरणसमस्तु न सम्भवत्येव; नह्यस्ति सम्भवो यथोक्तलक्षणेऽनुमाने प्रयुक्तेऽदूषिते वाऽनुमानान्तरस्य। यत्तूदाहरणम्–अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् इत्येकेनोक्ते द्वितीय आह–नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादिति। तदतीवासाम्प्रतम्। को हि चतुरङ्गसभायां वादी प्रतिवादी वैवंविधमसम्बद्धमनुन्मत्तोऽभिदधीतेति ?॥ १६ ॥

§ ३७. तत्रासिद्धस्य लक्षणमाह–

नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ॥ १७ ॥

§ ३८. 'असन्' अविद्यमानो 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्यासिद्धौ 'असिद्धः' हेत्वाभासः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः। यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति। अपक्षधर्मत्वादयमसिद्ध इति न मन्तव्यमित्याह–'नान्यथानुपपन्नः' इति। अन्यथानुपपत्तिरूपहेतुलक्षणविरहादयमसिद्धो नापक्षधर्मत्वात्। नहि पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं तदभावेऽप्यन्यथानुपपत्तिबलाद्धेतुत्वोपपत्तेरित्युक्तप्रायम्। भट्टोऽप्याह–

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥" इति।

§ ३९. तथा 'अनिश्चितसत्त्वः' सन्दिग्धसत्त्वः 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्य सन्देहेऽप्यसिद्धो हेत्वाभासः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः। यथा बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमाना धूम-

---

१ ईषत्करा सुकरा प्रतीतिर्यस्य। २ पूर्वाचार्य०। ३ कालमतीतोऽतिक्रान्तः। ४–०धितधर्मिनि०–डे०। ५–०षिते चानु०–ता०। ६ ०दी चैवं०–डे०। ७ ०स्यासिद्धावपि सिद्धो हे०–ता०। ८ पक्षधर्मतां विनाप्यन्यथानुपपन्नत्वेनैव हेतुर्भवति। यथा पर्वतस्योपरि वृष्टो मेघो नदीपूराम्यथानुपपत्तेरित्यादावित्याशङ्क्याह। ९ अयं पुत्रो ब्राह्मणः पित्रोर्ब्राह्मणत्वादिति पुत्रे ब्राह्मणताया अनुमानम्।

लताग्निसिद्धावुपदिश्यमाना, यथा[1] चात्मनः सिद्धावपि सर्वगतत्वे साध्ये सर्वत्रोपलभ्य-मान[2]गुणत्व[3]म्, प्रमाणाभावादिति ॥ १७ ॥

§ ४०. असिद्धप्रभेदानाह–

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥ १८ ॥

§ ४१. 'वादी' पूर्वपक्षस्थितः 'प्रतिवादी' उत्तरपक्षस्थितः उभयं द्वावेव वादिप्रतिवा- 5
दिनौ । तद्भेदादसिद्धस्य 'भेदः' । तत्र वाद्यसिद्धो यथा परिणामी शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् ।
अयं साङ्ख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धः, तन्मते उत्पत्तिमत्त्वस्यानभ्युपेतत्वात्, नासदुत्प-
द्यते नापि सद्विनश्यत्युत्पादविनाशयोराविर्भावतिरोभावरूपत्वादिति तत्सिद्धान्ता[4]त् ।
चेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणात् । अत्र मरणं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणं तरुषु
बौद्धस्य प्रतिवादिनोऽसिद्धम् । उभयासिद्धस्तु चाक्षुषत्वमुक्तमेव । एवं सन्दिग्धासिद्धो[5]- 10
ऽपि वादिप्रतिवाद्युभयभेदात् त्रिविधो बोद्धव्यः ॥ १८ ॥

§ ४२. नन्वन्येऽपि विशेष्यासिद्धादयो हेत्वाभासाः कैश्चिदिष्यन्ते ते कस्मान्नोक्ता इत्याह–

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥ १९ ॥

§ ४३. 'एष्वेव' वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धेष्वेव । तत्र विशेष्यासिद्धादय उदाह्रियन्ते । 15
विशेष्यासिद्धो[6] यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात् । विशेषणासिद्धो
यथा अनित्यः शब्द[7]श्चाक्षुषत्वे सति सामान्यविशेषवत्त्वात् । भागासिद्धो[8] यथा अनित्यः
शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । आश्रयासिद्धो यथा अस्ति प्रधानं[9] विश्वपरिणामित्वात् ।
आश्रयैकदेशासिद्धो[10] यथा नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः अकृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो
यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा अनित्यः 20
शब्दः सामान्यवत्त्वे[11] सति कृतकत्वात् । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः
कपिलः पुरुषत्वे[12] सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्दिग्धविशेषणासिद्धो यथा अद्यापि
रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वादित्यादि । एतेऽसिद्धभेदा
यदान्यतरवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा वाद्यसिद्धाः प्रतिवाद्यसिद्धा वा भवन्ति । यदो-
भयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदोभयासिद्धा भवन्ति ॥ १९ ॥ 25

§ ४४. विरुद्धस्य लक्षणमाह–

विपरीतनियमोऽन्यथैवोप[13]पद्यमानो विरुद्धः ॥ २० ॥

---

१ यथा वात्म०–डे । २ आत्मा सर्वगतः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् । ३ –०गुणत्वं सन्दिग्धम् । ४ –०न्ताच्च । चेत०–डे० । ५ न केवलं स्वरूपासिद्धो । ६ "आहिताग्न्यादिषु" [हैमश० ३.१.१५३] ७ आत्मा व्यवच्छिन्नः । ८ भागे एकदेशे असिद्धः प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गर्जिते अभावात् । ९ सामान्यं व्यवच्छिन्नम् । १० नैयायिकस्य । ११ ननु सामान्यवत्त्वे सतीति विशेषणं प्रध्वंसाभावव्यवच्छेदार्थं भविष्यतीति, नैवम्, बौद्धमीमांसकौ वादिप्रतिवादिनौ स्तस्तयोश्च मतेऽभाव एव नास्तीति । १२ दृषदादिव्यवच्छेदाय पुरुषत्वे सतीत्युक्तम् । १३ साध्यं विनैवोपपद्यमानो विपरीतनियमत्वात् ।

§ ४५. 'विपरीतः' यथोक्ता[1]द्विपर्य[2]स्तो 'नियमः' अविनाभावो यस्य स तथा, तस्यैवोपदर्शनम् 'अन्यथैवोपपद्यमानः' इति। यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्, परार्था[3]श्चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयना[4]शनाद्यङ्गवदित्यत्रासंहतपारार्थ्ये साध्ये चक्षुरादीनां संहतत्वं[5] विरुद्धम्[6]। बुद्धिमत्पूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राशरीरसर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कार्यत्वं विरुद्धसाधनाद्विरुद्धम्।

§ ४६. अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्गृहीताः। यथा सति सपक्षे चत्वारो भेदाः। पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्[7]। पक्षव्यापको विप[8]क्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा नित्या पृथ्वी[9] कृतकत्वात्। पक्षविपक्षैक[10]देशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्। असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविप[11]क्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात्। पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्ये[12]न्द्रियग्राह्यत्वात्। पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दोऽपदा[13]त्मकत्वात्। पक्षविपक्षैक[14]देशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्। एषु च चतुर्षु विरुद्धता, पक्षैकदेशवृत्तिषु चतुर्षु पुनरसिद्धता[15] विरुद्धता[16] चेत्युभयसमावेश[17] इति ॥ २० ॥

§ ४७. अनैकान्तिकस्य लक्षणमाह—

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपप[18]द्यमानोऽनैकान्तिकः ॥२१॥

§ ४८. 'निय[19]मः' अविनाभावस्तस्य 'असिद्धौ' 'अनैकान्तिकः' यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्[20], प्रमेयत्वं नित्येऽप्याकाशादावस्तीति। सन्देहे यथा असर्वज्ञः कश्चिद् रागादिमान् वा वक्तृत्वात्। स्वभावविप्रकृष्टाभ्यां हि सर्वज्ञत्ववीतरागत्वाभ्यां न वक्तृत्वस्य विरोधः सिद्धः, न च रागादिकार्यं वचनमिति सन्दिग्धोऽन्वयः। ये चान्येऽन्यैरनैकान्तिकभेदा उदाहृतास्त उक्तलक्षण एवान्तर्भवन्ति। पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्

---

१ साध्याविनाभावलक्षणात्। २ साध्यविरुद्धेनाविनाभावात्। ३ आत्मार्थाः। ४ –॰नासना॰ –डे॰। ५सङ्घातत्वम्। ६ संहतपरार्थस्यैव साधकत्वादस्य। ७ कार्यत्वं हि पक्षे शब्दे विपक्षे चानित्ये घटादौ दृष्टम्। ८ अनित्येषु घटादिषु हेतुरस्ति द्व्यणुकादिषु सुखदुःखादिषु नास्ति इति। ९ परमाणुरूपायां पृथिव्यां कृतकत्वं नास्ति कार्यरूपायां अस्ति इति पक्षैकदेशवृत्तिता। १० देशशब्दो(दे)ऽप्रयत्नानन्तरीयकविद्युति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नास्ति इति पक्षैकदेशः। ११ शब्दमन्तरेणान्यस्य विशेषगुणस्याऽसम्भवात् सपक्षाभावः। १२ संयोगादयः सामान्यगुणाः। आकाशसंयोगादिषु बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्ति न महत्त्वादिषु। १३ मेघादिध्वनीनामपदात्मकत्वमिति पक्षैकदेशवृत्तिता, संयोगादिषु अपदात्मकतैव। १४ विपक्षे संयोगादौ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति महत्त्वे तु नास्ति। १५ पक्षैकदेशे विद्यमानत्वात्। १६ –॰ता वेत्यु॰ –ता॰। १७ –॰मादेश –ता॰। १८ न केवलं साध्ये सति साध्यं विनाऽपित्यपरर्थः(विनापि इत्यपेरर्थः) १९ ऽ..येन सह। २० प्रमाणपरिच्छेद्यत्वात्।

पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा[1] गौरयं विषाणित्वात् । पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा[2][3] नायं गौः विषाणित्वात् । पक्षव्यापकः सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा[4][5] अनित्यः शब्दः प्रत्यक्षत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षविपक्षव्यापको[6] यथा न द्रव्याण्याकाशकालदिगात्ममनांसि क्षणिकविशेषगुणरहितत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः[7] सपक्षव्यापी यथा न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापी यथा द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्या पृथ्वी प्रत्यक्षत्वा[8]दिति ॥ २१ ॥

§ ४९. उदाहरणदोषानाह–

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

§ ५०. परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात् तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते । दृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वात् प्रत्येकम् 'अष्टावष्टौ' दृष्टान्तवदाभासमानाः 'दृष्टान्ताभासाः' भवन्ति ॥ २२ ॥

§ ५१. तानेवोदाहरति विभजति च–

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्म-परमाणु-घटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥

§ ५२. नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन् प्रयोगे कर्मादयो यथासङ्ख्यं साध्यादिविकलाः । तत्र कर्मवदिति साध्यविकलः, अनित्यत्वात् कर्मणः । परमाणुवदिति साधनविकलः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम् । घटवदिति साध्यसाधनोभयविकलः, अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्येति । इति त्रयः[9] साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥२३॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥ २४ ॥

§ ५३. नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वादित्यस्मिन्नेव प्रयोगे 'परमाणुकर्माकाशाः' साध्यसाधनोभयाव्यतिरेकिणो दृष्टान्ताभासा भवन्ति । यन्नित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति यथा परमाणुरिति साध्याव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणूनाम् । यथा कर्मेति साधनाव्यावृत्तः, अमूर्तत्वात् कर्मणः । यथाकाशमित्युभयाव्यावृत्तः, नित्यत्वादमूर्त्तत्वाच्चाकाशस्येति त्रय एव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥ २४ ॥

---

१ अश्वादौ विषाणित्वं नास्ति महिषादौ त्वस्ति इति विपक्षैकदेशवृत्तित्वम् । २ शृङ्गवत्त्वात् । ३ अजं दृष्ट्वा वक्ति । महिषादावस्ति अश्वादौ तु नास्ति । ४ द्व्यणुकादि न प्रत्यक्षं घटादिकं तु प्रत्यक्षम् । ५ नित्यं सामान्यं प्रत्यक्षमाकाशं तु न । ६ आत्माकाशौ सुखशब्दादिक्षणिकविशेषगुणयुक्तौ, [विपक्षाः] पृथिव्यादयः । भुवो गन्धः अपां स्नेहोऽक्षणिकविशेषगुणौ । ७ आकाशोऽमूर्तः पृथिवी मूर्ता । ८ परमाणुरूपा पृथिवी न प्रत्यक्षा कार्यरूपा तु प्रत्यक्षेति पक्षैक[देशः], अत्तेजोद्व्यणुकेषु सपक्षेषु प्रत्यक्षत्वाभावः, नित्येषु सामान्यादिषु प्रत्यक्षत्वम्, खे तु न । ९ त्रयोऽपि सा०–मु–पा० ।

§ ५४. तथा-

वचनाद्रागे रागान्मरणधर्म[1]किञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वय-व्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥ २५ ॥

§ ५५. सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयान्वयाः सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयव्यतिरेकाश्च त्रयस्त्रयो दृष्टान्ताभासा भवन्ति । के इत्याह-'रथ्यापुरुषादयः' । कस्मिन् साध्ये ? । 'रागे' 'मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञ[2]त्वयोः' च । कस्मादित्याह-'वच[3]नात्' 'रागात्' च । तत्र सन्दिग्धसाध्यधर्मान्वयो यथा विवक्षितः पुरुषविशेषो रागी वचनाद् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनधर्मान्वयो यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोभयधर्मान्वयो यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवदिति । एषु परचेतोवृत्तीनां दुरधिगमत्वेन साधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सत्त्वं सन्दिग्धम् । तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेको यथा रा[4]गी वचनात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा मरण[5]धर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । एषु[6] पूर्ववत् परचेतोवृत्तेर्दुरन्वयत्वाद्वैधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोरसत्त्वं सन्दिग्धमिति ॥ २५ ॥

§ ५६. तथा-

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥ २६ ॥

§ ५७. 'विपरीतान्वयः' 'विपरीतव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ भवतः । तत्र विपरीतान्वयो यथा यत् कृतकं तदनित्यमिति वक्तव्ये यदनित्यं तत् कृतकं यथा घट इत्याह । विपरीतव्यतिरेको यथा अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति वक्तव्ये कृतकत्वाभावे न भवत्येवानित्यत्वं यथाकाश इत्याह । साधनधर्मानुवादेन साध्यधर्मस्य विधानमित्यन्वयः । साध्यधर्मव्यावृत्त्यनुवादेन साधनधर्मव्यावृत्तिविधानमिति व्यतिरेकः । तयोरन्यथा[7]भावे विपरीतत्वम् । यदाह—

> **"साध्यानुवादाल्लिङ्गस्य विपरीतान्[8]वयो विधिः ।**
> **हेत्वभावे त्वसत्सा[9]ध्यं व्यतिरेकविपर्यये[10] ॥" इति ॥२६॥**

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥ २७ ॥

§ ५८. 'अप्रदर्शितान्वयः' 'अप्रदर्शितव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ । एतौ च

१-०धर्मत्वकि०-डे० । २ साध्ययोः । ३ यथासंख्येन । ४ यो यो रागी न भवति स स वक्तापि न भवति । रथ्यानरे केनाऽपि प्रकारेण मूर्तत्वादिना वचनाभावे निश्चिते रागित्वं सन्दिह्यते । ५ मरणापवादिनं साङ्ख्यं प्रति जैनो वक्ति । ६ प्रयोगेषु । ७-०भावो वि०-डे० । ८-०न्वये वि०-ता० । ९ कथयति । १०-०पर्यय इ०-डे० ।

प्रमाणस्यानुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेष्वसति प्रमाणे तयोरसिद्धेरिति । साध्यविकलसाधनविकलोभयविकलाः, सन्दिग्धसाध्यान्वयसन्दिग्धसाधनान्वयसन्दिग्धोभयान्वयाः, विपरीतान्वयः, अप्रदर्शितान्वयश्चेत्यष्टौ साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः । साध्याव्यावृत्तसाधनाव्यावृत्तोभयाव्यावृत्ताः, सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्तिसन्दिग्धसाधनव्यावृत्तिसन्दिग्धोभयव्यावृत्तयः, विपरीतव्यतिरेकः, अप्रदर्शितव्यतिरेकश्चेत्यष्टावेव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासा भवन्ति । 5

§ ५९. नन्वनन्वयाव्यतिरेकावपि कैश्चिद् दृष्टान्ताभासावुक्तौ, यथा रागादिमानयं वचनात् । अत्र साधर्म्यदृष्टान्ते आत्मनि रागवचनयोः सत्यपि साहित्ये, वैधर्म्यदृष्टान्ते चोपलखण्डे सत्यामपि सह निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावेनान्वयव्यतिरेकयोरभाव इत्यनन्वयाव्यतिरेकौ । तौ कस्मादिह नोक्तौ ? । उच्यते–ताभ्यां पूर्वे न भिद्यन्त इति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्येकमष्टावेव दृष्टान्ताभासा भवन्ति । यदाहुः– 10

"लिङ्गस्यानन्वया अष्टावष्टावव्यतिरेकिणः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं कथंचित् ख्यापयन्त्यमी ॥" इति ॥२७॥

§ ६०. अवसितं परार्थानुमानमिदानीं तन्नान्तरीयकं दूषणं लक्षयति–

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥२८॥ 15

§ ६१. 'साधनस्य' परार्थानुमानस्य ये असिद्धविरुद्धादयो 'दोषाः' पूर्वमुक्तास्तेषामुद्भाव्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति 'उद्भावनम्' साधनदोषोद्भावकं वचनं 'दूषणम्' । उत्तरत्राभूतग्रहणादिह भूतदोषोद्भावना दूषणेति सिद्धम् ॥२८॥

§ ६२. दूषणलक्षणे दूषणाभासलक्षणं सुज्ञानमेव भेदप्रतिपादनार्थं तु तल्लक्षणमाह–

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि ॥२९॥ 20

§ ६३. अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्यदूषणान्यपि दूषणवदाभासमानानि 'दूषणाभासाः' । तानि च 'जात्युत्तराणि' । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वात् । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि । तानि च सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वात्परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, तथाप्यक्षपाददर्शितदिशा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमरूपतया चतुर्विंशतिरुपदर्श्यन्ते । 25

१ व्याप्तिग्राहकस्य ऊहाख्यस्य । २ यत् यत् कृतकम् । ३ यत्कृतकं तत्सर्वम् । ४ यत् कृतकं तदनित्यमेव । ५ अन्वयव्यतिरेकयोः । ६–०कलसन्दि०–डे० । ७ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभावे[न] ८ भूतादोष०—डे० । ९ संज्ञाशब्दोऽयम् । १० –०कार्यसरूप०–ता० ।

§ ६४. तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्–नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति १। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते–नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्; अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति २। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते–यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट एवं शब्दोप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति ४। वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यः। तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते–यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग्घटधर्मो यादृग्घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति ५–६। धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कवशय्यादि, किञ्चित्कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादि किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति ७। साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः। यथा–यदि यथा घटस्तथा शब्दः, प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति। शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवतु। ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात्। न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरामदृष्टान्त इति ८। प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती। यथा यदेतत् कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साधयत्यप्राप्य वा?। प्राप्य चेत्; द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति, न सदसतोरिति। द्वयोश्च सत्त्वात् किं कस्य साध्यं साधनं वा? ९। अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति १०। अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथा यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्व इदानीं किं साधनम्?। तत्साधनेऽपि किं साधनमिति? ११। प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह–यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्, कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति। न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनम्, भङ्ग्यन्तरेण प्रत्य-

१ जैनः उत्तरं ब्रूते निरवयवत्वं पक्षासिद्धं साधनविकलश्च दृष्टान्तः, ज्ञानेनानैकान्तिकोऽपि। २ अत्रापि ज्ञानेनानैकान्तिकः। ३ साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मयोर्वैधर्म्यमापादयन्। ४ वर्ण्येन साध्यधर्मेण दृष्टान्तस्यावर्ण्यभूतस्य समताख्यापने न दृष्टान्तत्वं स्यादिति वर्ण्यसमा जातिः। ५ अवर्ण्यरूपदृष्टान्तावष्टम्भेन साधनस्याऽवर्ण्यरूपत्वमायातमित्यवर्ण्यसमा जातिः। ६ यादृक् च घ०–मु–पा०।

वस्थानात् १२ । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः । यथा अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते ? । तदेवं हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३ । साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति । यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्याद्वा निरवयवत्वान्नित्य इति ? १४ । द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्रैव[1] अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे–नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति[2] उद्भावन[3]प्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् १५ । त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिः । यथा हेतुः साधनम् । तत् साध्यात्पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत् ? । यदि पूर्वम् ; असति साध्ये तत् कस्य साधनम् ? । अथ पश्चात्साधनम् ; पूर्वं तर्हि साध्यम् , तस्मिंश्च[4] पूर्वसिद्धे किं साधनेन ? । अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६ । अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः । यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावन[5]प्रकारभेद एवायमिति[6] १७ । अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः । यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति १८ । उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वम्, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति ? । पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९ । उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते–न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम् ; साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते । उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम् । शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २० । अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी–न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावाव[7]रणयोगात्तु नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेत्[8] ; न, आवरणानुपलम्भेप्यनुपलम्भसद्भावात् । आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः । तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति । ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति[9] २१ । साध्य-

---

[1] तथैवानि०–डे० । [2] जैनं प्रति दृष्टान्तः साध्यविकलस्तेन हि शब्दत्वस्य नित्यानित्यत्वस्याभ्युपेतत्वात् व्याप्तिरप्यसिद्धा । [3] उद्भावनं प्र०–ता० । [4] तस्मिन् पूर्वं सिद्धे—डे० । [5]–द्भावनं प्र०—डे० । [6] अत्र पूर्वोक्तमेवोत्तरम् । [7]–०त्येवावर०–डे० । [8] चेत् आ०–डे० । [9] अत्रोत्तरम्—प्रत्ययभेदभेदित्वात् अ(?)-प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विवक्षितशब्दस्य सिद्धमेव द्रव्यत्व(?)प्रयत्नेन शब्दो विवक्षितो जन्यत एव न तु व्यज्यते ।

धर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति-येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति?। यद्यनित्या; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः। अथानित्यता नित्यैव[1]; तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रय-
5 भूतः शब्दोऽपि नित्यो भवेत्, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्यः शब्द इति[2] २२। सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः। यथा घटेन साधर्म्यमनित्येन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात्। अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वम्; तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति। अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशे-
10 षोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं[3] जातिः २३। प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह-प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम्-किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादि, किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिनाऽभिव्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति। संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्य-
15 समा जातिर्भिद्यते २४।

§ ६५. तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते दर्शिताः। प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनामन्यथानुपपत्तिलक्षणानुमानलक्षणपरीक्षणमेव[4]। न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवंप्रायाः पांशुपाताः प्रभवन्ति। कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृढप्रतिबन्धत्वान्नावरणादिकृतं शब्दानुपल-
20 म्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव। जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं न प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्य प्रसङ्गादिति।

§ ६६. छलमपि च सम्यगुत्तरत्वाभावाज्जात्युत्तरमेव[5]। उक्तं ह्येतदुद्भावनप्रकारभेदेनानन्तानि जात्युत्तराणीति। तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम्। तत्त्रिधा वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते
25 वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया[6] तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः सङ्ख्यामारोप्य निषेधति-कुतोऽस्य नव कम्बला इति?। सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति-सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति। तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुता-
30 मारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते-यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, व्रात्येऽपि सा भवेत्

१-०त्यैव न तथा० -डे०। २ विनश्वरस्वभावायामनित्यतायां नित्यानित्यत्वविकल्पना न घटत एव अन्यथा कृतकत्वस्याऽपि कृतकत्वं पृच्छ्यताम्। ३ जैनं प्रति(?)साध्यता नैयायिकं प्रत्यनित्यत्वस्य शब्दकृतकत्वेन व्याप्तिर्दृष्टा व्यभिचारात्(?)। ४-०क्षणहेतुपरी०-डे०। ५-०मेव च। -डे०। ६-०प्रेतादर्थान्तर०-डे०।

व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम्। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति। तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति ॥२९॥

§ ६७. साधनदूषणाद्यभिधानं च प्रायो वादे भवतीति वादस्य लक्षणमाह– 5

तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः ॥ ३० ॥

§ ६८. स्वपक्षसिद्धये वादिनः 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय प्रतिवादिनो 'दूषणम्'। प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धये 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय वादिनो 'दूषणम्'। तदेवं वादिनः साधनदूषणे प्रतिवादिनोऽपि साधनदूषणे[1] द्वयोर्वादिप्रतिवादिभ्याम् 'वदनम्' अभिधानम् 10 'वादः'। कथमित्याह–'प्राश्निकादिसमक्षम्'। प्राश्निकाः सभ्याः–

"स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयेप्सिताः क्षमिणः।
वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः ॥"

इत्येवंलक्षणाः[2]। 'आदि'ग्रहणेन सभापतिवादिप्रतिवादिपरिग्रहः, सेयं चतुरङ्गा कथा, एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपत्तेः। नहि वर्णाश्रमपालनक्षमं न्यायान्यायव्यवस्थापकं पक्षपातरहितत्वेन समदृष्टिं सभापतिं यथोक्तलक्षणांश्च प्राश्निकान् विना वादिप्रतिवादिनौ स्वाभिमतसाधनदूषणसरणिमाराधयितुं क्षमौ। नापि दुःशिक्षितकुतर्कलेशवाचालबालिशजनविप्लावितो गतानुगतिको जनः सन्मार्गं प्रतिपद्येतेति। तस्य फलमाह–'तत्त्वसंरक्षणार्थम्'। 'तत्त्व'शब्देन तत्त्वनिश्चयः साधुजनहृदयविपरिवर्ती गृह्यते, तस्य रक्षणं दुर्विदग्धजनजनितविकल्पकल्पनात् इति। 20

§ ६९. ननु तत्त्वरक्षणं जल्पस्य वितण्डाया वा प्रयोजनम्। यदाह–"**तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखापरिचरणवत्**" [न्यायसू० ४.२.५०] इति; न, वादस्यापि निग्रहस्थानवत्त्वेन तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात्। न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम्। "**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः**" 25 [न्यायसू० १.२.१] इति वादलक्षणे सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनापसिद्धान्तस्य, पञ्चावयवोपपन्न इत्यनेन न्यूनाधिकयोर्हेत्वाभासपञ्चकस्य चेत्यष्टानां निग्रहस्थानानामनुज्ञानात्, तेषां च निग्रहस्थानान्तरोपलक्षणत्वात्। अत एव न जल्पवितण्डे कथे, वादस्यैव तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात्।

§ ७०. ननु "**यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः**" 30

---

[1] –०षणे तयोर्वा–०डे०। [2] इत्येवंत्वल० –डे०।

[न्या० १. २. २], "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो[1] वितण्डा" [न्या० १. २. ३] इति लक्षणे भेदाज्जल्पवितण्डे अपि कथे विद्येते एव; न; प्रतिपक्षस्थापनाहीनाया वितण्डायाः कथात्वायोगात्। वैतण्डिको[2] हि[3] स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् यत्किंचिद्वादेन[4] परपक्षमेव दूषयन् कथमवधेयवचनः?। जल्पस्तु यद्यपि द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः साधनोपालम्भसम्भावनया कथात्वं लभते तथापि न वादादर्थान्तरम्, वादेनैव चरितार्थत्वात्। छलजातिनिग्रहस्थानभूयस्त्वयोगादचरितार्थ इति चेत्; न, छलजातिप्रयोगस्य दूषणाभासत्वेनाप्रयोज्यत्वात्, निग्रहस्थानानां च वादेऽप्यविरुद्धत्वात्। न खलु खट[6]चपेटामुखबन्धादयोऽनुचिता निग्रहा जल्पेऽप्युपयुज्यन्ते। उचितानां च निग्रहस्थानानां वादेऽपि न विरोधोऽस्ति। तन्न वादात् जल्पस्य कश्चिद् विशेषोऽस्ति। लाभपूजाख्यातिकामितादीनि तु प्रयोजनानि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणलक्षणप्रधानफलानु[7]बन्धीनि पुरुषधर्मत्वाद्वादेऽपि न निवारयितुं पार्यन्ते।

§ ७१. ननु छलजातिप्रयोगोऽसदुत्तरत्वाद्वादे न भवति, जल्पे तु तस्यानुज्ञानादस्ति वादजल्पयोर्विशेषः। यदाह–

"दुःशिक्षितकुतर्कां[8]शलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः" ॥ इति। [न्यायम० पृ०

नैवम्। असदुत्तरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्तत्वात्; न ह्यन्यायेन जयं यशो धनं वा महात्मानः समीहन्ते। अथ प्रबलप्रतिवादिदर्शनात् तज्जये[9] धर्मध्वंससम्भावनात्, प्रतिभाक्षयेण सम्यगुत्तरस्याप्रतिभासादसदुत्तरैरपि पांशुभिरिवावकिरन्नेकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति धिया न दोषमावहतीति चेत्[10]; न, अस्यापवादिकस्य जात्युत्तरप्रयोगस्य कथान्तरसमर्थनसामर्थ्याभावात्। वाद एव द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण यद्यसदुत्तरं कथंचन प्रयुञ्जीत किमेतावता कथान्तरं प्रसज्येत?। तस्माज्जल्पवितण्डानिराकरणेन वाद एवैकः कथाप्रथां लभत इति स्थितम्॥ ३०॥

§ ७२. वादश्च जयपराजयावसानो भवतीति जयपराजययोर्लक्षणमाह–

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः॥ ३१॥

§ ७३. वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य सिद्धिः सा जयः। सा च स्वपक्षसाधनदोषपरिहारेण परपक्षसाधनदोषोद्भावनेन च[11] भवति। स्वपक्षे साधनमब्रुवन्नपि प्रति-

---

१-०हीना वि०- डे०। २ "प्रयोजनम्" (हैमश० ६. ४. ११७) इतीकण्। ३ -०कोऽपि स्व०-ता०। ४ प्रत्यपि। ५ यच्च तत् किञ्चिच्च तस्य वादः। ६ तृणविशेष०। ७ अनुसारीणि। ८ छलादीन् विना। ९ तस्य प्रतिवादिनो जये। १० चेत् अस्या०-ता०। ११ परिहारोद्भावनाभ्यां समस्ताभ्यां न व्यस्ताभ्याम् इति चार्थः।

वादी वादिसाधनस्य विरुद्धतामुद्भावयन् वादिनं जयति, विरुद्धतोद्भावनेनैव स्वपक्षे साधनस्योक्तत्वात् । यदाह–"विरुद्धं[1] हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः" इति ॥३१॥

असिद्धिः पराजयः ॥ ३२ ॥

§ ७४. वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य 'असिद्धिः' सा 'पराजयः' । सा च साधनाभासाभिधानात्, सम्यक्साधनेऽपि वा परोक्तदूषणानुद्धरणाद्भवति ॥ ३२ ॥ 5

§ ७५. ननु यद्यसिद्धिः पराजयः, स तर्हि कीदृशो निग्रहः ?, निग्रहान्ता हि कथा भवतीत्याह–

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः[2] ॥ ३३ ॥

§ ७६. 'सः' पराजय एव 'वादिप्रतिवादिनोः' 'निग्रहः' न वधबन्धादिः[3] । अथवा स एव स्वपक्षासिद्धिरूपः[4] पराजयो निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो नान्यो[5] यथाहुः परे[6]–"विप्रति- 10 पत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० १. २. १९] इति ॥ ३३ ॥

§ ७७. तत्राह–

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥

§ ७८. विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः 'विप्रतिपत्तिः'–साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः । स च साधने 15 दूषणं दूषणे चोद्धरणं तयोरकरणम् 'अप्रतिपत्तिः' । द्विधा हि वादी पराजीयते–यथाकर्तव्य-मप्रतिपद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान[7] इति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती एव 'विप्रतिपत्त्य-प्रतिपत्तिमात्रम्' 'न' पराजयहेतुः किन्तु स्वपक्षस्यासिद्धिरेवेति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योश्च निग्रहस्थानत्वनिरासात् तद्भेदानामपि निग्रहस्थानत्वं निरस्तम् ।

§ ७९. ते च द्वाविंशतिर्भवन्ति । तद्यथा–१ प्रतिज्ञाहानिः, २ प्रतिज्ञान्तरम्, 20 ३ प्रतिज्ञाविरोधः, ४ प्रतिज्ञासंन्यासः, ५ हेत्वन्तरम्, ६ अर्थान्तरम्, ७ निरर्थकम्, ८ अविज्ञातार्थम्, ९ अपार्थकम्, १० अप्राप्तकालम्, ११ न्यूनम्, १२ अधिकम्, १३ पुनरुक्तम्, १४ अननुभाषणम्, १५ अज्ञानम्, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेपः, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, २० निरनुयोज्यानुयोगः, २१ अपसिद्धान्तः, २२ हेत्वाभासाश्चेति । अत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्य- 25 प्रतिपत्तिप्रकाराः । शेषा विप्रतिपत्तिभेदाः ।

§ ८०. तत्र प्रतिज्ञाहानेर्लक्षणम्–"प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा[8][9] स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञा-

---

१ विरुद्धहे › – डे० । २ त्रयस्त्रिंशत्तमं चतुस्त्रिंशत्तमं च सूत्रद्वयं सहैव लिखितं सं–मू० प्रतौ । ३ –०न्धादि । अ० – डे० । ४ – ० रूपप ० – डे० । ५ देशताडनादि । ६ परो – डे० । ७ आरभमाणः । ८ प्रतिदृष्टान्तस्य सामान्यस्य धर्मो नित्यत्वम् । ९ –२धर्माभ्यनुज्ञा–मु० ।

हानिः" [न्यायसू० ५.२.२.] इति सूत्रम्। अस्य भाष्यकारीयं व्याख्यानम्–"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टं कस्मान्न तथा शब्दोऽपीत्येवं स्वप्रयुक्तहेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्यागं करोति–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यम्, कामं घटोऽपि नित्योऽस्त्विति। स खल्वयं साधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जन् निगमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति"- [न्यायभा० ५. २.२]। तदेतदसङ्गतमेव, साक्षाद् दृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः तत्रैवं धर्मपरित्यागात्। परम्परया तु हेतूपनयनिगमनानामपि त्यागः, दृष्टान्तासाधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात्। तथा च प्रतिज्ञाहानिरेवेत्यसङ्गतमेव। वार्त्तिककारस्तु व्याचष्टे–"दृष्टश्चासावन्ते स्थितत्वादन्तश्चेति दृष्टान्तः पक्षः। स्वदृष्टान्तः स्वपक्षः। प्रतिदृष्टान्तः प्रतिपक्षः। प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति–यदि सामान्यमैन्द्रियकम् नित्यं शब्दोऽप्येवमस्त्विति" [न्यायवा०५.२.२]। तदेतदपि व्याख्यानमसङ्गतम्, इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात्। न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायमेक एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात्, अधिक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्ता[त्] किञ्चित् साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजानानस्याप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारणकत्वोपपत्तेरिति १।

§ ८१. प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयात्–युक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि

---

१ वात्स्यायनम्। २ वात्स्यायनभाष्ये तु–"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन्प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। निदर्शनम्–ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृतेऽपर आह दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्माच्च तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते, इदमाह–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योस्त्विति। स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जयन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति।"–न्यायभा० ५.२.२-मु-टि०। ३ प्रतिवादिना पर्यनुयोजितः। ४ वादी। ५ –०युक्तस्य हेतो०–डे०। ६ अनैकान्तिकत्वेन। ७ प्रसञ्जन –०डे०। प्रसज्जयन्–मु०। ८ अभ्युपगतं पक्षम्। ९ तस्याः प्रतिज्ञाहानेः। १० दृष्टान्ते। ११ – ०न्तसाधुत्वे०–ता०। १२ न्यायवार्तिके तु–"दृष्टश्चासावन्ते व्यवस्थित इति दृष्टान्तः स्वश्चासौ दृष्टान्तश्चेति स्वदृष्टान्तशब्देन पक्ष एवाभिधीयते। प्रतिदृष्टान्तशब्देन च प्रतिपक्षः प्रतिपक्षश्चासौ दृष्टान्तश्चेति। एतदुक्तं भवति। परपक्षस्य यो धर्मस्तं स्वपक्ष एवानुजानातीति यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादिति द्वितीयपक्षवादिनि सामान्येन प्रत्यवस्थिते इदमाह–यदि सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टमिति शब्दोऽप्येवं भवत्विति।" –न्यायवा० ५.२.२–मु–टि०। १३ अन्तो निगमनम् तत्र च स्थितः एकः पक्षः प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम्। १४ दृष्टान्तः स पक्षः प्रतिदृष्टान्तः–डे०। १५ निमित्तत्वात्–डे०। १६ – ० कारणत्वो०–डे०।

सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयम् 'अनित्यः शब्दः' इति पूर्व[1]प्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरम् 'असर्वगतः शब्दः' इति कुर्वन् प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । एतदपि प्रतिज्ञाहानिवन्न युक्तम्, तस्याप्यनेकनिमित्त[2]त्वोपपत्तेः[3] । प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथं भेदः, पक्षत्यागस्योभयत्राविशेषात्? । यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात् पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि । यथा च स्वपक्षसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दानित्यत्वसिद्ध्यर्थं भ्रान्ति[4]वशात् 'तद्वच्छब्दोऽपि नित्योऽस्तु' इत्यनुज्ञानम्, यथा चाभ्रान्तस्येदं विरुध्यते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि । निमित्तभेदाच्च तद्भेदे अनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनु[5]षङ्गः स्यात् । तेषां च तत्रान्तर्भावे प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावः स्यादिति २ ।

§ ८२. **"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः"** [न्यायसू० ५. २. ४] नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति । सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः–यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः?, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति?, तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात् पराजीयते । तदेतदसङ्गतम् । यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरतः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुदोषो वा विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति ३ ।

§ ८३. पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्–क एवमाह–अनित्यः शब्द इति–स प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति । एतदपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते, हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषात् ४ ।

§ ८४. अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्य[7]स्य व्यभिचारेण दूषिते–'जातिमत्त्वे सति' इत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । इदमप्यतिप्रसृतम्, यतोऽविशेषोक्ते दृष्टान्ते उपनये निगमने वा प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टान्ताद्यन्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुपज्येत, तत्राप्याक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ५ ।

§ ८५. प्र[9]कृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः । कृतकत्वादिति हेतुः । हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम् । प[10]दं च नामाख्यातनिपातोपसर्गा इति प्र[11]स्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यते । एतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्ते

१ पूर्वं प्रति० –डे० । २ – ०त्ततोप० – डे० । ३ यदा प्रतिवादिना अकृतेऽपि प्र[ति]ज्ञा[ता]र्थप्रतिषेधे आशङ्क्य(ये)वोच्यतेऽसर्वगतस्तु शब्द इति तदा अन्यनिमित्तकत्वं प्रतिज्ञान्तरस्य । ४ - ०वशात्तच्छब्दो॰ –डे० । ५ – ०नुष्वङ्गः–डे० । ६ इति प्रति०–डे० । ७ - ०न्यव्य०–ता० । ८ इति हेत्वन्तरम् । ९ प्रकृतार्थादर्थान्तरम्–डे० । १० पदं नाम – ता० । ११ प्रत्ययनामा० – डे० ।

निग्रहाय कल्पेत, असमर्थे वा ?। न तावत्समर्थे; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावा-ल्लोकवत्। असमर्थेऽपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ तत् निग्रहाय स्यादसिद्धौ वा ?। प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्धेरेवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात्। द्वितीयपक्षेऽप्यतो न निग्रहः, पक्षसिद्धेरुभयोरप्यभावादिति ६।

5 § ८६. अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वाद् घझढधभवदिति। एतदपि सर्वथार्थ-शून्यत्वान्निग्रहाय कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा ?। तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, सर्वथार्थशून्य-शब्दस्यैवासम्भवात्, वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वोपपत्तेः। द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात् साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात्। किञ्चि-
10 द्विशेषमात्रेण [4]भेदे वा खाट्कृत-हस्तास्फालन-कक्षापिट्टितादेरपि साध्यानुपयोगिनो निग्रह-स्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति ७।

§ ८७. यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तत् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति। अत्रेदमुच्यते—वादिना त्रिरभि-हितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम्, गूढाभिधानतो वा, द्रुतोच्चा-
15 राद्वा ?। प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वेना-विज्ञातत्वसम्भवात्। द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गः, गूढाभिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयोरप्यविज्ञातत्वोपलम्भात्। अथाभ्यामविज्ञातमप्येतत् वादी व्याचष्टे; गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम्, अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य, न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात्। द्रुतोच्चारेऽप्यनयोः कथञ्चित् ज्ञानं सम्भवत्येव,
20 सिद्धान्तद्वयवेदित्वात्। साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे तयोरविज्ञानं नावि-ज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत्। ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यत इति ८।

§ ८८. पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादि। एतदपि निरर्थकान्न भिद्यते। यथैव हि गजडदबादौ वर्णानां नैरर्थक्यं तथात्र पदानामिति। यदि पुनः पदनैरर्थक्यं वर्ण-
25 नैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरं तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्याभ्यामन्यत्वान्निग्रहस्थाना-न्तरत्वं स्यात् पदवत्पौर्वापर्येणाऽप्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलभ्यात्—

"शङ्खः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानम्।
तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिमं बभूव॥"

इत्यादिवत्।

---

१ पक्षान्तरम् (?) अर्थान्तरम्। २ –०सिद्धिरेव – डे०। ३ अर्थान्तरात्। ४ भेदेन खाट्० – डे० भेदे वा षट्कृत – मु–पा०। ५ गूढानां शब्दानामभिधानम्। ६ सत्साधनेपि। ७ अविज्ञातत्वप्रसङ्गः। ८ प्रहेलिकादिकम्। ९ पत्रवाक्यम्। १० साध्यवाक्यम्। ११ सिद्धान्तवेदि० – डे०। १२ अथ निग्रहवादी एवं ब्रूयात् वादिनः प्रलापमात्रम् अविज्ञातस्य लक्षणम् इत्याशङ्कायामाह (?)। १३ कर्तरि षष्ठी न (?)। १४ –०ज्ञातं ना० – ता०। १५ साध्यानुपयोगित्वात्। १६ वर्णपदनैरर्थक्याभ्याम्।

§ ८९. यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं[1] स्यात् वर्णसमुदायात्मकत्वात् तस्य। वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात् पदस्यापि तत्प्रसङ्गश्चेत्; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः। पदस्यार्थवत्त्वेन(वत्त्वे च) पदार्थापेक्षया; [वर्णार्थापेक्षया] वर्णस्यापि तद[2]स्तु[3] प्रकृतिप्रत्ययादिवत्; न खलु प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा। नाप्यनयोर[4]नर्थकत्वम्। अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे; पदस्यापि तत् स्यात्। यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात् तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेस्याद्यन्तपदार्थस्य त्याद्यन्तपदार्थस्य च[5] स्त्याद्यन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोगः। पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्वं प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति ९।

§ ९०. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति, स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमाने क्रमस्याप्यङ्गत्वात्। एतदप्यपेशलम्, प्रेक्षावतां प्रतिपत्तॄणामवयवक्रमनियमं विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भात्। ननु य[6]थापशब्दाच्छ्रुताच्छब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरणं ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न पुनस्तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवंविधप्रतीत्यभावात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चरितात् यत्रार्थे प्रतीतिः स एव तस्य वाचको नान्यः, अन्यथा शब्दात्तत्क्रमाच्चापशब्दे तद्व्यतिक्रमे च स्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिरित्यपि वक्तुं शक्येत। एवं शब्दान्वाख्यानवैयर्थ्यमिति चेत्; नैवम्, वा[7]दिनोऽनिष्टमात्रापादनात् अपशब्देऽपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात्। संस्कृताच्छब्दात्स[8]त्यात् धर्मोऽन्यस्मादधर्म इति नियमे चान्यधर्माधर्मोपायानुष्ठानवैयर्थ्यं धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः, अ[9]धार्मिके च धार्मिके च तच्छब्दोपलम्भात्। भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिस्तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यते तन्निरर्थकं न त्वप्राप्तकालमिति १०।

§ ९१. पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेरभिधानात् प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात्। अतस्तद्धीनमेव न्यूनं निग्रहस्थानमिति ११।

§ ९२. एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति निष्प्रयोजनाभिधानात्। एतदप्ययुक्तम्, तथा-

---

१ दश दाडिमानि षडपूपा इत्यत्र तु पदानामेव नैरर्थक्यम् न वाक्यस्य क्रियाया अश्रावणत्वात् (अश्रवणात्)। २ – ०क्षया तस्यापि – डे०। ३ अर्थवत्त्वम्। ४ प्रकृतिप्रत्यययोः। ५ च स्तूपद्यन्त० – ता०। ६ यथापि शब्दा० –डे०। ७ क्रमवादिनः। ८ सत्याधर्मो– डे०। ९ अधार्मिके धार्मि०–डे०।

वि[1]धाद्वाक्यात् पक्षसिद्धौ पराजयायोगात्। कथं चैवं प्रमाणसंप्लवोऽभ्यु[3]पगम्यते ?। अभ्युपगमे वाऽधिकान्निग्रहाय जायेत। प्रतिपत्तिदार्ढ्यसंवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः; इत्यन्यत्रापि समानम्, हेतुनोदाहरणेन चै(वै)केन प्रसाधितेऽप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोरुदाहरणस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चैवमनवस्था, कस्यचित् क्वचिन्निराकाङ्क्षतोपपत्तेः
5 प्रमाणान्तरवत्। कथं चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिककप्रत्ययस्य वचनम्, यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तौ यत्तद्व[4]चनम्, वृ[5]त्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थानं न स्यात् ?। तथाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वात्तन्नेति चेत्; कथमनेकस्य हेतोरुदाहरणस्य वा तदुपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणम् ?। निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति १२।

10 § ९३. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानं भवत्यन्यत्रानुवादात्। शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते। यथा अनित्यः शब्दः अनित्यः शब्द इति। अर्थपुनरु[6]क्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोक्तः पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते। यथा अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति। अनुवादे तु पौनरु[7]क्त्यमदोषो यथा– "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" [न्यायसू० १.१.३९] इति।
15 अत्रार्थपुनरुक्तमेवानुपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्, अर्थभेदेन शब्दसाम्येऽप्यस्या[8]सम्भवात् यथा–

"हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दो[9]षापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति॥" –[वादन्यायः पृ० १११]

20 इत्यादि। ततः स्पष्टार्थवाचकैस्तैरेवान्यैर्वा शब्दैः सभ्याः प्रतिपादनीयाः। तदप्रतिपादकशब्दानां तु सकृत् पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तमिति। यदपि अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तं यथा असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीत्युक्ते अर्थादापद्यते सत्सु भवतीति तत् कण्ठेन कथ्यमानं पुनरुक्तं भवति, अर्थगत्यर्थे हि शब्दप्रयोगे प्रतीतेऽर्थे किं तेनेति ?। एतदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानं
25 नान्यथा। तथा चेदं निरर्थकान्न [10]विशिष्येतेति १३।

§ ९४. पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति, अप्रत्युच्चारयत्(न्) किमाश्रयं दूषणमभिदधतीति(०दधीतेति)। अत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम् उत[11] यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्येति ?। तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोऽपि दूषणवचनाव्याघातात्। यथा सर्वम-
30 नित्यं सत्त्वादित्युक्ते–सत्त्वादित्ययं हेतुर्विरुद्ध इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भाव्यते–क्षण-

१ –' विधाद्वा वाक्या०–ता०। २ हेत्वन्तरयुक्तात्। ३ –०पगम्यते वाधिकान्नि० – डे०। ४ –०चनवृ० – डे०। ५ कृतकानित्यमिति वृत्तिपदम्। ६ – ०क्तं यत्र० – डे०। ७ – ०रुक्तम० डे०। ८ – ०स्य सम्भ० – डे०। ९ दोषोपेतम् – डे०। १० विशेष्ये० –डे०। ११ उत यत्नान्तरीयिका० – ता०। उत प्रयत्नानन्तरीयिका –डे०।

क्षयाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति च समर्थ्यते । तावता च परोक्त-हेतोर्दूषणात्किमन्योच्चारणेन ?। अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाप्रत्युच्चारणमन-नुभाषणं प्रतिपत्तव्यम् । अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्; तदायमुत्तराप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति १४ ।

§ ९५. पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानं भवति । अविदितोत्तरविषयो हि क्वोत्तरं ब्रूयात् ?। न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् । एतदप्यसाम्प्रतम्, प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्था-नानां भेदाभावानुषङ्गात्, तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात् । तेषां तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थान-प्रतिनियमाभावप्रसङ्गः, परोक्तस्याऽर्धाऽज्ञानादिभेदेन निग्रहस्थानानेकत्वप्रसङ्गात् १५ ।

§ ९६. परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रह-स्थानं भवति । एषाप्यज्ञानान्न भिद्यते १६ ।

§ ९७. "**कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः**" [न्यायसू० ५. २. १९] नाम निग्रहस्थानं भवति । सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्ति—'इदं मे करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्धः' इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते । एतदप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति १७ ।

§ ९८. स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति । चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते—भवानपि चोरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते । इदमप्यज्ञानान्न भिद्यते । अनैकान्तिकता वात्र हेतोः; स ह्यात्मीयहेतोरात्मनैवा-नैकान्तिकतां दृष्ट्वा प्राह—भवत्पक्षेऽप्ययं दोषः समानस्त्वमपि पुरुषोऽसीत्यनैकान्तिकत्व-मेवोद्भावयतीति १८ ।

§ ९९. निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्य-नुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः 'इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतो-ऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते । एतच्च 'कस्य निग्रहः' इत्यनुयुक्तया परिषदोद्भावनीयं न त्वसावात्मनो दोषं विवृणुयात् 'अहं निग्राह्यस्त्वयोपेक्षितः' इति । एतदप्यज्ञानान्न भिद्यते १९ ।

§ १००. "**अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः**" [न्यायसू० ५. २. २२] नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसि' इति यो ब्रूयात्स एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यते । एतदपि नाज्ञानाद्व्यति-रिच्यते २० ।

---

१ तावता परो० – डे० । २ भेदभा० – डे० । ३ –०नतो न भिद्यते । स्व० – मु–पा० । ४ – ०रा-त्मीयेनैव – डे० । ५ पुरुषो भवसी० – डे० । ६–०स्थानामियो० –मु–पा० ।

§ १०१ "**सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः**" [न्यायसू० ५. २. २३] नाम निग्रहस्थानं भवति। यः प्रथमं कञ्चित् सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते। तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते। एतदपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं
5 नान्यथेति २१।

§ १०२ "**हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः**" [न्यायसू० ५. २. २४] असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम्। अत्रापि विरुद्धहेतूद्भावनेन प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम्, असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति २२॥ ३४॥

§ १०३. तदेवमक्षपादोपदिष्टं पराजयाधिकरणं परीक्ष्य सौगतागमितं[1] तत् परीक्ष्यते–

10 **नाप्यसाधनाङ्गवचनादोषोद्भावने**[2][3] **॥ ३५ ॥**

§ १०४. स्वपक्षस्यासिद्धिरेव पराजयो 'न' 'असाधनाङ्गवचनम्' 'अदोषोद्भावनम्' च। यथाह धर्मकीर्त्तिः–

"**असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।**
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥" –[वादन्यायः का० १]

15 § १०५. अत्र हि स्वपक्षं साधयन् असाधयन् वा वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाद्वा परं निगृह्णाति ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य पराजयादन्योद्भावनं व्यर्थम्। द्वितीयपक्षे असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेपि[4] न कस्यचिज्जयः, पक्षसिद्धेरुभयोरभावात्।

§ १०६. यच्चास्य व्याख्यानम्–साधनं सिद्धिस्तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गं तस्यावचनम्–
20 तूष्णीम्भावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा, साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनं विपक्षे बाधकप्रमाणोपदर्शनरूपं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति–तत् पञ्चावयवप्रयोगवादिनोऽपि समानम्। शक्यं हि तेनाप्येवं वक्तुं सिद्ध्यङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात् सौगतस्य वादिनो निग्रहः। ननु चास्य तदवचनेऽपि[5] न निग्रहः, प्रतिज्ञानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारसामर्थ्येन[6] गम्यमानत्वात्, गम्यमानयोश्च वचने
25 पुनरुक्तत्वानुषङ्गात्, तत्प्रयोगेऽपि हेतुंप्रयोगमन्तरेण[7] साध्यार्थाप्रसिद्धेः; इत्यप्यसत्, पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवमवचनानुषङ्गात्[8]। अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं[9] हेतोरपक्षधर्मत्वेना-[10]

१– ० मितं परी० – ता०। २ नासाध० – ता–मू०। ३ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्याध्यायस्य कियन्ति सूत्राणि ॥ श्रीवामातनयाय नमः॥ शुभं भवतु लेखकपाठकाय सदा॥ छ॥ – सं-मू०। ४–०पि कस्य०–ता०। ५ –०पि निग्र०–डे०। ६ पक्षधर्मोपक्षधर्मोपसं०–डे० पक्षधर्मापक्षधर्मोपसं–मु०। ७ हेतुना प्रयो०– ता०। ८ –०प्येत्रं वच० – डे०। ९ वचनहे० –डे०। १० –०क्षधर्मत्वे त्वसि० – डे०।

सिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानाया अपि प्रतिज्ञायाः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं[1] निगमनस्य वचनं किं न स्यात्? । नहि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सङ्गतत्वं घटते, भिन्नविषयप्रतिज्ञादिवत् । ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्याः साधनाङ्गतेति चेत्; तर्हि भवतोऽपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोऽनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनाङ्गतेति समानम् । ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वात् नानर्थको दृष्टान्तः, तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्, सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुषङ्गात् । विपक्षव्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसङ्गात् दृष्टान्तोऽनर्थक एव स्यात् । विपक्षव्यावृत्त्या च हेतुं समर्थयन् कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत्? । तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्तते? । गम्यमाने प्रतिज्ञाविषय एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य । अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः? ।

§ १०७. यच्चेदमसाधनाङ्गमित्यस्य व्याख्यानान्तरम्—साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनम्, वैधर्म्येण च प्रयोगे साधर्म्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तमतो न साधनाङ्गम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतो वादिनो निग्रहः स्यात्, असाधयतो वा? । प्रथमपक्षे न साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपालम्भमात्रेणास्य निग्रहः, अविरोधात् । नन्वेवं नाटकादिघोषणतोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्; सत्यमेतत्, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत्, अन्यथा ताम्बूलभक्षणभ्रूक्षेप-खाट्कृत-हस्तास्फालनादिभ्योऽपि सत्यसाधनवादिनोऽपि निग्रहः स्यात् । अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोऽस्य ततो निग्रहः; नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपालम्भो निग्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात् ।

§ १०८. ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । साधनवादिना हि साधुसाधनं ज्ञात्वा वक्तव्यम्, दूषणवादिना च दूषणम् । तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ[2] तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाज्ञानसिद्धेः पराजयः । प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः स प्रतिवादी सत्साधनवादिनः साधनाभासवादिनो वा वचनाधिक्यदोषमुद्भावयेत्? । तत्राद्यपक्षे वादिनः कथं साधुसाधनाज्ञानम्, तद्वचनेयत्ताज्ञानस्यैवाभावात्? । द्वितीयपक्षे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात् । तद्वचनाधिक्यदोषस्य[3] ज्ञानात् दूषणज्ञो-

१–०कार्थप्रतिप्रद० –मु । ०कार्थप्रतिज्ञाप्रद० – डे० । २ साधर्म्यवचनाद्वार्थस्य – डे० । ३–०तदव० –डे० ।

ऽसाविति चेत्; साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोऽपीति नैकान्ततो[1] वादिनं जयेत्, तद्दोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्पेत? । अथ वचनाधिक्यं 5 साधनाभासं[2] वोद्भावयतः प्रतिवादिनो जयः[3]; कथमेवं साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं वैधर्म्यवचने वा साधर्म्यवचनं पराजयाय प्रभवेत्?। कथं चैवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्, क्वचिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्? न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायामेकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य[4] वा निबन्धनं न भवति। युगपत्साधनासामर्थ्यज्ञाने च 10 वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यादविशेषात्?। न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्याज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचनाधिक्यदोषोद्भावनात्तद्दोषमात्र[5]ज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जयः पराजयो वा स्यात्। नहि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ वेदनेऽपि [6]विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयनशक्तौ संवेदनानुदयात्। तन्न तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ व्यवस्थाप- 15 यितुं शक्यौ, यथोक्तदोषानुषङ्गात्। स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्। कस्यचित् कुतश्चित् स्वपक्षसिद्धौ[7] सुनिश्चितायां परस्य तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयप्रसङ्गात्।

§ १०९. यच्चेदमदोषोद्भावनमित्यस्य व्याख्यानम्–प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावनाभावमात्रम्-अदोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रह- 20 स्थानमिति–तत् वादिनाऽदोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव यदि वादी स्वपक्षं साधयेन्नान्यथा। वचनाधिक्यं तु दोषः प्रागेव प्रतिविहितः। यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्यं[8] निग्रहस्थानं तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात्। प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाप्यनुमानाङ्गम्[9]–"**प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः**" [न्याय सू० १.१.३२] इत्यभिधानात्। तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनताख्यो दोषो- 25 ऽनुषज्यत एव "**हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्**" [न्यायसू० ५.२.१२] इति वचनात्। ततो जयेतरव्यवस्थायां नान्यन्निमित्तमुक्तान्निमित्तादित्यलं प्रसङ्गेन॥ ३५॥

§ ११०. अयं च प्रागुक्तश्चतुरङ्गो वादः कदाचित्पत्रालम्बनमप्यपेक्षतेऽतस्तल्लक्षणमत्रावश्याभिधातव्यं यतो नाविज्ञातस्वरूपस्यास्यावलम्बनं जयाय प्रभवति न चाविज्ञातस्वरूपं परपत्रं भेत्तुं शक्यमित्याह[10]–

---

१ नैकान्ततो जयेत् – डे०। २ –०भासं चोद्भा० – डे०। ३ जयति कथम् – डे०। ४ –०स्य निब० – ता०। ५ –०मात्रे ज्ञा० – ता०। ६ विषयद्र० – ता०। ७ –०सिद्धो निश्चि० – डे०। ८ –०क्यं यथा नि० – डे०। ९ –०मानं प्र० – डे०। १० ॥छ॥ श्रीः ॥ छ ॥ मङ्गलम्॥ महाश्रीः ॥ छ ॥ श्री ॥ – ता०। –० मित्याहुः। इत्याचार्यश्री ५ श्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम्॥ श्री॥ संवत् १७०७ वर्षे मार्गशीर्षमासे कृष्णतृतीयायां पुण्यतिथौ रविवासरे श्रीअणहिल्लपुरपत्तनमध्ये पुस्तकं लिखितमिदं ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ श्रीकल्याणमस्तु ॥ ९ ॥ श्री ॥ ९ ॥ छ ॥ छ ॥ ९ ॥ – डे०।

प्रमाणमीमांसायाः

॥ भाषाटिप्पणानि ॥

प्रमाणमीमांसायाः

॥ भा षा टि प्प णा नि ॥

हैमी प्रमाणमीमांसा विशद्यतेऽथ टिप्पणैः।
ऐतिह्य-तुलनास्पृग्भी राष्ट्रभाषोपजीविभिः ॥

पृ० १. पं० २. **'तायिने'**–तुलना–"प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने"–प्रमाणस० १. १. "तायिनामिति स्वाधिगतमार्गदेशकानाम्। यदुक्तम्–'तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः' (प्रमाणवा० २. १४५.) इति तत् विद्यते येषामिति। अथवा तायः संतानार्थः।"–बोधिचर्या० प० पृ० ७५ 5

पृ० १. पं० ६. **'पाणिनि'**–पाणिनि का सूत्रात्मक अष्टाध्यायी शब्दानुशासन प्रसिद्ध है। पिङ्गल का छन्दःशास्त्र प्रसिद्ध है। कणाद और अक्षपाद क्रम से दशाध्यायी वैशेषिक-सूत्र और पञ्चाध्यायी न्यायसूत्र के प्रणेता हैं।

पृ० १. पं० ९. **'वाचकमुख्य'**–उमास्वाति और उनके तत्त्वार्थसूत्र के बारे में देखो मेरा लिखा गुजराती तत्त्वार्थविवेचन का परिचय। 10

पृ० १. पं० ११. **'अकलङ्क'**–अकलङ्क ये प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य हैं। इनके प्रमाण-संग्रह, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रयी आदि जैनन्यायविषयक अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं। इनका समय ईसवीय अष्टम शताब्दी है।

पृ० १. पं० ११. **'धर्मकीर्त्ति'**–धर्मकीर्त्ति (ई० स० ६२५) बौद्ध तार्किक हैं। इनके प्रमाणवार्त्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, वादन्याय आदि प्रकरणग्रन्थ हैं। 15

पृ० १. पं० १२. **'नास्य स्वेच्छा'**–तुलना–"वचनं राजकीयं वा वैदिकं वापि विद्यते।" श्लोकवा० सू० ४. श्लो० २३५।

पृ० १. पं० १४. **'वर्णसमूहा'**–तुलना–"'शास्त्रं' पुनः प्रमाणादिवाचकपदसमूहो व्यूह-विशिष्टः, पदं पुनर्वर्णसमूहः, पदसमूहः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमूह आह्निकम्, आह्निकसमूहोऽध्यायः, पञ्चाध्यायी शास्त्रम्।"–न्यायवा० पृ० १ 20

पृ० १. पं० १७. **'अथ प्रमाण'**–भारतीय शास्त्र-रचना में यह प्रणाली बहुत पहिले से चली आती है–कि सूत्ररचना में पहिला सूत्र ऐसा बनाया जाय जिससे ग्रन्थ का

विषय सूचित हो और जिसमें ग्रन्थ का नामकरण भी आ जाय। जैसे पातञ्जल योगशास्त्र का प्रथम सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्', जैसे अकलंक ने 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'प्रमाणे इति संग्रहः' दिया है, जैसे विद्यानन्द ने 'अथ प्रमाणपरीक्षा' इस वाक्य से ही 'प्रमाणपरीक्षा' का प्रारम्भ किया है। आ० हेमचन्द्र ने उसी प्रणाली का अनुसरण 5 करके यह सूत्र रचा है।

'अथ' शब्द से शास्त्रप्रारम्भ करने की परम्परा प्राचीन और विविध विषयक शास्त्रगामिनी है। जैसे "अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः" (आप० श्रौ० सू० १. १. १.), "अथ शब्दानुशासनम्" (पात० महा०), 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जैमि० सू० १. १. १) इत्यादि। आ० हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन की तरह इस ग्रन्थ में भी वही 10 परम्परा रक्खी है।

पृ० १. पं० १८. 'अथ-इत्यस्य'–अथ शब्द का 'अधिकार' अर्थ प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है और उसे प्रसिद्ध आचार्यों ने लिया भी है जैसा कि हम व्याकरणभाष्य के प्रारम्भ में "अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः" (१. १. १. पृ० ६) तथा योगसूत्रभाष्य में (१. १.) पाते हैं। इसके सिवाय उसका 'आनन्तर्य' अर्थ भी प्रसिद्ध है जैसा कि शबर ने अपने 15 मीमांसाभाष्य[1] में लिया है। शङ्कराचार्य[2] ने 'आनन्तर्य' अर्थ तो लिया पर 'अधिकार' अर्थ को असङ्गत समझकर स्वीकृत नहीं किया। शङ्कराचार्य को अथ शब्द का 'मङ्गल' अर्थ लेना इष्ट था, पर एक साथ सीधे तौर से दो अर्थ लेना शास्त्रीय युक्ति के विरुद्ध होने से उन्होंने आनन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द के श्रवण को ही मङ्गल मानकर 'मङ्गल' अर्थ लिये बिना ही, 'मङ्गल' का प्रयोजन सिद्ध किया है। योगभाष्य के और शाङ्करभाष्य के प्रसिद्ध 20 टीकाकार वाचस्पति[3] ने तत्त्ववैशारदी और भामती में शङ्करोक्त 'अथ'शब्दश्रुति की मङ्गलप्रयोजनता – मृदङ्ग, शङ्ख आदि ध्वनि के मांगलिक श्रवण की उपमा के द्वारा – पुष्ट की है और साथ ही जलादि अन्य प्रयोजन के वास्ते लाये जानेवाले पूर्ण जलकुम्भ के मांगलिक दर्शन की उपमा देकर एक अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का अर्थान्तर बिना किये ही उसके श्रवण की माङ्गलिकता दरसाई है।

---

१ "तत्र लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः"—**शाबरभा० १.१.१.**

२ "तत्राथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्, मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति"—**ब्र० शाङ्करभा० १.१.१.**

३ "अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्"—**तत्त्ववै० १. १.** "न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्खध्वनिवदथशब्दश्रवणमात्रकार्यम्। तथा च 'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥' अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवन्मङ्गलं कुर्वन्, मङ्गलप्रयोजनो भवति अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्" – **भामती १.१.१.**

आ० हेमचन्द्र ने उपर्युक्त सभी परम्पराओं का उपयोग करके अपनी व्याख्या में 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक, आनन्तर्यार्थक और मंगलप्रयोजनवाला बतलाया है। उनकी उपमा भी शब्दशः वही है जो वाचस्पति के उक्त ग्रन्थों में है।

पृ० २. पं० ३. 'आयुष्म'–तुलना–"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति"–पात० महा० १.१.१. 5

पृ० २. पं० ४. 'परमेष्ठि'–जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे आत्मा के पाँच विभाग लोकोत्तर विकास के अनुसार किये गये हैं, जो पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं। इनका नमस्कार परम मंगल समझा जाता है–

"एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापक्षयङ्करः।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं भवति मङ्गलम्॥" 10

पृ० २. पं० ५. 'प्रकर्षेण'–वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में (१.१.३.) 'प्रमाण' शब्द को करणार्थक मानकर उसकी निरुक्ति के द्वारा 'प्रमाण' का लक्षण सूचित किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यकारिका की (तत्त्वकौ० का० ४) अपनी व्याख्या में 'प्रमाण' का लक्षण करने में उसी निर्वचनपद्धति का अवलम्बन किया है। आ० हेमचन्द्र भी 'प्रमाण' शब्द की उसी तरह निरुक्ति करते हैं। ऐसी ही निरुक्ति शब्दशः 'परीक्षामुख' की व्याख्या 15 प्रमेयरत्नमाला (१.१.) में देखी जाती है।

पृ० २. पं० ६. 'त्रयी हि'–उपलभ्य ग्रन्थों में सब से पहिले वात्स्यायनभाष्य[1] में ही शास्त्रप्रवृत्ति के त्रैविध्य की चर्चा है और तीनों विधाओं का स्वरूप भी बतलाया है। श्रीधर ने अपनी 'कंदली'[2] में उस प्राचीन त्रैविध्य के कथन का प्रतिवाद करके शास्त्रप्रवृत्ति को उद्देश-लक्षणरूप से द्विविध स्थापित किया है और परीक्षा को अनियत कहकर उसे त्रैविध्य में से 20 कम किया है। श्रीधर ने नियतरूप से द्विविध शास्त्रप्रवृत्ति का और वात्स्यायन ने त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का कथन किया इसका सबब स्पष्ट है। श्रीधर कणादसूत्रीय प्रशस्तपादभाष्य

---

१ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानं उद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा"—न्यायभा० १.१.२.

२ "अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात्। अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभावः कारणाभावात्। अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं च, परीक्षायास्तु न नियमः। यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासार्थं परीक्षाविधिरधिक्रियते। यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्वनिश्चयः स्यात् तत्राय व्यर्थो नार्थ्यते। योऽपि हि त्रिविधां शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छति तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा। तत् कस्य हेतोर्लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्ते इति। एवं चेदर्थप्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिधैव। नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा"—कन्दली पृ० २६.

के व्याख्याकार हैं। वह भाष्य तथा उसके आधारभूत सूत्र, पदार्थों के उद्देश एवं लक्षणात्मक हैं, उनमें परीक्षा का कहीं भी स्थान नहीं है जब कि वात्स्यायन के व्याख्येय मूल न्यायसूत्र ही स्वयं उद्देश, लक्षण और परीक्षाक्रम से प्रवृत्त हैं। त्रिविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में तर्कप्रधान खण्डन-मण्डन प्रणाली अवश्य होती है–जैसे न्यायसूत्र उसके भाष्य 5 आदि में। द्विविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में बुद्धिप्रधान स्थापनप्रणाली मुख्यतया होती है जैसे कणादसूत्र, प्रशस्तपादभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र, उसका भाष्य आदि। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो केवल उद्देशमात्र हैं जैसे जैनागम स्थानांग, धर्मसंग्रह आदि। श्रद्धाप्रधान होने से उन्हें मात्र धारणायोग्य समझना चाहिए।

आ० हेमचन्द्र ने वात्स्यायन का ही पदानुगमन क़रीब-क़रीब उन्हीं के शब्दों में 10 किया है।

शास्त्रप्रवृत्ति के चतुर्थ प्रकार विभाग का प्रश्न उठाकर अन्त में उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में और जयन्त ने न्यायमञ्जरी में विभाग का समावेश उद्देश में ही किया है[1] और त्रिविध प्रवृत्ति का ही पक्ष स्थिर किया है। आ० हेमचन्द्र ने भी विभाग के बारे में वही प्रश्न उठाया है और समाधान भी वही किया है।

15 पृ० २. पं० ७. 'उद्दिष्टस्य'–'लक्षण' का लक्षण करते समय आ० हेमचन्द्र ने 'असाधारणधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण नव्यन्यायप्रधान तर्कसंग्रह की टीका दीपिका में इस प्रकार है–

"एतद्दूषणत्रय(अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभव)रहितो धर्मो लक्षणम्। यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। स एवाऽसाधारणधर्म इत्युच्यते। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसा- 20 धारणत्वम्"–पृ०१२।

पृ० २. पं० १२. 'पूजितविचार'—वाचस्पति[2] मिश्र ने 'मीमांसा' शब्द को पूजितविचारवाचक कहकर विचार की पूजितता स्पष्ट करने को भामती में लिखा है कि–जिस विचार का फल परम पुरुषार्थ का कारणभूत सूक्ष्मतम अर्थनिर्णय हो वही विचार पूजित है। आ० हेमचन्द्र ने वाचस्पति के उसी भाव को विस्तृत शब्दों में पल्लवित करके अपनी 'मीमांसा' 25 शब्द की व्याख्या में उतारा है, और उसके द्वारा 'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ के समग्र मुख्य प्रतिपाद्य विषय को सूचित किया है, और यह भी कहा है कि–'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ का उद्देश्य केवल प्रमाणों की चर्चा करना नहीं है किन्तु प्रमाण, नय और सोपाय बन्ध-मोक्ष इत्यादि परमपुरुषार्थोपयोगी विषयों की भी चर्चा करना है।

---

१ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम्, उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधाया शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति। तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः; न; उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्। कस्मात्?। लक्षणसामान्यात्। समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति।"–**न्यायवा० १. १. ३. न्यायम० पृ० १२.**

२ "पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलता च विचारस्य पूजितता"–**भामती० पृ० २७.**

पृ० २ पं० २०. **'सम्यगर्थ'**–प्रमाणसामान्यलक्षण की तार्किक परम्परा के उपलब्ध इतिहास में कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने "अदुष्टं विद्या" (९. २. १२) कहकर प्रमाणसामान्य का लक्षण कारणशुद्धिमूलक सूचित किया है। अक्षपाद के सूत्रों में लक्षणक्रम में प्रमाणसामान्यलक्षण के अभाव की त्रुटि को वात्स्यायन[1] ने 'प्रमाण' शब्द के निर्वचन द्वारा पूरा किया। उस निर्वचन में उन्होंने कणाद की तरह कारणशुद्धि की तरफ़ ध्यान नहीं रक्खा पर मात्र उपलब्धिरूप फल की ओर नज़र रखकर "उपलब्धिहेतुत्व" को प्रमाणसामान्य का लक्षण बतलाया है। वात्स्यायन के इस निर्वचनमूलक लक्षण में आनेवाले दोषों का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र[2] ने 'अर्थ' पद का सम्बन्ध जोड़कर और 'उपलब्धि' पद को ज्ञानसामान्यबोधक नहीं पर प्रमाणरूपज्ञानविशेषबोधक मानकर प्रमाणसामान्य के लक्षण को परिपूर्ण बनाया, जिसे उदयनाचार्य[3] ने कुसुमाञ्जलि में 'गौतम-नयसम्मत' कहकर अपनी भाषा में परिपूर्ण रूप से मान्य रक्खा जो पिछले सभी न्याय-वैशेषिक शास्त्रों में समानरूप से मान्य है। इस न्याय-वैशेषिक की परम्परा के अनुसार प्रमाणसामान्यलक्षण में मुख्यतया तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं–

१–कारणदोष के निवारण द्वारा कारणशुद्धि की सूचना।

२–विषयबोधक अर्थ पद का लक्षण में प्रवेश।

३–लक्षण में स्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का अभाव तथा विषय की अपूर्वता–अनधि-गतता के निर्देश का अभाव।

यद्यपि प्रभाकर[4] और उनके अनुगामी मीमांसक विद्वानों ने 'अनुभूति' मात्र को ही प्रमाणरूप से निर्दिष्ट किया है तथापि कुमारिल एवं उनकी परम्परावाले अन्य मीमांसकों ने न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओं का संग्राहक ऐसा प्रमाण का लक्षण रचा[5] है; जिसमें 'अदुष्टकारणारब्ध' विशेषण से कणादकथित कारणदोष का निवारण सूचित किया और 'निर्बाधत्व' तथा 'अपूर्वार्थत्व' विशेषण के द्वारा बौद्ध[6] परम्परा का भी समावेश किया।

१ "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः"–**न्यायभा० १. १. ३.**

२ "उपलब्धिमात्रस्य अर्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाशब्देन अभिधानात्"–**तात्पर्य० पृ० २१.**

३ "यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोग-व्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥"–**न्यायकु० ४. १, ५.**

४ "अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्"–**बृहती १. १. ५.**

५ "औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते। अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता ॥ सर्व-स्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा ॥"–**श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०, ११.** "एतच्च विशेषणत्रय-मुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्" –**शास्त्रदी० पृ० १२३.** "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः"–**सि० चन्द्रो० पृ० २०.**

६ "अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।"–**प्रमाणस० टी० पृ० ११.**

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

यह श्लोक कुमारिलकर्तृक माना जाता है । इसमें दो बातें ख़ास ध्यान देने की हैं–

१–लक्षण में अनधिगतबोधक 'अपूर्व' पद का अर्थविशेषण रूप से प्रवेश ।

5 २–स्व-परप्रकाशत्व की सूचना का अभाव ।

बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग[१] ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में 'स्वसंवित्ति' पद का फल के विशेषणरूप से निवेश किया है । धर्मकीर्त्ति[२] के प्रमाणवार्त्तिकवाले लक्षण में वात्स्यायन के 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' का सूचक तथा कुमारिल आदि के निर्बाधत्व का पर्याय 'अविसंवादित्व' विशेषण देखा जाता है और उनके न्यायबिन्दुवाले लक्षण में दिङ्नाग के अर्थसारूप्य का 10 ही निर्देश है (न्यायबि० १. २०.) । शान्तरक्षित के लक्षण में दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति दोनों के आशय का संग्रह देखा जाता है–

"विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥"–तत्त्वसं० का० १३४४.

इसमें भी दो बातें ख़ास ध्यान देने की हैं–

15 १–अभी तक अन्य परम्पराओं में स्थान नहीं प्राप्त 'स्वसंवेदन'विचार का प्रवेश और तद्द्वारा ज्ञानसामान्य में स्व-परप्रकाशत्व की सूचना ।

असङ्ग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद स्थापित किया । पर दिङ्नाग ने उसका समर्थन बड़े ज़ोरों से किया । उस विज्ञानवाद की स्थापना और समर्थनपद्धति में ही स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त स्फुटतर हुआ जिसका एक या दूसरे रूप में अन्य दार्शनिकों पर 20 भी प्रभाव पड़ा—देखो Buddhist Logic vol. I. P. 12

२–मीमांसक की तरह स्पष्ट रूप से 'अनधिगतार्थक ज्ञान' का ही प्रामाण्य ।

श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों जैन परम्पराओं के प्रथम तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अपने[३] अपने लक्षण में स्व-परप्रकाशार्थक 'स्व-परावभासक' विशेषण का समान रूप से निवेश किया है । सिद्धसेन के लक्षण में 'बाधविवर्जित' पद उसी अर्थ में है जिस अर्थ में मीमांसक 25 का 'बाधवर्जित' या धर्मकीर्त्ति का 'अविसंवादि' पद है । जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंक[४]

---

१ "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥"–**प्रमाणस० १. १०.**

२ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः । अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥–**प्रमाणवा० २. १.**

३ "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।"—**न्याया० १.** "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।"–**आप्तमी० १०१.** "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"–**बृ० स्वयं० ६३.**

४ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।"—**अष्टश० अष्टस० पृ० १७५.** तदुक्तम्—"सिद्धं यन्न परापेक्ष्यं सिद्धौ स्वपररूपयोः । तत् प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् ।" **न्यायवि० टी० लि० पृ० ३०.** उक्त कारिका सिद्धिविनिश्चय की है जो अकलंक की ही कृति है ।

ने कहीं 'अनधिगतार्थक' और 'अविसंवादि' दोनों विशेषणों का प्रवेश किया और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है। अकलंक के अनुगामी माणिक्यनन्दी[१] ने एक ही वाक्य में 'स्व' तथा 'अपूर्वार्थ' पद दाख़िल करके सिद्धसेन-समन्तभद्र की स्थापित और अकलंक के द्वारा विकसित जैन परम्परा का संग्रह कर दिया। विद्यानन्द[२] ने अकलंक तथा माणिक्यनन्दी की उस परंपरा से अलग होकर केवल सिद्धसेन और समन्तभद्र की व्याख्या को अपने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' जैसे शब्द में संगृहीत किया और 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो अकलंक और माणिक्यनन्दी की व्याख्या में हैं, उन्हें छोड़ दिया। विद्यानन्द का 'व्यवसायात्मक' पद जैन परम्परा के प्रमाणलक्षण में प्रथम ही देखा जाता है पर वह अक्षपाद[३] के प्रत्यक्षलक्षण में तो पहिले ही से प्रसिद्ध रहा है। सन्मति के टीकाकार अभयदेव[४] ने विद्यानन्द का ही अनुसरण किया पर 'व्यवसाय' के स्थान में 'निर्णीति' पद रक्खा। वादी[५] देवसूरि ने तो विद्यानंद के ही शब्दों को दोहराया है। आ० हेमचन्द्र ने उपर्युक्त जैन-जैनेतर भिन्न भिन्न परंपराओं का औचित्य-अनौचित्य विचार कर अपने लक्षण में केवल 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद रक्खे। उपर्युक्त जैन परम्पराओं को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में काट-छाँट के द्वारा संशोधन किया है। उन्होंने 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों ने लक्षण में सन्निविष्ट किया था, निकाल दिया। 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदों को स्थान न देकर अभयदेव के 'निर्णीति' पद के स्थान में 'निर्णय' पद दाख़िल किया और उमास्वाति, धर्मकीर्त्ति तथा भासर्वज्ञ के सम्यक्[६] पद को अपनाकर अपना 'सम्यगर्थनिर्णय' लक्षण निर्मित किया है।

आर्थिक तात्पर्य में कोई ख़ास मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्यों के प्रमाणलक्षण में शाब्दिक भेद है, जो किसी अंश में विचारविकास का सूचक और किसी अंश में तत्कालीन भिन्न भिन्न साहित्य के अभ्यास का परिणाम है। यह भेद संक्षेप में चार विभागों में समा जाता है। पहिले विभाग में 'स्व-परावभास' शब्दवाला सिद्धसेन-समन्तभद्र का लक्षण आता है जो संभवतः बौद्ध विज्ञानवाद के स्व-परसंवेदन की विचारछाया से ख़ाली नहीं है; क्योंकि इसके पहिले आगम ग्रन्थों में यह विचार नहीं देखा जाता। दूसरे विभाग में अकलंक-माणिक्यनन्दी का लक्षण आता है जिसमें 'अविसंवादि', 'अनधिगत' और 'अपूर्व' शब्द आते हैं जो असंदिग्ध रूप से बौद्ध और मीमांसक ग्रन्थों के ही हैं। तीसरे

१ "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।"–**परी० १. १**

२ तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता । लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥"–**तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७७. प्रमाणप० पृ० ५३.**

३ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।"–**न्याय सू० १.१.४.**

४ "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम् ।"–**सन्मतिटी०. पृ० ५१८.**

५ "स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम् ।"–**प्रमाणन० १. २.**

६ "सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः ।"–**तत्त्वार्थ० १. १.** "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्व पुरुषार्थसिद्धिः ।"–**न्यायवि० १. १.** "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् ।"–**न्यायसार पृ० १.**

विभाग में विद्यानन्द, अभयदेव और देवसूरि के लक्षण का स्थान है जो वस्तुतः सिद्धसेन-समन्तभद्र के लक्षण का शब्दान्तर मात्र है पर जिसमें अवभास के स्थान में 'व्यवसाय' या 'निर्णीति' पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। अन्तिम विभाग में मात्र आ० हेमचन्द्र का लक्षण है जिसमें 'स्व', 'अपूर्व', 'अनधिगत' आदि सब उड़ाकर परिष्कार 5 किया गया है।

पृ० २. पं० २१. **'प्रसिद्धानुवादेन'**–लक्षण के प्रयोजन की विभिन्न चर्चाओं के अन्तिम तात्पर्य में कोई भेद नहीं जान पड़ता तथापि उनके ढंग जुदे जुदे और बोधप्रद हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक शास्त्र हैं और दूसरी ओर बौद्ध तथा जैनशास्त्र हैं। सभी न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों[1] में लक्षण का प्रयोजन 'इतरभेदज्ञापन' बतलाकर लक्षण को 'व्यतिरेकिहेतु' माना 10 है और साथ ही 'व्यवहार' का भी प्रयोजक बतलाया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर ने प्रसिद्ध का अनुवाद करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षण का प्रयोजन विस्तार से प्रतिपादित किया है, जिसका[2] देवसूरि ने बड़े विस्तार तथा आटोप के साथ निरसन किया है। अकलंक[3] का झुकाव व्यावृत्ति को प्रयोजन मानने की ओर है; परन्तु आ० हेमचन्द्र ने धर्मोत्तर के कथन का आदर करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षणार्थ 15 बतलाया है।

पृ० २. पं० २३. **'भवति हि'**–हेमचन्द्र ने इस जगह जो 'लक्ष्य' को पक्ष बना कर 'लक्षण' सिद्ध करनेवाला 'हेतुप्रयोग' किया है वह बौद्ध-जैन ग्रन्थों में एक सा है।

१ "तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्"–**न्यायभा० १. १. २.** "लक्षणस्य इतरव्यवच्छेदहेतुत्वात्"– **न्यायवा० १. १. ३.** "लक्षणा नाम व्यतिरेकिहेतुवचनम्। तद्धि समानासमानजातीयेभ्यो विभिद्य लक्ष्य व्यवस्थापयति "–**तात्पर्य० १.१.३.** "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः"–**न्यायम० पृ०६५.** "लक्षणस्य व्यवहारमात्रसारतया समानासमानजातीयव्यवच्छेदमात्रसाधनत्वेन चान्याभावप्रतिपादनासामर्थ्यात्"–**कन्दली० पृ० ८.** "व्यावर्त्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तौ अभिधेयत्वादौ च अतिव्याप्तिवारणाय तद्भिन्नत्व धर्मविशेषणं देयम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्, व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्।"–**दीपिका० पृ० १३.** "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।"–**तर्कदी० गंगा पृ० १६.** "ननु लक्षणमिद व्यतिरेकिलिङ्गमितरभेदसाधकं व्यवहारसाधकं वा।"–**वै० उप० २. १. १.**

२ "तत्र प्रत्यक्षमनूद्य कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च विधीयते। यत्तद्भवतामस्माकं चार्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रसिद्धं तत्कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम्। न चैतन्मन्तव्यं कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं चेदप्रसिद्धं किमन्यत् प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते यत्प्रत्यक्षशब्दवाच्य सदनूद्येतेति ?। यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां सिद्ध तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्वविधिः।" **न्यायबि० टी० १. ४.** "अत्राह धर्मोत्तरः—लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये लक्ष्यमनूद्य लक्षणमेव विधीयते। लक्ष्यं हि प्रसिद्धं भवति ततस्तदनुवाद्यम्, लक्षणं पुनः अप्रसिद्धमिति तद्विधेयम्। अज्ञातज्ञापन विधिरित्यभिधानात्। सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे लक्षणमनूद्य लक्ष्यमेव विधीयते इति; तदेतदबन्धुरम्; लक्ष्यवल्लक्षणस्यापि प्रसिद्धिर्न हि न सिद्धेति कुतस्तस्याप्यज्ञातत्वनिबन्धनो विधिरप्रतिबद्धः सिद्ध्येत्।"–**स्याद्वादर० पृ० २०.**

३ "परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।" **तत्त्वार्थरा० पृ० ८२.**

और 'विशेष' को 'पक्ष' बनाकर 'सामान्य' को 'हेतु' बनाने की युक्ति भी एक जैसी है[१]।

पृ० ३. पं० १. **'तत्र निर्णयः'**–तुलना–"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"–न्यायसू० १. १. ४१।

पृ० ३. पं० ३. **'अर्यते अर्थ्यते'**–प्रमेय–अर्थ के प्रकार के विषय में दार्शनिकों का मत-भेद है। न्याय-वैशेषिक परम्परा के सभी प्रधान आचार्यों[२] का मत हेय-उपादेय-उपेक्षणीय-रूप से तीन प्रकार के अर्थ मानने का है। बौद्ध धर्मोत्तर[३] उपेक्षणीय को हेय में अन्तर्भावित करके दो ही प्रकार का अर्थ मानता है जिसका शब्दशः अनुसरण दिगम्बर तार्किक प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनंदी के सूत्र का यथाश्रुत अर्थ करके किया है। देवसूरि की सूत्ररचना में तो माणिक्यनन्दी के सूत्र की यथावत् छाप है फिर भी स्वोपज्ञ व्याख्या में देवसूरि ने धर्मोत्तर के मत को प्रभाचन्द्र की तरह स्वीकार न करके त्रिविध अर्थ माननेवाले न्याय-वैशेषिक पक्ष को ही स्वीकार किया है,[४] जैसा कि सन्मतिटीकाकार (पृ० ४६६) ने किया है।

---

१ "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः"–**प्रमाणप० पृ० १. न्यायकुमु० लि० पृ० ३६. प्रमेयक० १. १.** "तत्सम्भवसाधकस्य प्रमाणत्वाख्यस्य हेतोः सद्भावात्। ननु यदेव प्रमाणं धर्मित्वेनात्र निर्देशि कथं तस्यैव हेतुत्वमुपपन्नमिति चेत्; ननु किमस्य हेतुत्वानुपपत्तौ निमित्तम्–किं धर्मित्वहेतुत्वयोर्विरोधः ?। किं वा प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम् ?। यद्वाऽनन्वयत्वम् ?। तत्राद्यपक्षेऽयमभिप्रायः–धर्माणामधिकरणं धर्मी तदधिकरणास्तु धर्माः। ततो यद्यत्र प्रमाणं धर्मि कथं हेतुः ?। स चेत्; कथं धर्मि, हेतोर्धर्मत्वात् धर्मधर्मिणोश्चैक्यानुपपत्तेः ?। तदयुक्तम्। विशेषं धर्मिणं विधाय सामान्यं हेतुमभिदधतां दोषासम्भवात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षपरोक्षव्यक्तिलक्षणं धर्म्मि। प्रमाणत्वसामान्यं हेतुः। ततो नात्र सर्वथैक्यम्। कथञ्चिदैक्यं तु भवदपि न धर्मधर्मिभावं विरुणद्धि। प्रत्युत तत्प्रयोजकमेव, तदन्तरेण धर्मधर्मिभावेऽतिप्रसङ्गात्।"–**स्याद्वादर० पृ० ४१, ४२. प्रमेयर० १ १** "ननु प्रत्ययविशेषो धर्मी सामान्यं साधनमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशता"–**प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार पृ० ६२।**

२ "अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते ?। तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्य उपेक्षिष्ये वेति। ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते"–**न्यायभा० १. १. ३२.** "पुरुषापेक्षया तु प्रामाण्ये चन्द्रतारकादिविज्ञानस्य पुरुषानपेक्षितस्य अप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चातिदवीयस्तया तदर्थस्य हेयतया तदपि पुरुषस्यापेक्षितम्, तस्योपेक्षणीयविषयत्वात्। न चोपेक्षणीयमपि अनुपादेयत्वात् हेयमिति निवेदयिष्यते" (१. १. ३. पृ० १०३)–**तात्पर्य० पृ० २१. न्यायम० पृ० २४.** "प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनम्। गुणदर्शनमुपादेयत्वज्ञानम्, दोषदर्शनं हेयत्वज्ञानम्, माध्यस्थ्यदर्शनं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञानं प्रमितिः।"–**कन्दली पृ० १९६।**

३ "पुरुषस्यार्थः अर्थ्यत इत्यर्थः काम्यत इति यावत्। हेयोऽर्थः उपादेयो वा। हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते उपादेयोऽप्युपादातुम्। न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वात् हेय एव"–**न्यायबि० टी० १. १।**

४ "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्"–**परी० १. २.** "अर्थ्यते अभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च। उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वात् हेयत्वम्, उपादानक्रियां प्रति अकर्मभावात् नोपादेयत्वम् हानक्रियां प्रति विपर्ययात् तत्त्वम्। तथा च लोको वदति–अहमनेन उपेक्षणीयत्वेन परित्यक्त इति"–**प्रमेयक० पृ० २ A.** "अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम् अतो

आ० हेमचन्द्र ने भी उसी त्रिविध अर्थ के पक्ष को ही लिया है पर उसके स्थापन में नई युक्ति का उपयोग किया है।

पृ० ३. पं० ४. 'न चानुपादेय'–तुलना–"ननु कोऽयमुपेक्षणीयो नाम विषयः? । स हि उपेक्षणीयत्वादेव नोपादीयते चेत्; स तर्हि हेय एव, अनुपादेयत्वादिति । नैतद् युक्तम्, उपेक्षणीयविषयस्य स्वसंवेद्यत्वेन अप्रत्याख्येयत्वात् ।

हेयोपादेययोरस्ति दुःख-प्रीतिनिमित्तता ।
यत्नेन हानोपादाने भवतस्तत्र देहिनाम् ॥
यत्नसाध्यद्वयाभावादुभयस्यापि साधनात् ।
ताभ्यां विसदृशं वस्तु स्वसंविदितमस्ति नः ॥
उपादेये च विषये दृष्टे रागः प्रवर्तते ।
इतरत्र तु विद्वेषस्तत्रोभावपि दुर्लभौ ॥

यत्तु अनुपादेयत्वात् हेय एवेति, तदप्रयोजकम्, न ह्येवं भवति, यदेतद् नपुंसकं स पुमान्, अस्त्रीत्वात् । स्त्री वा नपुंसकं अपुंस्त्वादिति । स्त्रीपुंसाभ्यामन्यदेव नपुंसकम्, तथोपलभ्यमानत्वात् । एवमुपेक्षणीयोऽपि विषयो हेयोपादेयाभ्यामर्थान्तरम्, तथोपलम्भादिति ।

यदेतत् तृणपर्णादि चकास्ति पथि गच्छतः ।
न धीश्छत्रादिवत् तत्र न च काकोदरादिवत् ॥"–न्यायम० पृ० २४-२५.

पृ० ३. पं० ६. 'सम्यग्'–तुलना–"तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः समञ्चतेर्वा भावः"–तत्त्वार्थभा० १ १.

पृ० ३. पं० ११. 'संभव'–तुलना–

"संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् ।
न शैत्येन न चौष्ण्येन वह्निः क्वापि विशिष्यते ॥"–तन्त्रवा० पृ० २०८.
"संभवव्यभिचाराभ्यां विशेषणविशेष्ययोः ।
दृष्टं विशेषणं लोके यथेहापि तथेक्ष्यताम् ॥"–बृहदा० वा० पृ० २०१२.

"संभवे व्यभिचारे च विशेषणं युक्तम्–"हेतुबि० टी० लि० पृ० ६१.

पृ० ३. पं० १६. 'न चासावसन्'–आ० हेमचन्द्र ने 'स्वप्रकाशत्व' के स्थापन और ऐकान्तिक 'परप्रकाशकत्व' के खंडन में बौद्ध, प्रभाकर, वेदान्त आदि सभी 'स्वप्रकाश'वादियों की युक्तियों का संग्राहक उपयोग किया है।

ज्ञानमेवेदम्" प्रमाणन० १. ३ । "अभिमतानभिमतयोरुपलक्षणत्वादभिमतानभिमतोभयाभावस्वभाव उपेक्षणीयोऽप्यत्रार्थो लक्षयितव्यः । रागगोचरः खल्वभिमतः । द्वेषविषयोऽनभिमतः । रागद्वेषद्वितयानालम्बनं तृणादिरुपेक्षणीयः । तस्य चोपेक्षकं प्रमाणं तदुपेक्षायां समर्थमित्यर्थः ॥"–स्याद्वादर० १. २ ।

पृ० ३. पं० १६. 'घटमहं जानामि'–तुलना–"घटमहमात्मना वेद्मि। कर्मवत् कर्तृकरण-क्रियाप्रतीतेः।"–परी० १. ८, ९

पृ० ३. पं० १७. 'न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्य'–तुलना–"तदाह–धर्मकीर्त्तिः 'अप्रत्यक्षो०' न्यायवि० टी० लि० पृ० १०६ B; पृ० ५८२ B. "अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिद्ध्यति" तत्त्वसं० का० २०७४. 5

पृ० ३. पं० २२ 'तस्मादर्थोन्मुख'–तुलना–"स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। अर्थस्येव तदुन्मुखतया।" परी० १. ६, ७.

पृ० ४. पं० १०. 'स्वनिर्णय'–आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों के लक्षण में वर्तमान है उसे जब नहीं रक्खा तब उनके सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या प्राचीनआचार्यसंमत 'स्वप्रकाशत्व' इष्ट न होने से 'स्व'पद का त्याग करते 10 हो या अन्य किसी दृष्टि से ? । इसका उत्तर उन्होंने इस सूत्र में दिया कि ज्ञान तो 'स्वप्रकाश' ही है पर व्यावर्त्तक न होने से लक्षण में उसका प्रवेश अनावश्यक है। ऐसा करके अपना विचारस्वातंत्र्य उन्होंने दिखाया और साथ ही वृद्धों का खण्डन न करके 'स्व'पदप्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया।

पृ० ४. पं० १५. 'ननु च परिच्छिन्नमर्थम्'–तुलना–"अधिगतं चार्थमधिगमयता प्रमाणेन 15 पिष्टं पिष्टं स्यात्।"–न्यायवा० पृ० ५.

पृ० ४. पं० १६. 'धारावाहिज्ञानानाम्'–भारतीय प्रमाणशास्त्रों में 'स्मृति' के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा प्रथम से ही चली आती देखी जाती है पर धारावाहिक ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा संभवतः बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्त्ति के बाद दाखिल हुई। एक बार प्रमाणशास्त्रों में प्रवेश होने के बाद तो फिर वह सर्वदर्शनव्यापी हो गई और 20 इसके पक्ष-प्रतिपक्ष में युक्तियाँ तथा वाद स्थिर हो गये और ख़ास-ख़ास परम्पराएँ बन गईं।

वाचस्पति, श्रीधर, जयन्त, उदयन आदि सभी[1] न्याय-वैशेषिक दर्शन के विद्वानों ने 'धारावाहिक' ज्ञानों को अधिगतार्थक कहकर भी प्रमाण ही माना है और उनमें 'सूक्ष्मकाल-कला' के भान का निषेध ही किया है। अतएव उन्होंने प्रमाण लक्षण में 'अनधिगत' 25 आदि पद नहीं रक्खे।

---

१ "अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे। न च कालभेदेनानधिगतगोचरत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम्। परम-सूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात्। न चाद्येनैव विज्ञानेनोपदर्शितत्वादर्थस्य प्रवर्तितत्वात् पुरुषस्य प्रापितत्वाच्चोत्तरेषामप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम्। नहि विज्ञानस्यार्थप्रापणं प्रवर्तनादन्यद्, न च प्रवर्तनमर्थप्रदर्शनादन्यत्। तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्त्तकं प्रापकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि ?।"–तात्पर्य० पृ० २१. कन्दली पृ० ६१. न्यायमं० पृ० २२. न्यायकु० ४. १।

मीमांसक की प्रभाकरीय और कुमारिलीय दोनों परम्पराओं में भी धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। पर दोनों ने उसका समर्थन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। प्रभाकरानुगामी शालिकनाथ[1] 'कालकला' का भान बिना माने ही 'अनुभूति' होने मात्र से उन्हें प्रमाण कहते हैं, जिस पर न्याय-वैशेषिक परम्परा की छाप स्पष्ट है। 5 कुमारिलानुगामी पार्थसारथि[2], 'सूक्ष्मकालकला' का भान मानकर ही उनमें प्रामाण्य का उपपादन करते हैं क्योंकि कुमारिलपरम्परा में प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद होने से ऐसी कल्पना बिना किये 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य का समर्थन किया नहीं जा सकता। इस पर बौद्ध और जैन कल्पना की छाप जान पड़ती है।

बौद्ध-परम्परा में यद्यपि धर्मोत्तर[3] ने स्पष्टतया 'धारावाहिक' का उल्लेख करके तो कुछ 10 नहीं कहा है, फिर भी उसके सामान्य कथन से उसका झुकाव 'धारावाहिक' को अप्रमाण मानने का ही जान पड़ता है। हेतुबिन्दु की टीका में अर्चट[4] ने 'धारावाहिक' के विषय में अपना मन्तव्य प्रसंगवश स्पष्ट बतलाया है। उसने योगिगत 'धारावाहिक' ज्ञानों को तो 'सूक्ष्म कालकला' का भान मानकर प्रमाण कहा है। पर साधारण प्रमाताओं के धारा-वाहिकों को सूक्ष्मकालभेदग्राहक न होने से अप्रमाण ही कहा है। इस तरह बौद्ध पर-15 म्परा में प्रमाता के भेद से 'धारावाहिक' के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का स्वीकार है।

---

१ "धारावाहिकेषु तर्ह्युत्तरविज्ञानानि स्मृतिप्रमोषादविशिष्टानि कथं प्रमाणानि ?। तत्राह–अन्योन्य-निरपेक्षास्तु धारावाहिकबुद्धयः। व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलाप उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता।"–**प्रकरणप० पृ० ४२-४३. बृहतीप० पृ० १०३.**

२ "नन्वेवं धारावाहिकेषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात्। तस्मात् 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणम्। .. तस्मात् यथार्थमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति वक्तव्यम्। धारावाहिकेष्व-प्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्। सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत्; अहो सूक्ष्मदर्शी देवानांप्रियः! यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायो-परतः सोऽनन्तरक्षणसम्बन्धितयार्थं स्मरति। तथाहि–किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति–अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।"–**शास्त्रदी० पृ० १२४–१२६.**

३ "अत एव अनधिगतविषयं प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्।"–**न्यायबि० टी०. पृ० ३.**

४ "यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चैवम्, अतोऽनेकान्त इति प्रमाणसंप्लववादी दर्शयन्नाह–पूर्व-प्रत्यक्षक्षणेन इत्यादि। एतत् परिहरति–तद् यदि प्रतिक्षणं क्षणविवेकदर्शिनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नोप-योगितया पृथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः। अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषान-भिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकात्मिकामध्यवस्यन्तीति प्रामाण्यमप्युत्तरेषामनिष्टमेवेति कुतोऽनेकान्तः ?।"–**हेतु० टी० लि०. पृ० ३९B–४१A.**

जैन तर्कग्रन्थों में 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में दो परम्पराएँ हैं—दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'धारावाहिक' ज्ञान तभी प्रमाण हैं जब वे क्षणभेदादि विशेष का भान करते हों और विशिष्टप्रमाजनक होते हों। जब वे ऐसा न करते हों तब प्रमाण नहीं हैं। इसी तरह उस परम्परा के अनुसार यह भी समझना चाहिए कि विशिष्टप्रमाजनक होते हुए भी 'धारावाहिक' ज्ञान जिस द्रव्यांश में विशिष्टप्रमाजनक नहीं हैं उस अंश में वे अप्रमाण और विशेषांश में विशिष्टप्रमाजनक होने के कारण प्रमाण हैं अर्थात् एक ज्ञान व्यक्ति में भी विषय भेद की अपेक्षा से प्रामाण्याप्रामाण्य है। अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी के अनुगामी प्रभाचन्द्र के टीकाग्रन्थों का पूर्वापर अवलोकन उक्त नतीजे पर पहुँचाता[1] है। क्योंकि अन्य सभी जैनाचार्यों की तरह निर्विवाद रूप से 'स्मृतिप्रामाण्य' का समर्थन करनेवाले अकलङ्क और माणिक्यनन्दी अपने-अपने प्रमाण लक्षण में जब बौद्ध और मीमांसक के समान 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद रखते हैं तब उन पदों की सार्थकता उक्त तात्पर्य के सिवाय और किसी प्रकार से बतलाई ही नहीं जा सकती चाहे विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र का स्वतन्त्र मत कुछ भी रहा हो।

बौद्ध[2] विद्वान् विकल्प और स्मृति दोनों में, मीमांसक स्मृति मात्र में स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं मानते। इसलिए उनके मत में तो 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद का प्रयोजन स्पष्ट है। पर जैन परम्परा के अनुसार वह प्रयोजन नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा के सभी विद्वान् एक मत से धारावाहिज्ञान को स्मृति की तरह प्रमाण मानने के ही पक्ष में हैं। अतएव किसी ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अनधिगत' 'अपूर्व' आदि जैसे पद को स्थान ही नहीं दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने स्पष्टरूपेण यह कह दिया कि चाहे ज्ञान गृहीतग्राही हो तब भी वह अगृहीतग्राही के समान ही प्रमाण है। उनके विचारानुसार गृहीतग्राहित्व प्रामाण्य का विघातक नहीं, अतएव उनके मत से एक धारावाहिक ज्ञानव्यक्ति में विषयभेद की अपेक्षा से प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने की ज़रूरत नहीं और न तो कभी किसी को अप्रमाण मानने की ज़रूरत है।

---

१ "गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥"—**तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७८**। "प्रमान्तरागृहीतार्थप्रकाशित्वं प्रपञ्चतः। प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेपि कथंचन॥"—**तत्त्वार्थश्लो० १. १३. ६४**। "गृहीतग्रहणात् तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता। धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा॥"—**तत्त्वार्थश्लोकवा० १. १३. १५.** "नन्वेवमपि प्रमाणसंप्लववादिताव्याघातः प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तराप्रतिपत्तिरित्यचोद्यम्। अर्थपरिच्छित्तिविशेषसद्भावे तत्प्रवृत्तेरप्यभ्युपगमात्। प्रथमप्रमाणप्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेषं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमपूर्वार्थमेव वृक्षो न्यग्रोध इत्यादिवत्।"—**प्रमेयक० पृ० १६**।

२ "यद् गृहीतग्राहि ज्ञानं न तत्प्रमाणं, यथा स्मृतिः, गृहीतग्राही च प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प इति व्यापकविरुद्धोपलब्धि." —**तत्त्वसं० प० का० १२९८**।

श्वेताम्बर आचार्यों में भी आ० हेमचन्द्र की ख़ास विशेषता है क्योंकि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही दोनों का समत्व दिखाकर सभी धारावाहिज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है वह ख़ास मार्के का है।

पृ० ४. पं० १८. **'तत्रापूर्वार्थ'**–तुलना–हेतुबि० टी० लि० पृ० ८७.

5 पृ० ४. पं० १९ **'ग्रहीष्यमाण'**–'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो धर्मोत्तर, अकलंक, माणिक्यनन्दी आदि के लक्षणवाक्य में है उसको आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में जब स्थान नहीं दिया तब उनके सामने यह प्रश्न आया कि 'धारावाहिक' और 'स्मृति' आदि ज्ञान जो अधिगतार्थक या पूर्वार्थिक हैं और जिन्हें अप्रमाण समझा जाता है उनको प्रमाण मानते हो या अप्रमाण ?। यदि अप्रमाण मानते हो तो सम्यगर्थनिर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है।
10 अतएव 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद लक्षण में रखकर 'अतिव्याप्ति' का निरास क्यों नहीं करते ?। इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में आ० हेमचन्द्र ने उक्त ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार करके ही दिया है। इस सूत्र की प्रासादिक और अर्थपूर्ण रचना हेमचन्द्र की प्रतिभा और विचारविशदता की द्योतिका है। प्रस्तुत अर्थ में इतना संक्षिप्त, प्रसन्न और सयुक्तिक वाक्य अभी तक अन्यत्र देखा नहीं गया।

15 पृ० ४. पं० २०. **'द्रव्यापेक्षया'**–यद्यपि न्यायावतार की टीका में सिद्धर्षि ने[1] भी अनधिगत विशेषण का खण्डन करते हुए द्रव्यपर्याय रूप से यहाँ जैसे ही विकल्प उठाये हैं तथापि वहाँ आठ विकल्प होने से एक तरह की जटिलता आ गई है। आ० हेमचन्द्र ने अपनी प्रसन्न और संक्षिप्त शैली में दो विकल्पों के द्वारा ही सब कुछ कह दिया है। तत्त्वोपप्लव[2] ग्रन्थ के अवलोकन से और आ० हेमचन्द्र के द्वारा किये गये उसके अभ्यास के अनुमान से एक बात
20 कल्पना में आती है। वह यह कि प्रस्तुत सूत्रगत युक्ति और शब्दरचना दोनों के स्फुरण का निमित्त शायद आ० हेमचन्द्र पर पड़ा हुआ तत्त्वोपप्लव का प्रभाव ही हो।

पृ० ५. पं० ७ **'अनुभयत्र'**–संशय के उपलभ्य लक्षणों को देखने से जान पड़ता है कि कुछ तो कारणमूलक हैं और कुछ स्वरूपमूलक। कणाद, अक्षपाद और किसी बौद्ध-विशेष के

---

१. "तत्रापि सोऽधिगम्योऽर्थः किं द्रव्यम्, उत पर्यायो वा, द्रव्यविशिष्टपर्यायः, पर्यायविशिष्टं वा द्रव्यमिति, तथा किं सामान्यम्, उत विशेषः, आहोस्वित् सामान्यविशिष्टो विशेषः, विशेषविशिष्टं वा सामान्यम् इत्यष्टौ पक्षाः।" **न्याया० सि० टी० पृ० १३.**

२. "अन्ये तु अनधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रमाणलक्षणमभिदधति, ते त्वयुक्तवादिनो द्रष्टव्याः। कथमयुक्तवादिता तेषामिति चेत्; उच्यते–विभिन्नकारकोत्पादितैकार्थविज्ञानानां यथाव्यवस्थितैकार्थगृहीतिरूपत्वाविशेषेपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यं नोत्तरस्य इत्यत्र नियामकं वक्तव्यम्। अथ यथावस्थितार्थगृहीतिरूपत्वाविशेषेपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपद्यते न प्रथमोत्तरविज्ञानस्य; तदा अनेनैव न्यायेन प्रथमस्याप्यप्रामाण्यं प्रसक्तम्, गृहीतार्थग्राहित्वाविशेषात्।"–**तत्त्वो० लि० पृ० ३०.**

लक्षण कारणमूलक[1] हैं। देवसूरि का लक्षण कारण और स्वरूप उभयमूलक[2] है जब कि आ० हेमचन्द्र के इस लक्षण में केवल स्वरूप का निदर्शन है, कारण का नहीं।

पृ० ५. पं० ६. 'साधकबाधक'–तुलना–"साधकबाधकप्रमाणाभावात् तत्र संशीतिः–लघी० स्ववि० १. ४. अष्टश० का० ३. "सेयं साधकबाधकप्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मोपलब्धिर्विनश्यदवस्थाविशेषस्मृतया सहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् क्षणे सती संशयज्ञानस्य हेतुरिति सिद्धम्।"–तात्पर्य० १. १ २३. "न हि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ"–न्यायकु० पृ० ८.

पृ० ५. पं० १३. 'विशेषा'–प्रत्यक्ष-अनुमान उभय विषय में अनध्यवसाय का स्वरूप बतलाते हुए प्रशस्तपाद ने लिखा है कि–

"अनध्यवसायोपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते। तत्र प्रत्यक्षविषये तावत् प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति। तत्र सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्त्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसायो भवति। पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव केवलं तूपदेशाभावाद्विशेषसञ्ज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति। अनुमानविषयेऽपि नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति।"–प्रशस्त० पृ० १८२.

उसी के विवरण में श्रीधर ने कहा है कि–"सेयं संज्ञाविशेषानवधारणात्मिका प्रतीतिरनध्यवसायः॥"–कन्दली० पृ० १८३.

आ० हेमचन्द्र के लक्षण में वही भाव सन्निविष्ट है।

पृ० ५. पं० १५–'परेषाम्'–तुलना–"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्" प्रमाणसमु० १.३. "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्त्तते इति प्रत्यक्षम्"–न्यायप्र० पृ० ७. "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"–न्यायबि० १. ४.

पृ० ५. पं० १७. 'अतस्मिन्'–आ० हेमचन्द्र का प्रस्तुत लक्षण कणाद[3] के लक्षण की तरह कारणमूलक नहीं है पर योगसूत्र और प्रमाणनयतत्त्वालोक के लक्षण की तरह स्वरूपमूलक[4] है।

---

१. "सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः" "दृष्टं च दृष्टवत्" "यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च" "विद्याऽविद्यातश्च संशयः"–वैशे० सू० २. २. १७–२०. "समानाऽनेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"–न्यायसू० १ १. २३. "अन्ये तु सशयलक्षणमन्यथा व्याचक्षते–साधर्म्यदर्शनाद्विशेषोऽलिप्सोर्विमर्शः संशय इति"–न्यायवा०–१. १. २३. "बौद्धाभिमतं संशयलक्षणमुपन्यस्यति। अन्ये त्विति।" तात्पर्य० १. १. २३.

२. "साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः।"–प्रमाणन० १. १२.

३. "इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या" वैशे० सू० ६. २. १०.

४. "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।"–योगसू० १. ८. प्रमाणन० १. १०, ११.

पृ० ५. पं० १९. 'तिमिरादिदोषात्'–तुलना–"तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयान-संक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"–न्यायबि० १. ६. "तिमिरम् अक्ष्णोर्विप्लवः इन्द्रियगत-मिदं विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणमलातादेः। मन्दं भ्रम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं
5 नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम्, एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते, एतच्च अध्यात्मगतं विभ्रमकारणम्।"–न्यायबि० टी० १. ६.

पृ० ५. पं० २२. 'तत्प्रामाण्यं तु'–तुलना–"तथाहि विज्ञानस्य तावत्प्रामाण्यं स्वतो वा
10 निश्चीयते परतो वा? । न तावत् पूर्वः कल्पः; न खलु विज्ञानमनात्मसंवेदनमात्मानमपि गृह्णाति प्रागेव तत्प्रामाण्यम्। नापि विज्ञानान्तरम्; तत् विज्ञानमित्येव गृह्णीयान्न पुनरस्याव्यभिचारित्वम्। ज्ञानत्वमात्रं च तदाभाससाधारणमिति न स्वतः प्रामाण्यावधारणम्। एतेन स्वसंवेदननयेऽपि अव्यभिचारग्रहणं प्रत्युक्तम्। नापि परतः। परं हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयेत, अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानान्तरम्, तद्गोचरनान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा? । तच्च सर्वं
15 स्वतोऽनवधारितप्रामाण्यमाकुलं सत् कथं पूर्वं प्रवर्त्तकं ज्ञानमनाकुलयेत्? । स्वतो वाऽस्य प्रामाण्ये किमपराद्धं प्रवर्तकज्ञानेन, येन अस्मिन्नपि तन्न स्यात्? । न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्यावेदितम्।"–तात्पर्य १. १. १.

पृ० ६. पं० १. 'प्रामाण्य'—दर्शनशास्त्रों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के 'स्वतः' 'परतः' की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से जान पड़ता है कि इस चर्चा का
20 मूल वेदों के प्रामाण्य मानने न माननेवाले दो पक्षों में है। जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानों ने वेद के प्रामाण्य का विरोध किया तब वेदप्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक-मीमांसक विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का समर्थन करना शुरू किया। प्रारम्भ में यह चर्चा 'शब्द'प्रमाण तक ही परिमित रही जान पड़ती है पर एक बार उसके तार्किक प्रदेश में आने पर फिर वह व्यापक बन गई और सर्व ज्ञान के विषय में प्रामाण्य किंवा अप्रामाण्य के 'स्वतः' 'परतः'
25 का विचार शुरू हो गया[1]।

इस चर्चा में पहिले मुख्यतया दो पक्ष पड़ गये। एक तो वेद-अप्रामाण्यवादी जैन-बौद्ध और दूसरा वेदप्रामाण्यवादी नैयायिक, मीमांसक आदि। वेद-प्रामाण्यवादियों में भी उसका समर्थन भिन्न-भिन्न रीति से शुरू हुआ। ईश्वरवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन ने वेद का प्रामाण्य ईश्वरमूलक स्थापित किया। जब उसमें वेदप्रामाण्य परतः स्थापित किया

[1] "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" जैमि० सू० १. १. ५. "तस्मात् तत् प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्। न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम्, पुरुषान्तरं वापि; स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ।"–**शाबरभा० १. १. ५. बृहती० १. १. ५.** "सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा॥"–**श्लोकवा० चोद० श्लो० ३३.**

गया तब बाक़ी के प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों का प्रामाण्य भी 'परतः' ही सिद्ध किया गया और समान युक्ति से उसमें अप्रामाण्य को भी 'परतः' ही निश्चित किया। इस तरह प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों परतः ही न्याय-वैशेषिक सम्मत[1] हुए।

मीमांसक ईश्वरवादी न होने से वह तन्मूलक प्रामाण्य तो वेद में कह ही नहीं सकता था। अतएव उसने वेदप्रामाण्य 'स्वतः' मान लिया और उसके समर्थन के वास्ते प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य 'स्वतः' ही स्थापित किया[2]। पर उसने अप्रामाण्य को तो 'परतः' ही माना[3] है।

यद्यपि इस चर्चा में सांख्यदर्शन का क्या मन्तव्य है इसका कोई उल्लेख उसके उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता फिर भी कुमारिल, शान्तरक्षित और माधवाचार्य के कथनों से जान पड़ता है कि सांख्यदर्शन प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को 'स्वतः' ही माननेवाला रहा[4] है। शायद उसका तद्विषयक प्राचीन साहित्य नष्टप्राय हुआ हो। उक्त आचार्यों के ग्रन्थों में ही एक ऐसे पक्ष का भी निर्देश है जो ठीक मीमांसक से उलटा है अर्थात् वह अप्रामाण्य को 'स्वतः' ही और प्रामाण्य को 'परतः' ही मानता है। सर्वदर्शन-संग्रह में–सौगताश्चरमं स्वतः (सर्वद० पृ० २७९) इस पक्ष को बौद्धपक्ष रूप से वर्णित किया है सही, पर तत्त्वसंग्रह में जो बौद्ध पक्ष है वह बिलकुल जुदा है। संभव है सर्वदर्शनसंग्रहनिर्दिष्ट बौद्धपक्ष किसी अन्य बौद्धविशेष का रहा हो।

शान्तरक्षित ने अपने बौद्ध मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–१–प्रामाण्य-अप्रामाण्य उभय 'स्वतः', २–उभय 'परतः', ३–दोनों में से प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः, तथा ४–अप्रामाण्य स्वतः, प्रामाण्य परतः–इन चार पक्षों में से कोई भी बौद्धपक्ष नहीं है क्योंकि वे चारों पक्ष नियमवाले हैं। बौद्धपक्ष अनियमवादी है अर्थात् प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य दोनों में कोई 'स्वतः' तो कोई 'परतः' अनियम से है। अभ्यासदशा में तो 'स्वतः' समझना चाहिए चाहे प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य। पर अनभ्यासदशा में 'परतः' समझना चाहिए[5]।

---

१ "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"–**न्यायभा० पृ० १। तात्पर्य० १. १. १।** किं विज्ञानाना प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उत उभयमपि परतः आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः उतस्वित् प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति। तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः।...स्थितमेतदर्थक्रियाज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चय इति। तदिदमुक्तम्। प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति-सामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमिति। तस्मादप्रामाण्यमपि परोक्षमित्यतो द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्। **न्यायम० पृ० १६०-१७४। कन्दली पृ० २१७–२२०।** "प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्। तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः॥"–**न्यायकु० २. १। तत्त्वचि० प्रत्यक्ष० पृ० १८३–२३३।**

२ "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"–**श्लोकवा० सू० २. श्लो० ४७।**

३ **श्लोकवा० सू० ३. श्लो० ८५।**

४ "केचिदाहुर्द्वयं स्वतः।"–**श्लोकवा० सू० २. श्लो० ३४३ तत्त्वसं० प० का० २८११.** "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः साङ्ख्याः समाश्रिताः।"–**सर्वद० जैमि० पृ० २७९।**

५ "नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि–उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्याप्य-नियमपक्षस्य संभवात्।"–**तत्त्वसं० प० का० ३१२३।**

जैन परम्परा ठीक शान्तरक्षितकथित बौद्धपक्ष के समान ही है। वह प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को अभ्यासदशा में 'स्वतः' और अनभ्यासदशा में 'परतः' मानती है। यह मन्तव्य प्रमाणनयतत्त्वालोक के सूत्र में ही स्पष्टतया निर्दिष्ट है। यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों का निर्देश न करके परीक्षामुख की तरह
5 केवल प्रामाण्य के स्वतः-परतः का ही निर्देश किया है तथापि देवसूरि का सूत्र पूर्णतया जैन परम्परा का द्योतक है। जैसे—"तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति।"–परी० १. १३.। "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति"–प्रमाणन० १.२१।

इस स्वतः-परतः की चर्चा क्रमशः यहाँ तक विकसित हुई है कि इसमें उत्पत्ति[1], ज्ञप्ति और प्रवृत्ति तीनों को लेकर स्वतः-परतः का विचार बड़े विस्तार से सभी दर्शनों में आ
10 गया है और यह विचार प्रत्येक दर्शन की अनिवार्य चर्चा का विषय बन गया है। और इस पर परिष्कारपूर्ण तत्त्वचिन्तामणि, गादाधरप्रामाण्यवाद आदि जैसे जटिल ग्रन्थ बन गये हैं।

पृ० ६. पं० १४. 'अदृष्टार्थे तु'—आगम के प्रामाण्य का जब प्रश्न आता है तब उस का समर्थन ख़ास ख़ास प्रकार से किया जाता है। आगम का जो भाग परोक्षार्थक नहीं है उसके प्रामाण्य का समर्थन तो संवाद आदि द्वारा सुकर है पर उसका जो भाग परोक्षार्थक,
15 विशेष परोक्षार्थक है जिसमें चर्मनेत्रों की पहुँच नहीं, उसके प्रामाण्य का समर्थन कैसे किया जाय?। यदि समर्थन न हो सके तब तो सारे आगम का प्रामाण्य डूबने लगता है। इस प्रश्न का उत्तर सभी सांप्रदायिक विद्वानों ने दिया है और अपने-अपने आगमों का प्रामाण्य स्थापित किया है। मीमांसक ने वेदों का ही प्रामाण्य स्थापित किया है पर वह 'अपौरुषेयत्व' युक्ति से, जब कि उन्हीं वेदों का प्रामाण्य न्याय-वैशेषिक ने अन्य प्रकार से
20 स्थापित किया है।

अक्षपाद वेदों का प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य से बतलाते हैं और उसके दृष्टान्त में वे कहते हैं कि जैसे वेद के एक अंश मन्त्र-आयुर्वेद आदि यथार्थ होने से प्रमाण हैं वैसे ही बाकी के अन्य अंश भी समान आप्तप्रणीत होने से प्रमाण हैं—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यं आप्तप्रामाण्यात्।"–न्यायसू० २. १. ६८।

25 आ० हेमचन्द्र ने आगमप्रामाण्य के समर्थन में अक्षपाद की ही युक्ति का अनुगमन किया है पर उन्होंने मन्त्र-आयुर्वेद को दृष्टान्त न बनाकर विविधकार्यसाधक ज्योतिष-गणित शास्त्र को ही दृष्टान्त रक्खा है। जैन आचार्यों का मन्त्र-आयुर्वेद की अपेक्षा ज्योतिष शास्त्र की ओर विशेष झुकाव इतिहास में जो देखा जाता है उसके आ० हेमचन्द्र अपवाद नहीं हैं।

यह झुकाव प्राचीन समय में भी कैसा था इसका एक नमूना हमें धर्मकीर्ति के
30 ग्रन्थ में भी प्राप्य है। धर्मकीर्त्ति के पूर्वकालीन या समकालीन जैन आचार्य अपने पूज्य तीर्थंकरों में सर्वज्ञत्व का समर्थन ज्योतिषशास्त्र के उपदेशकत्वहेतु से करते थे इस मतलब का जैनपक्ष धर्मकीर्त्ति ने जैन परम्परा में से लेकर खण्डित या दूषित किया है—"अत्र

---

१ प्रमेयक० पृ० ३८ B–४४ B.

वैधर्म्योदाहरणम्–यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्द्धमानादिरिति ।"–न्यायवि० ३. १३१। इसका ऐतिहासिक अंश अनेक दृष्टि से जैन परम्परा और भारतीय दर्शनों की परम्परा पर प्रकाश डालनेवाला है।

पृ० ६. पं० १६. 'अर्थोपलब्धिहेतुः'–आ० हेमचन्द्र ने प्रमाणसामान्य के लक्षण का विचार समाप्त करते हुए दर्शनप्रसिद्ध खण्डनप्रणाली के अनुसार केवल न्याय-बौद्ध परम्परा के 5 तीन ही लक्षणवाक्यों का निरास किया है। पहिले और दूसरे में न्यायमञ्जरी और न्यायसार के मन्तव्य की समीक्षा है। तीसरे में धर्मकीर्त्ति के मत की समीक्षा है जिसमें शान्तरक्षित के विचार की समीक्षा भी आ जाती है। तुलना–"उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्।"–न्यायभा० २. १. ११। चरकसं० पृ० २६६।

पृ० ६. पं० १८ 'अथ कर्तृकर्मादि'–तुलना–"अपरे पुनराचक्षते–सामग्री नाम समुदि- 10 तानि कारकाणि तेषां द्वैरूप्यमहृदयङ्गमम्, अथ च तानि पृथगवस्थितानि कर्मादिभावं भजन्ते। अथ च तान्येव समुदितानि करणीभवन्तीति कोऽयं नयः। तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते। तदेव च तृतीयया व्यपदिशन्ति।...... तस्मात् कर्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणमिति युक्तम्।" न्यायम० पृ० १४-१५। 15

पृ० ६. पं० २७ 'सांव्यवहारिक'–तुलना–"सांव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणम्, 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति।"–तत्त्वसं० प० का० २६८१, २६८२।

पृ० ६. पं० २८ 'उत्तरकालभाविनो'–तुलना–"ननु च यद्यविकल्पकं प्रत्यक्षं कथं तेन व्यवहारः, तथाहि इदं सुखसाधनं इदं दुःखस्येति यदि निश्चिनोति तदा तयोः प्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तते– 20

"अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्।
निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः॥

तद्द्वारेणेति। विकल्पद्वारेणाविकल्पकमपि निश्चयहेतुत्वेन सकलव्यवहाराङ्गं भवति। तथाहि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि सजातीयविजातीयव्यावृत्तमनलादिकमर्थं तदाकारनिर्भासोत्पत्तितः परिच्छिन्ददुत्पद्यते। तच्च नियतरूपव्यवस्थितवस्तुग्राहित्वाद्विजातीयव्यावृत्तवस्त्वाका- 25 रानुगतत्वाच्च तत्रैव वस्तुनि विधिप्रतिषेधावाविर्भावयति–अनलोऽयं नासौ कुसुमस्तबकादिरिति। तयोश्च विकल्पयोः पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धाद[वि]संवादित्वेऽपि न प्रामाण्यमिष्टम्। दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनधिगतवस्तुरूपाधिगमाभावात्।"–तत्त्वसं० प० का० १३०६।

अ० १. आ० १. सू० ९–१० पृ० ७. जैन परंपरा में ज्ञान-चर्चा दो प्रकार से है–पहली आगमिकविभागाश्रित और दूसरी तार्किकविभागाश्रित। जिसमें मति, श्रुत आदि रूप से 30 बिभाग करके चर्चा है वह आगमिकविभागाश्रित और जिसमें प्रत्यक्ष आदिरूप से प्रमाणों का

विभाग करके चर्चा है वह तार्किकविभागाश्रित। पहली चर्चा का अमिश्रित उदाहरण है आवश्यक निर्युक्ति और दूसरी चर्चा का अमिश्रित उदाहरण है न्यायावतार।

जैन परंपरा में प्राचीन और मौलिक चर्चा तो आगमिकविभागाश्रित ही है। तार्किक-विभागाश्रित चर्चा जैन परंपरा में कब और किसने सर्वप्रथम दाखिल की, इसे निश्चितरूप से 5 कहना अभी संभव नहीं। स्थानाङ्ग और भगवती ये दोनों गणधरकृत समझे जानेवाले ग्यारह अङ्गों में से हैं और प्राचीन भी अवश्य हैं। उनमें यद्यपि तार्किक विभाग का निर्देश स्पष्ट[1] है तथापि यह मानने में कोई विरोध नहीं दीखता कि स्थानाङ्ग-भगवती में वह तार्किक विभाग निर्युक्तिकार भद्रबाहु के बाद ही कभी दाखिल हुआ है क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति जो भद्र-बाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरम्भ ही ज्ञानचर्चा से होता है उसमें आगमिक विभाग 10 है पर तार्किक विभाग का सूचन तक नहीं है। जान पड़ता है निर्युक्ति के समय तक जैन आचार्य यद्यपि ज्ञानचर्चा करते तो थे आगमिक विभाग के द्वारा ही, फिर भी वे दर्शनान्तर-प्रतिष्ठित प्रमाणचर्चा से बिलकुल अनभिज्ञ न थे। इतना ही नहीं बल्कि प्रसङ्ग देखकर वे दर्शनान्तरीय प्रमाणशैली का उपयोग एवं उसमें संशोधन भी कर लेते थे। अतएव उसी भद्रबाहु की कृति मानी जानेवाली दशवैकालिक निर्युक्ति में हम परार्थानुमान की चर्चा पाते हैं 15 जो अवयवांश में (गा० ५०) दर्शनान्तर की परार्थानुमानशैली से अनोखी है।

जान पड़ता है सबसे पहिले आर्यरक्षित ने, जो जन्म से ब्राह्मण थे और वैदिक शास्त्रों का अभ्यास करने के बाद ही जैन साधु हुए थे, अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वार (पृ० २११) में प्रत्यक्ष, अनुमानादि चार प्रमाणों का विभाग जो गौतमदर्शन (न्यायसू० १.१.३) में प्रसिद्ध है, उसको दाखिल किया। उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र (१. १०-१२) में प्रत्यक्ष-परोक्ष 20 रूप से जिस प्रमाणद्वयविभाग का निर्देश किया है वह खुद उमास्वातिकर्तृक है या किसी अन्य आचार्य के द्वारा निर्मित हुआ है इस विषय में कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता। जान पड़ता है आगम की संकलना के समय प्रमाणचतुष्टय और प्रमाणद्वयवाले दोनों विभाग स्थानाङ्ग तथा भगवती में दाखिल हो गये। आगम में दोनों विभागों के संनिविष्ट हो जाने पर भी जैन आचार्यों की मुख्य विचारदिशा प्रमाणद्वयविभाग की ओर 25 ही रही है। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि प्रमाणचतुष्टयविभाग असल में न्याय-दर्शन का ही है, अतएव उमास्वाति ने उसे 'नयवादान्तरेण' (तत्त्वार्थभा० १.६) कहा है जब कि प्रमाणद्वयविभाग जैनाचार्यों का स्वोपज्ञ है। इसी से सभी जैन तर्कग्रन्थों में उसी विभाग को लेकर प्रमाण चर्चा व ज्ञान चर्चा की गई है। आ० हेमचन्द्र ने भी इसी सबब से उसी प्रमाणद्वयविभाग को अपनाया है।

---

१ "दुविहे नाणे पण्णत्ते-तंजहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।" **स्था० २. पृ० ४९** A. "अहवा हेऊ चउव्विहे पं० तं० पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।"—**स्था० ४. पृ० २५४** A. "से किं तं पमाणे ?। पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे .. ..जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं।"—**भग० श० ५. उ० ३. भाग २. पृ० २११।**

न्याय-वैशेषिक आदि तर्कप्रधान वैदिक दर्शनों के प्रभाव के कारण बौद्ध भिक्षु तो पहिले ही से अपनी पिटकोचित मूल मर्यादा के बाहर वादभूमि और तदुचित तर्क-प्रमाणवाद की ओर झुक ही गये थे। क्रमशः जैन भिक्षु भी वैदिक और बौद्धदर्शन के तर्कवाद के असर से बरी न रह सके अतएव जैन आचार्यों ने जैन परम्परा में ज्ञानविभाग की भूमिका के ऊपर प्रमाणविभाग की स्थापना की और प्रतिवादी विद्वानों के साथ उसी प्रमाणविभाग 5 को लेकर गोष्ठी या चर्चा करने लगे। आर्यरक्षित ने प्रत्यक्ष-अनुमान आदिरूप से चतुर्विध प्रमाणविभाग दर्शाते समय प्रत्यक्ष के वर्णन में (अनुयो० पृ० २११) इन्द्रियप्रत्यक्षरूप मतिज्ञान का और आगमप्रमाण के वर्णन में श्रुतज्ञान का स्पष्ट समावेश सूचित कर ही दिया था फिर भी आगमिक-तार्किक जैन आचार्यों के सामने बराबर एक प्रश्न आया ही करता था कि अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि दर्शनान्तरप्रसिद्ध प्रमाणों को जैनज्ञानप्रक्रिया मानती है 10 या नहीं ?। अगर मानती है तो उनका स्वतन्त्र निरूपण या समावेश उसमें स्पष्ट क्यों नहीं पाया जाता ?। इसका जवाब जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले उमास्वाति ने दिया है (तत्त्वार्थभा० १.१२) कि वे अनुमानादि दर्शनान्तरीय सभी प्रमाण मति, श्रुत जिन्हें हम परोक्ष प्रमाण कहते हैं उसी में अन्तर्भूत हैं। उमास्वाति के इसी जवाब का अक्षरशः अनुसरण पूज्यपाद ने (सर्वार्थसि० १.१२) किया है। पर उसमें कोई नया विचार या विशेष स्पष्टता 15 नहीं की।

चतुर्विध प्रमाणविभाग की अपेक्षा द्विविध प्रमाणविभाग जैन प्रक्रिया में विशेष प्रतिष्ठा पा चुका था और यह हुआ भी योग्य। अतएव नन्दीसूत्र में उसी द्विविध प्रमाण-विभाग को लेकर ज्ञानचर्चा विशेष विस्तार से हुई। नन्दीकार ने अपनी ज्ञानचर्चा की भूमिका तो रची द्विविध प्रमाणविभाग पर, फिर भी उन्होंने आर्यरक्षित के चतुर्विध प्रमाण- 20 विभागाश्रित वर्णन में से मुख्यतया दो तत्त्व लेकर अपनी चर्चा की। इनमें से पहिला तत्त्व तो यह है कि लोक जिस इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष समझते व कहते हैं और जिसे जैनेतर सभी तार्किकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है, उसको जैन प्रक्रिया में भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहकर प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद कर दिये (नन्दीसू० ३) जिससे एक में उमास्वातिकथित अवधि आदि मुख्य प्रमाण रहे और दूसरे में इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्षरूप से रहे। 25 दूसरा तत्त्व यह है कि जिसे दर्शनान्तर आगम प्रमाण कहते हैं वह वस्तुतः श्रुतज्ञान ही है और परोक्ष प्रमाण में समाविष्ट है।

यद्यपि आगमिक ज्ञानचर्चा चलती रही फिर भी जैन विचारप्रक्रिया में तार्किकता बल पकड़ने लगी। इसी का फल न्यायावतार है। उसमें द्विविध प्रमाणविभाग लेकर तार्किक शैली से ज्ञान का निरूपण है। उसका मुख्य उद्देश्य जैन प्रक्रियानुसारी अनुमान—न्याय 30 को बतलाना—यह है। हम देखते हैं कि न्यायावतार में परोक्षप्रमाण के भेदों के वर्णन ने ही मुख्य जगह रोकी है फिर भी उसमें यह नहीं कहा है कि जैन प्रक्रिया परोक्षप्रमाण के अमुक और इतने ही भेद मानती है जैसा कि आगे जा कर अन्य आचार्यों ने कहा है।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने अति विस्तृत भाष्य में द्विविध प्रमाण विभाग में आगमिक पञ्च ज्ञानविभाग का तर्कपुरःसर समावेश बतलाया और आर्यरक्षितस्थापित तथा नन्दीकार द्वारा स्वीकृत इन्द्रियजन्य-नोइन्द्रियजन्य रूप से द्विविध प्रत्यक्ष के वर्णन में आनेवाले उस विरोध का सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसा नाम देकर सबसे पहले परिहार 5 किया–"इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।"–विशेषा० भा० गा० ९५–जिसे प्रतिवादी तार्किक जैन तार्किकों के सामने उपस्थित किया करते थे। विरोध इस तरह बतलाया जाता था कि जब जैनदर्शन अक्ष–आत्माश्रित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहता है तब उसकी प्रक्रिया में इन्द्रियाश्रित ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से स्थान पाना विरुद्ध है। क्षमाश्रमणजी ने यह सब कुछ किया फिर भी उन्होंने कहीं यह नहीं बतलाया कि जैन प्रक्रिया परोक्ष प्रमाण के इतने भेद 10 मानती है और वे अमुक हैं।

इस तरह अभी तक जैन परंपरा में आगमिक ज्ञानचर्चा के साथ ही साथ, पर कुछ प्रधानता से प्रमाणचर्चा हो रही थी, फिर भी जैन तार्किकों के सामने दूसरे प्रतिवादियों की ओर से यह प्रश्न बारबार आता ही था कि जैन प्रक्रिया अगर अनुमान, आगम आदि दर्शनान्तर-प्रसिद्ध प्रमाणों को परोक्ष प्रमाणरूप से स्वीकार करती है तो उसे यह स्पष्ट करना 15 आवश्यक है कि वह परोक्ष प्रमाण के कितने भेद मानती है, और हरएक भेद का सुनिश्चित लक्षण क्या है?।

जहाँ तक देखा है उसके आधार से निःसंदेह कहा जा सकता है कि उक्त प्रश्न का जवाब सबसे पहिले भट्टारक अकलङ्क ने दिया है। और वह बहुत ही स्पष्ट तथा सुनिश्चित है। अकलङ्क ने अपनी लघीयस्त्रयी[1] में बतलाया कि परोक्ष प्रमाण के अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, 20 स्मरण, तर्क और आगम ऐसे पाँच भेद हैं। उन्होंने इन भेदों का लक्षण भी स्पष्ट बाँध दिया। हम देखते हैं कि अकलङ्क के इस स्पष्टीकरण ने जैन प्रक्रिया में आगमिक और तार्किक ज्ञान चर्चा में बारबार खड़ी होनेवाली सब समस्याओं को सुलझा दिया। इसका फल यह हुआ कि अकलङ्क के उत्तरवर्ती दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी तार्किक उसी अकलङ्कदर्शित रास्ते पर ही चलने लगे। और उन्हीं के शब्दों को एक या दूसरे रूप से लेकर यत्र तत्र विकसित कर 25 अपने अपने छोटे और बृहत्काय ग्रन्थों को लिखने लग गये। जैन तार्किकमूर्धन्य यशोविजय ने भी उसी मार्ग का अवलम्बन किया है। यहाँ एक बात जान लेनी चाहिए कि जिन अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के भेद और उनके लक्षणों के द्वारा दर्शनान्तरप्रसिद्ध अनुमान, अर्थापत्ति, उपमान आदि सब प्रमाणों का जैन प्रक्रियानुसारी निरूपण किया है वेही अकलङ्क राजवार्त्तिककार[2] भी हैं, पर उन्होंने अपने वार्त्तिक में दर्शनान्तरप्रसिद्ध उन प्रमाणों का 30 समावेश लघीयस्त्रयी के अनुसार नहीं पर तत्त्वार्थभाष्य और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार किया है ऐसा कहना होगा। फिर भी उक्त भाष्य और सिद्धि की अपेक्षा अकलङ्क ने अपना

---

१ "ज्ञानमाद्यं मतिस्संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।"–लघी० ३. १. स्ववि० ३. १। २ "सूरिणा–अकलङ्केन वार्त्तिककारेण"–सिद्धिवि० टी० पृ० २५४ B.

समावेशप्रकार कुछ दूसरा ही बतलाया है (राजवा० पृ० ५४)। अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद करते समय यह ध्यान अवश्य रक्खा है कि जिससे उमास्वाति आदि पूर्वाचार्यों का समन्वय विरुद्ध न हो जाय और आगम तथा निर्युक्ति आदि में मतिज्ञान के पर्यायरूप से प्रसिद्ध स्मृति, सञ्ज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इन शब्दों की सार्थकता भी सिद्ध हो जाय। यही कारण है कि अकलङ्क का यह परोक्ष प्रमाण के पंच प्रकार तथा उनके लक्षण कथन का प्रयत्न अद्यापि सकल जैन तार्किकमान्य रहा। आ० हेमचन्द्र भी अपनी मीमांसा में परोक्ष के उन्हीं भेदों को मानकर निरूपण करते हैं।

पृ० ७. पं० १० '**वैशेषिकाः**'–प्रशस्तपाद ने शाब्द-उपमान आदि प्रमाणों को अनुमान में ही समाविष्ट किया है। अतएव उत्तरकालीन तार्किकों[१] ने वैशेषिकमतरूप से प्रत्यक्ष-अनुमान दो ही प्रमाणों का निर्देश किया है। स्वयं कणाद का भी "एतेन शाब्दं व्याख्यातम्"– वैशे० सू० ६. २. ३–इस सूत्र से वही अभिप्राय है जो प्रशस्तपाद, शङ्करमिश्र आदि ने निकाला है। विद्यानन्द आदि जैनाचार्यों ने भी वैशेषिकसम्मत प्रमाणद्वित्व का ही निर्देश (प्रमाणप० पृ० ६६) किया है तब प्रश्न होता है कि–आ० हेमचन्द्र वैशेषिकमत से प्रमाणत्रय का कथन क्यों करते हैं ?। इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि–वैशेषिकसम्मत प्रमाणत्रित्व की परम्परा भी रही है जिसे आ० हेमचन्द्र ने लिया और प्रमाणद्वित्ववाली परम्परा का निर्देश नहीं किया। सिद्धर्षिकृत न्यायावतारवृत्ति में (पृ० ६) हम उस प्रमाणत्रित्ववाली वैशेषिक परम्परा का निर्देश पाते हैं। वादिदेव ने तो अपने रत्नाकर (पृ० ३१३, १०४१) में वैशेषिक-सम्मतरूप से द्वित्व और त्रित्व दोनों प्रमाणसंख्या का निर्देश किया है।

पृ० ७. पं० ११ '**साङ्ख्याः**'–तुलना–साङ्ख्यका० ४।

पृ० ७. पं० ११ '**नैयायिकाः**' तुलना–न्यायसू० १. १. ३।

पृ० ७. पं० १२ '**प्राभाकराः**' तुलना–"तत्र पञ्चविधं मानम्...इति गुरोर्मतम्"– प्रकरणप० पृ० ४४.।

पृ० ७. पं० १२ '**भाट्टाः**'–तुलना–"अतः षडेव प्रमाणानि"–शास्त्रदी० पृ० २४६।

पृ० ७. पं० १७ '**अश्नुते**'–प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में 'अक्ष' पद का 'इन्द्रिय' अर्थ मानने की परम्परा सभी वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध दर्शन में एक सी है। उनमें से किसी दर्शन में 'अक्ष' शब्द का आत्मा अर्थ मानकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। अतएव वैदिक-बौद्ध दर्शनों के अनुसार इन्द्रियाश्रित ज्ञान ही प्रत्यक्षरूप से फलित होता है। और तदनुसार उनको इन्द्रियाश्रित प्रत्यक्ष माने जानेवाले ईश्वरीय ज्ञान आदि के विषय में प्रत्यक्ष का प्रयोग उपचरित ही मानना पड़ता है।

१ "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।"–मुक्तावली का० १४०।

जैन परम्परा[1] में 'अक्ष' शब्द का 'आत्मा' अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है। तदनुसार उसमें इन्द्रियनिरपेक्ष केवल आत्माश्रित माने जानेवाले ज्ञानों को ही प्रत्यक्ष पद का मुख्य अर्थ माना है और इन्द्रियाश्रित ज्ञान को वस्तुतः परोक्ष ही माना है। उसमें अक्ष-पद का इन्द्रिय अर्थ लेकर भी व्युत्पत्ति का आश्रयण किया है पर वह अन्यदर्शनप्रसिद्ध 5 परम्परा तथा लोकव्यवहार के संग्रह की दृष्टि से। अतएव जैन परम्परा के अनुसार इन्द्रि-याश्रित ज्ञान में प्रत्यक्ष पद का प्रयोग मुख्य नहीं पर गौण है।

इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष माननेवाले हों या आत्ममात्र सापेक्ष को पर वे सभी प्रत्यक्ष को साक्षात्कारात्मक ही मानते व कहते हैं।

पृ० ७. पं० १८. **'अक्षं प्रतिगतम्'**–तुलना–"अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्"–10 न्यायभा० १. १ ३। "प्रत्यक्षमिति। प्रतिगतमाश्रितमक्षम्।"–न्यायबि० टी० १.३।

पृ० ७. पं० २१. **'चकारः'**–तुलना–"चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति" न्यायबि० टी० १. ३. न्याया० सि० टी० पृ० १६।

पृ० ७. पं० २३. **'ज्येष्ठतेति'**–प्रमाणों में ज्येष्ठत्व-अज्येष्ठत्व के विषय में तीन परम्पराएँ हैं। न्याय और सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व और अनुमानादि का उसकी अपेक्षा 15 अज्येष्ठत्व स्थापित[2] किया है। पूर्व उत्तरमीमांसा[3] में अपौरुषेय आगमवाद होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा भी आगम का ज्येष्ठत्व स्वीकार किया गया है। बौद्ध परम्परा[4] में प्रत्यक्ष-अनु-मान दोनों का समबलत्व बतलाया है।

जैन परम्परा में दो पक्ष देखे जाते हैं। अकलङ्क और तदनुगामी विद्यानन्द ने प्रत्यक्ष का ही ज्येष्ठत्व न्यायपरम्परा की तरह माना और स्थापित किया[5] है, जब कि सभी

---

१ "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं वा प्रत्यक्षम्।"–**सर्वार्थ० १. १२।** "जीवो अक्खो अत्थव्वावणभोयणगुणण्णिओ जेण। तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं।"–**विशेषा० भा० गा० ८९।** "तथा च भगवान् भद्रबाहुः-जीवो अक्खो तं पई जं वट्टइ तं तु होइ पच्चक्खं। परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होइ पारोक्खं॥"–**न्याया० टि० पृ० १५।**

२ "आदौ प्रत्यक्षग्रहणं प्राधान्यात्.......तत्र किं शब्दस्यादावुपदेशो भवतु आहोस्वित् प्रत्यक्ष-स्येति?। प्रत्यक्षस्येति युक्तम्। किं कारणम्?। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् इति।"–**न्यायवा० १. १. ३। साङ्ख्यत० का० ५। न्यायम० पृ० ६५, १०६।**

३ "न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्। तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य, बोधकतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्।"–**भामती पृ० ६।**

४ "अर्थसंवादकत्वे च समाने ज्येष्ठताऽस्य का?। तदभावे तु नैव स्यात् प्रमाणमनुमादिकम्॥"–**तत्त्वसं० का० ४६०। न्यायबि० टी० १. ३।**

५ **अष्टश० अष्टस० पृ० ८०।**

श्वेताम्बर आचार्यों[१] ने प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों का समबलत्व बौद्ध परम्परा की तरह स्वीकार किया है।

पृ० ७. पं० २६. **'व्यवस्था'**–इस सूत्र में चार्वाक के प्रति प्रमाणान्तर की सिद्धि करते हुए तीन युक्तियों का प्रयोग आ० हेमचन्द्र ने किया है जो धर्मकीर्त्ति के नाम से उद्धृत कारिका में स्पष्ट है। वह कारिका धर्मकीर्त्ति के उत्तरवर्त्ती सभी बौद्ध, वैदिक और जैन 5 ग्रन्थों में पाई जाती है[२]।

वृत्ति में तीनों युक्तियों का जो विवेचन है वह सिद्धर्षि की न्यायावतारवृत्ति के साथ शब्दशः मिलता है। पर तात्पर्यटीका और सांख्यतत्त्वकौमुदी के विवेचन के साथ उसका शब्दसादृश्य होने पर भी अर्थसादृश्य ही मुख्य है।

"स हि काश्चित् प्रत्यक्षव्यक्तीरर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्या- 10 स्तद्विपरीततया व्यभिचारिणीश्च, ततः कालान्तरे पुनरपि तादृशेतराणां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रमाणेतरते समाचक्षीत।"–न्याया० सि० टी० पृ० १८।

"दृष्टप्रामाण्याप्रामाण्यविज्ञानव्यक्तिसाधर्म्येण हि कासांचिद्व्यक्तीनां प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा विदधीत। दृष्टसाधर्म्यं चानुमानमेवेति कथं तेनैव तस्याप्रामाण्यम्। अपि चानुमानमप्रमाणमिति वाक्यप्रयोगोऽज्ञं विप्रतिपन्नं सन्दिग्धं वा पुरुषं प्रत्यर्थवान्, न च पर- 15 पुरुषवर्तिनो देहधर्मा अपि संदेहाज्ञानविपर्यासा गौरत्वादिवत् प्रत्यक्षा वेद्यन्ते, न च तद्वचनात् प्रतीयन्ते, वचनस्यापि प्रत्यक्षादन्यस्याप्रामाण्योपगमात्। पुरुषविशेषमनधिकृत्य तु वचनमनर्थकं प्रयुञ्जानो नायं लौकिको न परीक्षक इत्युन्मत्तवदनवधेयवचनः स्यात्।"–तात्पर्य० १.१.५।

"नानुमानं प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ?। न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देहविपर्ययाः शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण 20 प्रतिपत्तुम्। नापि मानान्तरेण, अनभ्युपगमात्। अनवधृताज्ञानसंशयविपर्यासस्तु यं कञ्चित्पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तावदुपेक्ष्येत। तदनेनाज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्याः, इत्यकामेनाप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्।"–साख्यत० का०५।

पृ०८.पं० २०.**'अर्थस्याऽसंभवे'**–तुलना–तत्त्वसं० पं० पृ० ७७५। विधिवि० न्यायक० पृ० १६३। 25 सिद्धिवि० टी० लि० पृ० १५५ A. अष्टसह० पृ० ११५। सन्मतिटी० पृ०१७, ७३, ५५५। न्यायवि० टी० लि० पृ० ६ A.

---

१ न्याया० सि० टी० पृ० १६। स्याद्वादर० पृ० २६०।

२ कन्दली पृ० २५५। प्रमाणप० पृ० ६४। प्रमेयक० पृ० ४६। स्याद्वादर० पृ० २६१। न्यायसारता० पृ० ८८।

पृ० ८. पं० ३०. 'भावाभावा'–अभावप्रमाण के पृथक् अस्तित्व का वाद बहुत पुराना जान पड़ता है क्योंकि न्यायसूत्र[1] और उसके बाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थों में तो उसका खण्डन पाया ही जाता है पर अधिक प्राचीन माने जानेवाले कणादसूत्र में भी प्रशस्तपाद की व्याख्या के अनुसार[2] उसके खण्डन की सूचना है।

5 विचार करने से जान पड़ता है कि यह पृथक् अभावप्रमाणवाद मूल में मीमांसक परम्परा का ही होना चाहिए[3]। अन्य सभी दार्शनिक परम्पराएँ उस वाद के विरुद्ध हैं। शायद इस विरोध का मीमांसक परम्परा पर भी असर पड़ा और प्रभाकर उस वाद से सम्मत न रहे[4]। ऐसी स्थिति में भी कुमारिल ने उस वाद के समर्थन में बहुत ज़ोर लगाया और सभी तत्कालीन विरोधियों का सामना किया[5]।

10 प्रस्तुत सूत्र के विवेचन का न्यायावतारटीका (पृ० २१) के साथ बहुत कुछ शब्दसाम्य है।

अ० १. आ० १ सू० १३-१४. पृ० ९. प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में सामान्यरूप से तीन परम्पराएँ हैं। बौद्ध परम्परा[6] निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानती है। न्याय-वैशेषिक[7] आदि वैदिक परम्पराएँ निर्विकल्पक–सविकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष मानती हैं। जैन[8] तार्किक परम्परा सांख्य-योग[9] दर्शन की तरह प्रत्यक्षप्रमाणरूप से सविकल्पक 15 को ही स्वीकार करती है। आ० हेमचन्द्र ने उसी परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को अनध्यवसाय कहकर प्रमाणसामान्य की कोटि से ही बहिर्भूत रक्खा है।

यद्यपि प्रत्यक्ष के लक्षण में विशद या स्फुट शब्द का प्रयोग करनेवाले जैन तार्किकों में सबसे पहिले अकलङ्क ही जान पड़ते हैं तथापि इस शब्द का मूल बौद्ध तर्कग्रन्थों में

---

१ न्यायसू० २. २. २।

२ "अभावोऽपि अनुमानमेव यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्।"-प्रश० पृ० २२५। वै० सू० ९. २. ५।

३ शाबरभा० १.१.५।

४ 'अस्ति चेयं प्रसिद्धिर्मीमांसकानां षष्ठ किलेदं प्रमाणमिति...केयं तर्हि प्रसिद्धिः?। प्रसिद्धिर्वटयक्षप्रसिद्धिवत्।"–बृहती पृ० १२०। "यदि तावत् केचिन्मीमांसकाः प्रमाणान्यत्वं मन्यन्ते ततश्च वयं किं कुर्मः।" बृहतीप० पृ० १२३। प्रकरणप० पृ० ११८–१२५।

५ "अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते। प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद्भावात्मकात्पृथक्॥" श्लोकवा० अभाव० श्लो० ४५.।

६ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।"–प्रमाणस० १. ३। न्यायप्र० पृ० ७। न्यायबि० १. ४।

७ "इह द्वयी प्रत्यक्षजातिः अविकल्पिका सविकल्पिका चेति। तत्र उभयी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन संगृहीतापि स्वशब्देन उपात्ता तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्र अविकल्पिकायाः पदम् अव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति।"–तात्पर्य० पृ० १२५। प्रश० पृ० १८६–१८८।

८ प्रमेयक० १. ३। स्याद्वादर० १. ७.।

९ सांख्यत० का० ५। योगभा० १. ७.।

है क्योंकि अकलङ्क के पूर्ववर्त्ती धर्मकीर्त्ति आदि बौद्ध तार्किकों[1] ने इसका प्रयोग प्रत्यक्षस्वरूप-निरूपण में किया है। अकलङ्क के बाद तो जैन परम्परा में भी इसका प्रयोग रूढ़ हो गया। वैशद्य किंवा स्पष्टत्व का निर्वचन तीन प्रकार से पाया जाता है। अकलङ्क के–"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्" (लघी० १. ४)–निर्वचन का देवसूरि और यशोविजयजी ने अनुगमन किया है। जैनतर्कवार्त्तिक में (पृ० ९५) 'इदन्तया' अथवा 'विशेषवत्तया' प्रतिभास-वाले एक ही निर्वचन का सूचन है। माणिक्यनन्दी ने (परीक्षा मु० २.४) 'प्रतीत्यन्तरा-व्यवधान' और 'विशेषप्रतिभास' दोनों प्रकार से वैशद्य का निर्वचन किया है जिसे आ० हेमचन्द्र ने अपनाया है।

पृ० ९. पं० २६. 'प्रत्यक्षं धर्मि'–तुलना–"विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्... धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयप्रसङ्ग इति चेत्; न, विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषाऽसंभवात्"–प्रमाणप० पृ० ६७. प्रमेयर० २.३.

अ० १. आ० १. सू० १५-१७. पृ० १०. लोक और शास्त्र में सर्वज्ञ शब्द का उपयोग, योगसिद्ध विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान के सम्भव में विद्वानों और साधारण लोगों की श्रद्धा, जुदे जुदे दार्शनिकों के द्वारा अपने अपने मन्तव्यानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के विशिष्ट ज्ञानरूप अर्थ में सर्वज्ञ जैसे पदों को लागू करने का प्रयत्न और सर्वज्ञरूप से माने जाने-वाले किसी व्यक्ति के द्वारा ही मुख्यतया उपदेश किये गये धर्म या सिद्धान्त की अनुगामियों में वास्तविक प्रतिष्ठा–इतनी बातें भगवान् महावीर और बुद्ध के पहिले भी थीं—इसके प्रमाण मौजूद हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय से लेकर आज तक के क़रीब ढाई हज़ार वर्ष के भारतीय साहित्य में तो सर्वज्ञत्व के अस्ति-नास्तिपक्षों की, उसके विविध स्वरूप तथा समर्थक और विरोधी युक्तिवादों की, क्रमशः विकसित सूक्ष्म और सूक्ष्मतर स्पष्ट एवं मनोरञ्जक चर्चाएँ पाई जाती हैं।

सर्वज्ञत्व के नास्तिपक्षकार मुख्यतया तीन हैं—चार्वाक, अज्ञानवादी और पूर्वमीमांसक। उसके अस्तिपक्षकार तो अनेक दर्शन हैं, जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन मुख्य हैं।

चार्वाक इन्द्रियगम्य भौतिक लोकमात्र को मानता है इसलिए उसके मत में अतीन्द्रिय आत्मा तथा उसकी शक्तिरूप सर्वज्ञत्व आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अज्ञानवादी का अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की भी एक अन्तिम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही उच्च कक्षा का क्यों न हो पर वह त्रैकालिक सभी स्थूल-सूक्ष्म भावों को पूर्ण रूप से जानने में स्वभाव से ही असमर्थ है।

---

[1] "न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता।"–प्रमाणवा० ३. २८३। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्।"–तत्त्वसं० का० १२३४

अर्थात् अन्त में कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है। क्योंकि ज्ञान की शक्ति ही स्वभाव से परिमित है। वेदवादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ मानता है। किसी प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान होने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं फिर भी वह अपौरुषेयवेदवादी होने के कारण वेद के अपौरुषेयत्व में बाधक ऐसे किसी भी प्रकार
5 के अतीन्द्रिय ज्ञान को मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्राय से उसने[१] वेद-निरपेक्ष साक्षात् धर्मज्ञ या सर्वज्ञ के अस्तित्व का विरोध किया है। वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थ जाननेवाले का निषेध नहीं किया।

बौद्ध और जैन दर्शनसम्मत साक्षात् धर्मज्ञवाद या साक्षात् सर्वज्ञवाद से वेद के अपौरुषेयत्व का केवल निरास ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसके द्वारा वेदों में अप्रामाण्य
10 बतलाकर वेदभिन्न आगमों का प्रामाण्य स्थापित करना भी अभिप्रेत है। इसके विरुद्ध जो न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन सर्वज्ञवादी हैं उनका तात्पर्य सर्वज्ञवाद के द्वारा वेद के अपौरुषेयत्ववाद का निरास करना अवश्य है, पर साथ ही उसी वाद के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व बतलाकर उसीका प्रामाण्यस्थापन करना भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। वे ईश्वर के ज्ञान को नित्य[२]—उत्पाद-विनाश-
15 रहित और पूर्ण–त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल समग्र भावों को युगपत् जाननेवाला–मानकर तद्द्वारा उसे सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वरभिन्न आत्माओं में वे सर्वज्ञत्व मानते हैं सही, पर सभी आत्माओं में नहीं किन्तु योगी आत्माओं में। योगियों में भी सभी योगियों को वे सर्वज्ञ नहीं मानते किन्तु जिन्होंने योग द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त किया हो सिर्फ उन्हीं को[३]। न्याय-वैशेषिक मतानुसार यह नियम नहीं कि सभी योगियों को वैसा सामर्थ्य अवश्य प्राप्त हो। इस मत में
20 जैसे मोक्ष के वास्ते सर्वज्ञत्वप्राप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है वैसे यह भी सिद्धान्त[४] है कि मोक्ष-

---

१ "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्"–**शाबरभा० १. १.२**। "नानेन वचनेनेह सर्वज्ञत्वनिराक्रिया। वचनाद्दत इत्येवमपवादो हि संश्रितः॥ यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते। एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते॥ नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते।" **श्लोकवा० चोद० श्लो० ११०–२**। "धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"–**तत्त्वसं० का० ३१२८**। यह श्लोक तत्त्वसंग्रह में कुमारिल का कहा गया है **पृ० ८४४**।

२ "न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः। दृष्टा हि गुणानामाश्रयभेदेन द्वयी गतिः नित्यता अनित्यता च तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यतीति।"–**कन्दली पृ० ६०**। "एतादृशानुमितौ लाघवज्ञानसहकारेण ज्ञानेच्छाकृतिषु नित्यत्वमेकत्वं च भासते इति नित्यैकत्वसिद्धिः।"—**दिनकरी पृ० २६**।

३ **वै० सू० ९. १.११–१३**। "अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद्योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते।"–**प्रश० पृ० १८७**। **वै० सू० ९. १. ११-१३**।

४ "तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः। गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रकीर्तितः॥" **न्यायम० पृ० ५०८**।

प्राप्ति के बाद सर्वज्ञ योगियों की आत्मा में भी पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान ईश्वरज्ञान की तरह नित्य नहीं पर योगजन्य होने से अनित्य है।

सांख्य, योग[१] और वेदान्त दर्शनसम्मत सर्वज्ञत्व का स्वरूप वैसा ही है जैसा न्याय-वैशेषिकसम्मत सर्वज्ञत्व का। यद्यपि योगदर्शन न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वर मानता है तथापि वह न्याय-वैशेषिक की तरह चेतन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्थन न कर सकने के 5 कारण विशिष्ट बुद्धितत्त्व[२] में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व का समर्थन कर पाता है। सांख्य, योग और वेदान्त में बौद्धिक सर्वज्ञत्व की प्राप्ति भी मोक्ष के वास्ते अनिवार्य[३] वस्तु नहीं है, जैसा कि जैन दर्शन में माना जाता है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह वह एक योग-विभूति मात्र होने से किसी-किसी साधक को होती है।

सर्वज्ञवाद से सम्बन्ध रखनेवाले हज़ारों वर्ष के भारतीय दर्शनशास्त्र देखने पर भी 10 यह पता स्पष्टरूप से नहीं चलता कि अमुक दर्शन ही सर्वज्ञवाद का प्रस्थापक है। यह भी निश्चयरूप से कहना कठिन है कि सर्वज्ञत्व की चर्चा शुद्ध तत्त्वचिन्तन में से फलित हुई है, या साम्प्रदायिक भाव से धार्मिक खण्डन-मण्डन में से फलित हुई है ?। यह भी सप्रमाण बतलाना सम्भव नहीं कि ईश्वर, ब्रह्मा आदि दिव्य आत्माओं में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार से मानुषिक सर्वज्ञत्व का विचार प्रस्तुत हुआ, या बुद्ध-महावीरसदृश मनुष्य में 15 माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार-आन्दोलन से ईश्वर, ब्रह्मा आदि में सर्वज्ञत्व का समर्थन किया जाने लगा, या देव-मनुष्य उभय में सर्वज्ञत्व माने जाने का विचारप्रवाह परस्पर निरपेक्ष रूप से प्रचलित हुआ ?। यह सब कुछ होते हुए भी सामान्यरूप से इतना कहा जा सकता है कि यह चर्चा धर्म-सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन में से फलित हुई है और पीछे से उसने तत्त्वज्ञान का रूप धारण करके तात्त्विक चिन्तन में भी स्थान पाया है। और वह तटस्थ 20 तत्त्वचिन्तकों का विचारणीय विषय बन गई है। क्योंकि मीमांसक जैसे पुरातन और प्रबल वैदिक दर्शन के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी अस्वीकार और शेष सभी वैदिक दर्शनों के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी स्वीकार का एक मात्र मुख्य उद्देश्य यही है कि वेद का प्रामाण्य स्थापित करना जब कि जैन, बौद्ध आदि मनुष्य-सर्वज्ञत्ववादी दर्शनों का एक यही उद्देश है कि परम्परा से माने जानेवाले वेदप्रामाण्य के स्थान में इतर शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापित करना और वेदों का अप्रामाण्य। 25 जब कि वेद का प्रामाण्य-अप्रामाण्य ही असर्वज्ञवाद, देव-सर्वज्ञवाद और मनुष्य-सर्वज्ञवाद की चर्चा और उसकी दलीलों का एकमात्र मुख्य विषय है तब धर्म-संप्रदाय को इस तत्त्व-चर्चा का उत्थानबीज मानने में सन्देह को कम से कम अवकाश है।

---

१ "तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥"—योगसू० ३. ५४।

२ "निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य...सर्वज्ञातृत्वम्, सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः।"—योगभा० ३. ४९।

३ "प्राप्तविवेकजज्ञानस्य अप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।"—योगसू० ३. ५५।

मीमांसकधुरीण कुमारिल ने धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों का निराकरण बड़े आवेश और युक्तिवाद से किया है (मीमांसाश्लो० सू० २. श्लो० ११० से १४३) वैसे ही बौद्धप्रवर शान्तरक्षित ने उसका जवाब उक्त दोनों वादों के समर्थन के द्वारा बड़ी गम्भीरता और स्पष्टता से दिया है (तत्त्वसं० पृ० ८४६ से)। इसलिए यहाँ पर एक ऐतिहासिक प्रश्न होता है कि क्या 5 धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वाद अलग-अलग सम्प्रदायों में अपने-अपने युक्तिबल पर स्थिर होंगे, या किसी एक वाद में से दूसरे वाद का जन्म हुआ है ?। अभी तक के चिन्तन से यह जान पड़ता है कि धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों की परम्परा मूल में अलग-अलग ही है। बौद्ध सम्प्रदाय धर्मज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी ख़ास रहा होगा क्योंकि ख़ुद बुद्ध ने (मज्झिम० चूल-मालुंक्यपुत्तसुत्त २.१) अपने को सर्वज्ञ उसी अर्थ में कहा है जिस 10 अर्थ में धर्मज्ञ या मार्गज्ञ शब्द का प्रयोग होता है। बुद्ध के वास्ते धर्मशास्ता, धर्मदेशक आदि विशेषण पिटकग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। [१]धर्मकीर्त्ति ने बुद्ध में सर्वज्ञत्व को अनुपयोगी बताकर केवल धर्मज्ञत्व ही स्थापित किया है, जब कि शान्तरक्षित ने प्रथम धर्मज्ञत्व सिद्धकर गौणरूप से सर्वज्ञत्व को भी स्वीकार[२] किया है।

सर्वज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है क्योंकि 15 जैन आचार्यों ने प्रथम से ही अपने तीर्थकरों में सर्वज्ञत्व को माना और स्थापित किया[३] है। ऐसा सम्भव है कि जब जैनों के द्वारा प्रबलरूप से सर्वज्ञत्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने लगी तब बौद्धों के वास्ते बुद्ध में सर्वज्ञत्व का समर्थन करना भी अनिवार्य और आवश्यक हो गया। यही सबब है कि बौद्ध तार्किक ग्रन्थों में धर्मज्ञवादसमर्थन के बाद सर्वज्ञवाद का समर्थन होने पर भी उसमें वह ज़ोर और एकतानता[४] नहीं है, जैसी कि जैन तार्किक ग्रन्थों में है।

20 मीमांसक (श्लो० सू० २. श्लो० ११०-१४३. तत्त्वसं० का० ३१२४-३२४६ पूर्वपक्ष) का मानना है कि यागादि के प्रतिपादन और उसके द्वारा धर्माधर्मादि का, किसी पुरुषविशेष

---

१ "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥ दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।" **प्रमाणवा० २. ३२ ३३।**

२ "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥"–**तत्त्वसं० का० ३३०९।** "मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकमन्यत्रापि भगवतो ज्ञानप्रवृत्तेः बाधकप्रमाणाभावात् साक्षादशेषार्थपरिज्ञानात् सर्वज्ञो भवन् न केनचिद् बाध्यते इति, अतो न प्रेक्षावतां तत्प्रतिक्षेपो युक्तः।"–**तत्त्वसं० प० पृ० ८६३।**

३ "से भगव अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं० आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्म लवियं कहिय मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।" **आचा० श्रु० २. चू० ३. पृ० ४२५ A.** "तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च"—**आव० नि० गा० १२७। भग० श० ६. उ० ३२।** 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"–**आप्तमी० का० ५।**

४ "यैः स्वेच्छासर्वज्ञो वर्ण्यते तन्मतेनाप्यसौ न विरुध्यते इत्यादर्शयन्नाह यद्यदित्यादि—यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः। शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥"–**तत्त्वसं० का० ३६२८। मिलि० ३. ६. २।**

की अपेक्षा रक्खे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना यही वेद का कार्य है। इसी सिद्धान्त को स्थिर रखने के वास्ते कुमारिल ने कहा है कि कोई भले ही धर्माधर्मभिन्न अन्य सब वस्तु साक्षात् जान सके पर धर्माधर्म को वेदनिरपेक्ष होकर कोई साक्षात् नहीं जान सकता[1], चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन आदि जैसा मनुष्य योगी हो, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु आदि जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति आदि जैसा ऋषि या अवतारी हो। कुमारिल का कहना है कि सर्वत्र सर्वदा धर्ममर्यादा एक सी है, जो सदा सर्वत्र एकरूप वेद द्वारा विहित मानने पर ही सङ्गत हो सकती है। बुद्ध आदि व्यक्तियों को धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानने पर वैसी मर्यादा सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि बुद्ध आदि उपदेशक कभी निर्वाण पाने पर नहीं भी रहते। जीवितदशा में भी वे सब क्षेत्रों में पहुँच नहीं सकते। सब धर्मोपदेशकों की एकवाक्यता भी सम्भव नहीं। इस तरह कुमारिल साक्षात् धर्मज्ञत्व का निषेध[2] करके फिर सर्वज्ञत्व का भी सब में निषेध करते हैं। वह पुराणोक्त ब्रह्मादि देवों के सर्वज्ञत्व का अर्थ भी, जैसा उपनिषदों में देखा जाता है, केवल आत्मज्ञान[3] परक करते हैं। बुद्ध, महावीर आदि के बारे में कुमारिल का यह भी कथन[4] है कि वे वेदज्ञ ब्राह्मणजाति को धर्मोपदेश न करने और वेदविहीन मूर्ख शूद्र आदि को धर्मोपदेश करने के कारण वेदाभ्यासी एवं वेद द्वारा धर्मज्ञ भी नहीं थे। बुद्ध, महावीर आदि में सर्वज्ञत्वनिषेध की एक प्रबल युक्ति कुमारिल ने यह दी[5] है कि परस्परविरुद्धभाषी बुद्ध, महावीर, कपिल आदि में से किसे सर्वज्ञ माना जाय और किसे न माना जाय ?। अतएव उनमें से कोई सर्वज्ञ नहीं है। यदि वे सर्वज्ञ होते तो सभी वेदवत् अविरुद्धभाषी होते, इत्यादि।

---

१ "नहि अतीन्द्रियार्थे वचनमन्तरेण अवगतिः सम्भवति, तदिदमुक्तम्—अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्"—**शाबरभा० १. १. २। श्लो० न्याय० पृ० ७६।**

२ "कुड्यादिनिःसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः। किन्तु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद् दुरात्मभिः। अदृश्यैः विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः। एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥" **—श्लोकवा० सू० २. श्लो० १३६-४१।** "यत्तु वेदवादिभिरेव कैश्चिदुक्तम्—नित्य एवाऽयं वेदः प्रजापतेः प्रथममार्षज्ञानेनावबुद्धो भवतीति तदपि सर्वज्ञवदेव निराकार्यमित्याह—नित्येति"—**श्लो० न्याय० सू० २. १४३।** "अथापि वेददेहत्वात् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। सर्वज्ञानमयाद्वेदात्सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम्॥"**—तत्त्वसं० का० ३२०८, ३२१३-१४।**

३ "ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति योपि दशाव्ययः। शङ्करः श्रूयते सोऽपि ज्ञानवानात्मवित्तया॥"—**तत्त्वसं० का० ३२०६।**

४ "शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन संभाव्यन्ते।"**—तन्त्रवा० पृ० ११६। तत्त्व-सं० का० ३२२६-२७।**

५ "सर्वज्ञेषु च भूयःसु विरुद्धार्थोपदेशिषु। तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम्॥ सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम्॥"**—तत्त्वसं० का० ३१४८-४९॥**

शान्तरक्षित ने कुमारिल तथा अन्य सामट, यज्ञट आदि मीमांसकों की दलीलों का बड़ी सूक्ष्मता से सविस्तर खण्डन (तत्त्वसं० का० ३२६३ से) करते हुए कहा है कि—वेद स्वयं ही भ्रान्त एवं हिंसादि दोषयुक्त होने से धर्मविधायक हो नहीं सकता। फिर उसका आश्रय लेकर उपदेश देने में क्या विशेषता है ?। बुद्ध[१] ने स्वयं ही स्वानुभव से अनुकम्पाप्रेरित 5 होकर अभ्युदय निःश्रेयससाधक धर्म बतलाया है। मूर्ख शूद्र आदि को उपदेश देकर तो उसने अपनी करुणावृत्ति के द्वारा धार्मिकता ही प्रकट की है। वह मीमांसकों से[२] पूछता है कि जिन्हें तुम ब्राह्मण कहते हो उनकी ब्राह्मणता का निश्चित प्रमाण क्या है ?। अतीतकाल बड़ा लम्बा है, स्त्रियों का मन भी चपल है, इस दशा में कौन कह सकता है कि ब्राह्मण कहलानेवाली सन्तान के माता-पिता शुद्ध ब्राह्मण ही रहे हों और कभी किसी विजातीयता का 10 मिश्रण हुआ न हो। शान्तरक्षित[३] ने यह भी कह दिया कि सच्चे ब्राह्मण और श्रमण बुद्ध शासन के सिवाय अन्य किसी धर्म में नहीं हैं (का० ३५८६-९२)। अन्त में शान्तरक्षित ने पहिले सामान्यरूप से सर्वज्ञत्व का सम्भव सिद्ध किया है, फिर उसे महावीर, कपिल आदि में असम्भव बतलाकर केवल बुद्ध में ही सिद्ध किया है। इस विचारसरणी में शान्तरक्षित की मुख्य युक्ति यह[४] है कि चित्त स्वयं ही प्रभास्वर अतएव स्वभाव से प्रज्ञाशील है। 15 क्लेशावरण, ज्ञेयावरण आदि मल आगन्तुक हैं। नैरात्म्यदर्शन जो एक मात्र सत्यज्ञान है, उसके द्वारा आवरणों का क्षय होकर भावनाबल से अन्त में स्थायी सर्वज्ञता का लाभ होता है। ऐकान्तिक[५] क्षणिकत्वज्ञान, नैरात्म्यदर्शन आदि का अनेकान्तोपदेशी ऋषभ, वर्द्धमानादि में तथा आत्मोपदेशक कपिलादि में सम्भव नहीं अतएव उनमें आवरणक्षय द्वारा सर्वज्ञत्व का भी सम्भव नहीं। इस तरह सामान्य सर्वज्ञत्व की सिद्धि के द्वारा अन्त में

---

१ "करुणापरतन्त्रास्तु स्पष्टतत्त्वनिदर्शिनः। सर्वापवादनिःशङ्काश्चक्रुः सर्वत्र देशनाम् ॥ यथा यथा च मौर्ख्यादिदोषदुष्टो भवेज्जनः। तथा तथैव नाथानां दया तेषु प्रवर्तते-॥" **तत्त्वसं० का० ३५७१-२।**

२ "अतीतश्च महान् कालो योषितां चातिचापलम्। तद्भवत्यपि निश्चेतुं ब्राह्मणत्वं न शक्यते ॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो नहि कश्चित् समस्ति वः। तदन्वयविशुद्धिं च नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान् ॥" **तत्त्वसं० का० ३५७९-८०।**

३ "ये च वाहितपापत्वाद् ब्राह्मणाः पारमार्थिकाः। अभ्यस्तामलनैरात्म्यास्ते मुनेरेव शासने ॥ इहैव श्रमणस्तेन चतुर्धा परिकीर्त्यते। शून्याः परप्रवादा हि श्रमणैर्ब्राह्मणैस्तथा ॥" **तत्त्वसं० का० ३५८९-९०.**

४ "प्रत्यक्षीकृतनैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम्। तद्विरुद्धतया दीप्ते प्रदीपे तिमिरं यथा ॥" **तत्त्वसं० का० ३३३८।** "एवं क्लेशावरणप्रहाणं प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहाणं प्रतिपादयन्नाह—साक्षात्कृतिविशेषादिति—साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः। सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः ॥"—**तत्त्वसं० का० ३३३९।** "प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्। प्रकृत्यैव स्थितं यस्मात् मलास्त्वागन्तवो मताः।" **तत्त्वसं० का० ३४३५।** प्रमाणवा० ३. २०८।

५ "इदं च वर्द्धमानादेर्नैरात्म्यज्ञानमीदृशम्। न समस्त्यात्मदृष्टौ हि विनष्टाः सर्वतीर्थिकाः ॥ स्याद्वादाक्षणिकस्या(त्वा)दिप्रत्यक्षादिप्रबो(बा)धितम्। बह्वेवायुक्तमुक्तं यैः स्युः सर्वज्ञाः कथं नु ते ॥" **तत्त्वसं० ३३२५-२६।**

अन्य तीर्थङ्करों में सर्वज्ञत्व का असम्भव बतलाकर केवल सुगत में ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया है और उसी के शास्त्र को ग्राह्य बतलाया है ।

शान्तरक्षित की तरह प्रत्येक सांख्य या जैन आचार्य का भी यही प्रयत्न रहा है कि सर्वज्ञत्व का सम्भव अवश्य है पर वे सभी अपने-अपने तीर्थङ्करों में ही सर्वज्ञत्व स्थापित करते हुए अन्य तीर्थङ्करों में उसका नितान्त असम्भव बतलाते हैं । 5

जैन आचार्यों की भी यही दलील रही है कि अनेकान्त सिद्धान्त ही सत्य है। उसके यथावत् दर्शन और आचरण के द्वारा ही सर्वज्ञत्व लभ्य है। अनेकान्त का साक्षात्कार व उपदेश पूर्णरूप से ऋषभ, वर्द्धमान आदि ने ही किया अतएव वे ही सर्वज्ञ और उनके उपदिष्ट शास्त्र ही निर्दोष व ग्राह्य हैं। सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलङ्क हों या हेमचन्द्र सभी जैनाचार्यों ने सर्वज्ञसिद्धि के प्रसङ्ग में वैसा ही युक्तिवाद अवलम्बित किया है जैसा बौद्ध 10 सांख्यादि आचार्यों ने। अन्तर सिर्फ़ इतना ही है कि किसी[१] ने नैरात्म्यदर्शन को तो किसी[२] ने पुरुष-प्रकृति आदि तत्त्वों के साक्षात्कार को, किसी[३] ने द्रव्य-गुणादि छः पदार्थ के तत्त्वज्ञान को तो किसी[४] ने केवल आत्मज्ञान को यथार्थ कहकर उसके द्वारा अपने-अपने मुख्य प्रवर्त्तक तीर्थङ्कर में ही सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है, जब जैनाचार्यों[५] ने अनेकान्तवाद की यथार्थता दिखाकर इसके द्वारा भगवान् ऋषभ, वर्द्धमान आदि में ही सर्वज्ञत्व 15 स्थापित किया है। जो कुछ हो, इतना साम्प्रदायिक भेद रहने पर भी सभी सर्वज्ञवादी दर्शनों का, सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान और तज्जन्य क्लेशों का नाश और तद्द्वारा ज्ञानावरण के सर्वथा नाश की शक्यता आदि तात्त्विक विचार में कोई मतभेद नहीं।

पृ० १०. पं० १५. **'दीर्घकाल'**–तुलना–"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।"–योगसू० १. १४। 20

पृ० १०. पं० १६. **'एकत्ववितर्क'**–तुलना–"पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि।" "अविचारं द्वितीयम्।"–तत्त्वार्थ० ६. ४१, ४४। "वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।" "तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।" "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।"–योगसू० १. १७, ४२, ४७, ४८। "सो खो अहं ब्राह्मण

---

१ "अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयंकरम्। विनेयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम्॥"–**तत्त्वसं० का० ३३२२।**

२ "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥"–**सांख्यका० ६४।**

३ "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"–**वै० सू० १. १. ४।**

४ "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्।"–**बृहदा० २. ४. ५।**

५ "त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥"–**आप्तमी० का० ७। अयोग० का० २८।**

विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं ।"–मज्झिम० १. १. ४।

पृ० १०. पं० २३. 'न खलु कश्चिदहमस्मि'–तुलना–"नहि जातु कश्चिदत्र संदिग्धे 5 अहं वा नाहं वेति, न च विपर्यस्यति नाहमेवेति"–ब्रह्म० शाङ्करभा० पृ० २। चित्सुखी पृ० २२। खण्डन० पृ० ४८।

पृ० १०. पं० २४. 'बोद्धृत्वात्'–तुलना–

"प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम् ।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मान्मलास्त्वागन्तवो मताः ॥"–तत्त्वस० का० ३४३५।

10 पृ० १०. पं० २७. 'अथ प्रकाश'—पुनर्जन्म और मोक्ष मानने वाले सभी दार्शनिक देहादि जड़भिन्न आत्मतत्त्व को मानते हैं। चाहे वह किसी के मत से व्यापक हो या किसी के मत से अव्यापक, कोई उसे एक माने या कोई अनेक, किसी का मन्तव्य क्षणिकत्वविषयक हो या किसी का नित्यत्वविषयक, पर सभी को पुनर्जन्म का कारण अज्ञान आदि कुछ न कुछ मानना ही पड़ता है। अतएव ऐसे सभी दार्शनिकों के सामने ये प्रश्न समान हैं—

15 जन्म के कारणभूत तत्त्व का आत्मा के साथ सम्बन्ध कब हुआ और वह सम्बन्ध कैसा है ?। अगर वह सम्बन्ध अनादि है तो अनादि का नाश कैसे ?। एक बार नाश होने के बाद फिर वैसा सम्बन्ध होने में क्या अड़चन ?। इन प्रश्नों का उत्तर सभी अपुनरावृत्तिरूप मोक्ष माननेवाले दार्शनिकों ने अपनी-अपनी जुदी-जुदी परिभाषा में भी वस्तुतः एक रूप से ही दिया है।

20 सभी ने आत्मा के साथ जन्म के कारण के सम्बन्ध को अनादि ही कहा है। सभी मानते हैं कि यह बतलाना सम्भव ही नहीं कि अमुक समय में जन्म के कारण मूलतत्त्व का आत्मा से सम्बन्ध हुआ। जन्म के मूलकारण को अज्ञान कहो, अविद्या कहो, कर्म कहो या और कुछ, पर सभी स्वसम्मत अमूर्त आत्मतत्त्व के साथ सूक्ष्मतम मूर्ततत्त्व का एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं जो अविद्या या अज्ञान के अस्तित्व तक ही रहता है और 25 फिर नहीं। अतएव सभी द्वैतवादी के मत से अमूर्त और मूर्त का पारस्परिक सम्बन्ध निर्विवाद है। जैसे अज्ञान अनादि होने पर भी नष्ट होता है वैसे वह अनादि सम्बन्ध भी ज्ञानजन्य अज्ञान का नाश होते ही नष्ट हो जाता है। पूर्णज्ञान के बाद दोष का सम्भव न होने के कारण अज्ञान आदि का उदय सम्भवित ही नहीं अतएव अमूर्त-मूर्त का सामान्य सम्बन्ध मोक्ष दशा में होने पर भी वह अज्ञानजन्य न होने के कारण जन्म का निमित्त बन नहीं 30 सकता। संसारकालीन वह आत्मा और मूर्त द्रव्य का सम्बन्ध अज्ञानजनित है जब कि मोक्षकालीन सम्बन्ध वैसा नहीं है।

सांख्य-योग दर्शन आत्मा–पुरुष के साथ प्रकृति का, न्याय-वैशेषिक दर्शन परमाणुओं का, ब्रह्मवादी अविद्या–माया का, बौद्ध दर्शन चित्त–नाम के साथ रूप का, और जैन दर्शन

जीव के साथ कर्माणुओं का संसारकालीन विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं। ये सब मान्यता पुनर्जन्म और मोक्ष के विचार में से ही फलित हुई हैं।

पृ० १०. पं० २७. **'अथ प्रकाशस्वभावत्व'**–तुलना–"अतएव क्लेशगणोऽत्यन्तसमुद्धतोऽपि नैरात्म्यदर्शनसामर्थ्यमस्योन्मूलयितुमसमर्थः। आगन्तुकप्रत्ययकृतत्वेनादृढत्वात्। नैरात्म्यज्ञानं तु स्वभावत्वात् प्रमाणसहायत्वाच्च बलवदिति तुल्येऽपि विरोधित्वे आत्मदर्शने प्रतिपक्षो व्यवस्थाप्यते।......नापि ताम्रादिकाठिन्यादिवत् पुनरुत्पत्तिसम्भवो दोषाणाम्, तद्विरोधिनैरात्म्यदर्शनस्यात्यन्तसात्म्यमुपगतस्य सदाऽनपायात्। ताम्रादिकाठिन्यस्य हि यो विरोधी वह्निस्तस्य कादाचित्कसन्निहितत्वात् काठिन्यादेस्तदभाव एव भवतः पुनस्तदपायादुत्पत्तिर्युक्ता। नत्वेवं मलानाम्। अपायेऽपि वा मार्गस्य भस्मादिभिरनैकान्तान्नावश्यं पुनरुत्पत्तिसम्भवो दोषाणाम्, तथाहि—काष्ठादेरग्निसम्बन्धाद्भस्मसाद्भूतस्य तदपायेऽपि न प्राक्तनरूपानुवृत्तिः, तद्वद्दोषाणामपीत्यनैकान्तः। किञ्चागन्तुकतया प्रागप्यसमर्थानां मलानां पश्चात्सात्मीभूतं तन्नैरात्म्यं बाधितुं कुतः शक्तिः, नहि स्वभावो यत्नमन्तरेण निवर्त्तयितुं शक्यते। न च प्राप्यपरिहर्त्तव्ययोर्वस्तुनोर्गुणदोषदर्शनमन्तरेण प्रेक्षावतां हातुमुपादातुं वा प्रयत्नो युक्तः। न च विपक्षसा(न चाविपर्यस्ता ?)त्मनः पुरुषस्य दोषेषु गुणदर्शनं प्रतिपक्षे वा दोषदर्शनं सम्भवति, अविपर्यस्तत्वात्। नहि निर्दोषं वस्त्वविपर्यस्तधियो दुष्टत्वेनोपाददते, नापि दुष्टं गुणवत्त्वेन"–तत्त्वसं० प० पृ० ८७३-४।

पृ०. ११. पं० ६. **'अमूर्ताया अपि'**–तुलना–"**अमूर्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः।**"–प्रमेयर० पृ० ५६।

पृ०. ११. पं० ९. **'वर्षातपा'**–तुलना–"**तदुक्तं–वर्षातपा**"–भामती २. २. २६। न्यायम० पृ० ४८३।

पृ०. ११. पं० १७. **'ननु प्रमाणाधीना'**–तुलना–"**प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।**"–सांख्यका० ४।

पृ०. ११. पं० २७. **'विधावेव'**–तुलना–जैमि० १.२.१।

पृ०. १२. पं० १. **'प्रज्ञाया अतिशयः'**–तुलना–"**यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति।**"–योगभा० १. २५। तत्त्ववै० १. २५।

पृ०. १२. पं० ३. **सूक्ष्मान्तरित**–तुलना–आप्तमी० का० ५।

पृ. १२. पं० ४. **'ज्योतिर्ज्ञान'**–तुलना–

> **"ग्रहाधिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः।**
> **येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत्।**
> **आत्मा योऽस्य प्रवक्तायमपरालीढसत्पथः।**
> **नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्तते॥**

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम् ।
ज्योतिर्ज्ञानादिवत् सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः ॥"–न्यायवि० ३. २८, ७५, ८० ।

"ज्योतिर्ज्ञानं ज्योतिःशास्त्रम्, आदिशब्दादायुर्वेदादि तत्रैव तद्वद्यथा ज्योतिःशास्त्रादौ तत्तत्त्वं दृष्टं तैः तद्दर्शनस्य समर्थितत्वात् तद्वदन्यदपि सर्वं तत्तैर्दृष्टमेवान्यथा तद्विषयानुपदेशा-
5 लिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसम्वादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः ।"–न्यायवि० टी० लि० पृ०. ५६३ ।

पृ०. १२. पं० १७. 'सर्वमस्ति'–तुलना–स्याद्वादम० का० १४ ।

"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥"–आप्तमी० का० १५ ।
"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
10 वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित् कदाचन ॥" श्लोकवा० अभाव० श्लो० १२ ।

पृ०. १२. पं० २७. 'ज्ञानमप्रति'–तुलना–शास्त्रवा० ३.२ ।

"इतिहासपुराणेषु ब्रह्मादिर्योपि सर्ववित् ।
ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं चेति कीर्तितम् ॥" तत्त्वसं० का० ३१६६ ।

पृ०. १२. पं० ३०. 'यत्कुमारिलः'–तुलना–" एतावत्कुमारिलेनोक्तं पूर्वपक्षीकृतम् "–
15 तत्त्वसं० प० पृ० ८३६–८४४ ।

पृ०. १३. पं० १. 'आः सर्वज्ञ'—यहाँ आ० हेमचन्द्र ने कुमारिल के प्रति जैसा साम्प्रदायिक रोष व्यक्त किया हैं वैसा ही कुमारिल, शङ्कराचार्य आदि ने बुद्ध आदि के प्रति व्यक्त किया है ।—"स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविप्लुतमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः ।"–तन्त्रवा० पृ० ११६ ।

---

20 पृ० १४. पं० ८. 'बाधकाभावाच्च'–इस सूत्र का जो विषय है उसे विस्तार और बारीकी के साथ समझने के वास्ते तत्त्वसंग्रह की 'अतीन्द्रियदर्शिपुरुषपरीक्षा' का—"द्योतिताखिलवस्तुः स्यादित्यत्रोक्तं न बाधकम्" (का० ३२६६) से–"तस्मात्सर्वज्ञसद्भावबाधकं नास्ति किञ्चन (का० ३३०७)" तक का भाग पञ्जिका सहित ख़ास देखने योग्य है, जो मीमांसकों के पूर्वपक्ष का ख़ासा जवाब है ।

5 पृ०. १४. पं० ६. 'सुनिश्चिता'–तुलना–आप्तप० का० १०६ । "तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्"–लघी० स्ववि० १. ४ । अष्टस०. पृ० ४८ ।

पृ०. १४. पं० १५. 'अथ सकल'–"यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुषपरिषत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिदनुपलब्धेः खपुष्पवत् । न वै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्व[वक्तृत्वादेः] रथ्यापुरुषवत् । पुरुषातिशयसम्भवे अतीन्द्रियदर्शी किं न स्यात् । अत्र अनुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाभावे कुतः प्रमाणयेत्, अभेदात्
30 साधकबाधकप्रमाणाभावात् ।"–लघी० स्ववि० १. ४.

पृ०. १४. पं० २३. 'वक्तृत्वात्'–मीमांसक ने सर्वज्ञत्व के निषेध में वक्तृत्व, पुरुषत्वादि जिन हेतुओं का प्रयोग किया है उनकी असाधकता सर्वज्ञत्ववादी शान्तरक्षित (तत्त्वसं० का० ३३५६–३४६६), अकलङ्क (अष्टश० अष्टसह० पृ० ४४) और प्रभाचन्द्र ने (प्रमेयक० पृ० ७३ A) अपने-अपने ग्रन्थों में बतलाई है पर उक्त तीनों आचार्यों का असाधकत्वप्रदर्शन-प्रकार कुछ भिन्न-भिन्न है। वक्तृत्व हेतु के निरास का प्रकार प्रभाचन्द्र और आ० हेमचन्द्र 5 का समान है।

पृ०. १५. पं० ११. 'मनसो द्रव्य'–मनःपर्यायज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ देखी जाती हैं। एक परम्परा मानती है कि मनःपर्यायज्ञान, परकीय मन से चिन्त्यमान अर्थों को जानता है जब कि दूसरी परम्परा मानती है कि मनःपर्यायज्ञान चिन्तनव्यापृत मनोद्रव्य के पर्यायों को साक्षात् जानता है और चिन्त्यमान पदार्थ तो पीछे से अनुमान के 10 द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि चिन्त्यमान पदार्थ मूर्त की तरह अमूर्त भी हो सकते हैं जिन्हें मनःपर्यायज्ञान विषय कर नहीं सकता।

पहली परम्परा आवश्यक निर्युक्ति की गाथा (७६)–

"मणपज्जवनाणं पुण जणमणपरिचिन्तियत्थपायडणं।
माणुसखित्तनिबद्धं गुणपच्चइयं चरित्तवओ॥" 15

से तथा तत्त्वार्थभाष्य (१.२६) के—"अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यापन्नानि विशुद्धतराणि चेति"–शब्दों से प्रकट होती है। दूसरी परम्परा विशेषावश्यकभाष्य गाथा (८१४)–

"दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणन्ते
तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेणुमाणाणेणं॥" 20

से तथा नन्दीचूर्णि–"मणियत्थं पुण पच्चक्खं णो पेक्खइ, जेण मणणं मुत्तममुत्तं वा, सो य छउमत्थो तं अणुमाणतो पेक्खइ त्ति"–पृ० १६ B. आदि से स्पष्ट होती है।

इन श्वेताम्बरीय दोनों परम्पराओं में से पहली ही एकमात्र परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय में पाई जाती है—"परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते"–सर्वार्थ० १–२३। गोम्मट० जीव० गा० ४३७। जान पड़ता है कि निर्युक्ति और तत्त्वार्थभाष्यगत परम्परा 25 दिगम्बरीय साहित्य में सुरक्षित रही पर पीछे से साहित्यिक सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने के कारण भाष्य-चूर्णि आदि में विकसित दूसरी परम्परा का पक्षान्तर रूप से या खण्डनीय रूप से दिगम्बरीय ग्रन्थों में अस्तित्व तक न आया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती तार्किक श्वेताम्बर आचार्यों की तरह इस जगह दूसरी परम्परा का ही अवलम्बन किया है। सच बात तो यह है कि पहली परम्परा उन 30 प्राचीन ग्रन्थों में निर्देशरूप से पाई जाती है सही, पर व्यवहार में सर्वत्र सिद्धान्तरूप से दूसरी परम्परा का ही अवलम्बन श्वेताम्बर आचार्य करते हैं। पहली परम्परा में दोषोद्भावन

होने से दूसरी परम्परा का विकास हुआ। विकास के जन्मदाता सम्भवतः क्षमाश्रमण जिनभद्र हैं। विकास की यथार्थता देखकर पीछे से सभी ने उसी मन्तव्य को अपनाया। फिर भी पहली परम्परा शब्दों में तो प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित रह ही गई।

आश्चर्य तो यह है कि अकलङ्क, विद्यानन्द आदि जैसे सूक्ष्मप्रज्ञ दिगम्बराचार्यों 5 को स्वतन्त्र रूप से भी पहली परम्परा के दोष का भान क्यों नहीं हुआ ?। उन्होंने उसमें शङ्का क्यों नहीं उठाई ?।

पृ० १५. पं० ११. **'मनःपर्यायः'**–तुलना–"प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥"–योगसू० ३.१९। योगभा० ३. १९।

आकंखेय्य चे भिक्खवे भिक्खु परसत्तानं परपुग्गलानं चेतसा चेतो परिच्च पजानेय्यं 10 सरागं वा चित्तं सरागं चित्तंऽति पजानेय्यं, वीतरागं...सदोसं...वीतदोसं...समोहं...वीतमोहं...सङ्खित्तं...विक्खित्तं...महग्गतं...अमहग्गतं...सउत्तरं...अनुत्तरं...समाहितं...असमाहितं...विमुत्तं...अविमुत्तं वा चित्तं अविमुत्तं चित्तंति पजानेय्यंऽति, सीलेस्वेवस्स परिपूरकारी...सुञ्ञागारानं।"–मज्झिम० १ ६.२।

पृ०. १५. पं० २७. **'विषयकृतश्च'**–तुलना–"रूपिष्ववधेः। तदनन्तभागे मनःपर्या15 यस्य।"–तत्त्वार्थ० १. २८, २९।

पृ० १६. पं० २, **'सांव्यवहारिकम्'**–देखो १. १. ९-१० का टिप्पण पृ० १९।

पृ०. १६. पं० ८. **'समीचीनः'**–तुलना–प्रमेयर० २. ५।

पृ०. १६. पं० १०. **'इन्द्रियप्राधान्याद्'**–तुलना–"इन्द्रियज्ञानम्। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्।"–न्यायबि० १. ८, ९।

20 पृ०. १६. पं० १२. **'ननु स्वसंवेदन'**–तुलना–प्रमेयर० २.५।

पृ०. १६. पं० १७. **'स्पर्श'**–इन्द्रियनिरूपण प्रसङ्ग में मुख्यतया नीचे लिखी बातों पर दर्शनशास्त्रों में विचार पाया जाता है–

इन्द्रिय पद की निरुक्ति, इन्द्रियों का कारण, उनकी संख्या, उनके विषय, उनके आकार, उनका पारस्परिक भेदाभेद, उनके प्रकार तथा द्रव्य-गुणग्राहित्वविवेक इत्यादि।

25 अभी तक जो कुछ देखने में आया उससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियपद की निरुक्ति जो सबसे पुरानी लिपिबद्ध है वह पाणिनि के सूत्र[१] में ही है। यद्यपि इस निरुक्तिवाले पाणिनीय सूत्र के ऊपर कोई भाष्यांश पतञ्जलि के उपलब्ध महाभाष्य में दृष्टिगोचर नहीं होता

---

१ "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।"–५. २. ९३।

तथापि सम्भव है पाणिनीय सूत्रों की अन्य कोई प्राचीन व्याख्या या व्याख्याओं में उस सूत्र पर कुछ व्याख्या लिखी गई हो। जो कुछ हो पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि प्राचीन बौद्ध और जैन दार्शनिक ग्रन्थों में पाई जानेवाली पाणिनीय सूत्रोक्त इन्द्रियपद की निरुक्ति किसी न किसी प्रकार से पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के अभ्यास में से ही उक्त बौद्ध-जैन ग्रन्थों में दाखिल हुई है। विशुद्धिमार्ग[१] जैसे प्रतिष्ठित बौद्ध और तत्त्वार्थभाष्य[२] जैसे प्रतिष्ठित जैन दार्शनिक ग्रन्थ में एक बार स्थान प्राप्त कर लेने पर तो फिर वह निरुक्ति उत्तरवर्ती सभी बौद्ध-जैन महत्त्वपूर्ण दर्शन ग्रन्थों का विषय बन गई है।

इस इन्द्रिय पद की निरुक्ति के इतिहास में मुख्यतया दो बातें ख़ास ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि बौद्ध वैयाकरण जो स्वतन्त्र हैं और जो पाणिनीय के व्याख्याकार हैं उन्होंने उस निरुक्ति को अपने-अपने ग्रन्थों में कुछ विस्तार से स्थान दिया है। और आ० हेमचन्द्र[३] जैसे स्वतन्त्र जैन वैयाकरण ने भी अपने व्याकरणसूत्र तथा वृत्ति में पूरे विस्तार से उसे स्थान दिया है। दूसरी बात यह कि पाणिनीय सूत्रों के बहुत ही अर्वाचीन व्याख्या-ग्रन्थों के अलावा और किसी वैदिक दर्शन के ग्रन्थ में वह इन्द्रियपद की निरुक्ति पाई नहीं जाती जैसी कि बौद्ध-जैन दर्शन ग्रन्थों में पाई जाती है। जान पड़ता है, जैसा अनेक स्थलों में हुआ है वैसे ही, इस सम्बन्ध में असल में शाब्दिकों की शब्दनिरुक्ति बौद्ध-जैन दर्शन ग्रन्थों में स्थान पाकर फिर वह दार्शनिकों की चिन्ता का विषय भी बन गई है।

माठरवृत्ति[४] जैसे प्राचीन वैदिक दर्शनग्रन्थ में इन्द्रिय पद की निरुक्ति है पर वह पाणिनीय सूत्र और बौद्ध-जैन दर्शनग्रन्थों में लभ्य निरुक्ति से बिलकुल भिन्न और विलक्षण है।

जान पड़ता है पुराने समय में शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति बतलाना यह एक ऐसा आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था कि जिसकी उपेक्षा कोई बुद्धिमान् लेखक नहीं करता था। व्युत्पत्ति और निरुक्ति बतलाने में ग्रन्थकार अपनी स्वतन्त्र कल्पना का भी पूरा उपयोग करते थे। यह वस्तुस्थिति केवल प्राकृत-पाली शब्दों तक ही परिमित न थी वह संस्कृत शब्दों में भी थी। इन्द्रियपद की निरुक्ति इसी का एक उदाहरण है।

---

१ "को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति ?। इन्दलिङ्गट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्ददेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्ददिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्दसिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; सो सब्बोपि इध यथायोग युज्जति। भगवा हि सम्मासबुद्धो परमिस्सरियभावतो इन्दो, कुसलाकुसलं च कम्मं कम्मेसु कस्सचि इस्सरियाभावतो। तेनेवेत्थ कम्मसञ्जनितानि ताव इन्द्रियानि कुसलाकुसलकम्मं उल्लिङ्गेन्ति। तेन च सिट्ठानीति इन्दलिङ्गट्ठेन इन्दसिट्ठट्ठेन च इन्द्रियानि। सब्बानेव पनेतानि भगवता यथा भूततो पकासितानि अभिसम्बुद्धानि चाति इन्ददेसितट्ठेन इन्ददिट्ठट्ठेन च इन्द्रियानि। तेनेव भगवता मुनीन्देन कानिचि गोचरासेवनाय, कानिचि भावनासेवनाय सेवितानीति इन्दजुट्ठट्ठेनापि इन्द्रियानि। अपि च आधिपच्चसंखातेन इस्सरियट्ठेनापि एतानि इन्द्रियानि। चक्खुविञ्ञाणादिप्पवत्तियं हि चक्खादीनं सिद्धं आधिपच्च, तस्मि तिक्खे तिक्खत्ता, मन्दे मन्दत्ता ति। अयं तावेत्थ अत्थतो विनिच्छयो।"–**विसुद्धि० पृ० ४९१।**

२ **तत्त्वार्थभा० २. १५। सर्वार्थ० १. १४।**

३ "इन्द्रियम्।"–**हैमश० ७. १. १७४।**

४ "इन् इति विषयाणां नाम, तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि।"–**माठर० का० २६।**

मनोरञ्जक बात तो यह है कि शाब्दिक क्षेत्र से चलकर इन्द्रियपद की निरुक्ति ने दार्शनिक क्षेत्र में जब प्रवेश किया तभी उस पर दार्शनिक सम्प्रदाय की छाप लग गई। बुद्धघोष[१] इन्द्रियपद की निरुक्ति में और सब अर्थ पाणिनिकथित बतलाते हैं पर इन्द्र का अर्थ सुगत बतलाकर भी उस निरुक्ति को सङ्गत करने का प्रयत्न करते हैं। जैन आचार्यों ने 5 इन्द्रपद का अर्थ मात्र जीव या आत्मा ही सामान्य रूप से बतलाया है। उन्होंने बुद्धघोष की तरह उस पद का स्वाभिप्रेत तीर्थङ्कर अर्थ नहीं किया है। न्याय-वैशेषिक जैसे ईश्वर-कर्तृत्ववादी किसी वैदिक दर्शन के विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में इस निरुक्ति को स्थान दिया होता तो शायद वह इन्द्रपद का ईश्वर अर्थ करके भी निरुक्ति सङ्गत करता।

सांख्यमत के अनुसार इन्द्रियों का उपादान कारण अभिमान है जो प्रकृतिजन्य एक 10 प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य ही है–सांख्यका० २५। यही मत वेदान्त को मान्य है। न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार (न्यायसू० १.१.१२) इन्द्रियों का कारण पृथ्वी आदि भूतपञ्चक है जो जड़ द्रव्य ही है। यह मत पूर्वमीमांसक को भी अभीष्ट है। बौद्धमत के अनुसार प्रसिद्ध पाँच इन्द्रियाँ रूपजन्य होने से रूप ही हैं जो जड़ द्रव्यविशेष है। जैन दर्शन भी द्रव्य—स्थूल इन्द्रियों के कारणरूप से पुद्गलविशेष का ही निर्देश करता है जो जड़ द्रव्यविशेष ही है।

15 कर्णशष्कुली, अक्षिगोलककृष्णसार, त्रिपुटिका, जिह्वा और चर्मरूप जिन बाह्य आकारों को साधारण लोग अनुक्रम से कर्ण, नेत्र, घ्राण, रसन और त्वक् इन्द्रिय कहते हैं वे बाह्याकार सर्व दर्शनों में इन्द्रियाधिष्ठान[२] ही माने गये हैं–इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रियाँ तो उन आकारों में स्थित अतीन्द्रिय वस्तुरूप से मानी गई हैं; चाहे वे भौतिक हों या आहङ्कारिक। जैन दर्शन उन पौद्गलिक अधिष्ठानों को द्रव्येन्द्रिय कहकर भी वही भाव 20 सूचित करता है कि–अधिष्ठान वस्तुत: इन्द्रियाँ नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार भी इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं पर वे भौतिक या आभिमानिक जड़ द्रव्य न होकर चेतनशक्तिविशेषरूप हैं जिन्हें जैन दर्शन भावेन्द्रिय–मुख्य इन्द्रिय–कहता है। मन नामक षष्ठ इन्द्रिय सब दर्शनों में अन्तरिन्द्रिय या अन्त:करण रूप से मानी गई है। इस तरह छ: बुद्धि इन्द्रियाँ तो सर्व-दर्शन साधारण हैं पर सिर्फ़ सांख्यदर्शन ऐसा है जो वाक्, पाणि, पादादि पाँच कर्मेन्द्रियों 25 को भी इन्द्रियरूप से गिनकर उनकी ग्यारह संख्या (सांख्यका० २४) बतलाता है। जैसे वाचस्पति मिश्र और जयन्त ने सांख्यपरिगणित कर्मेन्द्रियों को इन्द्रिय मानने के विरुद्ध कहा[३] है वैसे ही आ० हेमचन्द्र ने भी कर्मेन्द्रियों के इन्द्रियत्व का निरास करके अपने पूर्ववर्ती[४] पूज्यपादादि जैनाचार्यों का ही अनुसरण किया है।

---

१ देखो टिप्पण पृ० ३६. टिप्पणी १।
२ न्यायम० पृ० ४७७।
३ तात्पर्य० पृ० ५३१। न्यायम० पृ० ४८३।
४ तत्त्वार्थभा० २. १५। सर्वार्थ० २. १५।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि पूज्यपादादि प्राचीन जैनाचार्य तथा वाचस्पति, जयन्त आदि अन्य विद्वानों ने जब इन्द्रियों की सांख्यसम्मत ग्यारह संख्या का बलपूर्वक खण्डन किया है तब उन्होंने या और किसी ने बौद्ध अभिधर्म[1] में प्रसिद्ध इन्द्रियों की बाईस संख्या का प्रतिषेध या उल्लेख तक क्यों नहीं किया ? । यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उन्होंने किसी संस्कृत अभिधर्म ग्रन्थ को भी न देखा हो । जान पड़ता है बौद्ध अभिधर्मपरम्परा में प्रत्येक मानसशक्ति का इन्द्रियपद से निर्देश करने की साधारण प्रथा है ऐसा विचार करके ही उन्होंने उस परम्परा का उल्लेख या खण्डन नहीं किया है । 5

छः इन्द्रियों के शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि प्रतिनियत विषय ग्राह्य हैं । इसमें तो सभी दर्शन एकमत हैं पर न्याय-वैशेषिक का इन्द्रियों के द्रव्यग्राहकत्व के सम्बन्ध में अन्य सबके साथ मतभेद है । इतर सभी दर्शन इन्द्रियों को गुणग्राहक मानते हुए भी गुण-द्रव्य का अभेद होने के कारण छहों इन्द्रियों को द्रव्यग्राहक भी मानते हैं जब कि न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसक वैसा नहीं मानते । वे सिर्फ़ नेत्र, स्पर्शन और मन को द्रव्य-ग्राहक कहते हैं अन्य को नहीं (मुक्ता० का० ५३-५६) । इसी मतभेद को आ० हेमचन्द्र ने स्पर्श आदि शब्दों की कर्म-भावप्रधान व्युत्पत्ति बतलाकर व्यक्त किया है और साथ ही अपने पूर्वगामी जैनाचार्यों का पदानुगमन भी । 10 15

इन्द्रिय-एकत्व और नानात्ववाद की चर्चा दर्शनपरम्पराओं में बहुत पुरानी है– न्यायसू० ३. १. ५२ । कोई इन्द्रिय को एक ही मानकर नाना स्थानों के द्वारा उसके नाना कार्यों का समर्थन करता है, जब कि सभी इन्द्रियनानात्ववादी उस मत का खण्डन करके सिर्फ नानात्ववाद का ही समर्थन करते हैं । आ० हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में जैन प्रक्रिया-सुलभ अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों में पारस्परिक एकत्व-नानात्व उभयवाद का समन्वय करके प्राचीन जैनाचार्यों का ही अनुसरण किया है और प्रत्येक एकान्तवाद में परस्पर दिये गये दूषणों का परिहार भी किया है । 20

इन्द्रियों के स्वामित्व की चिन्ता भी दर्शनों का एक ख़ास विषय है । पर इस सम्बन्ध में जितनी अधिक और विस्तृत चर्चा जैनदर्शन में पाई जाती है वैसी अन्य दर्शनों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती । वह बौद्ध दर्शन में है पर जैनदर्शन के मुक़ाबिले में अल्पमात्र है । स्वामित्व की इस चर्चा को आ० हेमचन्द्र ने एकादश-अङ्गावलम्बी तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में से अक्षरशः लेकर इस सम्बन्ध में सारा जैनमन्तव्य प्रदर्शित किया है । 25

पृ०. १७. पं० ५. **'तत्र स्पर्शनेन्द्रियम्'**–तुलना–"वाय्वन्तानामेकम् ।"–तत्त्वार्थ० २. २३ ।

---

१ "कतमानि द्वाविंशतिः । चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं जिह्वेन्द्रियं कायेन्द्रिय मन-इन्द्रियं स्त्रीन्द्रियं पुरुषेन्द्रियं जीवितेन्द्रियं सुखेन्द्रियं दुःखेन्द्रियं सौमनस्येन्द्रियं दौर्मनस्येन्द्रियं उपेक्षेन्द्रियं श्रद्धेन्द्रियं वीर्येन्द्रियं स्मृतीन्द्रियं समाधीन्द्रियं प्रज्ञेन्द्रियं अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियं आज्ञेन्द्रियं आज्ञातावीन्द्रि-यम् ।"–**स्फुटा० पृ० ६५ । विसुद्धि० पृ० ४९१ ।**

पृ०. १७. पं० १२. **'अग्रे वक्ष्यते'**–प्रस्तुत ग्रन्थ का आगे का भाग अलभ्य है। अतः आगम और अनुमान के द्वारा जीवत्वसिद्धि किस प्रकार शास्त्र में की जाती है इसके लिये **देखो**—सन्मतिटी० पृ० ६५२. टि० १; पृ० ६५३. टि० ३; पृ० ६५४. टि० १।

पृ०. १७. पं० १२. **'स्पर्शनरसनेन्द्रिये'**–तुलना–तत्त्वार्थभा० २. २४।

5 पृ०. १७. पं० १८. **'ननु वचन'**–तुलना–सांख्यका० २६, २८।

पृ०. १७. पं० २२. **'तेषां च परस्परम्'**–तुलना–तत्त्वार्थरा० २.१६। तत्त्वार्थश्लो० २ १६।

पृ०. १८. पं० ७. **'एवमिन्द्रियविषयाणाम्'**–तुलना–सर्वार्थ० २.२०। तत्त्वार्थरा० २.२०।

पृ०. १८. पं० २०. **'लम्भनम्'**–तुलना–"लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ ?। ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः।"–लघी० स्ववि० १. ५।

10 पृ०. १८. पं० २०. **'यत्सन्निधाना'**–तुलना–सर्वार्थ० २. १८। "उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः"–लघी० स्ववि० १. ५।

पृ०. १८. पं० २५. **'तत्र लब्धिस्वभावं तावदिन्द्रियम्'**–तुलना–तत्त्वार्थश्लो० २. १८।

पृ०. १९. पं० १. **'स्वार्थप्रकाशने'**–तुलना–सर्वार्थ० २. १८।

पृ० १९. पं० ८. **'सर्वार्थे'**–मन के स्वरूप, कारण, कार्य, धर्म और स्थान आदि 15 अनेक विषयों में दार्शनिकों का नानाविध मतभेद है जो संक्षेप में इस प्रकार है। वैशेषिक (वै० सू० ७. १. २३), नैयायिक (न्यायसू० ३. २. ६१) और तदनुगामी पूर्वमीमांसक (प्रकरणप० पृ० १५१) मन को परमाणुरूप अतएव नित्य–कारणरहित मानते हैं। सांख्य-योग और तदनुगामी वेदान्त उसे परमाणुरूप नहीं फिर भी अणुरूप और जन्य मानकर उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहङ्कार तत्त्व[1] से या अविद्या से मानते हैं। बौद्ध और जैन परम्परा के अनुसार 20 मन न तो व्यापक है और न परमाणुरूप। वे दोनों परम्पराएँ मन को मध्यम परिमाणवाला और जन्य मानती हैं। बौद्ध परम्परा[2] के अनुसार मन विज्ञानात्मक है और वह उत्तरवर्ती विज्ञानों का समनन्तरकारण पूर्ववर्ती विज्ञानरूप है। जैन परम्परा के अनुसार पौद्गलिक मन तो एक खास प्रकार के सूक्ष्मतम मनोवर्गणानामक जड़ द्रव्यों से उत्पन्न होता है और

---

१ "यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि च सात्त्विकादहंकारादुत्पद्यन्ते मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते।"–**माठर का० २७।**

२ "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः मन आयतनं च तत्। षण्णामनन्तराऽतीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः॥"–**अभिधर्म० १. १६, १७। तत्त्वसं० का० ६३१।**

"यत् यत्समनन्तरनिरुद्धं विज्ञानं तत्तन्मनोधातुरिति। तद्यथा स एव पुत्रोऽन्यस्य पित्राख्यां लभते तदेव फलमन्यस्य बीजाख्याम्। तथेहापि स एव चक्षुरादिविज्ञानधातुरन्यस्याश्रय इति मनोधात्वाख्यां लभते। य एव षड् विज्ञानधातव स एव मनोधातुः। य एव च मनोधातुस्त एव च षड् विज्ञानधातव इतीतरेतरान्तर्भावः .....योगाचारदर्शनेन तु षड्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽप्यस्ति मनोधातुः।"–**स्फुटा० पृ० ४०, ४१।**

वह प्रतिक्षण शरीर की तरह परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है जब कि भावमन ज्ञानशक्ति और ज्ञानरूप होने से चेतनद्रव्यजन्य है।

सभी दर्शनों के मतानुसार मन का कार्य इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि गुणों की तथा उन गुणों के अनुभव की उत्पत्ति कराना है, चाहे वे गुण किसी के मत से आत्मगत हों जैसे न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, जैन आदि के मत से; या अन्तःकरण–बुद्धि[1] के हों जैसे 5 सांख्य-योग-वेदान्तादि के मत से; या स्वगत ही हों जैसे बौद्धमत से। बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान की उत्पत्ति में भी मन निमित्त बनता है और बहिरिन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानादि गुणों की उत्पत्ति में भी वह निमित्त बनता है। बौद्धमत के सिवाय किसी के भी मत से इच्छा, द्वेष, ज्ञान, सुख, दुःख, संस्कार आदि धर्म मन के नहीं हैं। वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक और जैन के अनुसार वे गुण आत्मा के हैं पर सांख्य-योग-वेदान्तमत के अनुसार वे गुण बुद्धि— 10 अन्तःकरण—के ही हैं। बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व अलग न मानकर उसके स्थान में नाम—मन ही को मानता है अतएव उसके अनुसार इच्छा, द्वेष, ज्ञान, संस्कार आदि धर्म जो दर्शनभेद से आत्मधर्म या अन्तःकरणधर्म कहे गये हैं वे सभी मन के ही धर्म हैं।

न्याय-वैशेषिक-बौद्ध[2] आदि कुछ दर्शनों की परम्परा मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानती है। सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय कहा नहीं 15 जा सकता क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्म–लिङ्गशरीर में, जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है। और सूक्ष्मशरीर का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर सिद्ध होता है। जैन परम्परा के अनुसार भावमन का स्थान आत्मा ही है। पर द्रव्यमन के बारे में पक्षभेद देखे जाते हैं। दिगम्बर पक्ष द्रव्यमन को हृदयप्रदेशवर्ती मानता 20 है जब कि श्वेताम्बर पक्ष की ऐसी मान्यता का कोई उल्लेख नहीं दिखता। जान पड़ता है श्वेताम्बर परम्परा को समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है।

पृ०. १६. पं० १०. **'सर्वार्थग्रहणम्'**—तुलना–"सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्ति इति सर्वविषयम् अन्तःकरणं मनः।"—न्यायभा० १.१.६। "सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्"—साङ्ख्यका० ३५।

पृ०. १६. पं० १७. **'मनोऽपि'**—तुलना–"मनो द्विविधं, द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र 25 पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावारणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः।"—सर्वार्थ० २. ११; ५. १६।

पृ० १६. पं० २२. **'रूपालोकमनस्कार'**—तुलना–नयचक्रवृ० लि० पृ० ४० B। अनेकान्तज० टी० पृ० २०६।

१ "तस्माच्चित्तस्य धर्मा वृत्तयो नात्मनः" ।—सर्वद० पात० पृ० ३५२।

२ "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति।"—स्फुटा० पृ० ४१।

नागार्जुन ने मध्यमिककारिका-

"चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् ।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥"

में (१. २) तथा वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश (परि० २, श्लो० ६१-६४) में चार प्रत्ययों का कथन
5 व वर्णन किया है जिनका खुलासा वाचस्पति मिश्र ने भामती (२.२.१९) में तथा माधवाचार्य
ने सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ३९) में सविस्तर किया है। वे ही चार प्रत्यय ज्ञाननिमित्तरूप से आ०
हेमचन्द्रोद्धृत इस कारिका में निर्दिष्ट हैं—

"नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता। समनन्तरप्रत्यया-
त्पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्रूपग्रहणप्रतिनियमः। आलोकात्सहकारि-
10 प्रत्ययाद्धेतोः स्पष्टार्थता। एवं सुखादीनामपि चैत्तानां चित्ताभिन्नहेतुजानां चत्वार्येतान्येव
कारणानि।"—भामती २. २. १९।

पृ० १९. पं० २५. 'नार्थालोकौ'—अकलङ्क से लेकर सभी जैन तार्किकों ने जिस
अर्थालोककारणतावाद का निरास किया है वह बौद्ध का ही है। न्याय आदि दर्शनों में
भी जन्यप्रत्यक्ष के प्रति अर्थ कारण माना गया है और चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोक भी। तब
15 प्रश्न होता है कि क्या उन जैनाचार्यों के सामने उक्त कारणतासमर्थक बौद्ध ग्रन्थ ही थे और
न्याय आदि के ग्रन्थ न थे? या नैयायिकों ने उस पर चर्चा ही न की थी?। इसका उत्तर
यह है कि उस प्राचीन समय में नैयायिक आदि वैदिक दार्शनिकों ने अर्थ और आलोक की
कारणताविषयक कोई खास चर्चा छेड़ी न थी, और तद्विषयक खास सिद्धान्त भी स्थिर नहीं किये
थे, जैसे कि बौद्ध तार्किकों ने इस विषय में विस्तृत ऊहापोह करके सिद्धान्त स्थिर किये थे।
20 अतएव जैन तार्किकों के सामने बौद्धवाद ही उक्त कारणतावादरूप से उपस्थित रहा और उन्होंने
उसी का निरास किया। गङ्गेश उपाध्याय ने अपने प्रत्यक्ष चिन्तामणि ग्रन्थ (पृ० ७२०) में
विषय और आलोक के कारणत्व का स्पष्ट एवं स्थिर सिद्धान्त रखा। पर आ० हेमचन्द्र
गङ्गेश के समकालीन होने से उनके देखने में चिन्तामणि ग्रन्थ नहीं आया। यही कारण है
कि आ० हेमचन्द्र ने इस अर्थालोककारणतावाद के निरास में अपने पूर्ववर्ती जैन तार्किकों
25 का ही अनुसरण किया है।

तदुत्पत्ति-तदाकारता का सिद्धान्त भी बौद्ध है। बौद्धों में भी वह सौत्रान्तिक का है
क्योंकि सौत्रान्तिक बाह्य विषय का अस्तित्व मानकर ज्ञान को तज्जन्य-तदाकार मानते हैं।
इस सिद्धान्त का खण्डन विज्ञानवादी योगाचार बौद्धों ने ही किया है जो प्रमाणवार्तिक और
उसकी टीका प्रमाणवार्तिकालङ्कार (पृ० ११) आदि में देखा जाता है। जैन तार्किकों ने
30 प्रथम से ही उसी खण्डनसरणी को लेकर उस वाद का निरास किया है।

पृ० २०. पं० १. 'न चासावर्थो'—तुलना—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं
विषयः इति बालिशगीतम्। तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं आवरणविच्छेदात्।

आलोके सत्यपि संशयज्ञानसम्भवात् काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शुक्लशङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेर्मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थेऽसत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावान्नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम्।"–लघी० स्ववि० ६. ७।

पृ०. २०. पं० ३. 'योगिनां च'–तुलना–तत्त्वार्थश्लो० १. १४. ७–६। प्रमेयक० पृ० ६४ A

पृ०. २०. पं० १५. 'तस्मात्'–तुलना–

"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥"–लघी० ६.६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१८।

पृ०. २०. पं० १६. 'तदुत्पत्तिमन्तरेण'–तुलना–

"मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथानेकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः॥"–लघी० ६. ७।

"यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः।"–लघी० स्ववि० ६. ७।

"न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सहः।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम्॥"–लघी० ६. ८।

परी० २. ८, ६। प्रमाणन ४. ४६, ४७।

अ० १. आ० १. सू० २६-२६. पृ० २१. सब प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति का विचार करते समय सभी भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञानों के कारण, उनके विषय, उनकी उत्पत्ति का क्रम तथा उनके कार्य आदि का अपने-अपने ढङ्ग से विचार किया है। आ० हेमचन्द्र ने यहाँ जो इन्द्रिय-मनोजन्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कारण, विषयादि का कथन किया है, वह जैनपरम्परा के अनुसार है। कारण, उत्पत्तिक्रम, विषयभेद, स्पष्टता का तरतमभाव, स्थिति, कार्य आदि अनेक मुद्दे प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखते हैं।

बौद्ध परम्परा में चित्तप्रवृत्ति का निदर्शन कराते हुए चक्षुर्विज्ञान आदि छः विज्ञान-वीथियों को लेकर उन्हीं मुद्दों पर बौद्ध तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया के अनुसार सूक्ष्म और आकर्षक प्रकाश डाला गया है–अभिधम्मत्थ० ४. ६ से।

वैदिक दर्शनों में से न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने, जिनका इस विषय का मत पूर्वमीमांसक को भी मान्य है, निर्विकल्पक, सविकल्पक आदि क्रम से प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में उन्हीं मुद्दों पर बड़े विस्तार और बहुत सूक्ष्मता से विचार किया है–प्रश० पृ० १८६। श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२-१२०। मुक्ता० का० ५२-६१। सांख्यदर्शन ने भी—जिसकी प्रक्रिया योग, वेदान्तादि दर्शनों को मान्य है—अपनी प्रक्रिया के अनुसार इस सम्बन्ध में विचार किया है–सांख्यका० ३०। माठर०। सांख्यत०।

आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत चार सूत्रों में उक्त मुद्दों के ऊपर जैन परम्परा के मन्तव्य का सूत्रण किया है। यह सूत्रण यद्यपि सामान्यरूप से आगमिक और आगमावलम्बी तार्किक

दोनों जैन परम्परा का संग्राहक है तथापि इस सूत्रगत में जो शाब्दिक रचना और जो आर्थिक वक्तव्य है वह एतद्विषयक अकलङ्क की कृति के साथ अधिक सादृश्य रखता है।

पृ० २१. पं० ८. 'एतेन दर्शनस्य'–तुलना–"अर्थग्रहणयोग्यतालक्षणं तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पम् उत्तरं परिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः।"–लघी० 5 स्ववि० १.५।

पृ०. २१. पं० १२. 'प्रतिसंख्यानेन'–बौद्ध तार्किक जिसे प्रत्यक्षप्रमाणरूप मानते हैं उस निर्विकल्पक ज्ञान को दर्शन या अनध्यवसाय कहकर आ० हेमचन्द्र ने प्रमाणकोटि से बाहर रक्खा है, और उसके अनन्तरभावी अवग्रह से प्रमाणभूत ज्ञानपरम्परा का प्रारम्भ मानकर इन्द्रियजन्य उस अवग्रह को मानसविकल्प से भी भिन्न कहा है। बौद्ध तार्किक 10 मानसविकल्प को अप्रमाण मानकर उसका प्रतिसंख्याननामक समाधिविशेषभावी भावना से नाश मानते हैं—"प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्" "विसंयोगः क्षयो धिया" अभिधर्म० १. ६; २. ५७। तत्त्वसं० प० पृ० ५४७। मध्य० वृ० पृ० ३६६, ५५६। अभिधम्मत्थ० ६. २८। ब्र० शाङ्करभा० २.२. २२। न्यायभा० ४. २.२।

पृ० २१. पं० २८. 'ईहित'–आगम और उसकी चूर्णि आदि व्याख्याओं में जब तक 15 प्राकृत भाषा का सम्बन्ध रहा तब तक अवाय शब्द का प्रयोग ही देखा जाता है। प्राकृत 'अवाय' शब्द संस्कृत 'अपाय' और संस्कृत 'अवाय' दोनों से निष्पन्न होता है। उमास्वाति ने अवाय का संस्कृत अपाय बनाकर उसी को मूल सूत्र और भाष्य में प्रयुक्त किया है। पूज्यपाद आदि दिगम्बराचार्यों ने संस्कृत अवाय शब्द को ही सूत्रपाठ एवं अपनी अपनी व्याख्याओं में रखा है।

20 यद्यपि अकलङ्क ने पूज्यपाद के अनुसार संस्कृत शब्द तो रखा अवाय, पर उनकी दृष्टि भाष्यप्रयुक्त अपाय शब्द की ओर भी गई और उनके मन में प्रश्न हुआ कि क्या संस्कृत में भाष्यानुसार अपाय शब्द का प्रयोग ठीक है या सर्वार्थसिद्धि के अनुसार अवाय शब्द का प्रयोग ठीक है ?। इस प्रश्न का जवाब उन्होंने बुद्धिपूर्वक दिया है। उन्होंने देखा कि अपाय और अवाय ये दोनों संस्कृत शब्द प्राकृत अवाय शब्द में से फलित हो सकते हैं। तब 25 दोनों संस्कृत शब्दों का पाठ क्यों न मान लिया जाय ?। यह सोचकर उन्होंने संस्कृत में उक्त दोनों शब्दों के प्रयोग को सही बतलाया फिर भी दोनों शब्दों के प्रयोग में थोड़ा-सा अर्थ-भेद दिखलाया। वे कहते हैं कि जब निर्णय में व्यावृत्तिप्रधानता रहती है तब वह अपाय है और जब विधिप्रधानता रहती है तब वह अवाय है। अपाय में भी विधि अंश गौणरूपेण आ ही जाता है। इसी तरह अवाय में भी गौणरूपेण निषेध अंश आ जाता है। अतएव चाहे 30 अपाय शब्द का प्रयोग करो चाहे अवाय शब्द का, पर वस्तुतः दोनों शब्द विशेषावधारण-रूप निर्णयबोधक होने से पर्यायमात्र हैं—तत्त्वार्थरा० १. १५।

पृ० २२. पं० ३. 'संख्येयमसंख्येयं वा'—तुलना—

"उग्गहो एक्कं समयं इहावाया मुहुत्तमंतं तु।
कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा॥"—आव० नि० ४। नन्दी० सू० ३४।

पृ० २२. पं० ६. 'ज्ञानादतिरिक्तः'—तुलना—प्रशस्त० पृ० २६७। मुक्ता० का० १६०, १६१।

पृ० २२. पं० ६. 'नन्वविच्युतिमपि'—जैनपरम्परा में मतिज्ञान का धारणानामक चौथा भेद है। आगम (नन्दी० सू० ३४), निर्युक्ति (आव० नि० ३) और तत्त्वार्थभाष्य (१. १५) तक में धारणा का पर्यायकथन के सिवाय कोई ख़ास विश्लेषणपूर्वक अर्थकथन देखा नहीं जाता। जान पड़ता है कि इस बारे में प्रथम प्रयत्न पूज्यपाद का (सर्वार्थ० १. १५) है। पूज्यपाद ने अविस्मृति के कारण को धारणा कहकर जो नया अर्थसूचन किया उसके ऊपर दो परम्पराएँ शुरू हुईं। क्षमाश्रमण जिनभद्र ने निर्युक्ति का भाष्य करते समय धारणा का बारीकी एवं विस्तार के साथ विचार किया और अन्त में बतलाया कि अविच्युति, वासना (जिसे संस्कार भी कहते हैं) और स्मृति ये तीनों धारणा[1] हैं। पूज्यपाद के अनुगामी अकलङ्क (तत्त्वार्थरा० १. १५), विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० १. १५. २१, २२) और अनन्तवीर्य इन तीनों प्रसिद्ध दिगम्बराचार्यों ने पूज्यपाद के संक्षिप्त सूचन का ही विस्तृत और सतर्क उपपादन करके कहा कि स्मृति का कारण संस्कार—जो जैन दृष्टि से वस्तुतः ज्ञानस्वरूप ही है वह—धारणा है। इस तरह धारणा के अर्थ में दो परम्पराएँ देखी जाती हैं। जिनभद्र की परम्परा के अनुसार अविच्युति, संस्कार और स्मृति तीनों धारणा हैं और संस्कार कर्मक्षयोपशमरूप होने से आत्मीय शक्तिविशेष मात्र है, ज्ञानरूप नहीं। अकलङ्क आदि की दिगम्बरीय परम्परा के अनुसार स्मृति का कारण संस्कार ही धारणा है जो वस्तुतः ज्ञानस्वरूप

१ "अत्रोत्तरमाह—भण्णई इत्यादि, भण्यतेऽत्र प्रतिविधानम्। किम्? इत्याह—'इदं वस्तु तदेव यत् प्रागुपलब्धं मया' इत्येवंभूता कालान्तरे या स्मृतिरूपा बुद्धिरुपजायते, नन्विह सा पूर्वप्रवृत्तादपायात् निर्विवादमभ्यधिकैव, पूर्वप्रवृत्ताऽपायकाले तस्या अभावात्; सांप्रतापायस्य तु वस्तुनिश्चयमात्रफलत्वेन पूर्वापरदर्शनानुसंधानाऽयोगात्। ततश्च साऽनन्यरूपत्वाद् धृतिर्धारणा नामेति पर्यन्ते सम्बन्धः। यतश्च यस्माच्च वासनाविशेषात् पूर्वोपलब्धवस्त्वाहितसंस्कारलक्षणात् तद्विज्ञानावरणक्षयोपशमसान्निध्यादित्यर्थः, सा 'इदं तदेव' इति लक्षणा स्मृतिर्भवति। साऽपि वासनापायादभ्यधिकेति कृत्वा धृतिर्नाम, इतीहापि संबन्धः। 'जा याऽवायेत्यादि' या चाऽपायादनन्तरमविच्युतिः प्रवर्तते साऽपि धृतिर्नाम। इदमुक्तं भवति यस्मिन् समये 'स्थाणुरेवाऽयम्' इत्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृत्तः, ततः समयादूर्ध्वमपि 'स्थाणुरेवाऽयम्, स्थाणुरेवाऽयम्' इत्यविच्युता याऽन्तर्मुहूर्तं क्वचिदपायप्रवृत्तिः साऽप्यपायाऽविच्युतिः प्रथमप्रवृत्तापायादभ्यधिकेति धृतिर्धारणा नामेति। एवमविच्युति-वासना-स्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा भवति। .... ।

वासनापि स्मृतिविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपा, तद्विज्ञानजननशक्तिरूपा चेष्यते। सा च यद्यपि स्वयं ज्ञानरूपा न भवति, तथापि पूर्वप्रवृत्ताऽविच्युतिलक्षणज्ञानकार्यत्वात्, उत्तरकालभाविस्मृतिरूपज्ञानकारणत्वाच्चोपचारतो ज्ञानरूपाऽभ्युपगम्यते। तद्वस्तुविकल्पपक्षस्त्वनभ्युपगमादेव निरस्तः। तस्मादविच्युति-स्मृति-वासनारूपाया धारणायाः स्थितत्वाद् न मतेस्त्रैविध्यम्, किन्तु चतुर्धा सेति स्थितम्॥"—विशेषा० वृ० गा० १८८, १८९।

है। जिनभद्रीय परम्परा का स्वीकार याकिनीसूनु हरिभद्र ने किया (आव० नि० हारि० ३) और वादी देवसूरि ने उसी परम्परा के आधार पर सूत्र (प्रमाणन० २. १०) रचकर उसके व्याख्यान में दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का नाम लेकर उनके मत का निरसन करके जिनभद्रीय परम्परा का सयुक्तिक समर्थन किया–स्याद्वादर० २. १०।

5 यद्यपि आ० हेमचन्द्र वादी देवसूरि के समकालीन और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वाद-रत्नाकर के द्रष्टा हैं एवं जिनभद्र, हरिभद्र और देवसूरि तीनों के अनुगामी भी हैं, तथापि वे धारणा के लक्षणसूत्र में तथा उसके व्याख्यान में दिगम्बराचार्य अकलङ्क और विद्यानन्द आदि का शब्दशः अनुसरण करते हैं और अपने पूज्य वृद्ध जिनभद्र आदि के मन्तव्य का खण्डन न करके केवल उसका आदरपूर्वक समन्वय करते हैं। अपने पूज्य श्वेताम्बरीय 10 देवसूरि ने जिन विद्यानन्द आदि के मत का खण्डन किया है उसी मत को अपनाकर आ० हेमचन्द्र ने सम्प्रदायनिरपेक्ष तार्किकता का परिचय कराया है।

पृ०. २२. पं० २०. **'सौगतैः'**–तुलना–प्रमाणवा० ३.२०८ से।

पृ०. २२. पं० २१. **'नैयायिकादिभिः'**–तुलना–कन्दली पृ० ३०।

पृ०. २२. पं० २२. **'नैयायिकास्तु'**–भारतीय दर्शनशास्त्रों में प्रमेय तथा विविध 15 आचार विषयक मतमतान्तर जो बहुत पुराने समय से प्रचलित हैं उनके पारस्परिक खण्डन-मण्डन की प्रथा भी बुद्ध-महावीर जितनी पुरानी तो अवश्य ही है पर हम उस प्राचीन खण्डन-मण्डन प्रथा में प्रमाणलक्षणविषयक मतभेदों का पारस्परिक खण्डन-मण्डन नहीं पाते। इसमें तो सन्देह नहीं कि दिङ्नाग के पहिले ही प्रमाणसामान्य और प्रमाणविशेष के लक्षण के सम्बन्ध में बौद्ध, वैदिक आदि तार्किक अपने-अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करने 20 के साथ ही मतान्तरों का खण्डन करने लग गये थे, क्योंकि दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में ऐसा खण्डन स्पष्ट हम पाते हैं।

दर्शनसूत्रों के उपलब्ध वात्स्यायन, शाबर, प्रशस्त, योग आदि प्राचीन भाष्यों में प्रमाण के लक्षण सम्बन्धी मतान्तरों का खण्डन यद्यपि नहीं है तथापि दिङ्नाग के उत्तरवर्त्ति उन्हीं भाष्यों के व्याख्याग्रन्थों में वह पारस्परिक खण्डन स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप से देखा 25 जाता है। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण सम्बन्धी नैयायिक, मीमांसक आदि के मत का खण्डन किया है (प्रमाणसमु० १. १६ से)। इसका जवाब वात्स्यायन के टीकाकार उद्योतकर (न्यायवा० १.१.४) और शाबर के टीकाकार कुमारिल (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ४२ से) आदि ने दिया है। ईसा की छठी, सातवीं शताब्दि तक तो यह तार्किकों की एक प्रथा ही हो गई जान पड़ती है कि अपने लक्षण ग्रन्थों में मतान्तरों का खण्डन किये बिना स्वमत 30 स्थापन पूर्णतया न समझा जाय।

जैनपरम्परा में भी प्रमाण के लक्षण सम्बन्धी स्वमतप्रतिपादन तो हम आगमयुग से देखते हैं और यही प्रथा उमास्वाति तक बराबर चली आई जान पड़ती है पर इसमें मता-न्तर के कुछ खण्डन का प्रवेश पूज्यपाद से (सर्वार्थ० १. १०) हुआ जान पड़ता है। प्रमाण

लक्षण सम्बन्धी परमतों का प्रधान रूप से खण्डन करनेवाला जैन तार्किकों में सर्वप्रथम अकलङ्क ही हैं–न्यायवि० सिद्धिवि० आदि । उत्तरवर्ती दिगम्बर श्वेताम्बर सभी तार्किकों ने अकलङ्क-अवलम्बित खण्डनमार्ग को अपनाकर अपने-अपने प्रमाणविषयक लक्षणग्रन्थों में बौद्ध, वैदिक-सम्मत लक्षणों का विस्तार के साथ खण्डन किया है । आ० हेमचन्द्र ने इसी प्रथा का अवलम्बन करके यहाँ न्याय, बौद्ध, मीमांसा और सांख्यदर्शन-सम्मत प्रत्यक्ष के लक्षणों का पूर्व परम्परा के अनुसार ही खण्डन किया है ।

पृ०. २२. पं० २४. **'व्याख्यावैमुख्येन'**–वाचस्पति मिश्र और उनके गुरु त्रिलोचन[1] के पहले न्यायसूत्र के व्याख्याकार रूप से वात्स्यायन और उद्योतकर दो ही प्रसिद्ध हैं । उनमें से वात्स्यायन ने न्यायसूत्र (१.१.३) के भाष्य में प्रत्यक्ष प्रमाणरूप से सन्निकर्ष[2] का भी स्पष्ट कथन किया है जैसा कि वाचस्पति मिश्र को न्यायसूत्र (१.१.४) की अपनी व्याख्या में अभिप्रेत है । इसी तरह उद्योतकर ने भी न्यायसूत्र (१.१.३) के वार्तिक में (पृ० २९) भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर इसका सबल समर्थन किया है। वाचस्पति का भी न्यायसूत्र (१.१.४) की व्याख्या (पृ० १०८) का वही तात्पर्य है । इस तरह जब वाचस्पति का तात्पर्य वात्स्यायन और उद्योतकर की व्याख्या से भिन्न नहीं है तब आचार्य हेमचन्द्र का 'पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन' यह कथन वाचस्पति के विषय में सङ्गत कैसे हो सकता है यह प्रश्न है। इसका उत्तर केवल इतना ही है कि न्यायसूत्र (१.१.४) की वात्स्यायन और उद्योतकरकृत व्याख्या सीधी है। उसमें 'यतः' आदि किसी पद का अध्याहार नहीं किया गया है जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने उसी सूत्र की व्याख्या में किया है । तात्पर्य में भेद न होने पर भी पूर्वाचार्य के व्याख्यानों में 'यतः' पद के अध्याहार का अभाव और वाचस्पति के व्याख्यान में 'यतः' पद के अध्याहार का अस्तित्व देखकर ही आचार्य हेमचन्द्र ने वाचस्पति के विषय में 'पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन' कहा है ।

पृ०. २२. पं० २५. **'यतःशब्दा'**–तात्पर्य० पृ० १०८, १२५ । न्यायम० पृ० १२, ६६ ।

पृ०. २३. पं० ४. **'अप्राप्यकारित्वात्'**- इन्द्रियों का अपने अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें किसी का मतभेद नहीं । पर सन्निकर्ष के स्वरूप में थोड़ासा मतभेद है जिसके आधार पर प्राप्याप्राप्यकारित्व का एक वाद खड़ा हुआ है और सभी दार्शनिकों की चर्चा का विषय बन गया है ।

सांख्य (सांख्यसू० १. ८७), **न्याय** (न्यायसू० ३. १. ३३–५३), **वैशेषिक** (कन्दली पृ० २३), **जैमिनीय** (शाबरभा० १. १. १३) आदि सभी वैदिक दर्शन अपनी अपनी प्रक्रिया

---

१ "त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः । यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥"–**तात्पर्य० पृ० १३३ ।**

२ "अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु संनिकर्षो ज्ञानं वा, यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।"–**न्यायभा० १. १. ३ ।**

के अनुसार पाँचों बहिरिन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। बौद्धदर्शन बहिरिन्द्रियों में घ्राण, रसन, स्पर्शन तीनों को ही प्राप्यकारी मानता है, चक्षुः-श्रोत्र को नहीं–"अप्राप्तान्यक्षिमनः-श्रोत्राणि त्रयमन्यथा"–अभिधर्म० २. ४३। जैनदर्शन (आव० नि० ५। तत्त्वार्थ सू० १. १६) सिर्फ चक्षु के सिवाय चार बहिरिन्द्रियों को ही प्राप्यकारी मानता है।

5 अन्तरिन्द्रिय मन को तो सिर्फ़ सांख्य (योगभा० १. ७) तथा वेदान्त ही प्राप्यकारी मानते हैं। बाक़ी के सभी वैदिक दर्शन तथा बौद्ध और जैनदर्शन भी उसे अप्राप्यकारी ही मानते हैं।

यह प्राप्याप्राप्यकारित्व की चर्चा क़रीब दो हज़ार वर्ष के पहिले से प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। फिर क्रमशः वह उत्तरोत्तर विस्तृत होते होते जटिल एवं मनोरञ्जक भी बन गई है।

पृ० २३. पं० ५. **'अथ प्राप्यकारि'**–न्यायवा० पृ० ३६। न्यायम० पृ० ७३।

10 पृ० २३. पं० ८. **'सौगतास्तु'**–बौद्ध न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष लक्षण की दो परम्पराएँ देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्तपद रहित और दूसरी अभ्रान्तपद सहित। पहली परम्परा का पुरस्कर्ता दिङ्नाग और दूसरी का धर्मकीर्त्ति है। प्रमाणसमुच्चय (१. ३) और न्यायप्रवेश में (पृ० ७) पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्यान है। न्यायबिन्दु (१. ४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्ति में दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है।
15 शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में (का० १२१४) धर्मकीर्ति की दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। जान पड़ता है शान्तरक्षित के समय तक बौद्ध तार्किकों में दो पक्ष स्पष्टरूप से हो गये थे जिनमें से एक पक्ष अभ्रान्तपद के सिवाय ही प्रत्यक्ष का पूर्ण लक्षण मानकर पीत शङ्खादि भ्रान्त ज्ञानों में भी (तत्त्वसं० का० १३२४ से) दिङ्नाग कथित प्रमाण लक्षण—घटाने का प्रयत्न करता था।

20 उस पक्ष को जवाब देते हुए दिङ्नाग के मत का तात्पर्य शान्तरक्षित ने इस प्रकार से बतलाया है कि जिससे दिङ्नाग के अभ्रान्तपद रहित लक्षणवाक्य का समर्थन भी हो और अभ्रान्तपद सहित धर्मकीर्त्तीय परम्परा का वास्तविकत्व भी बना रहे। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील दोनों की दृष्टि में दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति का समान स्थान था। इसी से उन्होंने दोनों विरोधी बौद्ध तार्किक पक्षों का समन्वय करने का प्रयत्न किया।

25 बौद्धेतर तर्क ग्रन्थों में उक्त दोनों बौद्ध परम्पराओं का खण्डन देखा जाता है। भामह के काव्यालङ्कार (५. ६. पृ० ३२) और उद्योतकर के न्यायवार्तिक में (१. १. ४. पृ० ४१) दिङ्नागीय प्रत्यक्ष लक्षण का ही उल्लेख पाया जाता है जब कि उद्योतकर के बाद के वाचस्पति (तात्पर्य० पृ० १५४), जयन्त (मञ्जरी पृ० ५२), श्रीधर (कन्दली पृ० १६०) और शालिकनाथ (प्रकरणप० पृ० ४७) आदि सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों की कृतियों में धर्मकीर्त्तीय प्रत्यक्ष
30 लक्षण का पूर्वपक्ष रूप से उल्लेख है।

जैन आचार्यों ने जो बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है उसमें दिङ्नागीय और धर्मकीर्त्तीय दोनों लक्षणों का निर्देश एवं प्रतिवाद पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर

की कृति रूप से माने जानेवाले न्यायावतार में जैन परम्परानुसारी प्रमाण लक्षण में जो बाधवर्जितपद—(न्याया० १) है वह अक्षपाद के (न्यायसू० १. १. ४) प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारिपद का प्रतिबिम्ब है या कुमारिल कर्तृक समझे जानेवाले 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणं बाधवर्जितम्' लक्षणगत बाधवर्जित पद की अनुकृति है या धर्मकीर्त्तीय (न्यायबि० १. ४) अभ्रान्तपद का रूपान्तर है या स्वयं दिवाकर का मौलिक उद्भावन है यह एक विचारणीय प्रश्न है। 5
जो कुछ हो पर यह तो निश्चित ही है कि आ० हेमचन्द्र का बौद्ध प्रत्यक्षलक्षण विषयक खण्डन धर्मकीर्त्तीय परम्परा को उद्देश में रखकर ही है, दिङ्नागीय परम्परा को उद्देश में रखकर नहीं।

पृ०. २३. पं० ६. 'अभिलाप'—बौद्ध लक्षणगत कल्पनाऽपोढ पद में स्थित कल्पना शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में ख़ुद बौद्ध तार्किकों में अनेक भिन्न-भिन्न मत थे जिनका कुछ ख़याल शान्तरक्षित (तत्त्वसं० का० १२१४ से) की इससे सम्बन्ध रखनेवाली विस्तृत चर्चा 10
से आ सकता है, एवं अनेक वैदिक और जैन तार्किक जिन्होंने बौद्ध-पक्ष का खण्डन किया है उनके विस्तृत ऊहापोहात्मक खण्डन ग्रन्थ से भी कल्पनाशब्द के माने जानेवाले अनेक अर्थों का पता चलता है[1]। ख़ासकर जब हम केवल खण्डनप्रधान तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ (पृ० ४१.) देखते हैं तब तो कल्पना शब्द के प्रचलित और सम्भवित क़रीब-क़रीब सभी अर्थों या तद्विषयक मतों का एक बड़ा भारी संग्रह हमारे सामने उपस्थित होता है। 15

ऐसा होने पर भी आ० हेमचन्द्र ने तो सिर्फ़ धर्मकीर्त्ति अभिमत (न्यायबि० १. ५) कल्पना स्वरूप का—जिसका स्वीकार और समर्थन शान्तरक्षित ने भी (तत्त्वसं० का० १२१४) किया है—ही उल्लेख अपने खण्डन ग्रन्थ में किया है अन्य कल्पनास्वरूप का नहीं।

पृ०. २३. पं० १३. 'निर्विकल्पोत्तरकाल'—तत्त्वसं० का० १३०६।

पृ०. २३. पं० १६. 'जैमिनीयास्तु'—मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का 20
निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय (१. १. ४) सूत्र में ही मिलता है। इस सूत्र के ऊपर शाबरभाष्य के अलावा अन्य भी व्याख्याएँ और वृत्तियाँ थीं। उनमें से भवदास की व्याख्या इस सूत्र को प्रत्यक्ष लक्षण का विधायक माननेवाली थी—श्लो० न्याय० प्रत्यक्ष० श्लो० १। दूसरी कोई व्याख्या इस सूत्र को विधायक नहीं पर अनुवादक माननेवाली थी—श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० १६। कोई वृत्ति ऐसी भी थी (शाबरभा० १. १. ५) जो इस सूत्र के शाब्दिक विन्यास 25
में मतभेद रखकर पाठान्तर माननेवाली थी अर्थात् सूत्र में जो सत् और तत् शब्द का क्रमिक स्थान है उसके बदले तत् और सत् शब्द का व्यत्यय मानती थी।

कुमारिल ने इस सूत्र को लक्षण का विधान या स्वतन्त्र अनुवादरूप माननेवाले पूर्वमतों का निरास करके अपने अनोखे ढङ्ग से अन्त में उस सूत्र को अनुवादरूप ही स्थापित किया है और साथ ही उस पाठान्तर माननेवाले मत का भी निरास किया है (श्लोकवा० 30

---

१ न्यायवा० पृ० ४१। तात्पर्य० पृ० १५३। कंदली पृ० १६१। न्यायम० पृ० ९२-९५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। प्रमेयक० पृ० १८. B.।

प्रत्यक्ष० श्लो० १-३६) जैसा कि प्रभाकर ने अपने बृहती ग्रन्थ में। प्रत्यक्ष लक्षण परक प्रस्तुत जैमिनीय सूत्र का खण्डन मीमांसकभिन्न वैदिक, बौद्ध और जैन सभी तार्किकों ने किया है। बौद्ध परम्परा में सबसे प्रथम खण्डन करनेवाले दिङ्नाग (प्रमाणसमु० १. ३७) जान पड़ते हैं। उसी का अनुसरण शान्तरक्षित आदि ने किया है। वैदिक परम्परा में 5 प्रथम खण्डन करनेवाले उद्योतकर ही (न्यायवा० पृ० ४३) जान पड़ते हैं। वाचस्पति तो उद्योतकर के ही टीकाकार हैं (तात्पर्य० पृ० १५५) पर जयन्त ने (न्यायम० पृ० १००) इसके खण्डन में विस्तार और स्वतन्त्रता से काम लिया है। जैन परम्परा में इसके खण्डनकार सर्वप्रथम अकलङ्क या विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७ श्लो० ३७) जान पड़ते हैं। अभयदेव (सन्मतिटी०पृ०५३४) आदि ने उन्हीं का अनुगमन किया है। आ० हेमचन्द्र ने 10 अपने पूर्ववर्ती जैन तार्किकों का इस जैमिनीय सूत्र के खण्डन में जो अनुसरण किया है वह जयन्त के मञ्जरीगत (पृ० १००) खण्डन भाग का ही प्रतिबिम्ब मात्र है जैसा कि अन्य जैन तार्किक ग्रन्थों (स्याद्वादर० पृ० ३८१) में है।

खण्डन करते समय आ० हेमचन्द्र ने कुमारिल-सम्मत अनुवादभङ्गी का निर्देश किया है और उस व्यत्ययवाले पाठान्तर का भी।

15 पृ०. २३. पं० २१. **'अत्र संशयविपर्यय'**–श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० १०।

पृ०. २३. पं० २२. **'अथ सत्संप्रयोग इति सता'**–"भवदासेन हि सता सम्प्रयोग इति उक्तम्"–श्लो० न्याय० प्रत्यक्ष० श्लो० ३६।

पृ०. २३. पं० २३. **'अथ सति सम्प्रयोग'**–शाबरभा० १. १. ४।

पृ०. २४. पं० १३. **'श्रोत्रादिवृत्ति'**–सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष लक्षण के मुख्य तीन 20 प्रकार हैं। पहिला प्रकार विन्ध्यवासी के लक्षण का है जिसे वाचस्पति ने वार्षगण्य के नाम से निर्दिष्ट किया है–तात्पर्य० पृ० १५५। दूसरा प्रकार ईश्वरकृष्ण के लक्षण का (सांख्यका० ५) और तीसरा सांख्यसूत्रगत (सांख्यसू० १. ८९) लक्षण का है।

बौद्धों, जैनों और नैयायिकों ने सांख्य के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है। ध्यान रखने की बात यह है कि विन्ध्यवासी के लक्षण का खण्डन तो सभी ने किया है पर 25 ईश्वरकृष्ण जैसे प्राचीन सांख्याचार्य के लक्षण का खण्डन सिर्फ़ जयन्त (पृ० ११९) ही ने किया है पर सांख्यसूत्रगत लक्षण का खण्डन तो किसी ने भी नहीं किया है।

बौद्धों में प्रथम खण्डनकार दिङ्नाग (प्रमाणसमु० १. २७), नैयायिकों में प्रथम खण्डनकार उद्योतकर (न्यायवा० पृ० ४३) और जैनों में प्रथम खण्डनकार अकलङ्क (न्यायवि० १. १६५) ही जान पड़ते हैं।

30 आ० हेमचन्द्र ने सांख्य के लक्षण खण्डन में पूर्वाचार्यों का अनुसरण किया है पर उनका खण्डन खासकर जयन्तकृत (न्यायम० पृ० १०९) खण्डनानुसारी है। जयन्त ने ही

विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण दोनों के लक्षणप्रकार का खण्डन किया है, हेमचन्द्र ने भी उन्हीं के शब्दों में दोनों ही के लक्षण का खण्डन किया है।

पृ०. २४. पं० २४. 'प्रमाणविषय'–तुलना–"तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम्, यत् अर्थविज्ञानं सा प्रमितिः, चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते।"–न्यायभा० १. १. १। 5

अ० १. आ० १. सू० ३०-३३. पृ० २४. विश्व के स्वरूप विषयक चिन्तन का मूल ऋग्वेद से भी प्राचीन है[१]। इस चिन्तन के फलरूप विविध दर्शन क्रमशः विकसित और स्थापित हुए जो संक्षेप में पाँच प्रकार में समा जाते हैं—केवल नित्यवाद, केवल अनित्यवाद, परिणामी नित्यवाद, नित्यानित्य उभयवाद और नित्यानित्यात्मकवाद। केवल ब्रह्मवादी वेदान्ती केवल नित्यवादी हैं क्योंकि उनके मत से अनित्यत्व आभासिक मात्र है। बौद्ध 10 क्षणिकवादी होने से केवलानित्यवादी हैं। सांख्ययोगादि चेतनभिन्न जगत् को परिणामी नित्य मानने के कारण परिणामी नित्यवादी हैं। न्याय-वैशेषिक आदि कुछ पदार्थों को मात्र नित्य और कुछ को मात्र अनित्य मानने के कारण नित्यानित्य उभयवादी हैं। जैनदर्शन सभी पदार्थों को नित्यानित्यात्मक मानने के कारण नित्यानित्यात्मकवादी है। नित्यानित्यत्व विषयक दार्शनिकों के उक्त सिद्धान्त श्रुति और आगमकालीन उनके अपने-अपने ग्रन्थ में स्पष्टरूप से 15 वर्णित पाये जाते हैं और थोड़ा बहुत विरोधी मन्तव्यों का प्रतिवाद भी उनमें देखा जाता है–सूत्रकृ० १. १. १५-१८। इस तरह तर्क युग के पहिले भी विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना दर्शन और उनमें पारस्परिक पक्ष-प्रतिपक्षभाव स्थापित हो गया था।

तर्कयुग अर्थात् क़रीब दो हज़ार वर्ष के दर्शनसाहित्य में उसी पारस्परिक पक्षप्रतिपक्ष भाव के आधार पर वे दर्शन अपने-अपने मन्तव्य का समर्थन और विरोधी मन्तव्यों का 20 खण्डन विशेष-विशेष युक्ति-तर्क के द्वारा करते हुए देखे जाते हैं। इसी तर्कयुद्ध के फलस्वरूप तर्कप्रधान दर्शनग्रन्थों में यह निरूपण सब दार्शनिकों के वास्ते आवश्यक हो गया कि प्रमाणनिरूपण के बाद प्रमाण के विषय का स्वरूप अपनी-अपनी दृष्टि से बतलाना, अपने मन्तव्य की कोई कसौटी रखना और उस कसौटी को अपने ही पक्ष में लागू करके अपने पक्ष की यथार्थता साबित करना एवं विरोधी पक्षों में उस कसौटी का अभाव दिखाकर 25 उनकी अवास्तविकता साबित करना।

आ० हेमचन्द्र ने इसी तर्कयुग की शैली का अनुसरण करके प्रस्तुत चार सूत्रों में प्रमाण के विषयरूप से समस्त विश्व का जैनदर्शनसम्मत सिद्धान्त, उसकी कसौटी और उस कसौटी

---

१ "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"–ऋग्० अष्ट० २. अ० ३ व० २३. म० ४६। नासदीयसूक्त ऋग्० १०. १२९। हिरण्यगर्भसूक्त ऋग्० १०.१२१।

का अपने ही पक्ष में सम्भव यह सब बतलाया है। वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायात्मकत्व, नित्यानित्यत्व या सदसदात्मकत्वादिरूप जो आगमों में विशेष युक्ति, हेतु या कसौटी के सिवाय वर्णित पाया जाता है (भग० श० १. उ० ३; श० ९. उ० ३३) उसी को आ० हेमचन्द्र ने बतलाया है, पर तर्क और हेतुपूर्वक। तर्कयुग में वस्तुस्वरूप की निश्चायक जो विविध 5 कसौटियाँ मानी जाती थीं जैसे कि न्यायसम्मत–सत्ता योगरूप सत्त्व, सांख्यसम्मत प्रमाण विषयत्वरूप सत्त्व, तथा बौद्धसम्मत–अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व इत्यादि—उनमें से अन्तिम अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व को ही आ० हेमचन्द्र कसौटी रूप से स्वीकार करते हैं जो सम्भवतः पहिले पहिल बौद्ध तार्किकों के द्वारा (प्रमाणवा० ३. ३) ही उद्भावित हुई जान पड़ती है। जिस अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी को लागू करके बौद्ध तार्किकों ने वस्तुमात्र 10 में स्वाभिमत क्षणिकत्व सिद्ध किया है और जिस कसौटी के द्वारा ही उन्होंने केवल नित्यवाद (तत्त्वस० का० ३९४ से) और जैन सम्मत नित्यानित्यात्मक वादादि का (तत्त्वसं० का० १७३८ से) विकट तर्क जाल से खण्डन किया है, आ० हेमचन्द्र ने उसी कसौटी को अपने पक्ष में लागू करके जैन सम्मत नित्यानित्यात्मकत्व अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मकत्व वाद का सयुक्तिक समर्थन किया है और वेदान्त आदि के केवल नित्यवाद तथा बौद्धों के केवल अनि-15 त्यत्व वाद का उसी कसौटी के द्वारा प्रबल खण्डन भी किया है।

पृ०. २४. पं० २९. **'लाघवमपि'**—तुलना—न्यायबि० टी० १. १७।

पृ०. २४. पं० ३०. **'द्रवति'**—प्राकृत-पाली दव्व-दब्ब शब्द और संस्कृत द्रव्य शब्द बहुत प्राचीन है। लोकव्यवहार में तथा काव्य, व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि नाना शास्त्रों में भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका प्रयोग भी बहुत प्राचीन एवं रूढ़ जान पड़ता है। 20 उसके प्रयोग-प्रचार की व्यापकता को देखकर पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में उसे स्थान देकर दो प्रकार से उसकी व्युत्पत्ति बतलाई है जिसका अनुकरण पिछले सभी वैयाकरणों ने किया है। तद्धित प्रकरण में द्रव्य शब्द के साधक खास जो दो सूत्र (५. ३. १०४; ४. ३ १६१) बनाये गये हैं उनके अलावा द्रव्य शब्द सिद्धि का एक तीसरा भी प्रकार कृत् प्रकरण में है। तद्धित के अनुसार पहली व्युत्पत्ति यह है कि द्रु = वृक्ष या काष्ठ + य = विकार या 25 अवयव अर्थात् वृक्ष या काष्ठ का विकार तथा अवयव द्रव्य। दूसरी व्युत्पत्ति यों है—द्रु = काष्ठ + य = तुल्य अर्थात् जैसे सीधो और साफ़ सुथरी लकड़ी बनाने पर इष्ट आकार धारण कर सकती है वैसे ही जो राजपुत्र आदि शिक्षा दिये जाने पर राज योग्य गुण धारण करने का पात्र है वह भावी गुणों की योग्यता के कारण द्रव्य कहलाता है। इसी प्रकार अनेक उपकारों की योग्यता रखने के कारण धन भी द्रव्य कहा जाता है। कृदन्त प्रकरण के 30 अनुसार गति-प्राप्ति अर्थवाले द्रु धातु से कर्मार्थक य प्रत्यय आने पर भी द्रव्य शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है प्राप्ति योग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। वहाँ व्याकरण के नियमानुसार उक्त तीन प्रकार की व्युत्पत्ति में लोक-शास्त्र प्रसिद्ध द्रव्य शब्द के सभी अर्थों का किसी न किसी प्रकार से समावेश हो ही जाता है।

यद्यपि जैन साहित्य में भी क़रीब-क़रीब उन्हीं सभी अर्थों में प्रयुक्त द्रव्य शब्द देखा जाता है तथापि द्रव्य शब्द की जैन प्रयोग परिपाटी अनेक अंशों में अन्य सब शास्त्रों से भिन्न भी है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि निक्षेप (तत्त्वार्थ० १. ५) प्रसङ्ग में; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि प्रसङ्ग में (भग० श० २. उ० १); द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकरूप नय के प्रसङ्ग में (तत्त्वार्थभा० ५. ३१); द्रव्याचार्य (पञ्चाशक ६), भावाचार्य आदि प्रसङ्ग में; द्रव्यकर्म, भाव कर्म आदि प्रसङ्ग में प्रयुक्त होनेवाला द्रव्य शब्द जैन परिभाषा के अनुसार ख़ास-ख़ास अर्थ का बोधक है जो अर्थ तद्धित प्रकरणसाधित भव्य—योग्य अर्थवाले द्रव्य शब्द के बहुत नज़दीक हैं अर्थात् वे सभी अर्थ भव्य अर्थ के भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। विश्व के मौलिक पदार्थों के अर्थ में भी द्रव्य शब्द जैन दर्शन में पाया जाता है जैसे जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्य।

न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में (वै० सू० १ १. १५) द्रव्य शब्द गुण-कर्माधार अर्थ में प्रसिद्ध है जैसे पृथ्वी, जल आदि नव द्रव्य। इसी अर्थ को लेकर भी उत्तराध्ययन (२८. ६) जैसे प्राचीन आगम में द्रव्य शब्द जैन दर्शन सम्मत छः द्रव्यों में लागू किया गया देखा जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने (पात० महा० पृ० ५८) अनेक भिन्न-भिन्न स्थलों में द्रव्य शब्द के अर्थ की चर्चा की है। उन्होंने एक जगह कहा है कि घड़े को तोड़कर कुण्डी और कुण्डी को तोड़कर घड़ा बनाया जाता है एवं कटक, कुण्डल आदि भिन्न-भिन्न अलङ्कार एक दूसरे को तोड़कर एक दूसरे के बदले में बनाये जाते हैं फिर भी उन सब भिन्न-भिन्न-कालीन भिन्न-भिन्न आकृतियों में जो मिट्टी या सुवर्ण नामक तत्त्व कायम रहता है वही अनेक भिन्न-भिन्न आकारों में स्थिर रहनेवाला तत्त्व द्रव्य कहलाता है। द्रव्य शब्द की यह व्याख्या योगसूत्र के व्यासभाष्य में (३. १३) भी ज्यों की त्यों है और मीमांसक कुमारिल ने भी वही (श्लोकवा० वन० श्लो० २१-२२) व्याख्या ली है। पतञ्जलि ने दूसरी जगह (पात० महा० ४. १. ३; ५ १. ११९) गुण समुदाय या गुण सन्द्राव को द्रव्य कहा है। यह व्याख्या बौद्ध प्रक्रिया में विशेष सङ्गत है। जुदे-जुदे गुणों के प्रादुर्भाव होते रहने पर भी अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार पर्यायों के नवनवोत्पाद होते रहने पर भी जिसके मौलिकत्व का नाश नहीं होता वह द्रव्य ऐसी भी संक्षिप्त व्याख्या पतञ्जलि के महाभाष्य (५. १. ११९) में है। महाभाष्यप्रसिद्ध और बाद के व्यासभाष्य, श्लोकवार्तिक आदि में समर्थित द्रव्य शब्द की उक्त सभी व्याख्याएँ जैन परम्परा में उमास्वाति के सूत्र और भाष्य में (५. २९, ३०, ३७) सबसे पहिले संगृहीत देखी जाती हैं। जिनभद्र क्षमाश्रमण ने तो (विशेषा० गा० २८) अपने भाष्य में अपने समय तक प्रचलित सभी व्याख्याओं का संग्रह करके द्रव्य शब्द का निर्वचन बतलाया है।

अकलङ्क के (लघी० २. १) ही शब्दों में विषय का स्वरूप बतलाते हुए आ० हेमचन्द्र ने द्रव्य शब्द का प्रयोग करके उसका आगमप्रसिद्ध और व्याकरण तथा दर्शनान्तरसम्मत ध्रुवभाव (शाश्वत, स्थिर) अर्थ ही बतलाया है। ऐसा अर्थ बतलाते समय उसकी जो व्युत्पत्ति दिखाई है वह कृत् प्रकरणानुसारी अर्थात् द्रु धातु + य प्रत्यय जनित है।

प्रमाणविषय के स्वरूपकथन में द्रव्य के साथ पर्यायशब्द का भी प्रयोग है। संस्कृत, प्राकृत, पाली जैसी शास्त्रीय भाषाओं में वह शब्द बहुत पुराना और प्रसिद्ध है पर जैन दर्शन में उसका जो पारिभाषिक अर्थ है वह अर्थ अन्य दर्शनों में नहीं देखा जाता। उत्पाद-विनाशशाली या आविर्भाव-तिरोभाववाले जो धर्म, जो विशेष या जो अवस्थाएँ द्रव्यगत होती 5 हैं वे ही पर्याय या परिणाम के नाम से जैन दर्शन में प्रसिद्ध हैं जिनके वास्ते न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में गुण शब्द प्रयुक्त होता है। गुण, क्रिया आदि सभी द्रव्यगत धर्मों के अर्थ में आ० हेमचन्द्र ने पर्यायशब्द का प्रयोग किया है पर गुण तथा पर्याय शब्द के बारे में जैन दर्शन का इतिहास ख़ास ज्ञातव्य है।

भगवती आदि प्राचीनतर आगमों में गुण और पर्याय दोनों शब्द देखे जाते हैं। 10 उत्तराध्ययन (२८. १३) में उनका अर्थभेद स्पष्ट है। कुन्दकुन्द, उमास्वाति (तत्त्वार्थ० ५. ३७) और पूज्यपाद ने भी उसी अर्थभेद का कथन एवं समर्थन किया है। विद्यानन्द ने भी अपने तर्कवाद से उसी भेद का समर्थन किया है पर विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अकलङ्क ने गुण और पर्याय के अर्थों का भेदाभेद बतलाया है जिसका अनुकरण अमृतचन्द्र ने भी किया है और वैसा ही भेदाभेद समर्थन तत्त्वार्थभाष्य की टीका में सिद्धसेन ने भी किया है। 15 इस बारे में सिद्धसेन दिवाकर का एक नया प्रस्थान जैन तत्त्वज्ञान में शुरू होता है जिसमें गुण और पर्याय दोनों शब्दों को केवल एकार्थक ही स्थापित किया है और कहा है कि वे दोनों शब्द पर्याय मात्र हैं। दिवाकर की अभेद समर्थक युक्ति यह है कि आगमों में गुणपद का यदि पर्याय पद से भिन्न अर्थ अभिप्रेत होता तो जैसे भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार से देशना की है वैसे वे तीसरी गुणार्थिक देशना भी करते। जान पड़ता है इसी 20 युक्ति का असर हरिभद्र पर पड़ा जिससे उसने भी अभेदवाद ही मान्य रक्खा। यद्यपि देवसूरि ने गुण और पर्याय दोनों के अर्थभेद बतलाने की चेष्टा की (प्रमाणन० ५. ७, ८) है फिर भी जान पड़ता है उनके दिल पर भी अभेद का ही प्रभाव है। आ० हेमचन्द्र ने तो विषयलक्षण सूत्र में गुणपद को स्थान ही नहीं दिया और न गुण-पर्याय शब्दों के अर्थ-विषयक भेदाभेद की चर्चा ही की। इससे आ० हेमचन्द्र का इस बारे में मन्तव्य स्पष्ट हो 25 जाता है कि वे भी अभेद के ही समर्थक हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी इसी अभेद पक्ष को स्थापित किया है। इस विस्तृत इतिहास से इतना कहा जा सकता है कि आगम जैसे प्राचीन युग में गुण-पर्याय दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे होंगे। तर्कयुग के आरम्भ और विकास के साथ ही साथ उनके अर्थविषयक भेद-अभेद की चर्चा शुरू हुई और आगे बढ़ी। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इस विषय में अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दु प्रकट किया 30 और स्थापित भी किया[१]।

इस प्रसङ्ग में गुण और पर्याय शब्द के अर्थविषयक पारस्परिक भेदाभेद की तरह पर्याय-गुण और द्रव्य इन दोनों के पारस्परिक भेदाभेद विषयक चर्चा का दार्शनिक इतिहास

---

१ इस विषय के सभी प्रमाण के लिए देखो सन्मतिटी० पृ० ६३१. टि० ४।

जानने योग्य है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन भेदवादी होने से प्रारम्भ से ही आज तक गुण, कर्म आदि का द्रव्य से भेद मानते हैं। अभेदवादी सांख्य, वेदान्तादि उनका द्रव्य से अभेद मानते आये हैं। ये भेदाभेद के पक्ष बहुत पुराने हैं क्योंकि ख़ुद महाभाष्यकार पतञ्जलि इस बारे में मनोरञ्जक और विशद चर्चा शुरू करते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि द्रव्य, शब्द, स्पर्श आदि गुणों से अन्य है या अनन्य ?। दोनों पक्षों को स्पष्ट करके फिर वे अन्त में भेदपक्ष का समर्थन करते हैं[1]।

जानने योग्य ख़ास बात तो यह है कि गुण-द्रव्य या गुण-पर्याय के जिस भेदाभेद की स्थापना एवं समर्थन के वास्ते सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैन तार्किकों ने अपनी कृतियों में ख़ासा पुरुषार्थ किया है उसी भेदाभेदवाद का समर्थन मीमांसकधुरीण कुमारिल ने भी बड़ी स्पष्टता एवं तर्कवाद से किया है—श्लोकवा० आकृ० श्लो० ४–६४; वन० श्लो० २१–८० ।

आ० हेमचन्द्र को द्रव्य-पर्याय का पारस्परिक भेदाभेद वाद ही सम्मत है जैसा अन्य जैनाचार्यों को।

पृ० २५. पं० १. 'पूर्वोत्तरविवर्त्त'—तुलना—"परापरविवर्त्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।"—परी० ४. ५। प्रमाणन० ५. ५।

पृ० २५. पं० ८. 'दोहिं'—व्याख्या "द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेत्रा द्रव्यगुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यानित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात्...ततश्चैतत् शास्त्रं तथापि मिथ्यात्वम् तत्प्रदर्शितपदार्थषट्कस्य प्रमाणबाधितत्वात्...जं सविसय इत्यादिना गाथापश्चार्द्धेन हेतुमाह—यस्मात् स्वविषयप्रधानताव्यवस्थिताऽन्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रितं तत्, अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितत्वस्य मिथ्यात्वादिनाऽविनाभूतत्वात्।"—सन्मतिटी० पृ० ६५६. ७०४ ।

पृ० २५. पं० २४. 'तत्र न द्रव्यैकरूपो'—भारतीय दर्शनों में केवल नित्यत्व, केवल अनित्यत्व, नित्यानित्य—उभय, और परिणामिनित्यत्व इन चारों वादों के मूल भगवान् महावीर और बुद्ध के पहिले भी देखे जाते हैं पर इन वादों की विशेष स्पष्ट स्थापना और उस स्थापना

---

१ "किं पुनर्द्रव्यं के पुनर्गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणास्ततोऽन्यद् द्रव्यम्। किं पुनरन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमाहोस्विदनन्यत्। गुणस्यायं भावात् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयत्यन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति। अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। न ह्यन्यदुपलभ्यते। पशोः खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते। अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। तत् त्वनुमानगम्यम्। तद्यथा। ओषधिवनस्पतीनां वृद्धिह्रासौ। ज्योतिषां गतिरिति। कोऽसावनुमानः। इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे च अन्यत्तुलाग्रं भवति लोहस्य अन्यत् कार्पासानां यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चिदेकेनैव प्रहारेण व्यपवर्गं करोति कश्चित् द्वाभ्यामपि न करोति। यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्। तद्यथा। आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति। आमलकं बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खलु निर्वचनं गुणसंद्रावो द्रव्यमिति।"—पात० महा० ५. १. ११९।

के अनुकूल युक्तिवाद का पता, उस पुराने समय के साहित्य में नहीं चलता। बुद्ध ने प्राचीन अनित्यत्व की भावना के ऊपर इतना ज़ोर दिया कि जिससे आगे जाकर क्रमशः दो परिणाम दर्शनक्षेत्र में प्रकट हुए। एक तो यह कि अन्य सभी वाद उस अनित्यत्व अर्थात् क्षणिकत्ववाद के विरुद्ध कमर कसकर खड़े हुए और सभी ने अपना स्थापन अपने
5 ढङ्ग से करते हुए क्षणिकत्व के निरास का प्रबल प्रयत्न किया। दूसरा परिणाम यह आया कि खुद बौद्ध परम्परा में क्षणिकत्ववाद जो मूल में वैराग्यपोषक भावनारूप होने से एक नैतिक या चारित्रीय वस्तुस्वरूप था उसने तत्त्वज्ञान का पूरा व्यापकरूप धारण किया। और वह उसके समर्थक तथा विरोधियों की दृष्टि में अन्य तात्त्विक विषयों की तरह तात्त्विकरूप से ही चिन्ता का विषय बन गया।

10 बुद्ध, महावीर के समय से लेकर अनेक शताब्दियों तक के दार्शनिक साहित्य में हम देखते हैं कि प्रत्येक वाद की सत्यता की कसौटी एकमात्र बन्धमोक्ष-व्यवस्था और कर्म-फल के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की व्यवस्था रही है[1]। केवल अनित्यत्ववादी बौद्धों की अपने पक्ष की यथार्थता के बारे में दलील यही रही कि आत्मा आदि को केवल नित्य मानने से न तो बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था ही घट सकती है और न कर्म-फल के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का सामानाधि-
15 करण्य ही। केवल नित्यत्ववादी औपनिषद आदि दार्शनिकों (ब्र० शाङ्करभा० २. २. १६) की भी बौद्ध वाद के विरुद्ध यही दलील रही। परिणामिनित्यत्ववादी जैनदर्शन ने भी केवल नित्यत्व और केवल अनित्यत्व वाद के विरुद्ध यही कहा कि आत्मा केवल नित्य या केवल अनित्य-मात्र हो तो संसार-मोक्ष की व्यवस्था, कर्म के कर्ता को ही कर्मफल मिलने की व्यवस्था, मोक्षोपाय रूप से दान आदि शुभ कर्म का विधान और दीक्षा आदि का उपादान
20 ये सब घट नहीं सकते[2]।

भारतीय दर्शनों की तात्त्विक चिन्ता का उत्थान और खास कर उसका पोषण एवं विकास कर्मसिद्धान्त एवं संसारनिवृत्ति तथा मोक्षप्राप्ति की भावना में से फलित हुआ है। इससे शुरू में यह स्वाभाविक था कि हर एक दर्शन अपने वाद की यथार्थता में और दूसरे दर्शनों के वाद की अयथार्थता में उन्हीं कर्मसिद्धान्त आदि की दुहाई देवें। पर जैसे-जैसे
25 अध्यात्ममूलक इस दार्शनिक क्षेत्र में तर्कवाद का प्रवेश अधिकाधिक होने लगा और वह क्रमशः यहाँ तक बढ़ा कि शुद्ध तर्कवाद के सामने आध्यात्मिकवाद एक तरह से गौण सा हो गया तब केवल नित्यत्वादि उक्त वादों की सत्यता की कसौटी भी अन्य हो गई। तर्क ने कहा कि जो अर्थक्रियाकारी है वही वस्तु सत् हो सकती है दूसरी नहीं। अर्थक्रिया-

१ "तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते-सति च सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे च अकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्।"—न्यायभा० ३. १. ४।

२ "दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा। अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जयण-यस्स॥"—सन्मति० १. ५२। "न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ न संवृतिः सापि मृषास्वभावा। मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या॥"—युक्त्य० का० १५।

कारित्व की इस तार्किक कसौटी का श्रेय जहाँ तक ज्ञात है, बौद्ध परम्परा को है। इससे यह स्वाभाविक है कि बौद्ध दार्शनिक क्षणिकत्व के पक्ष में उस कसौटी का उपयोग करें और दूसरे वादों के विरुद्ध। हम देखते हैं कि हुआ भी ऐसा ही। बौद्धों ने कहा कि जो क्षणिक नहीं वह अर्थक्रियाकारी हो नहीं सकता और जो अर्थक्रियाकारी नहीं वह सत् अर्थात् पारमार्थिक हो नहीं सकता—ऐसी व्याप्ति निर्मित करके उन्होंने केवलनित्यपक्ष में अर्थ- 5 क्रियाकारित्व का असंभव दिखाने के वास्ते क्रम और यौगपद्य का जटिल विकल्पजाल रचा और उस विकल्पजाल से अन्त में सिद्ध किया कि केवल नित्य पदार्थ अर्थक्रिया कर ही नहीं सकता अतएव वैसा पदार्थ पारमार्थिक हो नहीं सकता—वादन्याय पृ० ६। बौद्धों ने केवलनित्यत्व-वाद (तत्त्वसं० का० ३९४) की तरह जैनदर्शनसम्मत परिणामिनित्यत्ववाद अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मकवाद या एक वस्तु को द्विरूप माननेवाले वाद के निरास में भी उसी अर्थ- 10 क्रियाकारित्व की कसौटी का उपयोग किया—तत्त्वसं० का० १७३८। उन्होंने कहा कि एक ही पदार्थ सत् असत् उभयरूप नहीं बन सकता। क्योंकि एक ही पदार्थ अर्थक्रिया का करनेवाला और नहीं करनेवाला कैसे कहा जा सकता है ?। इस तरह बौद्धों के प्रतिवादी दर्शन वैदिक और जैन दो विभाग में बँट जाते हैं।

वैदिक परंपरा में से, जहाँ तक मालूम है, सबसे पहिले वाचस्पति मिश्र और जयन्त 15 ने उस बौद्धोद्भावित अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी का प्रतिवाद किया। यद्यपि वाचस्पति और जयन्त दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह यह कि अक्षणिक एवं नित्य वस्तु सिद्ध करना, तो भी उन्होंने अर्थक्रियाकारित्व जिसे बौद्धों ने केवलनित्यपक्ष में असम्भव बतलाया था उसका बौद्ध-सम्मत क्षणिकपक्ष में असम्भव बतलाते हुए भिन्न-भिन्न विचारसरणी का अनुसरण किया है। वाचस्पति ने सापेक्षत्व-अनपेक्षत्व का विकल्प करके क्षणिक में अर्थक्रिया- 15 कारित्व का असम्भव साबित किया (तात्पर्य० पृ० ५५४-६। न्यायकणिका पृ० १३०-६), तो जयन्त ने बौद्ध स्वीकृत क्रमयौगपद्य के विकल्पजाल को ही लेकर बौद्धवाद का खण्डन किया—न्यायम० पृ० ४५३, ४६४। भदन्त योगसेन ने भी, जिनका पूर्वपक्षी रूप से निर्देश कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में किया है, बौद्ध-सम्मत क्षणिकत्ववाद के विरुद्ध जो विकल्पजाल रचा है उसमें भी बौद्धस्वीकृत क्रमयौगपद्यविकल्पचक्र को ही बौद्धों के विरुद्ध चलाया है— 20 तत्त्वसं० का० ४२८ से। यद्यपि भदन्त विशेषण होने से योगसेन के बौद्ध होने की सम्भावना की जाती है तथापि जहाँ तक बौद्ध परंपरा में नित्यत्व—स्थिरवाद पोषक पक्ष के अस्तित्व का प्रामाणिक पता न चले तब तक यही कल्पना ठीक होगी कि शायद वह जैन, आजीवक या सांख्यपरिव्राजक हो। जो कुछ हो यह तो निश्चित ही है कि बौद्धों की अर्थक्रियाकारित्व वाली तार्किक कसौटी को लेकर ही बौद्धसम्मत क्षणिकत्ववाद का खण्डन नित्यवादी वैदिक 25 विद्वानों ने किया।

क्षणिकत्ववाद के दूसरे प्रबल प्रतिवादी जैन रहे। उन्होंने भी तर्कयुग में क्षणिकत्व का निरास उसी अर्थक्रियाकारित्ववाली बौद्धोद्भावित तार्किक कसौटी को लेकर ही

किया। जहाँ तक मालूम है जैन परंपरा में सबसे पहिले इस कसौटी के द्वारा क्षणिकत्व का निरास करनेवाले अकलङ्क[1] हैं। उन्होंने उस कसौटी के द्वारा वैदिकसम्मत केवल नित्यत्ववाद का खण्डन तो वैसे ही किया जैसा बौद्धों ने। और उसी कसौटी के द्वारा क्षणिकत्व वाद का खण्डन भी वैसे ही किया जैसा भदन्त योगसेन और जयन्त ने किया है। यह बात 5 स्मरण रखने योग्य है कि नित्यत्व या क्षणिकत्वादि वादों के खण्डन-मण्डन में विविध विकल्प के साथ अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी का प्रवेश तर्कयुग में हुआ तब भी उक्त वादों के खण्डन-मण्डन में काम लाई गई प्राचीन बन्धमोक्षव्यवस्था आदि कसौटी का उपयोग बिलकुल शून्य नहीं हुआ, वह गौणमात्र अवश्य हो गया।

एक ही वस्तु की द्रव्य-पर्यायरूप से या सदसद् एवं नित्यानित्यादि रूप से जैन 10 एवं जैमिनीय आदि दर्शनसम्मत द्विरूपता का बौद्धों ने जो खण्डन किया (तत्त्वस० का० २२२, ३११, ३१२.), उसका जवाब बौद्धों की ही विकल्पजालजटिल अर्थक्रियाकारित्ववाली दलील से देना अकलङ्क आदि जैनाचार्यों ने शुरू किया जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकों ने किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्ग का अवलम्बन करके इस जगह पहिले केवलनित्यत्ववाद का खण्डन बौद्धों के ही शब्दों में करते हैं और केवलक्षणिकत्ववाद का 15 खण्डन भी भदन्त योगसेन या जयन्त आदि के शब्दों में करते हैं और साथ ही जैनदर्शन-सम्मत द्रव्यपर्यायवाद के समर्थन के वास्ते उसी कसौटी का उपयोग करके कहते हैं कि अर्थक्रियाकारित्व जैनवाद पक्ष में ही घट सकता है।

पृ० २५. पं० २७. **'समर्थोऽपि'**–तुलना–भामती २.२.२६।

पृ० २६. पं० २०. **'पर्यायैकान्त'**–तुलना–तत्त्वसं० का० ४२८–४३४।

20 पृ० २६. पं० २५. **'सन्तानस्य'**–बौद्धदर्शन क्षणिकवादी होने से किसी भी वस्तु को एक क्षण से अधिक स्थिर नहीं मानता। वह कार्यकारणभावरूप से प्रवृत्त क्षणिक भावों के अविच्छिन्न प्रवाह को संतान कहकर उसके द्वारा एकत्व-स्थिरत्वादि की प्रतीति घटाता है। पर वह सन्तान नामक किसी चीज़ को क्षणिकभिन्न पारमार्थिक सत्य रूप नहीं मानता। उसके मतानुसार जैसे अनेक वृक्षों के वास्ते वन शब्द व्यवहार के सुभीते की दृष्टि से सांके-52 तिक है, वैसे ही सन्तान शब्द भी अनेक भिन्न-भिन्न क्षणिक भावों के वास्ते ही सांकेतिक है। इस भाव का प्रतिपादन ख़ुद बौद्ध विद्वानों ने ही अपने-अपने पाली तथा संस्कृत-ग्रन्थों में किया है–विसुद्धि० पृ० ५८५; बोधिचर्या० पृ० ३३४; तत्त्वसं० का० १८७७।

बौद्धसम्मत क्षणिकवाद का विरोध सभी वैदिक दर्शनों और जैनदर्शन ने भी किया है। उन्होंने किसी न किसी प्रकार से स्थिरत्व सिद्ध करने के वास्ते बौद्धसम्मत सन्तान पद के अर्थ 30 की यथार्थ समालोचना की है। जैनदर्शन को क्षणवाद इष्ट होने पर भी बौद्धदर्शन की तरह केवल काल्पनिक सन्तान इष्ट नहीं है। वह दो या अधिक क्षणों के बीच एक वास्तविक

---

१ "अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः। क्रमाक्रमाभ्यां भावाना सा लक्षणतया मता॥"–लघी० २. १।

स्थिर अन्वयांश को मानता है (तत्त्वार्थ० ५. २६), जिसे बौद्धदर्शन नहीं मानता, सन्तान के खण्डन के विषय में आ० हेमचन्द्र ने सन्तानखण्डनकारी पूर्ववर्ती वैदिक और जैन परंपरा का अनुसरण किया है[१]।

पृ० २७. पं० १७. 'सत्तायोगात्'–तुलना–लघी० ४. १०। अन्ययो० ७ ८।

पृ० २८. पं० २. 'न चासौ'—एक ही वस्तु को यथासम्भव अनेक दृष्टियों से विचारना 5 और तदनुसार उसका प्रतिपादन करना यह अनेकान्तदृष्टि या अनेकान्तवाद है। इस भाव के सूचक अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, विभज्यवाद आदि शब्द प्रसिद्ध हैं। ये शब्द बुद्ध-महावीर के समकालीन और उनके कुछ पूर्ववर्ती साहित्य तक में संस्कृत-प्राकृत भाषाओं में क़रीब-क़रीब उसी भाव में प्रयुक्त पाये जाते हैं[२]। भगवान् महावीर के समकालीन बौद्ध और वैदिक दर्शनों में तथा उनके कुछ पूर्ववर्ती वैदिक दर्शनों तक में हम देखते हैं कि वे दर्शन 10 अपने-अपने अभिमत सिद्धान्त का केवल एक ही दृष्टि से विचार नहीं करते, वे भी—यथासम्भव विविध दृष्टियों से अपने-अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं[३]। ऐसी दशा में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि भगवान् महावीर जैसे आध्यात्मिक और गम्भीर पुरुष ने अपने ही को अनेकान्तवादी या विभज्यवादी कैसे कहा ?। अथवा यों कहिए कि जैनदर्शन ही अनेकान्तवादी या विभज्यवादी कैसे समझा जाने लगा ?। इसका ख़ुलासा यह जान पड़ता है कि 15 बेशक प्रसिद्ध वैदिक बौद्ध आदि दर्शनों में भी तत्त्व का चिन्तन अनेक दृष्टियों से होता था फिर भी महावीर का यह दृढ़ मन्तव्य था और सच भी था कि बौद्ध सिद्धान्त में तात्त्विक रूप से क्षणिकत्व को ही स्थान है उसमें नित्यत्व उपचरित और अवास्तविकरूप से माना जाता है। इसी तरह औपनिषदादि सिद्धान्तों में आत्मा आदि तात्त्विकरूप से नित्य ही हैं, अनित्यत्व या परिणाममात्र औपचारिक या अवास्तविकरूप से माना जाता है, जब कि महावीर आत्मा 20 आदि पदार्थों को तात्त्विकरूप से नित्य-अनित्य उभय स्वरूप मानकर उभय अंश को समान रूप से वास्तविक ही बतलाते थे। बहुत सम्भव है इसी दृष्टिभेद को लेकर भगवान् महावीर ने अपने दर्शन को अनेकान्त कहा और औरों को एकान्त। महावीर के उपदिष्ट प्राचीन उपदेशों में हम देखते हैं कि आत्मा, लोक आदि के सम्बन्ध में उनकी द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक तथा शाश्वत-अशाश्वत दोनों दृष्टियाँ समप्रधान[४] हैं; कोई एक वास्तविक और दूसरी अवास्तविक 25 नहीं है। यही कारण है कि इसके बाद के आज तक के जैन विचारविकास में इस बारे में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता। जान पड़ता है किसी एक तत्त्व की निरूपक विविध दृष्टियों के समप्राधान्य और वर्गीकरण की ओर भगवान् महावीर का खास झुकाव था इसी कारण

---

१ न्यायम० पृ० ४६४। अष्टश० अष्टस० पृ० १६५।

२ सूत्रकृ० १. १४. १९–२२। मज्झिम० २. ५. ९।

३ महावग्ग ३. ६. ४. ८। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"–ऋग्वेद अष्ट० २. अ० ३. व० २३. मं० ४६।

४ भग० श० १. उ० ३; श० ६. उ० ३३।

उनके उपदेशों में नय निक्षेप[1] आदि रूप से दृष्टियों का विभाजन और संग्रह पाया जाता है, चाहे वह प्राचीन ढङ्ग से ही क्यों न हो, जैसा कि जैनेतर दर्शन साहित्य में नहीं है और जिसके आधार पर उत्तरकालीन जैन साहित्य में नयवाद, अनेकान्तवाद नामक स्वतन्त्र साहित्य का प्रकार ही विकसित हुआ।

5 प्राचीन जैन आगमों के देखने से जान पड़ता है कि उन दिनों आत्मा, लोक (भग० श० २. उ० १; श० ६. उ० ३३; श० १२. उ० १०.) आदि तात्त्विक पदार्थ ही नय या अनेकान्त की विचारसरणी के मुख्यतया विषय रहे आचार नहीं। बौद्ध शास्त्रों के देखने से जान पड़ता है कि बुद्ध की अनेकान्त दृष्टि मध्यमप्रतिपदारूप से (संयुत्त० ५५ २. २.) मुख्यतया आचार विषयक ही थी (मज्झिम० १. १. ३.)। यद्यपि उत्तरकालीन जैनसाहित्य[2] 10 में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग अहिंसा, सत्य आदि आचार के विषय में भी हुआ है तथापि आज तक के नयवाद एवं अनेकान्तवाद विषयक ग्रन्थों में उसकी मूल प्रकृति का स्पष्टदर्शन होता है क्योंकि नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, सामान्य, विशेष, अभिलाप्यत्व, अनभिलाप्यत्व इत्यादि तात्त्विक चिन्तन में ही वह वाद समाप्त हो जाता है। अनेकान्त दृष्टि से एक वस्तु को नित्यानित्य आदि द्विरूप माननेवाले केवल जैन ही नहीं बल्कि मीमांसक और 15 सांख्य आदि[3] भी थे। और प्रतिवादी बौद्ध आदि स्याद्वाद का खण्डन करते समय जैनों के साथ-साथ मीमांसक, सांख्य आदि[4] के भी तात्त्विक मन्तव्य का खण्डन करते थे। फिर भी

---

१ "णामं ठवणा दविये खित्ते काले य। वयणभावे य एसो अणुओगस्स उ णिक्खेवो होई सत्तविहो ॥" **आव० नि० १३२।** "णेगमसंगहववहारउज्जुसुए चेव होइ बोद्धव्वे। सद्दे यसमभिरूढे एवंभूए य मूलणया ॥"–**आव० नि० गा० ७५४। स्था० ७।**

२ "न य घायउ त्ति हिंसो नाघायंतो त्ति निच्छियमहिंसो। न विरलजीवमहिंसो न य जीवघणं ति तो हिंसो ॥ अहणंतो वि हु हिंसो दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरो व्व ॥ बाहिंतो न वि हिंसो सुद्धत्तणओ जहा विज्जो ॥ असुभो जो परिणामो सा हिंसा सो उ बाहिरनिमित्तं। को वि अवेक्खेज्ज न वा जम्हाऽणेगंतिय बज्झं ॥"–**विशेषा० गा० १७६३, १७६४, १७६६। आप्तमी० का० ६२–६५। पुरुषार्थ० का० ४४–५८।** " ··न चैवं जैनप्रक्रियाविदो वदन्ति तैः क्षुद्रमहत्सत्त्ववधसादृश्यवैसादृश्ययोरनेकान्तस्यैवाभ्युपगमात्। तदुक्तं सूत्रकृताङ्गे–जे केइ खुद्दगा पाणा अदुवा सन्ति महालया। सरिसं तेहिं वेरन्ति असरिसन्ति य णो वए ॥ एतेहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई। एतेहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए। "–इत्यादि–**यशोवि० धर्मपरी० पृ० १८३ से।**

३ "तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः। पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ न चावस्थान्तरोत्पादे पूर्वोऽत्यन्तं विनश्यति। उत्तरानुगुणत्वात्तु सामान्यात्मनि लीयते ॥"–**श्लोकवा० आत्म० श्लो० २८, ३०।** "एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥"–**योगसू० ३. १३। योगभा० ३. १३। पात० महा० पृ० ५८।** भर्तृप्रपञ्च जो वेदान्ती था उसका मत अनेकान्त नाम से प्रसिद्ध था क्योंकि वह भेदाभेद व ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी रहा–**अच्युत वर्ष ३. अं० ४. पृ० ८–११।**

४ "कल्पनारचितस्यैव वैचित्र्यस्योपवर्णने। को नामातिशयः प्रोक्तो विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः ॥"–**तत्त्वसं० का० १७७६।**

शङ्करादि जैसे दार्शनिक[१] भी जैनों को ही स्याद्वादी समझते व कहते हैं, मीमांसक सांख्य आदि को नहीं। इसका सबब यह जान पड़ता है कि एक तो जैनदर्शन में स्याद्वाद-स्थापन विषयक जितना और जैसा प्रचुर साहित्य बना वैसा मीमांसक, सांख्यादि दर्शन में नहीं है। और दूसरा सबब यह है कि सांख्य, योग आदि[२] दर्शनों में आत्मा जो तत्त्वज्ञान का मुख्य चिन्त्य विषय है उसको छोड़कर ही प्रकृति, परमाणु आदि में नित्यानित्यत्व का चिन्तन 5 किया है, जब कि जैनदर्शन में जड़ की तरह चेतन में भी तुल्यरूप से नित्यानित्यत्वादि का समर्थन किया है।

जान पड़ता है जैनेतर तार्किकों ने जो अनेकान्तवाद का खंडन शुरू किया वह उस वाद के जैन आचार्यों के द्वारा प्राकृत आगमों में से संस्कृतरूप में अवतीर्ण होने के बाद ही। और यह भी जान पड़ता है कि अनेकान्तवाद के खण्डन करनेवाले जैनेतर तार्किकों में सबसे 10 पहिले बौद्ध ही रहे हैं[३]। बौद्ध विद्वानों के द्वारा किये गये अनेकान्त का खण्डन देखकर ही वैदिक विद्वान् उस खण्डन की ओर विशेष अग्रसर हुए। ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्तवाद का खण्डन यदि सचमुच असल में जैनदर्शन को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है तो भी वह खण्डन बौद्धकृत किसी खण्डन के बाद ही का होना चाहिए। यह भी हो सकता है कि असल में ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्त का खण्डन जैनदर्शन को लक्ष्य में रखकर न किया गया हो पर भर्तृ- 15 प्रपञ्च जैसे वेदान्त तथा सांख्य-मीमांसक आदि को लक्ष्य में रखकर किया गया हो। बेशक ब्रह्मसूत्र के उपलब्ध भाष्यों में शाङ्करभाष्य ही प्राचीन है और उसमें जैनदर्शन को ही प्रतिपक्षी समझकर उस अनेकान्तवाद के खण्डन का अर्थ शङ्कराचार्य ने लगाया है। शङ्कराचार्य के बारे में यह कहना दुःसाहस मालूम होता है कि वे मीमांसक कुमारिल प्रतिपादित अनेकान्त को या सांख्य सिद्धान्त की अनेकान्तात्मकता को जानते न थे। यदि यह कल्पना ठीक है तो फिर 20 प्रश्न होता है कि शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्त के खण्डन को केवल जैन प्रक्रियाप्रसिद्ध अनेकान्त, सप्तभङ्गी आदि के खण्डन के द्वारा ही कैसे घटाया?। इसका ख़ुलासा यह जान पड़ता है कि जैसे अनेकान्तस्थापन विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैनसाहित्य में बने और थे वैसे मीमांसा और सांख्य दर्शन में न बने और न थे। उनमें प्रसंगात् अनेकान्तपोषक चर्चा पाई जाती थी। अतएव अनेकान्त, सप्तभङ्गी आदि के समर्थक स्वतन्त्र जैन-ग्रन्थों के दृष्टिगोचर 25 होने के कारण शङ्कराचार्य ने केवल जैनमत रूप से ही अनेकान्त का खण्डन किया। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट ने भी मुख्यतया जैनमत रूप से अनेकान्तवाद का खण्डन[४] किया है उसका भी तात्पर्य वही हो सकता है।

---

१ "अथ विवसनमतं निरस्यते (ब्र० शाङ्करभा० २. २. ३३)–नैकस्मिन्नसम्भवात्" ब्रह्मसू० २. २. ३३ से।

२ "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"–सांख्यका० ३। योगभा० १. २।

३ "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"–इत्यादि–प्रमाणवा० १. १८३-४।

४ हेतुबि० टी० पृ० १०५–१०७।

सामान्यरूप से दार्शनिक क्षेत्र में यह मान्यता रूढ़ है कि जैनदर्शन ही अनेकान्तवादी है अतएव जैसे जैनेतर दार्शनिक अपने दर्शनों में लभ्य अनेकान्त विचार की ओर दृष्टि दिये बिना ही अनेकान्त को मात्र जैनवाद समझकर उसका खण्डन करते हैं वैसे ही जैनाचार्य भी उस वाद को सिर्फ अपना ही मानकर उस खण्डन का पूरे ज़ोर से जवाब देते हुए अनेकान्त 5 का विविधरूप से स्थापन करते आए हैं जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य में नय, सप्तभङ्गी, निक्षेप, अनेकान्तादि समर्थक एक बड़ी स्वतन्त्र ग्रन्थ-राशि बन गई है[१]। अनेकान्त के ऊपर जैनेतर तार्किकों के द्वारा दिये गये दूषणों का उद्धार करते हुए जैनाचार्य ऐसे आठ दोषों का उल्लेख[२] करते हैं। जहाँ तक देखने में आया है उन आठ दोषों में से तीन दोषों का स्पष्ट रूप से नामनिर्देश तो शङ्कराचार्यकृत खण्डन (२. २. ३३) और तत्त्वसंग्रहकृत खण्डन 10 (का० १७०६) से मिलता है पर उन आठों दोषों का स्पष्ट नामनिर्देश किसी एक जगह या भिन्न भिन्न स्थान में मिलाकर के देखा नहीं जाता। सम्भव है कोई अनेकान्त के खण्डनवाला ऐसा भी ग्रन्थ रहा हो जिसमें उन आठ दोषों का स्पष्ट नामनिर्देश रहा हो। और यह भी हो सकता है कि ऐसे आठ दोषों के अलग-अलग नाम और उनके लक्षण किसी ग्रन्थ में आये न हों। सिर्फ अनेकान्त खण्डन परायण विचारशैलो और भाषा रचना को देखकर 15 उस खण्डन में से अधिक से अधिक फलित होनेवाले आठ दोषों के नाम और लक्षण जवाब देने के वास्ते स्वयं ही अलग छाँटकर जैनाचार्यों ने उनका युक्तिपूर्ण निरसन किया हो। कुमारिल ने[३] अनेकान्त के ऊपर विरोध और संशय इन दो दोषों की सम्भावना कर के ही उनका निवारण किया है। शङ्कराचार्य के खण्डन में (ब्र० शांकरभा० २. २. ३३) मुख्यतया उक्त दो ही दोष फलित होते हैं। शान्तरक्षित के खण्डन में उक्त दो दोषों के अलावा सङ्कर-20 नामक (तत्त्वसं० का० १७२२) तीसरे दोष का स्पष्ट निर्देश है।

अनेकान्तवाद के ऊपर प्रतिवादियों के द्वारा दिये गये दोषों का उद्धार करनेवाले जैनाचार्यों में व्यवस्थित और विश्लेषणपूर्वक उन दोषों के निवारण करनेवाले सबसे प्रथम अकलङ्क और हरिभद्र ही जान पड़ते हैं[४]। इनका अनुगमन पिछले सभी जैन विद्वानों ने किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी उसी मार्ग का अनुसरण करके आठ दोषों का उद्धार 25 किया है और स्याद्वाद को एक पूर्ण और निर्दोष वाद स्थापित किया है।

असल में स्यात्पद युक्त होने के कारण केवल सप्तभङ्गी का ही नाम स्याद्वाद है। व्यवहार, निश्चय, नैगम, संग्रह आदि नय ये सब नयवाद के अन्तर्गत हैं। स्याद्वाद और

---

१ उदाहरणार्थ–सन्मतितर्क, आप्तमीमांसा, नयचक्र, तत्त्वार्थराजवा०–प्रथम अध्याय का ६ठा सूत्र तथा चतुर्थाध्याय का अन्तिम सूत्र, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तप्रवेश, स्याद्वादरत्नाकर–५वाँ, ७वाँ परि० अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, अनेकान्तव्यवस्था, सप्तभङ्गीतरङ्गिणी आदि।

२ प्रमाणसं० लि० पृ० ६५ A।

३ श्लोकवा० आकृ० ५४; वन० ७९–८०।

४ प्रमाणसं० लि० पृ० ६५ A। अनेकान्तज० टी०पृ० ३० से। शास्त्रवा० ७. ३४–३८।

नयवाद ये दोनों एकमात्र अनेकान्त दृष्टि के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न वाद हैं जो शैली, शब्द-रचना, पृथक्करण आदि में भिन्न होने पर भी अनेकान्तसूचक रूप से अभिन्न ही हैं। जैन शास्त्रों की व्याख्या का निक्षेपात्मक प्रकार और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिवाला पृथक्करण प्रकार भी अनेकान्त दृष्टि का ही द्योतक है। अनेकान्तवाद यह व्यापक शब्द है, जिसमें स्याद्वाद, नयवाद, निक्षेपपद्धति आदि सबका समावेश हो जाता है। यद्यपि 5 इस समय अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनों शब्द पर्यायरूप से व्यवहृत देखे जाते हैं तथापि स्याद्वाद असल में अनेकान्तवाद का एक विशेष अंशमात्र है।

पृ० २८. पं० ३. 'विरोधादि'–अन्य वादियों के द्वारा अनेकान्त के ऊपर दिये गये दोषों का परिहार जैन आचार्यों ने किया है। इस परिहार में परिहृत दोषों की संख्या के विषय में तथा स्वरूप के विषय में नाना परम्पराएँ हैं। भट्टारक अकलङ्क ने संशय, विरोध, 10 वैयधिकरण्य, उभयदोषप्रसङ्ग, अनवस्था, सङ्कर, अभाव इन दोषों का परिगणन किया है। आचार्य हरिभद्र ने (शास्त्रवा० स्तो० का० ५१०–५१८) संख्या का निर्देश बिना किये ही विरोध, अनवस्था, उभय, संशय इन दोषों का स्पष्ट निर्देश किया है और आदि शब्द से अन्य दोषों का सूचन भी किया है। विद्यानन्द ने (अष्टस० पृ० २२७) विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, व्यतिकर, सङ्कर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इस तरह स्पष्ट ही नामपूर्वक आठ 15 दोष गिनाये हैं। प्रभाचन्द्र ने (प्रमेयक० पृ० १५६) आठ दोष गिनाये हैं, पर दोनों की दी हुई नामावली में थोड़ा सा अन्तर है क्योंकि विद्यानन्द 'उभय' दोष का उल्लेख नहीं करते पर अप्रतिपत्ति को दोष कहकर आठ संख्या की पूर्ति करते हैं जब कि प्रभाचन्द्र 'उभय' दोष को गिनाकर ही आठ दोष की संख्या पूर्ण करते हैं और अप्रतिपत्ति को अलग दोष नहीं गिनते। इस तरह दिगम्बरीय ग्रन्थों में संख्या आठ होने पर भी उसकी दो परम्पराएँ हुईं। 20

अभयदेव ने 'उभय' दोष का उल्लेख किया है (सन्मतिटी० पृ० ४५२) पर उनकी दोष-संख्या सात की है, जो वादी देवसूरि को भी अभिमत है फिर भी वादी देवसूरि (स्याद्वादर० पृ० ७३८) और अभयदेव दोनों की सात संख्या की पूर्ति एक सी नहीं है। क्योंकि अभयदेव की गणना में 'अभाव' दोष है पर व्यतिकर नहीं जब कि वादी देवसूरि की गणना में 'व्यतिकर' है, 'अभाव' नहीं। इस तरह श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में सात संख्या की 25 दो परम्पराएँ हुईं।

आचार्य हेमचन्द्र ने जिन आठ दोषों का परिहार किया है वे ठीक विद्यानन्दसम्मत ही आठ हैं। हेमचन्द्र के द्वारा आठ दोषों का परिहार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में प्रथम दाखिल हुआ जान पड़ता है जिसका अनुकरण उन्हीं के अनुगामी मल्लिषेण सूरि ने स्याद्वादमञ्जरी (का० २४) में किया है। अनेकान्तवाद पर जब से दार्शनिक क्षेत्र में आक्षेप होने लगे तब 30 से आक्षेपकों के द्वारा दिये गये दोषों की संख्या भी एक-सी नहीं रही है, वह क्रमशः वृद्धिङ्गत जान पड़ती है। उन दोषों के निवारक जैन आचार्यों के ग्रन्थों में भी परिहृत दोषों की संख्या का उत्तरोत्तर विकास ही हुआ है। यहाँ तक कि अन्तिम जैन तार्किक उपाध्याय

यशोविजयजी ने (शास्त्रवा० टी० पृ० २६६ A) आठ के अलावा अन्य दोषों—आत्माश्रय, परस्पराश्रय, चक्रक आदि—का भी निर्देश करके उनका निवारण किया है।

पृ० २८. पं० ६. 'नैवम्'–तुलना–प्रमेयक० पृ० १५६-१५८।

पृ० २६. पं० ३. 'प्रत्येकं ये'–तुलना–"आह च–

5 भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथं न ते ॥"–हेतुबि० टी० पृ० १०६।

अ० १. आ० १. सू० ३४–४१. पृ० २६. दार्शनिकक्षेत्र में प्रमाण और उसके फल की चर्चा भी एक ख़ास स्थान रखती है। यों तो यह विषय तर्कयुग के पहिले श्रुति-आगम युग में भी विचारप्रदेश में आया है। उपनिषदों, पिटकों और आगमों में ज्ञान—
10 सम्यग्ज्ञान—के फल का कथन है। उक्त युग में वैदिक, बौद्ध, जैन सभी परम्परा में ज्ञान का फल अविद्यानाश या वस्तुविषयक अधिगम कहा है पर वह आध्यात्मिक दृष्टि से—अर्थात् मोक्ष लाभ की दृष्टि से। उस अध्यात्म युग में ज्ञान इसी लिए उपादेय समझा जाता था कि उसके द्वारा अविद्या—अज्ञान—का नाश होकर एवं वस्तु का वास्तविक बोध होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो[1], पर तर्कयुग में यह चर्चा व्यावहारिक दृष्टि से भी होने लगी, अतएव
15 हम तर्कयुग में होनेवाली–प्रमाणफलविषयक चर्चा में अध्यात्मयुगीन अलौकिक दृष्टि और तर्कयुगीन लौकिक दृष्टि दोनों पाते हैं[2]। लौकिक दृष्टि में केवल इसी भाव को सामने रखकर प्रमाण के फल का विचार किया जाता है कि प्रमाण के द्वारा व्यवहार में साक्षात् क्या सिद्ध होता है, और परम्परा से क्या, चाहे अन्त में मोक्षलाभ होता हो या नहीं। क्योंकि लौकिक दृष्टि में मोक्षानधिकारी पुरुषगत प्रमाणों के फल की चर्चा
20 का भी समावेश होता है।

तीनों परम्परा की तर्कयुगीन प्रमाणफलविषयक चर्चा में मुख्यतया विचारणीय अंश दो देखे जाते हैं—एक तो फल और प्रमाण का पारस्परिक भेद-अभेद और दूसरा फल का स्वरूप। न्याय, वैशेषिक, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन फल को प्रमाण से भिन्न ही मानते

---

१ "सोऽविद्याग्रन्थिं विकरतीह सौम्य"–मुण्डको० २. १. १०। सांख्यका० ६७-६८। उत्त० २८. २, ३। "तमेतं बुचति–यदा च ञत्वा सो धम्मं सच्चानि अभिसमेस्सति। तदा अविज्जूपसमा उपसन्तो चरिस्सति ॥"–विसुद्धि० पृ० ५४४।

२ "...तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"–वै० सू० १. १. ३। "..तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः"–न्यायसू० १. १. १.। "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्"–न्यायभा० १. १. ३।

हैं[१]। बौद्ध दर्शन उसे अभिन्न कहता है[२] जब कि जैन दर्शन अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनुसार फल-प्रमाण का भेदाभेद बतलाता है[३]।

फल के स्वरूप के विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मन्तव्य एक-सा ही है[४]। वे सभी इन्द्रियव्यापार के बाद होनेवाले सन्निकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी उस परम्परा में से पूर्व पूर्व फल को उत्तर उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण भी कहते हैं अर्थात् उनके कथनानुसार इन्द्रिय तो प्रमाण ही है, फल नहीं और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि जो अन्तिम फल है वह फल ही है प्रमाण नहीं। पर बीच के सन्निकर्ष, निर्विकल्प और सविकल्प ये तीनों पूर्व प्रमाण की अपेक्षा से फल और उत्तरफल की अपेक्षा से प्रमाण भी हैं। इस मन्तव्य में फल प्रमाण कहलाता है पर वह स्वभिन्न उत्तरफल की अपेक्षा से। इस तरह इस मत में प्रमाण-फल का भेद स्पष्ट ही है। वाचस्पति मिश्र ने इसी भेद को ध्यान में रखकर सांख्य प्रक्रिया में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था अपनी कौमुदी में की है[५]।

बौद्ध परम्परा में फल के स्वरूप के विषय में दो मन्तव्य हैं—पहला विषयाधिगम को और दूसरा स्वसंवित्ति को फल कहता है। यद्यपि दिङ्नागसंगृहीत[६] इन दो मन्तव्यों में से पहले का ही कथन और विवरण धर्मकीर्त्ति[७] तथा उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने किया है तथापि शान्तरक्षित ने उन दोनों बौद्ध मन्तव्यों का संग्रह करने के अलावा उनका सयुक्तिक उपपादन और उनके पारस्परिक अन्तर का प्रतिपादन भी किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बाह्यार्थवाद, जिसे पार्थसारथि मिश्र ने सौत्रान्तिक का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत विषयसारूप्य प्रमाण है और विषयाधिगति फल, जब कि विज्ञानवाद जिसे पार्थसारथि ने योगाचार का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत स्वसंवेदन ही फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाण है[८]। यह ध्यान में रहे कि बौद्ध मतानुसार प्रमाण और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जाने के कारण वे अभिन्न कहे गये हैं। कुमारिल ने इस बौद्धसम्मत अभेदवाद का खण्डन

---

१ श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ७४, ७५।

२ प्रमाणसमु० १. ६। न्यायबि० टी० १. २१।

३ "करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् नानात्वं च परश्वादिवत्"–अष्टश० अष्टस० पृ० २८३-२८४।

४ "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"–न्यायभा० १. १. ३। श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ५९–७३। प्रकरणप० पृ० ६४। कन्दली पृ० १९८-९।

५ सांख्यत० का० ४।

६ प्रमाणसमु० १. १०–१२। श्लो० न्याय० पृ० १५८-१५९।

७ न्यायबि० १. १८–१९।

८ "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्य योग्यतापि वा॥"–तत्त्वसं० का० १३४४। श्लो० न्याय० पृ० १५८–१५९।

(श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ७४ से) करके जो वैशेषिक-नैयायिक के भेदवाद का अभिमतरूप से स्थापन किया है उसका जवाब शान्तरक्षित ने अक्षरशः देकर बौद्धसम्मत अभेदवाद की युक्तियुक्तता दिखाई है—तत्त्वसं० का० १३४० से।

जैन परम्परा में सबसे पहिले तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्र ही हैं जिन्होंने लौकिक 5 दृष्टि से भी प्रमाण के फल का विचार जैन परम्परा के अनुसार व्यवस्थित किया है। उक्त दोनों आचार्यों का फलविषयक कथन शब्द और भाव में समान ही है—न्याया० का० २८. आप्तमी० का० १०२। दोनों के कथनानुसार प्रमाण का साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति ही है। पर व्यवहित फल यथासंभव हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है। सिद्धसेन और समन्तभद्र के कथन में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

10 १—अज्ञानविनाश का फलरूप से उल्लेख, जिसका वैदिक-बौद्ध परंपरा में निर्देश नहीं देखा जाता। २—वैदिक परम्परा में जो मध्यवर्ती फलों का सापेक्ष भाव से प्रमाण और फल रूप से कथन है उसके उल्लेख का अभाव, जैसा कि बौद्ध तर्कग्रन्थों में भी है। ३—प्रमाण और फल के भेदाभेद विषयक कथन का अभाव। सिद्धसेन और समन्तभद्र के बाद अकलङ्क ही इस विषय में मुख्य देखे जाते हैं जिन्होंने सिद्धसेन-समन्तभद्रदर्शित फलविषयक जैन 15 मन्तव्य का संग्रह करते हुए उसमें अनिर्दिष्ट दोनों अंशों की स्पष्टतया पूर्ति की, अर्थात् अकलङ्क ने प्रमाण और फल के भेदाभेदविषयक जैनमन्तव्य को स्पष्टतया कहा (अष्टश० अष्टस० पृ० २८३-४) और मध्यवर्ती फलों को प्रमाण तथा फल उभयरूप कहने की वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक की सापेक्ष शैली को जैन प्रक्रिया के अनुसार घटाकर उसका स्पष्ट निर्देश किया[१]। माणिक्यनन्दी (परी० ५; ६.६७ से) और देवसूरि ने (प्रमाणन० ६.३ से) 20 अपने-अपने सूत्रों में प्रमाण का फल बतलाते हुए सिर्फ़ वही बात कही है जो सिद्धसेन और समन्तभद्र ने। अलबत्ता उन्होंने अकलङ्कनिर्दिष्ट प्रमाण-फल के भेदाभेद का जैन मन्तव्य सूत्रित किया है पर उन्होंने मध्यवर्ती फलों को सापेक्षभाव से प्रमाण और फल कहने की अकलङ्कसूचित जैनशैली को सूत्रित नहीं किया। विद्यानन्द की तीक्ष्ण दृष्टि अज्ञाननिवृत्ति और स्व-परव्यवसिति शब्द की ओर गई। योगाचार और सौत्रान्तिक सिद्धान्त के अनुसार 25 प्रमाण के फलरूप से फलित होनेवाली स्व और पर व्यवसिति को ही विद्यानन्द ने अज्ञाननिवृत्तिरूप बतलाया (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६८; प्रमाणप० पृ० ७६) जिसका अनुसरण प्रभाचन्द्र ने मार्तण्ड में और देवसूरि ने रत्नाकर में किया। अब तक में जैनतार्किकों का एक स्थिर-सा मन्तव्य ही हो गया कि जिसे सिद्धसेन-समन्तभद्र ने अज्ञाननिवृत्ति कहा है वह वस्तुतः स्व-परव्यवसिति ही है।

30 आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत चर्चा में पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकों के मतों का संग्रह तो किया ही है पर साथ ही उसमें अपनी विशेषता भी दिखाई है। उन्होंने प्रभाचन्द्र और

---

१ 'बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत् स्वसंविदाम्। पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ॥'—लघी० १. ६।

देवसूरि की तरह स्व-परव्यवसिति को ही अज्ञाननिवृत्ति न कहकर दोनों को अलग अलग फल माना है। प्रमाण और फल के अभेद पक्ष में कुमारिल ने बौद्धों के ऊपर जो दोष दिये थे और जिनका निरास धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुव्याख्या तथा शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में है उन्हीं दोषों का निवारण बौद्ध ढंग से करते हुए भी आ० हेमचन्द्र ने अपना वैयाकरणत्व आकर्षक तार्किकशैली में व्यक्त किया है। जैसे अनेक विषयों में आ० हेमचन्द्र अकलङ्क 5 का खास अनुसरण करते हैं वैसे ही इस चर्चा में भी उन्होंने मध्यवर्ती फलों को सापेक्षभाव से प्रमाण और फल कहनेवाली अकलङ्कस्थापित जैनशैली को सूत्र में शब्दश: स्थान दिया। इस तरह हम प्रमाण-फल के चर्चाविषयक प्रस्तुत सूत्रों में वैदिक, बौद्ध और जैन सभी परम्पराओं का यथासम्भव जैनमत रूप से समन्वय एक ही जगह पाते हैं।

पृ० २९. पं० १९. **'नन्वेवं प्रमाणमेव'**—तुलना—"ननु च ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यं तथा 10 च सति तदेव ज्ञानं प्रमाणं तदेव प्रमाणफलम्। न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते। तत्कथं सारूप्यं प्रमाणमित्याह—

तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥

तद्वशादिति।.........अर्थस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञानं सारूप्यवशात् सिध्यति, प्रतीतं भवतीत्यर्थ:। नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यत: तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि 15 चक्षुरादिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते न तद्वशात्तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यते अवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते। न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धन: साध्यसाधनभाव: येनैकस्मिन्वस्तुनि विरोध: स्यात् अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुन: किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते।"—न्यायबि० टी० १. २१।

पृ० ३०. पं० २३. **'ईहाधारणयो:'**—तुलना—"ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुप- 20 योगविशेषात्।"—लघी० स्ववि० १. ६।

पृ० ३०. पं० २४. **'ततो धारणा प्रमाणम्'**—तुलना—लघी० स्ववि० ३. १।

पृ० ३१. पं० ९. **'अभेदे'**—तुलना—परी० ६. ६७। प्रमाणन० ६. ६ से।

पृ० ३१. पं० १०. **'अप्रमाणाद्'**—तुलना—"तत एकस्य वस्तुन: किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित्प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य, व्यवस्थाप्यं च नील- 25 संवेदनरूपम्। व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावोऽपि कथमेकस्य ज्ञानस्येति चेत्। उच्यते। सदृशमनुभूयमानं तद्विज्ञानं यतो नीलस्य ग्राहकमवस्थाप्यते निश्चयप्रत्ययेन तस्मात् सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनहेतु:। निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनमवस्थाप्यमानं व्यव-

स्थाप्यम्। तस्मादसारूप्यव्यावृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः। अनीलबोधव्यावृत्त्या च नीलबोधरूपत्वं व्यवस्थाप्यम्।"—न्यायबि० टी० १. २१।

पृ० ३१. पं० ११. 'एवं सति'—तुलना—परी० ६. ६८, ६६।

पृ० ३१. पं० १४. 'तथा तस्यैवात्मनः'—तुलना—परी० ५. ३। प्रमाणन० ६. ६-११।

5 पृ० ३१. पं० १५. 'भेदे तु'—तुलना—परी० ६. ७१।

पृ० ३१. पं० १५. 'अथ यत्रैवात्मनि'—तुलना—प्रमेयर० ६. ७१, ७२।

पृ० ३१. पं० १६. 'प्रमाणात् फलम्'—परी० ५.२। प्रमाणप० पृ० ७६।

पृ० ३१. पं० २१. 'स्वपराभासी'—भारत में दार्शनिकों की चिन्ता का मुख्य और अन्तिम विषय आत्मा ही रहा है। अन्य सभी चीज़ें आत्मा की खोज में से ही फलित हुई 10 हैं। अतएव आत्मा के अस्तित्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में बिलकुल परस्परविरोधी ऐसे अनेक मत अति चिरकाल से दर्शनशास्त्रों में पाये जाते हैं। उपनिषद् काल के पहिले ही से आत्मा को सर्वथा नित्य—कूटस्थ—माननेवाले दर्शन पाये जाते हैं जो औपनिषद, सांख्य आदि नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मा अर्थात् चित्त या नाम को भी सर्वथा क्षणिक मानने का बौद्ध सिद्धान्त है जो गौतम बुद्ध से तो अर्वाचीन नहीं है। इन सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा 15 क्षणिकत्व स्वरूप दो एकान्तों के बीच होकर चलनेवाला अर्थात् उक्त दो एकान्तों के समन्वय का पुरस्कर्ता नित्यानित्यत्ववाद आत्मा के विषय में भी भगवान् महावीर के द्वारा स्पष्टतया आगमों में प्रतिपादित (भग० श० ७. उ० २.) देखा जाता है। इस जैनाभिमत आत्मनित्यानित्यत्ववाद का समर्थन मीमांसकधुरीण कुमारिल ने (श्लोकवा० आत्म० श्लो० २८ से) भी बड़ी स्पष्टता एवं तार्किकता से किया है जैसा कि जैनतार्किकग्रन्थों में भी देखा जाता है। 20 इस बारे में यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने जैनमत की पुष्टि में तत्त्वसंग्रहगत श्लोकों का ही अक्षरशः अवतरण दिया है तथापि वे श्लोक वस्तुतः कुमारिल के श्लोकवार्तिकगत श्लोकों के ही सार मात्र का निर्देशक होने से मीमांसकमत के ही द्योतक हैं।

ज्ञान एवं आत्मा में स्वावभासित्व-परावभासित्व विषयक विचार के बीज तो श्रुति-आगमकालीन साहित्य[१] में भी पाये जाते हैं पर इन विचारों का स्पष्टीकरण एवं 25 समर्थन तो विशेषकर तर्कयुग में ही हुआ है। परोक्ष ज्ञानवादी कुमारिल आदि मीमांसक के मतानुसार ही ज्ञान और उससे अभिन्न आत्मा इन दोनों का परोक्षत्व अर्थात् मात्र परावभासित्व सिद्ध होता है। योगाचार बौद्ध के मतानुसार विज्ञानबाह्य किसी चीज़ का अस्तित्व न होने से और विज्ञान स्वसंविदित होने से ज्ञान और तद्रूप आत्मा का मात्र स्वावभासित्व फलित होता है। इस बारे में भी जैनदर्शन ने अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनु-30 सार ही अपना मत स्थिर किया है। ज्ञान एवं आत्मा दोनों को स्पष्ट रूप से स्व-पराभासी

---

१ "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्॥"—कठो० ५. १५।

कहनेवाले जैनाचार्यों में सबसे पहिले सिद्धसेन ही हैं—न्याया० ३१। आ० हेमचन्द्र ने सिद्धसेन के ही कथन को दोहराया है।

देवसूरि ने आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए जो मतान्तरव्यावर्त्तक अनेक विशेषण दिये हैं (प्रमाणन० ७.५४,५५) उनमें एक विशेषण देहव्यापित्व यह भी है। आ० हेमचन्द्र ने जैनाभिमत आत्मा के स्वरूप को सूत्रबद्ध करते हुए भी उस विशेषण का उपादान 5 नहीं किया। इस विशेषणत्याग से आत्मपरिमाण के विषय में (जैसे नित्यानित्यत्व विषय में है वैसे) कुमारिल के मत के साथ जैनमत की एकता की भ्रान्ति न हो इसलिए आ० हेमचन्द्र ने स्पष्ट ही कह दिया है कि देहव्यापित्व इष्ट है पर अन्य जैनाचार्यों की तरह सूत्र में उसका निर्देश इसलिए नहीं किया है कि वह प्रस्तुत में उपयोगी नहीं है।

पृ० ३२. पं० ६. 'यथाहः'—तुलना— 10

"स्यातामत्यन्तनाशेऽस्य कृतनाशाऽकृताऽऽगमौ ।
न त्ववस्थान्तरप्राप्तौ लोके बालयुवादिवत् ॥ २३ ॥
अवस्थान्तरभाव्येतत् फलं मम शुभाशुभम् ।
इति ज्ञात्वाऽनुतिष्ठंश्च विजहच्चेष्टते जनः ॥ २४ ॥
अनवस्थान्तरप्राप्तिर्दृश्यते न च कस्यचित् । 15
अनुच्छेदात्तु नाऽन्यत्वं भोक्तुर्लोकोऽवगच्छति ॥ २५ ॥
सुखदुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम ।
चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूपं नैव विमुञ्चति ॥ २६ ॥
दुःखिनः सुख्यवस्थायां नश्येयुः सर्व एव ते ।
दुःखित्वं चानुवर्तेत विनाशे विक्रियात्मके ॥ २७ ॥ 20
तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः ।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ २८ ॥
न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थासमाश्रिते ।
तेनाऽवस्थावतस्तत्त्वात् कर्त्तैवाप्नोति तत्फलम् ॥ २९ ॥
स्वरूपेण ह्यवस्थानामन्योन्यस्य विरोधिता । 25
अविरुद्धस्तु सर्वासु सामान्यात्मा प्रवर्तते ॥ ३० ॥"—श्लोकवा० आत्म०।
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥"—न्यायवि० २. ११६।

द्वितीयाह्निक।

अ० १. आ० २. सू० १-२. पृ० ३३. देखो १. १. ९-१०. का टिप्पण—टिप्पण पृ० १६।

पृ०. ३३. पं०. १६. 'वासनोद्बोध'—सभी तार्किक विद्वान् स्मरण का लक्षण किसी एक आधार पर नहीं करते। कणाद ने[1] आभ्यन्तर कारण संस्कार के आधार पर ही स्मरण का लक्षण प्रणयन किया है। पतञ्जलि ने[2] विषय-स्वरूप के निर्देश द्वारा ही स्मृति को लक्षित 5 किया है, जब कि कणाद के अनुगामी प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में कारण, विषय और कार्य इन तीन के द्वारा स्मरण का निरूपण किया है[3]। जैन परम्परा में स्मरण और उसके कारण पर तार्किकशैली से विचार करने का प्रारम्भ पूज्यपाद (सर्वार्थ० १.१५) और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण विशेषा० गा० १९८,१९९) द्वारा हुआ जान पड़ता है। विद्यानन्द ने (प्रमाणप० पृ० ६९) पतञ्जलि की तरह विषयनिर्देश द्वारा ही स्मृति का लक्षण रचा। पर उसमें 10 आकार का निर्देश बढ़ाया। माणिक्यनन्दी ने (परी० ३.३) कणाद की तरह संस्कारात्मक कारण के द्वारा ही स्मृति का लक्षण बाँधा, फिर भी उसमें आकारनिर्देश बढ़ाया ही। वादी देव ने (प्रमाणन० ३.३) विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी दोनों का अनुसरण करके अपने स्मृति लक्षण में कारण, विषय और आकार तीनों का निर्देश किया। आ० हेमचन्द्र ने तो माणिक्यनन्दी का ही अनुसरण किया और तदनुसार अपने लक्षणसूत्र में स्मृति के आकार 15 और कारण को ही स्थान दिया।

पृ०. ३३. पं० २०. 'सदृशदर्शनादि'—"प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।"—न्यायसू० ३.२.४३।

इस सूत्र में जितने संस्कारोद्बोधक निमित्त संगृहीत हैं उतने एक जगह कहीं देखने 20 में नहीं आये।

पृ० ३३. पं० २३. 'सा च प्रमाणम्'—स्मृति को प्रमा—प्रमाण—मानने के बारे में मुख्य दो परम्पराएँ हैं—जैन और जैनेतर। जैन परम्परा उसे प्रमाण मानकर परोक्ष के भेद रूप से इसका वर्णन करती है। जैनेतर परम्परावाले वैदिक, बौद्ध, सभी दर्शन उसे प्रमाण नहीं मानते अतएव वे किसी प्रमाणरूप से उसकी चर्चा नहीं करते। स्मृति को प्रमाण न 25 माननेवाले भी उसे अप्रमाण—मिथ्याज्ञान—नहीं कहते पर वे प्रमाण शब्द से उसका केवल व्यवहार नहीं करते।

---

१ "आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः"—वैशे० ९. २. ६।

२ "अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः"—योगसू० १. ११।

३ प्रशस्त० पृ० २५६।

स्मृत्यात्मक ज्ञान में प्रमाण शब्द का प्रयोग करने न करने का जो मतभेद देखा जाता है इसका बीज धर्मशास्त्र के इतिहास में है। वैदिक परम्परा में धर्मशास्त्र रूप से वेद अर्थात् श्रुति का ही मुख्य प्रामाण्य माना जाता है। मन्वादिस्मृतिरूप धर्मशास्त्र प्रमाण हैं सही पर उनका प्रामाण्य श्रुतिमूलक है। जो स्मृति श्रुतिमूलक है या श्रुति से अविरुद्ध है वही प्रमाण है अर्थात् स्मृति का प्रामाण्य श्रुतिप्रामाण्यतन्त्र है स्वतन्त्र नहीं[1]। धर्मशास्त्र के प्रामाण्य की इस व्यवस्था का विचार बहुत पुराने समय से मीमांसादर्शन ने किया है। जान पड़ता है जब स्मृतिरूप धर्मशास्त्र को छोड़कर भी स्मृतिरूप ज्ञानमात्र के विषय में प्रामाण्यविषयक प्रश्न मीमांसकों के सामने आया तब भी उन्होंने अपना धर्मशास्त्रविषयक उस सिद्धान्त का उपयोग करके एक साधारण ही नियम बाँध दिया कि स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, उसका प्रामाण्य उसके कारणभूत अनुभव के प्रामाण्य पर निर्भर है अतएव वह मुख्य प्रमाणरूप से गिनी जाने योग्य नहीं। सम्भवतः वैदिक धर्मजीवी मीमांसा दर्शन के इस धर्मशास्त्रीय या तत्त्वज्ञानीय निर्णय का प्रभाव सभी न्याय, वैशेषिक, सांख्य[2], योग आदि इतर वैदिक दर्शनों पर पड़ा है। अतएव वे अपने अपने मन्तव्य की पुष्टि में चाहे युक्ति भिन्न-भिन्न बतलावें फिर भी वे सभी एक मत से स्मृतिरूप ज्ञान में प्रमाण शब्द का व्यवहार न करने के ही पक्ष में हैं।

कुमारिल आदि मीमांसक कहते हैं कि स्मृतिज्ञान अनुभव द्वारा ज्ञात विषय को ही उपस्थित करके कृतकृत्य हो जाने के कारण किसी अपूर्व अर्थ का प्रकाशक नहीं, वह केवल गृहीतग्राही है और इसी से वह प्रमाण नहीं[3]। प्रशस्तपाद के अनुगामी श्रीधर ने भी उसी मीमांसक की गृहीतग्राहित्ववाली युक्ति का अवलम्बन करके स्मृति को प्रमाणबाह्य माना है—कन्दली पृ० २५७। पर अक्षपाद के अनुगामी जयन्त ने दूसरी ही युक्ति बतलाई है। वे कहते हैं कि स्मृतिज्ञान विषयरूप अर्थ के सिवाय ही उत्पन्न होने के कारण अनर्थज होने से प्रमाण नहीं[4]। जयन्त की इस युक्ति का निरास श्रीधर[5] ने किया है। अक्षपाद के ही अनुगामी वाचस्पति मिश्र ने तीसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं कि लोकव्यवहार

---

१ "पारतन्त्र्यात् स्वतो नैषां प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते ॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥"–तन्त्रवा० पृ० ६९।

२ "एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।"–तत्त्ववै० १ ११।

३ "तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥"–श्लोकवा० अनु० श्लो० १६०। प्रकरणप० पृ० ४२।

४ "न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥"–न्यायम० पृ० २३।

५ "ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः तेषामतीतानागतविषयस्यानुमानस्याप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम् ॥"–कन्दली० पृ० २५७।

स्मृति को प्रमाण मानने के पक्ष में नहीं है अतएव उसे प्रमा कहना योग्य नहीं। वे प्रमा की व्याख्या करते समय स्मृतिभिन्न ज्ञान को लेकर ही विचार करते हैं— तात्पर्य पृ० २०। उदयनाचार्य ने भी स्मृति को प्रमाण न माननेवाले सभी पूर्ववर्ती तार्किकों की युक्तियों का निरास करके अन्त में वाचस्पति मिश्र के तात्पर्य का अनुसरण करते हुए यही कहा है कि 5 अनपेक्ष होने के कारण अनुभव ही प्रमाण कोटि में गिना जाना चाहिए, स्मृति नहीं; क्योंकि वह अनुभवसापेक्ष है और ऐसा मानने का कारण लोकव्यवहार ही है[१]।

बौद्धदर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानता। उसकी युक्ति भी मीमांसक या वैशेषिक जैसी ही है अर्थात् स्मृति गृहीतग्राहिणी होने से ही प्रमाण नहीं—तत्त्वसं० प० का० १२९८। फिर भी इस मन्तव्य के बारे में जैसे न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों पर मीमांसा—धर्मशास्त्र— 10 का प्रभाव कहा जा सकता है वैसे बौद्ध-दर्शन पर कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह वेद का ही प्रामाण्य नहीं मानता। विकल्पज्ञानमात्र[२] को प्रमाण न मानने के कारण बौद्ध दर्शन में स्मृति का प्रामाण्य प्रसक्त ही नहीं है।

जैन तार्किक स्मृति को प्रमाण न माननेवाले भिन्न-भिन्न उपर्युक्त दर्शनों की गृहीतग्राहित्व, अनर्थजत्व, लोकव्यवहाराभाव आदि सभी[३] युक्तियों का निरास करके केवल यही कहते हैं, 15 कि जैसे संवादी होने के कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे जाते हैं वैसे ही स्मृति को भी संवादी होने ही से प्रमाण कहना युक्त है। इस जैन मन्तव्य में कोई मतभेद नहीं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी स्मृतिप्रामाण्य की पूर्व जैन परम्परा का ही अनुसरण किया है।

स्मृतिज्ञान का अविसंवादित्व सभी को मान्य है। वस्तुस्थिति में मतभेद न होने पर भी मतभेद केवल प्रमा शब्द से स्मृतिज्ञान का व्यवहार करने न करने में है।

20 पृ०. ३३. पं०. २३. **'सा च प्रमाणम्'**—तुलना—

"अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽभिनिबोधिकैः।

व्यवहाराविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा॥"—लघी० ४.४। प्रमाणप० पृ० ६९। अष्टस० पृ० २७९। प्रमेयक० ६९ A। स्याद्वादर० पृ० ४८७। प्रमेयर० २.२।

पृ०. ३४. पं०. ४. **'नाननुकृतान्वय'**—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वलक्षणजन्य ही 25 मानकर प्रमाण माननेवाले सौत्रान्तिक आदि बौद्धों का सिद्धान्त है कि विषयता कारणता-

---

१ "कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः ?। अननुभवत्वेनैव। यथार्थो ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति। 'तत्त्वज्ञानाद्' इति सूत्रणात्। अव्यभिचारि ज्ञानमिति च। ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्याद् यथार्थज्ञानत्वात् प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेत्। न। सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्, अव्यवस्थया लोकव्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्। न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति, पृथगनुपदेशात्।"—**न्यायकु० ४. १।**

२ "गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं ....."—(सांवृतम्—विकल्पज्ञानम्—**मनोरथ०**) **प्रमाणवा० २. ५।**

३ "तथाहि—अमुष्याऽप्रामाण्यं कुतोऽयमाविष्कुर्वीत, किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यातीतेर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वात् वा।"—**स्याद्वादर० ३. ४।**

व्याप्त है। नैयायिक आदि का भी जन्यलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति विषयविधया अर्थ को कारण मानने का सिद्धान्त सुविदित है।

पृ० ३४. पं० ११. 'दर्शनस्मरण'—प्रत्यभिज्ञा के विषय में दो बातें ऐसी हैं जिनमें दार्शनिकों का मतभेद रहा है—पहली प्रामाण्य की और दूसरी स्वरूप की। बौद्ध परम्परा प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण नहीं मानती क्योंकि वह क्षणिकवादी होने से प्रत्यभिज्ञा का विषय 5 माने जानेवाले स्थिरत्व को ही वास्तविक नहीं मानती। वह स्थिरत्वप्रतीति को सादृश्यमूलक मानकर भ्रान्त ही समझती है[1]। पर बौद्धभिन्न जैन, वैदिक दोनों परम्परा के सभी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण मानते हैं। वे प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य के आधार पर ही बौद्ध-सम्मत क्षणभङ्ग का निरास और नित्यत्व—स्थिरत्व—का समर्थन करते हैं। जैन परम्परा न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनों की तरह एकान्त नित्यत्व किंवा कूटस्थ नित्यत्व नहीं 10 मानती तथापि वह विभिन्न पूर्वापर अवस्थाओं में ध्रुवत्व को वास्तविक रूप से मानती है अत-एव वह भी प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य की पक्षपातिनी है।

प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन पक्ष हैं—बौद्ध, वैदिक और जैन। बौद्धपक्ष कहता है कि प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष ये समुचित दो ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा शब्द से व्यवहृत होते हैं[2]। उसका 'तत्' अंश अतीत होने से 15 परोक्षरूप होने के कारण स्मरणग्राह्य है वह परोक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता, जब कि 'इदम्' अंश वर्तमान होने के कारण प्रत्यक्षग्राह्य है वह प्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता। इस तरह विषयगत परोक्षापरोक्षत्व के आधार पर दो ज्ञान के समुच्चय को प्रत्यभिज्ञा कहनेवाले बौद्धपक्ष के विरुद्ध न्याय, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा यह प्रत्यक्ष रूप एक ज्ञान है प्रत्यक्ष-स्मरण दो नहीं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में वर्तमान मात्र विषयकत्व का जो नियम 20 है वह सामान्य नियम है अतएव सामग्रीविशेषदशा में वह नियम सापवाद बन जाता है। वाचस्पति मिश्र प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्षत्व का उपपादन करते हुए कहते हैं कि संस्कार या स्मरणरूप सहकारी के बल से वर्तमानमात्रग्राही भी इन्द्रिय, अतीतावस्थाविशिष्ट वर्तमान को ग्रहण कर सकने के कारण, प्रत्यभिज्ञाजनक हो सकती है[3]। जयन्त वाचस्पति के उक्त कथन का अनुसरण करने के अलावा भी एक नई युक्ति प्रदर्शित करते हैं। वे कहते हैं कि 25 स्मरणसहकृतइन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के बाद एक मानसज्ञान होता है जो प्रत्यभिज्ञा कहलाता[4] है। जयन्त का यह कथन पिछले नैयायिकों के अलौकिकप्रत्यक्षवाद की कल्पना का बीज मालूम होता है।

---

१ प्रमाणवा० ३. ५०१-२। तत्त्वसं० का० ४४७।

२ "...तस्माद् द्वे एते ज्ञाने स इति स्मरणम् अयम् इत्यनुभवः"—न्यायम० पृ० ४४९।

३ तात्पर्य० पृ० १३९।

४ "एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा।"—न्यायम० पृ० ४६१।

जैन तार्किक प्रत्यभिज्ञा को न तो बौद्ध के समान ज्ञानसमुच्चय मानते हैं और न नैयायिकादि की तरह बहिरिन्द्रियज प्रत्यक्ष। वे प्रत्यभिज्ञा को परोक्ष ज्ञान मानते हैं। और कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्मरण के बाद एक संकलनात्मक विजातीय मानस ज्ञान पैदा होता है वही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अकलङ्कोपज्ञ (लघी० ३. १. से) 5 प्रत्यभिज्ञा की यह व्यवस्था जो स्वरूप में जयन्त की मानसज्ञान की कल्पना के समान है वह सभी जैन तार्किकों के द्वारा निर्विवादरूप से मान ली गई है। आचार्य हेमचन्द्र भी उसी व्यवस्था के अनुसार प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप मानकर परपक्षनिराकरण और स्वपक्षसमर्थन करते हैं।

मीमांसक (श्लोकवा० सू० ४. श्लो० २३२-२३७.), नैयायिक (न्यायसू० १. १. ६.) 10 आदि उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं जो सादृश्य-वैसदृश्य विषयक है। उनके मतानुसार ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि विषयक अनेक सप्रतियोगिक ज्ञान ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ही हैं। जैन तार्किकों ने प्रथम से ही उन सब का समावेश, प्रत्यभिज्ञान को मतिज्ञान के प्रकारविशेषरूप से स्वतन्त्र प्रमाण मानकर, उसी में किया है, जो ऐकमत्य से सर्वमान्य हो गया है।

पृ० ३४. पं० १७. **'आदिग्रहणात्'**-तुलना-प्रमेयर० ३. १०।

15 पृ० ३४. पं० २०. **'पयोम्बुभेदी'**-स्याद्वादर० पृ० ४९८.। प्रमेयक०-पृ० १००. A।

पृ० ३४. पं० २५. **'यथा वा औदीच्येन'**-तुलना-तात्पर्य० पृ० १९८।

पृ० ३५. पं० ५. **'येषां तु सादृश्यविषय'**-तुलना-"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।"-न्यायसू० १. १. ६। प्रमेयर० ३. ५।

पृ० ३५. पं० ११. **"अथ साधर्म्यमुपलक्षणम्"**-तुलना-"साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रो-20 पलक्षणमिति करभसंज्ञाप्रतिपत्तिरप्युपमानफलमेवेति नाव्याप्तिः"-तात्पर्य० पृ० २००।

पृ० ३५. पं० १३. **'अल्पाक्षर'**-तुलना-तात्पर्य० १. १. २। पाराशर० अ० १८।

पृ० ३५. पं० १६. **'ननु 'तत्' इति'**-तुलना-प्रमेयर० २. २.।

पृ० ३५. पं० २०. **'पूर्वप्रमित'**-तुलना-"कुमारिलमतेन गृहीतग्राहित्वस्यासिद्धिमुद्भावयति-पूर्वप्रमित........"-तत्त्वसं० का० ४५३।

---

25 पृ०. ३६. पं० २०. **'उपलम्भ'**-भगवान् महावीर, बुद्ध और उपनिषद् के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी ऊह् (ऋग्० २०. १३१. १०) और तर्क (रामायण ३. २५. १२.) ये दो धातु तथा तज्जन्य रूप संस्कृत-प्राकृत भाषा में प्रचलित रहे[१]। आगम, पिटक और दर्शनसूत्रों में उनका प्रयोग विविध प्रसङ्गों में थोड़े-बहुत भेद के साथ विविध अर्थों में देखा जाता है[२]। सब अर्थों में सामान्य अंश एक ही है और वह यह कि

---

१ "उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः।"-पा० सू० ७. ४. २३। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" कठ० २. ९।

२ "तक्का जत्थ न विज्जइ"-आचा० सू० १७०। "विहिंसा वितक्क"-मज्झि० सब्बासवसू० २. ६। "तर्काप्रतिष्ठानात्"-ब्रह्मसू० २. १. ११। न्यायसू० १. १. ४०।

विचारात्मक ज्ञानव्यापार। जैमिनीय सूत्र और उसके शाबरभाष्य आदि[1] व्याख्या-ग्रन्थों में उसी भाव का द्योतक ऊह शब्द देखा जाता है, जिसको जयन्त ने मञ्जरी में अनुमानात्मक या शब्दात्मक प्रमाण समझकर खण्डन किया है—न्यायम० पृ० ५८८। न्यायसूत्र (१ १.४०) में तर्क का लक्षण है जिसमें ऊह शब्द भी प्रयुक्त है और उसका अर्थ यह है कि तर्कात्मक विचार स्वयं प्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणानुकूल मनोव्यापार मात्र है। पिछले नैयायिकों ने तर्क का अर्थ विशेष स्थिर एवं स्पष्ट किया है। और निर्णय किया है कि तर्क कोई प्रमाणात्मक ज्ञान नहीं है किन्तु व्याप्तिज्ञान में बाधक होनेवाली अप्रयोजकत्वशङ्का को निरस्त करनेवाला व्याप्यारोपपूर्वक व्यापकारोपस्वरूप आहार्य ज्ञान मात्र है जो उस व्यभिचारशङ्का को हटाकर व्याप्तिनिर्णय में सहकारी या उपयोगी हो सकता है—चिन्ता० अनु० पृ० २१०; न्याय० वृ० १.१.४०। प्राचीन समय से ही न्याय दर्शन में तर्क का स्थान प्रमाणकोटि में नहीं है[2]। न्यायदर्शन के विकास के साथ ही तर्क के अर्थ एवं उपयोग का इतना विशदीकरण हुआ है कि इस विषय पर बड़े सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ग्रन्थ लिखे गये हैं जिसका आरम्भ गङ्गेश उपाध्याय से होता है।

बौद्धतार्किक (हेतुबि० टी० लि० पृ० २५) भी तर्कात्मक विकल्पज्ञान को व्याप्तिज्ञानोपयोगी मानते हुए भी प्रमाण नहीं मानते। इस तरह तर्क को प्रमाणरूप मानने की मीमांसक परम्परा और अप्रमाणरूप होकर भी प्रमाणानुग्राहक मानने की नैयायिक और बौद्ध परम्परा है।

जैन परम्परा में प्रमाणरूप से माने जानेवाले मतिज्ञान का द्वितीय प्रकार ईहा जो वस्तुतः गुणदोषविचारणात्मक ज्ञानव्यापार ही है उसके पर्यायरूप से ऊह और तर्क दोनों शब्दों का प्रयोग उमास्वाति ने किया है—तत्त्वार्थभा० १.१५। जब जैन परम्परा में तार्किक पद्धति से प्रमाण के भेद और लक्षण आदि की व्यवस्था होने लगी तब सम्भवतः सर्वप्रथम अकलङ्क ने ही तर्क का स्वरूप, विषय, उपयोग आदि स्थिर किया (लघी० स्ववि० ३.२.) जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकों ने किया है। जैन परम्परा मीमांसकों की तरह तर्क या ऊह को प्रमाणात्मक ज्ञान ही मानती आई है। जैन तार्किक कहते हैं कि व्याप्तिज्ञान ही तर्क या ऊह शब्द का अर्थ है। चिरायात आर्यपरम्परा के अति परिचित ऊह या तर्क शब्द को लेकर ही अकलङ्क ने परोक्षप्रमाण के एक भेद रूप से तर्कप्रमाण स्थिर किया। और वाचस्पति मिश्र आदि[3] नैयायिकों ने व्याप्तिज्ञान को कहीं मानसप्रत्यक्षरूप, कहीं लौकिकप्रत्यक्षरूप, कहीं अनुमिति आदि रूप माना है उसका निरास करके जैन तार्किक व्याप्तिज्ञान को एकरूप ही मानते आये हैं वह रूप है उनकी परिभाषा के अनुसार तर्कपदप्रतिपाद्य। आचार्य हेमचन्द्र उसी पूर्वपरम्परा के समर्थक हैं।

---

१ "त्रिविधश्च ऊहः। मन्त्रसामसंस्कारविषयः।"–शाबरभा० ९.१.१। जैमिनीयन्या० अध्याय ९. पाद १. अधि० १।

२ न्यायसू० १.२.१।

३ तात्पर्य० पृ० १५९–१६७। न्यायम० पृ० १२३।

पृ० ३६. पं० २१. 'उपलम्भः प्रमाणमात्र'--तुलना-प्रमेयक० पृ० १०० B.। स्याद्वादर० ३. ७। प्रमेयर० ३. १२।

पृ० ३६. पं० २४. 'न चायं व्याप्तिग्रहः'-"न हि प्रत्यक्षं यावान्कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्"-लघी० स्ववि० ३. २। अष्टस० पृ० २८०। प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ० १०० B। स्याद्वादर० पृ० ५०६। प्रमेयर० २. २।

पृ० ३७. पं० ५. 'अनुमानान्तरेण'-तुलना-श्लोकवा० अनु० श्लो० १५१-१५३। हेतुबि० टी० लि० पृ० २५।

पृ० ३७. पं० ७. 'तर्हि तत्पृष्ठ'-तुलना-"यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते भवतु तस्यायं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।"—हेतुबि० टी० लि० पृ० २५ B। "देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसौ इष्यते"-मनोरथ० पृ० ७।

पृ० ३७. पं० ११. 'षण्ढात्तनयदोहदः'-तुलना-

"साध्याभिलाष इत्येवं षण्ढात्तनयदोहदः।"-न्यायम० पृ० १११।

पृ० ३७. पं० ११. 'एते-अनुपलम्भात्'-तुलना-

"प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्।
तयोः सन्निहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः॥ १५३॥
कारणानुपलम्भाच्चेत् कार्यकारणतानुमा।
व्यापकानुपलम्भाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा॥ १५४॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः।
परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यसंश्रयः॥ १५५॥"

तत्त्वार्थश्लो० १.१०। प्रमाणप० पृ० ६६। प्रमेयर० पृ० ३८. ३६।

पृ० ३७. पं० १५. 'वैशेषिकास्तु'-तुलना-प्रमेयर० पृ० ३६। प्रमाणप० पृ० ६६।

पृ० ३७. पं० २०. 'यौगास्तु'-तुलना-तात्पर्य० पृ० १३१, १६७।

पृ० ३८. पं० ३. 'व्याप्तिः'-आगे दसवें सूत्र में अविनाभाव का लक्षण है जो वस्तुतः व्याप्ति ही है फिर भी तर्क लक्षण के बाद तर्कविषयरूप से निर्दिष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सूत्र के द्वारा आ० हेमचन्द्र ने क्यों किया ऐसा प्रश्न यहाँ होता है। इसका खुलासा यह है कि हेतुबिन्दुविवरण में अर्चट ने प्रयोजन विशेष बतलाने के वास्ते व्याप्यधर्मरूप से और व्यापकधर्मरूप से भिन्न भिन्न व्याप्तिस्वरूप का निदर्शन बड़े आकर्षक ढङ्ग से किया है जिसे देखकर आ० हेमचन्द्र की चकोर दृष्टि उस अंश को अपनाने का लोभ संवृत कर न सकी। आ०

हेमचन्द्र ने अर्चटोक्त उस चर्चा को अक्षरशः लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में व्यवस्थित कर दिया है।

अर्चट के सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ठ ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनियतरूप से अनुयोगी-प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साध्य अनि- 5 यतरूप से हेतुसाध्य क्यों न हों अर्थात् उनमें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ?। इस प्रश्न के आचार्योपनामक किसी तार्किक की ओर से उठाये जाने का अर्चट ने उल्लेख किया है। इसका जवाब अर्चट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकरूप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से विभिन्न स्वरूप बतलाकर, दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट 10 व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है। गम्यगमकभाव सर्वत्र अनियत नहीं है जैसे आधाराधेयभाव।

उस पुराने समय में हेतु-साध्य में अनियतरूप से गम्यगमकभाव की आपत्ति को टालने के वास्ते अर्चट जैसे तार्किकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर न्यायशास्त्र के विकास के साथ ही इस आपत्ति का निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकार से देखते 15 हैं। नव्यन्याय के सूत्रधार गङ्गेश ने चिन्तामणि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरूप से अनेकविध व्याप्तियों का निरूपण किया है—चिन्ता० गादा० पृ० १४१–३६०। पूर्वपक्षीय व्याप्तियों में अव्यभिचरितत्व का परिष्कार[1] है जो वस्तुतः अविनाभाव या अर्चटोक्त व्याप्यधर्मरूप है। सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकत्व का परिष्कारांश[2] है वही अर्चटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है। अर्थात् अर्चट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति को गमकत्वानियामक कहा है उसे गङ्गेश 20 व्याप्ति ही नहीं कहते, वे उसे व्यापकत्व मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापक के सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं[3]। गङ्गेश का यह निरूपण विशेष सूक्ष्म है। गङ्गेश जैसे तार्किकों के अव्यभिचरितत्व, व्यापकत्व आदि विषयक निरूपण आ० हेमचन्द्र की दृष्टि में आये होते तो उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकरण में अवश्य देखा जाता।

व्याप्ति, अविनाभाव, नियतसाहचर्य ये पर्यायशब्द तर्कशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। अविना- 25 भाव का रूप दिखाकर जो व्याप्ति का स्वरूप कहा जाता है वह तो माणिक्यनन्दी (परी० ३. १७, १८) आदि सभी जैनतार्किकों के ग्रन्थों में देखा जाता है पर अर्चटोक्त नये विचार का संग्रह आ० हेमचन्द्र के सिवाय किसी अन्य जैन तार्किक के ग्रन्थ में देखने में नहीं आया।

---

१ "न तावदव्यभिचरितत्वं तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं ...... साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा।"–चिन्ता० गादा० पृ० १४१।

२ "प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति"-चिन्ता० गादा० पृ० ३६१।

३ "तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः॥"–चिन्ता० गादा० पृ० ३६१।

पृ० ३८. पं० ५. 'व्याप्तिः इति'–तुलना–"तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिः यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तदुभयधर्म......दा व्यापकस्य गम्यस्य तत्रेति सप्तम्यर्थप्रधानमेतत् नाधार-प्रधानम्, धर्मीणां धर्म............यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र भाव एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः तत्...........। न त्वेवमवधार्यते। व्यापकस्यैव तत्र भाव इति। हेत्वभावप्रसङ्गाद्व्यापकस्यापि मूर्त्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि 'तत्रैवे'ति प्रयत्नानन्तरीयकत्वा-देरहेतुतापत्तेः साधारणश्च हेतुः स्यात्, नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्। यदा तु व्याप्यध-र्मताविवक्षा व्याप्तेस्तदा व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति। यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव भावो न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति। अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यव-धारणं हेत्वभावप्रसक्तेरेव नाश्रितम्, अव्याप्यस्यापि तत्र भावात् नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेति सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः साधारणस्य हेतुत्वं स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति। व्याप्यव्यापकधर्मतासंवर्णनं तु व्याप्तेरुभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रतीतिः संयोगिवत् मा भूदिति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम् उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः ?। तदुक्तम्–

लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः।
नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥–इति ॥" हेतुबि० टी० लि० पृ० १८ से।

पृ० ३९. पं० ५. 'स्वार्थपरार्थभेदात्'—आचार्य हेमचन्द्र ने स्वार्थ-परार्थरूप से अनुमान के ही दो भेद किये हैं जो सभी वैदिक, बौद्ध और जैन तार्किकों में साधारण हैं। अनुमान की तरह प्रत्यक्ष को भी परार्थ कहकर उसके स्वार्थ-परार्थरूप से दो भेद दिखाने-वाला जहाँ तक मालूम है सर्वप्रथम सिद्धसेन ही है—

"स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥"—न्याया० १०।

सिद्धसेन के इस प्रत्यक्ष द्वैविध्य को देवसूरि ने भी मान्य रखा—प्रमाणन० ३. २४। आ० हेमचन्द्र ने उस सिद्धसेनोपज्ञ प्रत्यक्ष विभाग को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया है।

पृ० ३९. पं० ५. 'व्यामोह'—तुलना–

"तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद्व्यामूढमनसामिह।"—न्याया० ३।

पृ० ३९. पं० १२. 'इह च न'—तुलना–"यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य निमि-त्तम्। यथा बीजमङ्कुरस्य। अदृष्टाद्धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः। नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं परोक्षार्थप्रका-शनम्। यथा प्रदीपो घटादेः। दृष्टादप्यनिश्चितसम्बन्धादप्रतिपत्तेः। तस्मात् परोक्षा-र्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः।"–न्यायबि० टी० २. ५।

पृ० ३९. पं० १६. 'ननु च असिद्ध'—हेतु के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में चार परम्पराएँ देखी जाती हैं—१–वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध; २–नैयायिक; ३–अज्ञातनामक; ४–जैन।

प्रथम परम्परा के अनुसार हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व ये तीन रूप हैं। इस परम्परा के अनुगामी वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीन दर्शन हैं, जिनमें वैशेषिक और सांख्य ही प्राचीन जान पड़ते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान रूप से प्रमाणद्वय विभाग के विषय में जैसे बौद्ध तार्किकों के ऊपर कणाद दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है वैसे ही हेतु के त्रैरूप्य के विषय में भी वैशेषिक दर्शन का ही अनुसरण बौद्ध तार्किकों ने किया जान पड़ता 5 है[1]। प्रशस्तपाद खुद भी लिङ्ग के स्वरूप के वर्णन में एक कारिका का अवतरण देते हैं जिसमें त्रिरूप हेतु का काश्यपकथित रूप से निर्देश[2] है। माठर अपनी वृत्ति में उन्हीं तीन रूपों का निर्देश करते हैं—माठर० ५। अभिधर्मकोश, प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश (पृ० १), न्यायबिन्दु (२. ५ से), हेतुबिन्दु (पृ० ६) और तत्त्वसंग्रह (का० १३६२) आदि सभी बौद्धग्रन्थों में उन्हीं तीन रूपों को हेतु लक्षण मानकर त्रिरूप हेतु का ही समर्थन 10 किया है। तीन रूपों के स्वरूपवर्णन एवं समर्थन तथा परपक्षनिराकरण में जितना विस्तार एवं विशदीकरण बौद्ध ग्रन्थों में देखा जाता है उतना किसी केवल वैशेषिक या सांख्य ग्रन्थ में नहीं।

नैयायिक उपर्युक्त तीन रूपों के अलावा अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व ये दो रूप मानकर हेतु के पाञ्चरूप्य का समर्थन करते हैं। यह समर्थन सबसे पहले 15 किसने शुरू किया यह निश्चय रूप से अभी कहा नहीं जा सकता। पर सम्भवतः इसका प्रथम समर्थक उद्योतकर (न्यायवा० १. १ ५) होने चाहिएँ। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट ने (पृ० १६५) तथा प्रशस्तपादानुगामी श्रीधर ने नैयायिकोक्त पाञ्चरूप्य का त्रैरूप्य में समावेश किया है। यद्यपि वाचस्पति (तात्पर्य० १. १. ५; १. १. ३६), जयन्त (न्यायम० पृ० ११०) आदि पिछले सभी नैयायिकों ने उक्त पाञ्चरूप्य का समर्थन एवं वर्णन किया है 20 तथापि विचारस्वतन्त्र न्यायपरम्परा में वह पाञ्चरूप्य मृतकमुष्टि की तरह स्थिर नहीं रहा। गदाधर आदि नैयायिकों ने व्याप्ति और पक्षधर्मतारूप से हेतु के गमकतोपयोगी तीन रूप का ही अवयवादि में संसूचन किया है। इस तरह पाञ्चरूप्य का प्राथमिक नैयायिकाग्रह शिथिल होकर त्रैरूप्य तक आ गया। उक्त पाञ्चरूप्य के अलावा छठा अज्ञातत्व रूप गिनाकर षड्रूप हेतु माननेवाली भी कोई परम्परा थी जिसका निर्देश और खण्डन अर्चट[3] 25

---

[1] प्रो० चारबिट्स्की के कथनानुसार इस त्रैरूप्य के विषय में बौद्धों का असर वैशेषिकों के ऊपर है—Buddhist Logic vol. I P. 244।

[2] "यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥"–प्रशस्त० पृ० २००। कन्दली पृ० २०३।

[3] "षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते। कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्ते इत्याह...त्रीणि चैतानि पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकाख्याणि, तथा अबाधितविषयत्वं चतुर्थं रूपम्, ...तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरम्—एका संख्या यस्य हेतुद्रव्यस्य तदेकसंख्यं...यद्येकसंख्यावच्छिन्नायां प्रतिहेतुरहितायां हेतुव्यक्तौ हेतुत्वं भवति तदा गमकत्वं न तु प्रतिहेतुसहितायामपि द्वित्वसंख्यायुक्तायाम्...तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वं च, न ह्यज्ञातो हेतुः स्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति।"–हेतुबि० टी० १६४ B।

ने 'नैयायिक-मीमांसकादयः' ऐसा सामान्य कथन करके किया है। न्यायशास्त्र में ज्ञायमान लिङ्ग की करणता का जो प्राचीन मत (ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि-मुक्ता० का० ६७) खण्डनीय रूप से निर्दिष्ट है उसका मूल शायद उसी षड्रूप हेतुवाद की परम्परा में हो।

जैन परम्परा हेतु के एकरूप को ही मानती है और वह रूप है अविनाभावनियम। 5 उसका कहना यह नहीं कि हेतु में जो तीन या पाँच रूपादि माने जाते हैं वे असत् हैं। उसका कहना मात्र इतना ही है कि जब तीन या पाँच रूप न होने पर भी किन्हीं हेतुओं से निर्विवाद सदनुमान होता है तब अविनाभावनियम के सिवाय सकलहेतुसाधारण दूसरा कोई लक्षण सरलता से बनाया ही नहीं जा सकता। अतएव तीन या पाँच रूप अविनाभावनियम के यथासम्भव प्रपञ्चमात्र हैं। यद्यपि सिद्धसेन ने न्यायावतार में हेतु को 10 साध्याविनाभावी कहा है फिर भी अविनाभावनियम ही हेतु का एकमात्र रूप है ऐसा समर्थन करनेवाले सम्भवतः सर्वप्रथम पात्रस्वामी हैं। तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने जैनपरम्परासम्मत अविनाभावनियमरूप एक लक्षण का पात्रस्वामी के मन्तव्यरूप से ही निर्देश करके खण्डन किया है[१]। जान पड़ता है पूर्ववर्ती अन्य जैनतार्किकों ने हेतु के स्वरूप रूप से अविनाभावनियम का कथन सामान्यतः किया होगा। पर 15 उसका सयुक्तिक समर्थन और बौद्धसम्मत त्रैरूप्य का खण्डन सर्वप्रथम पात्रस्वामी ने ही किया होगा।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"–न्यायवि० पृ० ५००।

यह खण्डनकारिका अकलङ्क, विद्यानन्द (प्रमाणप० पृ० ७२) आदि ने उद्धृत की है 20 वह पात्रस्वामिकर्तृक होनी चाहिए। पात्रस्वामी के द्वारा जो परसम्मत त्रैरूप्य का खण्डन जैनपरम्परा में शुरू हुआ उसी का पिछले अकलङ्क (प्रमाणसं० पृ० ६६ A) आदि दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने अनुसरण किया है। त्रैरूप्यखण्डन के बाद जैनपरम्परा में पाञ्चरूप्य का भी खण्डन शुरू हुआ। अतएव विद्यानन्द (प्रमाणप पृ० ७२), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १०३ B), वादी देवसूरि (स्याद्वादर० पृ० ५२१) आदि के दिगम्बरीय-श्वेताम्बरीय पिछले तर्कग्रन्थों में 25 त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य का साथ ही सविस्तर खण्डन देखा जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र उसी परम्परा को लेकर त्रैरूप्य तथा पाञ्चरूप्य दोनों का निरास करते हैं। यद्यपि विषयदृष्टि से आ० हेमचन्द्र का खण्डन विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के खण्डन के समान ही है तथापि इनका शाब्दिक साम्य विशेषतः अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला के साथ है। अन्य सभी पूर्ववर्ती जैनतार्किकों से आ० हेमचन्द्र की एक विशेषता 30 जो अनेक स्थलों में देखी जाती है वह यहाँ भी है। वह विशेषता –संक्षेप में भी किसी न

१ "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते–नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"–तत्त्वसं० का० १३६४-६९।

किसी नये विचार का जैनपरम्परा में संग्रहीकरणमात्र है। हम देखते हैं कि आ० हेमचन्द्र ने बौद्धसम्मत त्रैरूप्य का पूर्वपक्ष रखते समय जो विस्तृत अवतरण न्यायबिन्दु की धर्मोत्तरीय वृत्ति में से अक्षरशः लिया है वह अन्य किसी पूर्ववर्ती जैन तर्कग्रन्थ में नहीं है। यद्यपि वह विचार बौद्धतार्किककृत है तथापि जैन तर्कशास्त्र के अभ्यासियों के वास्ते चाहे पूर्वपक्ष रूप से भी वह विचार ख़ास ज्ञातव्य है। 5

ऊपर जिस 'अन्यथानुपपन्नत्व' कारिका का उल्लेख किया है वह निःसन्देह तर्कसिद्ध होने के कारण सर्वत्र जैनपरम्परा में प्रतिष्ठित हो गई है। यहाँ तक कि उसी कारिका का अनुकरण करके विद्यानन्द ने थोड़े हेर-फेर के साथ पाञ्चरूप्यखण्डन विषयक भी कारिका बना डाली है–प्रमाणप० पृ० ७२। इस कारिका की प्रतिष्ठा तर्कबल पर और तर्कक्षेत्र में ही रहनी चाहिए थी पर इसके प्रभाव के कारण अतार्किक भक्तों ने इसकी प्रतिष्ठा मनगढ़न्त ढङ्ग से बढ़ाई। और यहाँ तक वह बढ़ी कि ख़ुद तर्कग्रन्थलेखक आचार्य भी उस कल्पित ढङ्ग के शिकार बने। किसी ने कहा कि उस कारिका के कर्त्ता और दाता मूल में सीमन्धरस्वामी नामक तीर्थङ्कर हैं। किसी ने कहा कि सीमन्धरस्वामी से पद्मावती नामक देवता इस कारिका को लाई और पात्रकेसरी स्वामी को उसने वह कारिका दी। इस तरह किसी भी तार्किक मनुष्य के मुख में से निकलने की ऐकान्तिक योग्यता रखनेवाली इस कारिका को सीमन्धरस्वामी के मुख में से अन्धभक्ति के कारण जन्म लेना पड़ा–सम्मतिटी० पृ० ५६६ (७)। अस्तु। जो कुछ हो आ० हेमचन्द्र भी उस कारिका का उपयोग करते हैं। इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि इस कारिका के सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्परा के ही हैं; क्योंकि भक्तिपूर्ण उन मनगढ़न्त कल्पनाओं की सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है। 10 15 20

पृ० ३९. पं० १७. **'तथाहि–अनुमेये'**–तुलना–न्यायबि० टी० २ ५–७।

पृ०. ४१. पं०. १७. **'अथैवंविधः'**–तुलना–प्रमेयर० ३. १६।

पृ० ४२. पं० १. **'स्वभाव'**–जैन तर्कपरम्परा में हेतु के प्रकारों का वर्णन तो अकलङ्क के ग्रन्थों (प्रमाणसं० पृ० ६७-६८) में देखा जाता है पर उनका विधि या निषेध-साधक रूप से स्पष्ट वर्गीकरण हम माणिक्यनन्दी, विद्यानन्द आदि के ग्रन्थों में ही पाते हैं। 25 माणिक्यनन्दी, विद्यानन्द, देवसूरि और आ० हेमचन्द्र इन चार का किया हुआ ही वह वर्गीकरण ध्यान देने योग्य है। हेतुप्रकारों के जैनग्रन्थगत वर्गीकरण मुख्यतया वैशेषिक सूत्र और धर्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु पर अवलम्बित हैं। वैशेषिकसूत्र (९.२.१) में कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी रूप से पञ्चविध लिङ्ग का स्पष्ट निर्देश है। न्यायबिन्दु (२.१२) में स्वभाव, कार्य और अनुपलम्भ रूप से त्रिविध लिङ्ग का वर्णन है तथा अनुपलब्धि के ग्यारह 30

प्रकार[1] मात्र निषेधसाधकरूप से वर्णित हैं, विधिसाधक रूप से एक भी अनुपलब्धि नहीं बतलाई गई है। अकलङ्क और माणिक्यनन्दी ने न्यायबिन्दु को अनुपलब्धि तो स्वीकृत की पर उसमें बहुत कुछ सुधार और वृद्धि की। धर्मकीर्त्ति अनुलब्धि शब्द से सभी अनुपलब्धियों को या उपलब्धियों को लेकर एकमात्र प्रतिषेध की सिद्धि बतलाते हैं तब माणिक्यनन्दी अनुप-
5 लब्धि से विधि और निषेध उभय की सिद्धि का निरूपण करते हैं इतना ही नहीं बल्कि उप-लब्धि को भी वे विधि-निषेध उभयसाधक बतलाते हैं[2]। विद्यानन्द का वर्गीकरण वैशेषिक-सूत्र के आधार पर है। वैशेषिकसूत्र में अभूत भूत का, भूत अभूत का और भूत भूत का इस तरह त्रिविधलिङ्ग निर्दिष्ट है[3]। पर विद्यानन्द ने उसमें अभूत अभूत का—यह एक प्रकार बढ़ाकर चार प्रकारों के अन्तर्गत सभी विधिनिषेधसाधक उपलब्धियों तथा सभी
10 विधिनिषेधसाधक अनुपलब्धियों का समावेश किया है—प्रमाणप० पृ० ७२-७४। इस विस्तृत समावेशकरण में किन्हीं पूर्वाचार्यों की संग्रहकारिकाओं को[4] उद्धृत करके उन्होंने सब प्रकारों की सब संख्याओं को निर्दिष्ट किया है मानो विद्यानन्द के वर्गीकरण में वैशेषिक-सूत्र के अलावा अकलङ्क या माणिक्यनन्दी जैसे किसी जैनतार्किक का या किसी बौद्ध तार्किक का आधार है।

15 देवसूरि ने अपने वर्गीकरण में परीक्षामुख के वर्गीकरण को ही आधार माना हुआ जान पड़ता है फिर भी देवसूरि ने इतना सुधार अवश्य किया है कि जब परीक्षामुख विधि-साधक छः उपलब्धियों (३.५९) और तीन अनुपलब्धियों (३.८६) को वर्णित करते हैं तब प्रमाणनयतत्त्वालोक विधिसाधक छः उपलब्धियों (३.६४) का और पाँच अनुपलब्धियों

---

१ "स्वभावानुपलब्धिर्यथा नाऽत्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। कार्यानुपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात्। व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्। स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणात्। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति अग्नेरिति। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति। कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात्। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्निहितदहनविशेषत्वादिति। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति॥"–न्यायबि० २. ३२–४२।

२ परी० ३. ५७–५९, ७८, ८६।

३ "विरोध्यभूतं भूतस्य। भूतमभूतस्य। भूतोऽभूतस्य।"–वै० सू० ३. ११–१३।

४ "अत्र संग्रहश्लोकाः—स्यात्कार्यं कारणव्याप्यं प्राक्सहोत्तरचारि च। लिङ्गं तल्लक्षणव्याप्तेर्भूतं भूतस्य साधकं॥ षोढा विरुद्धकार्यादि साक्षादेवोपवर्णितम्। लिङ्गं भूतमभूतस्य लिङ्गलक्षणयोगतः॥ पारम्पर्यात्तु कार्यं स्यात् कारणं व्याप्यमेव च। सहचारि च निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्विधम्॥ कारणाद् द्विष्ठकार्यादिभेदेनोदाहृतं पुरा। यथा षोडशभेदं स्यात् द्वाविंशतिविधं ततः॥ लिङ्गं समुदितं ज्ञेयमन्यथानुपपत्तिमत्। तथा भूतमभूतस्याप्यूह्यमन्यदपीदृशम्॥ अभूतं भूतमुन्नीतं भूतस्यानेकधा बुधैः। तथाऽभूतमभूतस्य यथायोग्यमुदाहरेत्॥ बहुधाप्येवमाख्यातं संक्षेपेण चतुर्विधम्। अतिसंक्षेपतो द्वेधोपलम्भानुपलम्भभृत्॥"–प्रमाणप० पृ० ७४–७५।

(३.६६) का वर्णन करता है। निषेधसाधकरूप से छः उपलब्धियों (३.७१) का और सात अनुपलब्धियों (३.७८) का वर्णन परीक्षामुख में है तब प्रमाणनयतत्त्वालोक में निषेधसाधक अनुपलब्धि (३.९०) और उपलब्धि (३.७९) दोनों सात सात प्रकार की हैं।

आचार्य हेमचन्द्र वैशेषिकसूत्र और न्यायबिन्दु दोनों के आधार पर विद्यानन्द की तरह वर्गीकरण करते हैं फिर भी विद्यानन्द से विभिन्नता यह है कि आ० हेमचन्द्र के वर्गीकरण में कोई भी अनुपलब्धि विधिसाधक रूप से वर्णित नहीं है किन्तु न्यायबिन्दु की तरह मात्र निषेधसाधकरूप से वर्णित है। वर्गीकरण की अनेकविधता तथा भेदों की संख्या में न्यूनाधिकता होने पर भी तत्त्वतः सभी वर्गीकरणों का सार एक ही है। वाचस्पति मिश्र ने केवल बौद्धसम्मत वर्गीकरण का ही नहीं बल्कि वैशेषिकसूत्रगत वर्गीकरण का भी निरास किया है—तात्पर्य० पृ० १५८–१६४।

पृ० ४२. पं० ६. 'तद्विशेषस्य'–तुलना–"यदुत्पत्तिमत् तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः। यत् कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति। एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः।"–न्यायबि० ३. १२-१५।

"यथा च कृतकशब्दो भिन्नविशेषणस्वभावाभिधाय्येवं प्रत्ययभेदभेदित्वमादिर्येषां प्रयत्नानन्तरीयकत्वादीनां तेऽपि स्वभावहेतोः प्रयोगा भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायिनो द्रष्टव्याः।"–न्यायबि० टी० ३. १५।

पृ० ४२. पं० ९. 'पक्षादन्यस्यैव'–तुलना–"सैव चास्य साध्यधर्मिणि स्वसाध्याविनाभाविता सैव गमकत्वे निबन्धनं नान्यधर्मिणि। स च स्वसाध्याविनाभावः प्रतिबन्धसाधकप्रमाणनिबन्धनो न सपक्षे क्वचिद् बहुलं वा सहभावमात्रदर्शननिबन्धनः, नहि लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठादिवत् इति तदन्यत्र पार्थिवत्वस्य लोहलेख्यत्वाविनाभावेऽपि तथाभावो भवति। यदि च पक्षीकृतादन्यत्रैव व्याप्तिरादर्शयितव्येति नियमः तदा सत्त्वं कथं क्षणिकतां भावेषु प्रतिपादयेत्······तस्मात्—स्वसाध्यप्रतिबन्धात् हेतुः तेन व्याप्तः सिद्ध्यति स च विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या साध्यधर्मिण्यपि सिद्ध्यति इति न किंचिद् अन्यत्रानुवृत्त्यपेक्षया। अत एवान्यत्र (विनिश्चये) उक्तम्—यत् क्वचिद् दृष्टं तस्य यत्र प्रतिबन्धः तद्विदः तस्य तद् गमकं तत्रेति वस्तुगतिरिति।"–हेतुबि० टी० लि० पृ० १५ B, १६ B.

पृ० ४२. पं० २४. 'सूक्ष्मदर्शिनापि'–कार्यलिङ्गक अनुमान को तो सभी मानते हैं पर कारणलिङ्गक अनुमान मानने में मतभेद है। बौद्धतार्किक ख़ासकर धर्मकीर्त्ति कहीं भी कारणलिङ्गक अनुमान का स्वीकार नहीं करते पर वैशेषिक, नैयायिक दोनों कारणलिङ्गक अनुमान को प्रथम से ही मानते आये हैं। अपने पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकों ने जैसे कारणलिङ्गक अनुमान का बड़े ज़ोरों से उपपादन किया है वैसे ही आ० हेमचन्द्र ने भी उसका उपपादन किया है। आ० हेमचन्द्र न्यायवादी शब्द से धर्मकीर्त्ति को ही सूचित करते हैं। यद्यपि आ० हेमचन्द्र धर्मकीर्त्ति के मन्तव्य का निरसन करते हैं तथापि उनका धर्मकीर्त्ति के प्रति विशेष आदर है जो 'सूक्ष्मदर्शिनापि' इस शब्द से व्यक्त होता है।

पृ० ४४. पं० ८. 'तथा चेतनां विना'–कार्यलिङ्गक अनुमान के मानने में किसी का मत-भेद नहीं फिर भी उसके किसी किसी उदाहरण में मतभेद खासा है। 'जीवत् शरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्' इस अनुमान को बौद्ध सदनुमान नहीं मानते, वे उसे मिथ्यानुमान मानकर हेत्वाभास में प्राणादिहेतु को गिनाते हैं–न्यायबि० ३. ६६। बौद्ध लोग इतर दार्शनिकों की तरह शरीर में वर्त्तमान नित्य आत्मतत्त्व को नहीं मानते इसी से वे अन्य दार्शनिकसम्मत सात्मकत्व का प्राणादि द्वारा अनुमान नहीं मानते, जब कि वैशेषिक, नैयायिक, जैन आदि सभी पृथगात्मवादी दर्शन प्राणादि द्वारा शरीर में आत्मसिद्धि मानकर उसे सदनुमान ही मानते हैं। अतएव आत्मवादी दार्शनिकों के लिये यह सिद्धान्त आवश्यक है कि सपक्ष-वृत्तित्व रूप अन्वय को सद्हेतु का अनिवार्य रूप न मानना। केवल व्यतिरेकवाले अर्थात् अन्वयशून्य लिङ्ग को भी वे अनुमितिप्रयोजक मानकर प्राणादिहेतु को सद्हेतु मानते हैं[१]। इसका समर्थन नैयायिकों की तरह जैनतार्किकों ने बड़े विस्तार से किया है।

आ० हेमचन्द्र भी उसी का अनुसरण करते हैं, और कहते हैं कि अन्वय के अभाव में भी हेत्वाभास नहीं होता इसलिये अन्वय को हेतु का रूप मानना न चाहिए। बौद्ध-सम्मत खासकर धर्मकीर्त्तिनिर्दिष्ट अन्वयसन्देह का अनैकान्तिकप्रयोजकत्वरूप से खण्डन करते हुए आ० हेमचन्द्र कहते हैं कि व्यतिरेकाभावमात्र को ही विरुद्ध और अनैकान्तिक दोनों का प्रयोजक मानना चाहिए। धर्मकीर्त्ति ने न्यायबिन्दु में व्यतिरेकाभाव के साथ अन्वय-सन्देह को भी अनैकान्तिकता का प्रयोजक कहा[२] है उसी का निषेध आ० हेमचन्द्र करते हैं। न्यायवादी धर्मकीर्त्ति के किसी उपलब्ध ग्रन्थ में, जैसा आ० हेमचन्द्र लिखते हैं, देखा नहीं जाता कि व्यतिरेकाभाव ही दोनों विरुद्ध और अनैकान्तिक या दोनों प्रकार के अनैकान्तिक का प्रयोजक हो। तब "न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभासावुक्तौ" यह आ० हेमचन्द्र का कथन असङ्गत हो जाता है। धर्मकीर्त्ति के किसी ग्रन्थ में इस आ० हेमचन्द्रोक्त भाव का उल्लेख न मिले तो आ० हेमचन्द्र के इस कथन का अर्थ थोड़ी खींचातानी करके यही करना चाहिए कि न्यायवादी ने भी दो हेत्वाभास कहे हैं पर उनका प्रयोजकरूप जैसा हम मानते हैं वैसा व्यतिरेकाभाव ही माना जाय क्योंकि उस अंश में किसी का विवाद नहीं अत-एव निर्विवादरूप से स्वीकृत व्यतिरेकाभाव को ही उक्त हेत्वाभासद्वय का प्रयोजक मानना, अन्वयसन्देह को नहीं।

यहाँ एक बात खास लिख देनी चाहिए। वह यह कि बौद्ध तार्किक हेतु के त्रैरूप्य का समर्थन करते हुए अन्वय को आवश्यक इसलिए बतलाते हैं कि वे विपक्षासत्त्व-रूप व्यतिरेक का सम्भव 'सपक्ष एव सत्त्व' रूप अन्वय के बिना नहीं मानते। वे कहते हैं कि

---

१ "केवलव्यतिरेकिणं त्वीदृशमात्मादिप्रसाधने परममस्त्रमुपेक्षितुं न शक्नुम इत्यन्यथाभाष्यमपि व्याख्यानं श्रेयः।"–न्यायम० पृ० ५७८। तात्पर्य० पृ० २८३। कन्दली पृ० २०४।

२ "अनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः।"–न्यायबि० ३. ६८।

अन्वय होने से ही व्यतिरेक फलित होता है चाहे वह किसी वस्तु में फलित हो या अवस्तु में। अगर अन्वय न हो तो व्यतिरेक भी सम्भव नहीं। अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूप परस्पराश्रित होने पर भी बौद्ध तार्किकों के मत से भिन्न ही हैं। अतएव वे व्यतिरेक की तरह अन्वय के ऊपर भी समान ही भार देते हैं। जैनपरम्परा ऐसा नहीं मानती। उसके अनुसार विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक ही हेतु का मुख्य स्वरूप है। जैनपरम्परा के अनुसार उसी एक 5 ही रूप के अन्वय या व्यतिरेक दो जुदे जुदे नाममात्र हैं। इसी सिद्धान्त का अनुसरण करके आ० हेमचन्द्र ने अन्त में कह दिया है कि 'सपक्ष एव सत्त्व' को अगर अन्वय कहते हो तब तो वह हमारा अभिप्रेत अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक ही हुआ। सारांश यह है कि बौद्धतार्किक जिस तत्त्व को अन्वय और व्यतिरेक परस्पराश्रित रूपों में विभाजित करके दोनों ही रूपों का हेतुलक्षण में समावेश करते हैं, जैनतार्किक उसी तत्त्व को एकमात्र अन्यथानुपपत्ति या 10 व्यतिरेकरूप से स्वीकार करके उसकी दूसरी भावात्मक बाजू को लक्ष्य में नहीं लेते।

पृ० ४५. पं० १६. 'विरोधि तु'–व्याख्या–"स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति। प्रतिषेध्यस्य शीतस्पर्शे यः स्वभावः तस्य विरुद्धो वह्निस्तस्य चेहोपलब्धिः। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति वह्नेरिति। अन्त्यदशाप्राप्तमेव कारणं कार्यं जनयति न सर्वं ततो विशेषणोपादानम्। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं 15 शीतं तस्य विरुद्धो वह्निः तस्येहोपलब्धिः। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्ति सन्निहितदहनविशेषत्वात्। प्रतिषेध्यानां रोमहर्षादिविशेषाणां कारणं शीतम्, तस्य विरुद्धो दहनविशेषस्तस्य चेहोपलब्धिः। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो दहनात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्येह विरुद्धो दहनविशेषः तस्येहोपलब्धिः। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो दहनात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्येह 20 विरुद्धो दहनविशेषः तस्येहोपलब्धिः। स्वभावविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो धूमात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य यः स्वभावः तस्य विरुद्धो वह्निः। तस्य कार्यं धूमः तस्य चेहोपलब्धिः। कार्यविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति धूमादिति। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं तस्य विरुद्धो वह्निः तस्य कार्यं धूमः तस्येहोपलब्धिः। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न रोमहर्षादियुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमात्। प्रतिषेध्यानां 25 हि रोमहर्षादिविशेषाणां कारणं शीतं तस्य विरुद्धो वह्निः तस्य कार्यं धूमः तस्येहोपलब्धिः। व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो धूमात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्य विरुद्धोऽग्निस्तस्य कार्यं धूमस्तस्येहोपलब्धिः।"–तर्कभाषा मोक्षाकरीय परि०

अ० १. आ० २. सू० १३-१७. पृ० ४५. पक्ष के सम्बन्ध में यहाँ चार बातों पर विचार है—१–पक्ष का लक्षण—स्वरूप, २–लक्षणान्तर्गत विशेषण की व्यावृत्ति, ३–पक्ष के 30 आकारनिर्देश, ४–उसके प्रकार।

१–बहुत पहिले से ही पक्ष का स्वरूप विचारपथ में आकर निश्चित सा हो गया था फिर भी प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञालक्षण करते समय उसका चित्रण स्पष्ट कर दिया है[१]। न्यायप्रवेश में[२] और न्यायबिन्दु में[३] तो यहाँ तक लक्षण की भाषा निश्चित हो गई है कि इसके बाद के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने उसी बौद्ध भाषा का उन्हीं शब्दों से या 5 पर्यायान्तर से अनुवाद करके ही अपने अपने ग्रन्थों में पक्ष का स्वरूप बतलाया है जिसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है।

२–लक्षण के इष्ट, असिद्ध, और अबाधित इन तीनों विशेषणों की व्यावृत्ति प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में नहीं देखी जाती किन्तु अबाधित इस एक विशेषण की व्यावृत्ति उनमें स्पष्ट है[४]। न्यायबिन्दु में उक्त तीनों की व्यावृत्ति[५] है। जैनग्रन्थों में भी तीनों विशेषणों की 10 व्यावृत्ति स्पष्टतया बतलाई गई है। अन्तर इतना ही है कि माणिक्यनन्दी (परी० ३. २०.) और देवसूरि ने (प्रमाणन० ३. १४-१७) तो सभी व्यावृत्तियाँ धर्मकीर्त्ति की तरह मूल सूत्र में ही दरसाई हैं जब कि आ० हेमचन्द्र ने दो विशेषणों की व्यावृत्तियों को वृत्ति में बतलाकर सिर्फ अबाध्य विशेषण की व्यावृत्ति को सूत्रबद्ध किया है। प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमान-विरुद्ध, आगमविरुद्ध, स्वशास्त्रविरुद्ध और स्ववचनविरुद्ध रूप से पाँच बाधितपक्ष बतलाये 15 हैं। न्यायप्रवेश में भी बाधितपक्ष तो पाँच ही हैं पर स्वशास्त्रविरुद्ध के स्थान में लोक-विरुद्ध का समावेश है। न्यायबिन्दु में आगम और लोकविरुद्ध दोनों नहीं हैं पर प्रतीति-

---

१ "प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुं उद्देशमात्रं प्रतिज्ञा... ..... अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति"–**प्रशस्त० पृ० २३४।**

२ "तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः। प्रत्यक्षाद्य-विरुद्ध इति वाक्यशेषः। तद्यथा नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति।"–**न्यायप्र० पृ० १।**

३ "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।" **न्यायबि० ३. ४०।**

४ "यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी, घनमम्बरमिति अनुमानविरोधी, ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्याग-मविरोधी, वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी, न शब्दोऽर्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी।"–**प्रशस्त० पृ० २३४।** "साधयितुमिष्टोपि प्रत्यक्षादिविरुद्धः पक्षाभासः। तद्यथा—प्रत्यक्षविरुद्धः, अनुमानविरुद्धः, आगमविरुद्धः, लोकविरुद्धः, स्ववचनविरुद्धः, अप्रसिद्धविशेषणः, अप्रसिद्धविशेष्यः, अप्रसिद्धोभयः, प्रसिद्धसम्बन्धश्चेति।" **न्यायप्र० पृ० २।**

५ "स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः। स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि। यथा शब्दस्या-नित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यम्, न पुनस्तदिह साध्यत्वेनेष्टं साधनत्वेनाप्य-भिधानात्। स्वयमिति वादिना। यस्तदा साधनमाह। एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधन-माह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि, यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति। इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनु-क्तोऽपि वचनेन साध्यः। तदधिकरणत्वाद्विवादस्य। यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवत् इति, अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थता साध्या, अनेन नोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति। अनिरा-कृत इति एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्।"–**न्यायबि० ३. ४१–५०।**

विरुद्ध का समावेश करके कुल प्रत्यक्ष, अनुमान, स्ववचन और प्रतीतिविरुद्ध रूप से चार बाधित पक्ष बतलाये हैं। जान पड़ता है, बौद्ध परम्परागत आगमप्रामाण्य के अस्वीकार का विचार करके धर्मकीर्त्ति ने आगमविरुद्ध को हटा दिया है। पर साथ ही प्रतीतिविरुद्ध को बढ़ाया। माणिक्यनन्दी ने (परी० ६.१५) इस विषय में न्यायबिन्दु का नहीं पर न्यायप्रवेश का अनुसरण करके उसी के पाँच बाधित पक्ष मान लिये जिनको देवसूरि ने भी मान लिया। अलबत्ता देवसूरि ने (प्रमाणन० ६. ४०) माणिक्यनन्दी का और न्यायप्रवेश का अनुसरण करते हुए भी आदिपद रख दिया और अपनी व्याख्या रत्नाकर में स्मरणविरुद्ध, तर्कविरुद्ध रूप से अन्य बाधित पक्षों को भी दिखाया। आ० हेमचन्द्र ने न्यायबिन्दु का प्रतीतिविरुद्ध ले लिया, बाक़ी के पाँच न्यायप्रवेश और परीक्षामुख के लेकर कुल छः बाधित पक्षों को सूत्रबद्ध किया है। माठर (सांख्यका० ५) जो संभवतः न्यायप्रवेश से पुराने हैं उन्होंने पक्षाभासों की नव संख्या मात्र का निर्देश किया है, उदाहरण नहीं दिये। न्यायप्रवेश में सोदाहरण नव पक्षाभास निर्दिष्ट हैं।

३—आ० हेमचन्द्र ने साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी को और साध्यधर्म मात्र को पक्ष कहकर उसके दो आकार बतलाये हैं, जो उनके पूर्ववर्ती माणिक्यनन्दी (३. २५–२६, ३२) और देवसूरि ने (३. १६–१८) भी बतलाये हैं। धर्मकीर्त्ति ने सूत्र में तो एक ही आकार निर्दिष्ट किया है पर उसकी व्याख्या में धर्मोत्तर ने (२.८) केवल धर्मी, केवल धर्म और धर्मधर्मिसमुदाय रूप से पक्ष के तीन आकार बतलाये हैं। साथ ही उस प्रत्येक आकार का उपयोग किस किस समय होता है यह भी बतलाया है जो कि अपूर्व है। वात्स्यायन ने (न्यायभा० १.१.३६) धर्मविशिष्ट धर्मी और धर्मिविशिष्ट धर्म रूप से पक्ष के दो आकारों का निर्देश किया है। पर आकार के उपयोगों का वर्णन धर्मोत्तर की उस व्याख्या के अलावा अन्यत्र पूर्व ग्रन्थों में नहीं देखा जाता। माणिक्यनन्दी ने इस धर्मोत्तरीय वस्तु को सूत्र में ही अपना लिया जिसका देवसूरि ने भी सूत्र द्वारा ही अनुकरण किया। आ० हेमचन्द्र ने उसका अनुकरण तो किया पर उसे सूत्रबद्ध न कर वृत्ति में ही कह दिया।

४—इतर सभी जैन तार्किकों की तरह आ० हेमचन्द्र ने भी प्रमाणसिद्ध, विकल्पसिद्ध और उभयसिद्ध रूप से पक्ष के तीन प्रकार बतलाये हैं। प्रमाणसिद्ध पक्ष मानने के बारे में तो किसी का मतभेद है ही नहीं, पर विकल्पसिद्ध और उभयसिद्ध पक्ष मानने में मतभेद है। विकल्पसिद्ध और प्रमाण-विकल्पसिद्ध पक्ष के विरुद्ध, जहाँ तक मालूम है, सबसे पहिले प्रश्न उठानेवाले धर्मकीर्त्ति ही हैं। यह अभी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि धर्मकीर्त्ति का वह आक्षेप मीमांसकों के ऊपर रहा या जैनों के ऊपर या दोनों के ऊपर। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि धर्मकीर्त्ति के उस आक्षेप का सविस्तर जवाब जैन तर्कग्रन्थों में ही देखा जाता है। जवाब की जैन प्रक्रिया में सभी ने धर्मकीर्त्ति के उस आक्षेपीय पद्य (प्रमाणवा० १. १९२) को उद्धृत भी किया है।

मणिकार गङ्गेश ने[१] पक्षता का जो अन्तिम और सूक्ष्मतम निरूपण किया है उसका आ० हेमचन्द्र की कृति में आने का सम्भव ही न था फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन सभी पक्ष लक्षणों के तुलनात्मक विचार के बाद इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि गङ्गेश का वह परिष्कृत विचार सभी पूर्ववर्ती नैयायिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में पुरानी परिभाषा और 5 पुराने ढङ्ग से पाया जाता है।

पृ० ४६. पं० १४. 'एतत्'-तुलना-"अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्म्यनुमेयः। अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः। व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय इति दर्शयितुमत्र ग्रहणम्। जिज्ञासितो ज्ञातुमिष्टो विशेषो धर्मो यस्य धर्मिणः स तथोक्तः।"-न्यायबि० टी० २.८। परी० ३. २५, २६, ३२, ३३। प्रमाणन० ३. १६-१८।

---

10 पृ० ४६. पं० १९. 'प्रसिद्धः'-तुलना-"प्रसिद्धो धर्मीति।"-परी० ३. २७।

पृ० ४६. पं० २०. 'एतेन सर्व एव'-तुलना-प्रमेयर० ३. २६,२७।

पृ० ४७. पं० ५. 'तत्र बुद्धिसिद्धे'-परी० ३. २७-३१।

पृ० ४७. पं० ७. 'ननु धर्मिणि'-तुलना-प्रमेयर० ३. २६।

पृ० ४७. पं० १९. 'उभयसिद्धो धर्मी'-तुलना-प्रमेयर० ३. ३१।

---

15 अ० १. आ० २. सू० १८-२३. पृ० ४७. दृष्टान्त के विषय में इस जगह तीन बातें प्रस्तुत हैं-१-अनुमानाङ्गत्व का प्रश्न, २-लक्षण, ३-उपयोग।

१-धर्मकीर्ति ने हेतु का त्रैरूप्यकथन जो हेतुसमर्थन के नाम से प्रसिद्ध है उसमें ही दृष्टान्त का समावेश कर दिया है अतएव उनके मतानुसार दृष्टान्त हेतुसमर्थनघटक रूप से अनुमान का अङ्ग है और वह भी अविद्वानों के वास्ते। विद्वानों के वास्ते तो उक्त समर्थन 20 के सिवाय हेतुमात्र ही कार्यसाधक होता है (प्रमाणवा० १. २८), इसलिए दृष्टान्त उनके लिए अनुमानाङ्ग नहीं। माणिक्यनन्दी (३. ३७-४२), देवसूरि (प्रमाणन० ३.२८, ३४-३८) और आ० हेमचन्द्र सभी ने दृष्टान्त को अनुमानाङ्ग नहीं माना है और विकल्प द्वारा अनुमान में उसकी उपयोगिता का खण्डन भी किया है, फिर भी उन सभी ने केवल मन्दमति शिष्यों के लिए परार्थानुमान में (प्रमाणन० ३. ४२; परी० ३. ४६) उसे व्याप्तिस्मारक बतलाया है 25 तब प्रश्न होता है कि उनके अनुमानाङ्गत्व के खंडन का अर्थ क्या है?। इसका जवाब यही

---

१ "उच्यते-सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभावो यत्रास्ति स पक्षः, तेन सिषाधयिषाविरहसहकृतं साधकप्रमाणं यत्रास्ति स न पक्षः, यत्र साधकप्रमाणे सत्यसति वा सिषाधयिषा यत्र वोभयाभावस्तत्र विशिष्टाभावात् पक्षत्वम्।"-चिन्ता० अनु० गादा० पृ० ४३१-३२।

है कि इन्होंने जो दृष्टान्त की अनुमानाङ्गता का प्रतिषेध किया है वह सकलानुमान की दृष्टि से अर्थात् अनुमान मात्र में दृष्टान्त को वे अङ्ग नहीं मानते। सिद्धसेन ने भी यही भाव संक्षिप्त रूप में सूचित किया है–न्याया० २०। अतएव विचार करने पर बौद्ध और जैन तात्पर्य में कोई ख़ास अन्तर नज़र नहीं आता।

२–दृष्टान्त का सामान्य लक्षण न्यायसूत्र (१.१.२५) में है पर बौद्ध ग्रन्थों में वह नहीं देखा जाता। माणिक्यनन्दी ने भी सामान्य लक्षण नहीं कहा जैसा कि सिद्धसेन ने पर देवसूरि (प्रमाणन० ३.४०) और आ० हेमचन्द्र ने सामान्य लक्षण भी बतला दिया है। न्यायसूत्र का दृष्टान्तलक्षण इतना व्यापक है कि अनुमान से भिन्न सामान्य व्यवहार में भी वह लागू पड़ जाता है जब कि जैनों का सामान्य दृष्टान्तलक्षण मात्र अनुमानोपयोगी है। साधर्म्य-वैधर्म्य रूप से दृष्टान्त के दो भेद और उनके अलग अलग लक्षण न्यायप्रवेश (पृ० १, २), न्यायावतार (का० १७, १८) में वैसे ही देखे जाते हैं जैसे परीक्षामुख (३.४७ से) आदि (प्रमाणन० ३. ४१ से) पिछले ग्रन्थों में।

३–दृष्टान्त के उपयोग के सम्बन्ध में जैन विचारसरणी ऐकान्तिक नहीं। जैन तार्किक परार्थानुमान में जहाँ श्रोता अव्युत्पन्न हो वहीं दृष्टान्त का सार्थक्य मानते हैं। स्वार्थानुमान स्थल में भी जो प्रमाता व्याप्ति सम्बन्ध को भूल गया हो उसी को उसकी याद दिलाने के वास्ते दृष्टान्त की चरितार्थता मानते हैं–स्याद्वादर० ३. ४२।

द्वितीयाध्याय ।

अ० २. आ० १. सू० १-२. पृ० ४६. परार्थानुमान की चर्चा वैदिक, बौद्ध, जैन—तीनों परम्पराओं में पाई जाती है। यों तो स्वार्थ और परार्थ अनुमान का विभाग कणाद और न्यायसूत्र में सूचित होता है, फिर भी उपलब्ध प्रमाणग्रन्थों में परार्थ अनुमान का स्पष्ट लक्षणनिर्देश प्रशस्तपाद[1] और न्यायप्रवेश[2] में ही प्राचीन जान पड़ता है। प्रशस्तपाद 5 के अनुगामी भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ५) आदि सभी नैयायिकों ने प्रशस्तपाद के ही कथन को थोड़े हेर-फेर के साथ दुहराया है। न्यायप्रवेशगत परार्थानुमान सम्बन्धी जो लक्षणनिर्देश है, उसी को पिछले धर्मकीर्त्ति (न्यायबि० ३. १), शान्तरक्षित (तत्त्वसं० का०१३६३) आदि बौद्ध तार्किकों ने विशेष स्पष्ट करके कहा है। जहाँ तक मालूम है, जैन परम्परा में परार्थ अनुमान के स्पष्ट लक्षण को बतलानेवाले सब से पहिले सिद्धसेन 10 दिवाकर ही हैं—न्याया० १३। उनके मार्ग का पिछले जैन तार्किकों ने अनुसरण किया है—परी० ३. ५५; प्रमाणन० ३. २३।

आ० हेमचन्द्र ने परार्थ अनुमान के लक्षणप्रसङ्ग में मुख्यतया दो बातें ली हैं। पहली तो उसका लक्ष्य-लक्षणनिर्देश, और दूसरी बात है शब्द में आरोप से परार्थानुमानत्व के व्यवहार का समर्थन। यह दोनों बातें वैदिक, बौद्ध और जैन सभी पूर्ववर्त्ती तर्कग्रन्थों में 15 पाई जाती हैं। आरोप का बीज, जो लक्षणा सम्बन्धी विचार करनेवाले आलङ्कारिक[3] आदि ग्रन्थों में देखा जाता है, उसका स्पष्टीकरण भी आ० हेमचन्द्र ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की तरह ही किया है।

पृ० ४६. पं० ८. 'अचेतनं हि वचनं'—तुलना—प्रमेयर० ३.५५-५६।

पृ० ४६. पं० ६. 'उपचारश्चात्र'—तुलना—न्यायबि० टी० ३.२।

---

20 अ० २. आ० १. सू० ३-६. पृ० ४६. प्रस्तुत चार सूत्रों में परार्थ अनुमान के प्रयोग-द्वैविध्य की चर्चा है। परार्थ अनुमान का दो प्रकार का प्रयोग वैदिक, बौद्ध, जैन—तीनों परम्पराओं को मान्य है, पर वैदिक और बौद्ध दो परम्पराओं में साधर्म्य उदाहरण, वैधर्म्य उदाहरण, साधर्म्य उपनय, वैधर्म्य उपनय आदिकृत प्रयोगद्वैविध्य प्रसिद्ध है। हेतु के प्रयोग-

---

१ "पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्।"—प्रशस्त० पृ० २३१।

२ "तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्"—न्यायप्र० पृ० १।

३ "मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥"—काव्यप्र० २. ६। काव्यानुशा० १. १७-१८।

भेद से परार्थ अनुमान का भेद उक्त दो परम्पराओं में प्रसिद्ध नहीं है जैसा कि जैन परम्परा में प्रसिद्ध है।

जैन परम्परा में उदाहरण आदि के प्रयोगभेद से परार्थ अनुमान का प्रयोगभेद मानने के अलावा हेतु के प्रयोगभेद से भी उसका भेद माना जाता है। हेतु के प्रयोग-भेद की रीति सबसे पहले सिद्धसेन के न्यायावतार (का० १७) में स्थापित जान पड़ती है। 5
पिछले सभी दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकों ने उसी हेतुप्रयोग की द्विविध रीति को निर्विवाद रूप से मान लिया है। आ० हेमचन्द्र ने भी उसी रीति को अपने सूत्रों में दर्शाया है।

इस विषय में आ० हेमचन्द्र की रचना की विशेषता यह है कि धर्मकीर्त्ति के न्याय-बिन्दु और उसकी धर्मोत्तरीयवृत्ति का (३.७) प्रस्तुत प्रकरण में शब्दशः अनुकरण पाया जाता है, जैसा कि अन्य पूर्ववर्त्ती जैन तर्कग्रन्थों में नहीं है। 10

पृ० ५०. पं० ८. 'एतदुक्तं भवति'–तुलना–"एतदुक्तं भवति–अन्यदभिधेयमन्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम्। तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते। प्रकाश्यं त्वभिन्नम्। अन्वये हि कथिते वक्ष्यमाणेन न्यायेन व्यतिरेकगतिर्भवति। व्यतिरेके चान्वयगतिः। ततस्त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्य-मभिन्नम्। न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र सामर्थ्यगम्योऽप्यर्थो भिद्यते। यस्मात् पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदेऽपि गम्यमानमेकमेव 15
तद्वदिहाभिधेयभेदेऽपि गम्यमानं वस्त्वेकमेव।"–न्यायबि० टी० ३. ७.

अ० २. आ० १. सू० ७–८. पृ० ५०. परार्थानुमान में पक्ष का प्रयोग करने न करने का मतभेद है। नैयायिक आदि वैदिक परम्परा पक्ष का प्रयोग आवश्यक समझती है। बौद्ध परम्परा में न्यायप्रवेश में तो पक्षवचन साधनवाक्याङ्ग रूप से माना ही है पर उत्तर-वर्ती धर्मकीर्त्ति ने[१] प्रतिज्ञा को व्यर्थ ही बतलाया है और कहा है कि उसका प्रयोग साधन- 20
वाक्य का अङ्ग नहीं है। जैन परम्परा पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता का समर्थन करती है। सिद्धसेन ने खुद ही पक्ष के प्रयोग का विधान किया है (तत् प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यः–न्याया० १४), जो सम्भवतः धर्मकीर्त्ति के प्रतिज्ञानिषेध के खण्डन के लिये है। उसी का समर्थन करते हुए पिछले जैन तार्किकों ने बौद्ध मन्तव्य के विरुद्ध अपनी दलीलें दी हैं। परीक्षामुख, प्रमाणनयतत्त्वालोक और उनकी व्याख्याओं की अपेक्षा आ० हेमचन्द्र की कृति की इस 25
सम्बन्ध में विशेषता यह है कि उन्होंने वाचस्पति मिश्र कृत (तात्पर्य० टी० पृ० २७४) पक्ष-समर्थनप्रकार अक्षरशः इस जगह अवतारित किया है, अन्तर है तो इतना ही कि वाचस्पति मिश्रने ब्राह्मणपरम्परासुलभ ब्राह्मण गुरु-शिष्य का उदाहरण दिया है जब कि आ० हेमचन्द्र

१ "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।"–न्यायबि० ३. १.। "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि......"–वादन्याय पृ० ६१।

ने उस उदाहरण के स्थान में प्रतिवादी बौद्ध परम्परा का ही भिक्षु-शैक्ष प्रसंग उदाहरण रूप से वर्णित किया है।

पृ० ५१. पं० १. 'अयमर्थः'-तुलना-"तथाहि परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयन्ति प्रेक्षावन्तः तदेव च परे बोधयितव्या यद् बुभुत्सन्ते तथासत्यनेनापेक्षिताभिधानात् परो बोधितो भवति; न 5 खल्वाम्रान् पृष्टः कोविदारानाचक्षाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति। अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम?। यथा च माठर समिधमाहरेति गुरुणा प्रेषित एषोऽहमाहरामीत्यनुक्त्वा तदर्थं यदायं गृहं प्रविशति तदाऽस्मै कुप्यति गुरुः आः शिष्यापसद छान्दसवत्तर माठर मामवधीरयसीति ब्रुवाणः। एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किञ्चिदुच्यते कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकश्च शब्द इति वा, 10 तत् सर्वमस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानम्। तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हतीति। यत् कृतकं.........। अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षित उक्ते कुत इत्यपेक्षायां कृतकत्वादिति हेतुरुपतिष्ठते।"-तात्पर्य० पृ० २७४।

पृ० ५२. पं० १. 'साध्यव्याप्त'-तुलना-प्रमेयर० ३.३५।

अ० २. आ० १. सू० ९-१०. पृ० ५२. परार्थ अनुमान स्थल में प्रयोगपरिपाटी 15 के सम्बन्ध में मतभेद है। सांख्य तार्किक प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं-माठर ५। मीमांसक, वादिदेव के कथनानुसार, तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं-स्याद्वादर० पृ० ५५६। पर आ० हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य के कथनानुसार वे चार अवयवों का प्रयोग मानते हैं-प्रमेयर० ३. ३७। शालिकनाथ, जो मीमांसक प्रभाकर के अनुगामी हैं उन्होंने अपनी प्रकरणपञ्चिका में (पृ० ८३-८५), तथा पार्थसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक 20 की व्याख्या में (अनु० श्लो० ५४) मीमांसकसम्मत तीन अवयवों का ही निदर्शन किया है। वादिदेव का कथन शालिकनाथ तथा पार्थसारथि के अनुसार ही है पर आ० हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य का नहीं। अगर आ० हेमचन्द्र और अनन्तवीर्य दोनों मीमांसकसम्मत चतुरवयव कथन मे भ्रान्त नहीं हैं तो समझना चाहिए कि उनके सामने चतुरवयववाद की कोई मीमांसक परम्परा रही हो जिसका उन्होंने निर्देश किया है। नैयायिक पाँच अवयवों 30 का प्रयोग मानते हैं-१. १. ३२। बौद्ध तार्किक, अधिक से अधिक हेतु-दृष्टान्त दो का ही प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा० १. २८; स्याद्वादर० पृ० ५५६) और कम से कम केवल हेतु का ही प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा० १. २८)। इस नाना प्रकार के मतभेद के बीच जैन तार्किकों ने अपना मत, जैसा अन्यत्र भी देखा जाता है, वैसे ही अनेकान्त दृष्टि के अनुसार निर्युक्ति-

काल से[1] ही स्थिर किया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनाचार्य अवयवप्रयोग में किसी एक संख्या को न मानकर श्रोता की न्यूनाधिक योग्यता के अनुसार न्यूनाधिक संख्या को मानते हैं।

माणिक्यनन्दी ने कम से कम प्रतिज्ञा-हेतु–इन दो अवयवों का प्रयोग स्वीकार करके विशिष्ट श्रोता की अपेक्षा से निगमन पर्यन्त पाँच अवयवों का भी प्रयोग स्वीकार किया है–परी० ३. ३७-४६। आ० हेमचन्द्र के प्रस्तुत सूत्रों के और उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति के शब्दों से भी माणिक्यनन्दी कृत सूत्र और उनकी प्रभाचन्द्र आदि कृत वृत्ति का ही उक्त भाव फलित होता है अर्थात् आ० हेमचन्द्र भी कम से कम प्रतिज्ञाहेतु रूप अवयवद्वय को ही स्वीकार करके अन्त में पाँच अवयव को भी स्वीकार करते हैं; परन्तु वादिदेव का मन्तव्य इससे जुदा है। वादिदेव सूरि ने अपनी स्वोपज्ञ व्याख्या में श्रोता की विचित्रता बतलाते हुए यहाँ तक मान लिया है कि विशिष्ट अधिकारी के वास्ते केवल हेतु का ही प्रयोग पर्याप्त है (स्याद्वादर० पृ० ५४८), जैसा कि बौद्धों ने भी माना है। अधिकारी विशेष के वास्ते प्रतिज्ञा और हेतु दो, अन्यविध अधिकारी के वास्ते प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीन, इसी तरह अन्य के वास्ते सोपनय चार, या सनिगमन पाँच अवयवों का प्रयोग स्वीकार किया है–स्याद्वादर० पृ० ५६४।

इस जगह दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा की एक खास विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए, जो ऐतिहासिक महत्त्व की है। वह यह है कि किसी भी दिगम्बर आचार्य ने उस अति प्राचीन भद्रबाहुकर्तृक मानी जानेवाली निर्युक्ति में निर्दिष्ट व वर्णित[2] दश अवयवों का, जो वात्स्यायन[3] कथित दश अवयवों से भिन्न हैं, उल्लेख तक नहीं किया है, जब कि सभी श्वेताम्बर तार्किकों (स्याद्वादर० पृ० ५६५) ने उत्कृष्टवाद कथा में अधिकारी विशेष के वास्ते पाँच अवयवों से आगे बढ़कर निर्युक्तिगत दश अवयवों के प्रयोग का भी निर्युक्ति के ही अनुसार वर्णन किया है। जान पड़ता है इस तफावत का कारण दिगम्बर परम्परा के द्वारा आगम आदि प्राचीन साहित्य का त्यक्त होना–यही है।

एक बात माणिक्यनन्दी ने अपने सूत्र में कही है वह मार्के की जान पड़ती है। सो यह है कि दो और पाँच अवयवों का प्रयोगभेद प्रदेश की अपेक्षा से समझना चाहिये अर्थात् वादप्रदेश में तो दो अवयवों का प्रयोग नियत है पर शास्त्रप्रदेश में अधिकारी के अनुसार दो या पाँच अवयवों का प्रयोग वैकल्पिक है। वादिदेव की एक खास बात भी स्मरण में रखने

---

१ "जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं। आसज्ज उ सोयारं हेऊ वि कहिञ्चि भण्णेज्जा ॥ कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं। न य पुण सव्वं भण्णई हंदी सविआरमक्खाय।" **दश० नि० गा० ४९, ५०।**

२ "ते उ पइन्नविभत्ती हेउविभत्ती विवक्खपडिसेहो दिट्ठंतो आसङ्का तप्पडिसेहो निगमणं च ॥"–**दश० नि० गा० १३७।**

३ "दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति"–**न्यायभा० १. १. ३२।**

योग्य है वह यह कि जैसा बौद्ध विशिष्ट विद्वानों के वास्ते हेतु मात्र का प्रयोग मानते हैं वैसे ही वादिदेव भी विद्वान् अधिकारी के वास्ते एक हेतुमात्र का प्रयोग भी मान लेते हैं। ऐसा स्पष्ट स्वीकार आ० हेमचन्द्र ने नहीं किया है।

पृ० ५२. पं० ४. 'प्रतिज्ञाहेतू'–तुलना–"पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्"–माठर का० ५।

5 पृ० ५२. पं० ११. 'यथाहुः सौगताः'—तुलना–"तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनय-निगमनादि..."–वादन्याय पृ० ६१.

'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥"–प्रमाणवा० १. २८।

अ० २. आ० १. सू० ११–१५. पृ० ५२–माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरि ने अपने 10 अपने सूत्रग्रन्थों में परार्थ अनुमान की चर्चा की है और उन्होंने उसके शब्दात्मक पाँच अवयवों के लक्षण भी किये हैं। आ० हेमचन्द्र ने इस जगह अक्षपाद (न्यायसू० १.१.३३ से) और अक्षपादानुसारी भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ५.) का अनुसरण करके पाँचों शब्दावयवों के लक्षण बतलाये हैं।

पृ० ५४. पं० ३. 'असिद्ध'–हेत्वाभास सामान्य के विभाग में तार्किकों की विप्रति-15 पत्ति है। अक्षपाद[1] पाँच हेत्वाभासों को मानते व वर्णन करते हैं। कणाद के सूत्र में[2] स्पष्टतया तीन हेत्वाभासों का निर्देश है, तथापि प्रशस्तपाद[3] उस सूत्र का आशय बतलाते हुए चार हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक यह तीन तो अक्ष-पादकथित पाँच हेत्वाभासों में भी आते ही हैं। प्रशस्तपाद ने अनध्यवसित नामक चौथा हेत्वाभास बतलाया है जो न्यायसूत्र में नहीं है। अक्षपाद और कणाद उभय के अनुगामी 20 भासर्वज्ञ ने[4] छः हेत्वाभास वर्णित किये हैं जो न्याय और वैशेषिक दोनों प्राचीन परम्पराओं का कुल जोड़ मात्र है।

दिङ्नाग कर्तृक माने जानेवाले न्यायप्रवेश में[5] असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीनों का ही संग्रह है। उत्तरवर्त्ती धर्मकीर्त्ति आदि सभी बौद्ध तार्किकों ने भी न्याय-प्रवेश की ही मान्यता को दोहराया और स्पष्ट किया है। पुराने सांख्याचार्य माठर[6] ने

---

१ न्यायसू० १. २. ४।
२ "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् संदिग्धश्चानपदेशः।"–वै० सू० ३. १. १५।
३ "एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानाम् अनपदेशत्वमुक्तं भवति।"–प्रश० पृ० २३८।
४ "असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः।" न्यायसार पृ० ७।
५ "असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः।"–न्यायप्र० पृ० ३।
६ "अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः।"–माठर ५।

भी उक्त तीन ही हेत्वाभासों का सूचन व संग्रह किया है। जान पड़ता है मूल में सांख्य और कणाद की हेत्वाभाससंख्या विषयक परम्परा एक ही रही है।

जैन परम्परा वस्तुत: कणाद, सांख्य और बौद्ध परम्परा के अनुसार तीन ही हेत्वाभासों को मानती है। सिद्धसेन[१] और वादिदेव ने (प्रमाणन० ६. ४७) असिद्ध आदि तीनों का ही वर्णन किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्ग के अनुगामी हैं। आ० हेमचन्द्र ने न्याय- 5 सूत्रोक्त कालातीत आदि दो हेत्वाभासों का निरास किया है पर प्रशस्तपाद और भासर्वज्ञ-कथित अनध्यवसित हेत्वाभास का निरास नहीं किया है। जैन परम्परा में भी इस जगह एक मतभेद है—वह यह कि अकलङ्क और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दी आदि दिगम्बर तार्किकों ने चार हेत्वाभास बतलाये हैं[२] जिनमें तीन तो असिद्ध आदि साधारण ही हैं पर चौथा अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास बिलकुल नया है जिसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं 10 देखा जाता। परन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी[३] में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभास को मानने का पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुत: जयन्त के पहिले कभी से चला आता हुआ जान पड़ता है। अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर इन दो शब्दों में स्पष्ट भेद होने पर भी आपातत: उनके अर्थ में एकता का भास होता है। परन्तु जयन्त ने अप्रयोजक का जो अर्थ बतलाया है और अकिञ्चित्कर का जो 15 अर्थ माणिक्यनन्दी के अनुयायी प्रभाचन्द्र ने[४] किया है उनमें बिलकुल अन्तर है, इससे यह कहना कठिन है कि अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर का विचार मूल में एक है; फिर भी यह प्रश्न हो ही जाता है कि पूर्ववर्ती बौद्ध या जैन न्यायग्रन्थों में अकिञ्चित्कर का नाम-निर्देश नहीं तब अकलङ्क ने उसे स्थान कैसे दिया, अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्त्ती तार्किक ग्रन्थ के आधार पर ही अकलङ्क ने 20 अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की अपने ढंग से नई सृष्टि की हो। इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का खण्डन केवल वादिदेव के सूत्र की व्याख्या स्याद्वादर० पृ० १२३०) में देखा जाता है।

ऊपर जो हेत्वाभाससंख्या विषयक नाना परम्पराएँ दिखाई गई हैं उन सब का मत-भेद मुख्यतया संख्याविषयक है, तत्त्वविषयक नहीं। ऐसा नहीं है कि एक परम्परा जिसे अमुक

---

१ "असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते। विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥"—**न्याया० का० २३।**

२ "असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः ॥ विरुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः।"—**न्यायवि० २. १९५-६। परी० ६. २१।**

३ "अन्ये तु अन्यथासिद्धत्वं नाम तद्भेदमुदाहरन्ति यस्य हेतोधर्मिणि वृत्तिर्भवन्त्यपि साध्यधर्मप्रयुक्ता भवति न, सोऽन्यथासिद्धो यथा नित्या मनःपरमाणवो मूर्त्तत्वाद् घटवदिति ......स चात्र प्रयोज्यप्रयोजकभावो नास्तीत्यत एवायमन्यथासिद्धोऽप्रयोजक इति कथ्यते। कथं पुनरस्याप्रयोजकत्वमवगतम् ?"—**न्यायम० पृ० ६०७।**

४ "सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोति इति अकिञ्चित्करोऽनर्थकः।"—**प्रमेयक० पृ० १९३ A।**

हेत्वाभास रूप दोष कहती है अगर वह सचमुच दोष हो तो उसे दूसरी परम्परा स्वीकार न करती हो। ऐसे स्थल में दूसरी परम्परा या तो उस दोष को अपने अभिप्रेत किसी हेत्वाभास में अन्तर्भावित कर देती है या पक्षाभास आदि अन्य किसी दोष में या अपने अभिप्रेत हेत्वाभास के किसी न किसी प्रकार में।

5 आ० हेमचन्द्र ने हेत्वाभास शब्द के प्रयोग का अनौचित्य बतलाते हुए भी साधनाभास अर्थ में उस शब्द के प्रयोग का समर्थन करने में एक तीर से दो पक्षी का वेध किया है–पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसरण का विवेक भी बतलाया और उनकी ग़लती भी दर्शाई। इसी तरह का विवेक माणिक्यनन्दी ने भी दर्शाया है। उन्होंने अपने पूज्य अकलङ्क-कथित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का वर्णन तो किया; पर उन्हें जब उस हेत्वाभास के अलग 10 स्वीकार का औचित्य न दिखाई दिया तब उन्होंने एक सूत्र में इस ढङ्ग से उसका समर्थन किया कि समर्थन भी हो और उसके अलग स्वीकार का अनौचित्य भी व्यक्त हो–"लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्"–परी० ६. ३६।

पृ० ५४. पं० ८. **'प्रत्यक्षागमबाधित'**–तुलना–"कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।"–न्यायसू० १.२.६। "यत्र च प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः .....स सर्वः प्रमाणतो विपरीतनिर्णयेन 15 सन्देहविशिष्टं कालमतिपतति सोऽयं कालस्य अत्ययेन अपदिश्यमानः कालातीत इति।"–तात्पर्य० पृ० ३४७। न्यायसार पृ० ७। "हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रह समय एव, तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवति।"–न्यायम० पृ० ६१२।

अ० २. आ० १. सू० १७-१९. पृ० ५४. न्यायसूत्र (१.२.८) में असिद्ध का नाम 20 साध्यसम है। केवल नाम के ही विषय में न्यायसूत्र का अन्य ग्रन्थों से वैलक्षण्य नहीं है किन्तु अन्य विषय में भी। वह अन्य विषय यह है कि जब अन्य सभी ग्रन्थ असिद्ध के कम या अधिक प्रकारों का लक्षण उदाहरण सहित वर्णन करते हैं तब न्यायसूत्र और उसका भाष्य ऐसा कुछ भी न करके केवल असिद्ध का सामान्य स्वरूप बतलाते हैं।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में असिद्ध के चार प्रकारों का स्पष्ट और समानप्राय[1] 25 वर्णन है। माठर (का० ५) भी उसके चार भेदों का निर्देश करते हैं जो सम्भवतः उनकी दृष्टि में वे ही रहे होंगे। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्त्ति ने प्रशस्तपादादिकथित चार प्रकारों का तो वर्णन किया ही है पर उन्होंने प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेश की तरह आश्रयासिद्ध का एक उदाहरण न देकर उसके दो उदाहरण दिये हैं और इस तरह असिद्ध के चौथे प्रकार आश्रयासिद्ध के भी प्रभेद कर दिये हैं। धर्मकीर्त्ति का वर्णन वस्तुतः प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश-30 गत प्रस्तुत वर्णन का थोड़ा सा संशोधन मात्र है–न्यायबि० ३. ५८-६७।

---

१ "उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः तद्भावासिद्धोऽनुमेयासिद्धश्चेति।"–**प्रशस्त० पृ० २३८**। "उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः संदिग्धासिद्धः आश्रयासिद्धश्चेति।"–**न्यायप्र० पृ० ३**।

न्यायसार (पृ० ८) में असिद्ध के चौदह प्रकार सोदाहरण बतलाये गये हैं। न्यायमञ्जरी (पृ० ६०६) में भी उसी ढङ्ग पर अनेक भेदों की सृष्टि का वर्णन है। माणिक्यनन्दी शब्द-रचना बदलते हैं (परी० ६. २२-२८) पर वस्तुतः वे असिद्ध के वर्णन में धर्मकीर्त्ति के ही अनुगामी हैं। प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख की टीका मार्तण्ड में (पृ० १९१ A) मूल सूत्र में न पाये जानेवाले असिद्ध के अनेक भेदों के नाम तथा उदाहरण दिये हैं जो न्यायसारगत 5 ही हैं। आ० हेमचन्द्र के असिद्धविषयक सूत्रों की सृष्टि न्यायबिन्दु और परीक्षामुख का अनुसरण करनेवाली है। उनकी उदाहरणमाला में भी शब्दशः न्यायसार का अनुसरण है। धर्मकीर्त्ति और माणिक्यनन्दी का अक्षरशः अनुसरण न करने के कारण वादिदेव के असिद्ध-विषयक सामान्य लक्षण (प्रमाणन० ६. ४९) में आ० हेमचन्द्र के सामान्य लक्षण की अपेक्षा विशेष परिष्कृतता जान पड़ती है। वादिदेव के प्रस्तुत सूत्रों की व्याख्या रत्नाकरा- 10 वतारिका में जो असिद्ध के भेदों की उदाहरणमाला है वह न्यायसार और न्यायमञ्जरी के उदाहरणों का अक्षरशः सङ्कलन मात्र है। इतना अन्तर अवश्य है कि कुछ उदाहरणों में वस्तुविन्यास वादी देवसूरि का अपना है।

पृ० ५५. पं० १७. **सामान्यविशेषवत्त्वात्**–तुलना–"सामान्यवत्त्वात्"–न्यायसार पृ० ८।

पृ० ५५. पं० २७. **'विपरीत'**–जैसा प्रशस्तपाद में विरुद्ध के सामान्य स्वरूप का 15 वर्णन है विशेष भेदों का नहीं, वैसे ही न्यायसूत्र और उसके भाष्य में भी विरुद्ध का सामान्य रूप से वर्णन है, विशेष रूप से नहीं। इतना साम्य होते हुए भी सभाष्यन्याय-सूत्र और प्रशस्तपाद में उदाहरण एवं प्रतिपादन का भेद[1] स्पष्ट है। जान पड़ता है न्याय-सूत्र की और प्रशस्तपाद की विरुद्ध विषयक विचारपरम्परा एक नहीं है।

न्यायप्रवेश (पृ० ५) में विरुद्ध के चार भेद सोदाहरण बतलाये हैं। सम्भवतः 20 माठर (का० ५) को भी वे ही अभिप्रेत हैं। न्यायबिन्दु (३. ८३-८८) में विरुद्ध के प्रकार दो ही उदाहरणों में समाप्त किये गये हैं और तीसरे "इष्टविघातकृत्" नामक अधिक भेद होने की आशङ्का (३. ८९-९४) करके उसका समावेश अभिप्रेत दो भेदों में ही कर दिया गया है। इष्टविघातकृत् नाम न्यायप्रवेश में नहीं है पर उस नाम से जो उदाहरण न्यायबिन्दु (३.९०) में दिया गया है वह न्यायप्रवेश (पृ० ५) में वर्तमान है। जान 25 पड़ता है न्यायप्रवेश में जो "परार्थाः चक्षुरादयः" यह धर्म्मविशेषविरुद्ध का उदाहरण है उसी को कोई इष्टविघातकृत् नाम से व्यवहृत करते होंगे जिसका निर्देश करके धर्मकीर्त्ति

---

१ "सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।"–**न्यायसू० १. २. ६।** "यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते इत्येवं हेतुः–'व्यक्ते-रपेतोपि विकारोस्ति' इत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते, अस्तित्वं चात्म-लाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्ति इति।"–**न्यायभा० १. २. ६।** "यो ह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति।"–**प्रशस्त० पृ० २३८।**

ने अन्तर्भाव किया है। जयन्त ने (न्यायम० पृ० ६००-६०१) गौतमसूत्र की ही व्याख्या करते हुए धर्म्मविशेषविरुद्ध और धर्म्मिविशेषविरुद्ध इन दो तीर्थान्तरीय विरुद्ध भेदों का स्पष्ट खण्डन किया है जो न्यायप्रवेशवाला परम्परा का ही खण्डन जान पड़ता है। न्यायसार (पृ० ६) में विरुद्ध के भेदों का वर्णन सबसे अधिक और जटिल भी है। उसमें सपक्ष 5 के अस्तित्ववाले चार, नास्तित्ववाले चार ऐसे विरुद्ध के आठ भेद जिन उदाहरणों के साथ हैं उन्हीं उदाहरणों के साथ वही आठ भेद प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या में भी हैं–प्रमाणन० ६.५२-५३। यद्यपि परीक्षामुख की व्याख्या मार्तण्ड में (पृ० १९२ A) न्यायसारवाले वे ही आठ भेद हैं तथापि किसी किसी उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्त्तन हो गया है। आ० हेमचन्द्र ने तो प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या की तरह अपनी वृत्ति में शब्दशः 10 न्यायसार के आठ भेद सोदाहरण बतलाकर उनमें से चार विरुद्धों को असिद्ध एवं विरुद्ध दोनों नाम से व्यवहृत करने की न्यायमञ्जरी और न्यायसार की दलीलों को अपना लिया है।

पृ० ५६. पं० ६. 'सति सपक्षे'–तुलना–"विरुद्धभेदास्तु सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापको यथा..."–न्यायसार पृ० ६। प्रमेयक० पृ० १९२ A। स्याद्वादर० पृ० १०२१।

पृ० ५६. ० १७ 'नियमस्य'–अनैकान्तिक हेत्वाभास के नाम के विषय में मुख्य दो 15 परम्पराएँ प्राचीन हैं। पहली गौतम की, और दूसरी कणाद की। गौतम अपने न्यायसूत्र में जिसे सव्यभिचार (१. २. ५.) कहते हैं उसी को कणाद अपने सूत्रों (३. १. १५) में सन्दिग्ध कहते हैं। इस नामभेद की परम्परा भी कुछ अर्थ रखती है और वह अर्थ अगले सब व्याख्याग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है। वह अर्थ यह है कि एक परम्परा अनैकान्तिकता को अर्थात् साध्य और उसके अभाव के साथ हेतु के साहचर्य को, सव्यभिचार हेत्वाभास 20 का नियामक रूप मानती है संशयजनकत्व को नहीं जब दूसरी परम्परा संशयजनकत्व को तो अनैकान्तिक हेत्वाभासता का नियामक रूप मानती है साध्य-तदभावसाहचर्य को नहीं। पहली परम्परा के अनुसार जो हेतु साध्य-तदभावसहचरित है चाहे वह संशयजनक हो या नहीं–वही सव्यभिचार या अनैकान्तिक कहलाता है। दूसरी परम्परा के अनुसार जो हेतु संशयजनक है—चाहे वह साध्य-तदभावसहचरित हो या नहीं–वही अनैकान्तिक या 25 सव्यभिचार कहलाता है। अनैकान्तिकता के इस नियामकभेदवाली दो उक्त परम्पराओं के अनुसार उदाहरणों में भी अन्तर पड़ जाता है। अतएव गौतम की परम्परा में असाधारण या विरुद्धाव्यभिचारी का अनैकान्तिक हेत्वाभास में स्थान सम्भव ही नहीं क्योंकि वे दोनों साध्याभावसहचरित नहीं। उक्त सार्थकनामभेद वाली दोनों परम्पराओं के परस्पर भिन्न ऐसे दो दृष्टिकोण आगे भी चालू रहे पर उत्तरवर्त्ती सभी तर्कशास्त्रों में–चाहे वे वैदिक हों, 30 बौद्ध हों, या जैन–नाम तो केवल गौतमीय परम्परा का अनैकान्तिक ही जारी रहा। कणादीय परम्परा का सन्दिग्ध नाम व्यवहार में नहीं रहा।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश इन दोनों का पौर्वापर्य अभी सुनिश्चित नहीं अतएव यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि अमुक एक का प्रभाव दूसरे पर है, तथापि न्यायप्रवेश

और प्रशस्तपाद इन दोनों की विचारसरणी का अभिन्नत्व और पारस्परिक महत्त्व का भेद ख़ास ध्यान देने योग्य है। न्यायप्रवेश में यद्यपि नाम तो अनैकान्तिक है सन्दिग्ध नहीं, फिर भी उसमें अनैकान्तिकता का नियामक रूप प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को ही माना है। अतएव न्यायप्रवेशकार ने अनैकान्तिक के छः भेद बतलाते हुए उनके सभी उदाहरणों में संशयजनकत्व स्पष्ट बतलाया है[१]। प्रशस्तपाद न्यायप्रवेश की तरह संशयजनकत्व को तो अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानते हैं सही, पर वे न्यायप्रवेश में अनैकान्तिक रूप से उदाहृत किये गये असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी इन दो भेदों को अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेत्वाभास में नहीं गिनते बल्कि न्यायप्रवेशसम्मत उक्त दोनों हेत्वाभासों की सन्दिग्धता का यह कह करके खण्डन करते हैं कि असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी संशयजनक ही नहीं[२]। प्रशस्तपाद के खण्डनीय भागवाला कोई पूर्ववर्त्ती वैशेषिक ग्रन्थ या न्यायप्रवेशभिन्न बौद्धग्रन्थ न मिले तब तक यह कहा जा सकता है कि शायद प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेश का ही खण्डन किया है। जो कुछ हो, यह तो निश्चित ही है कि प्रशस्तपाद ने असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को सन्दिग्ध या अनैकान्तिक मानने से इन्कार किया है। प्रशस्तपाद ने इस प्रश्न का, कि क्या तब असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी कोई हेत्वाभास ही नहीं ?, जवाब भी बड़ी बुद्धिमानी से दिया है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि असाधारण हेत्वाभास है सही, पर वह संशयजनक न होने से अनैकान्तिक नहीं, किन्तु उसे अनध्यवसित कहना चाहिए। इसी तरह वे विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक न मानकर या तो असाधारणरूप अनध्यवसित में गिनते हैं या उसे विरुद्धविशेष ही कहते (अयं तु विरुद्धभेद एव-प्रश० पृ० २३९) हैं। कुछ भी हो, पर वे किसी तरह असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को न्यायप्रवेश की तरह संशयजनक मानने को तैयार नहीं हैं फिर भी वे उन दोनों को किसी न किसी हेत्वाभास में सन्निविष्ट करते ही हैं। इस चर्चा के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद की और भी दो बातें ख़ास ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह है कि अनध्यवसित नामक हेत्वाभास की कल्पना और दूसरी यह कि न्यायप्रवेशगत विरुद्धाव्यभिचारी के उदाहरण से विभिन्न उदाहरण को लेकर विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक मानने न मानने का शास्त्रार्थ। यह कहा नहीं जा सकता

---

१ "तत्र साधारणः-शब्दः प्रमेयत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षयोः साधारणत्वादनैकान्तिकम्। किम् घटवत् प्रमेयत्वादनित्यः शब्दः आहोस्विदाकाशवत्प्रमेयत्वान्नित्य इति।"-इत्यादि-**न्यायप्र० पृ० ३।**

२ "असाधारणः-श्रावणत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वान्नित्यानित्यविनिर्मुक्तस्य चान्यस्यासम्भवात् संशयहेतुः किम्भूतस्यास्य श्रावणत्वमिति।......विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्; नित्यशब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति। उभयोः संशयहेतुत्वात् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।" **न्यायप्र० पृ० ३, ४।** "एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् यथा मूर्तत्वामूर्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति। नन्वयमसाधारण एवाचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्यामः।"-**प्रशस्त० पृ० २३८, २३९।**

कि कणादसूत्र में अविद्यमान अनध्यवसित पद पहिले पहिल प्रशस्तपाद ने ही प्रयुक्त किया या उसके पहिले भी इसका प्रयोग अलग हेत्वाभास अर्थ में रहा। न्यायप्रवेश में विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण–"नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्; अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्" यह है, जब कि प्रशस्तपाद में उदाहरण–"मनः मूर्त्तम् क्रियावत्त्वात्; मनः अमूर्त्तम् अस्पर्शवत्त्वात्"–यह है। प्रशस्तपाद का उदाहरण तो वैशेषिक प्रक्रिया अनुसार है ही, पर आश्चर्य की बात यह है कि बौद्ध न्यायप्रवेश का उदाहरण खुद बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार न होकर एक तरह से वैदिक प्रक्रिया के अनुसार ही है क्योंकि जैसे वैशेषिक आदि वैदिक तार्किक शब्दत्व को जातिरूप मानते हैं वैसे बौद्ध तार्किक जाति को नित्य नहीं मानते। अस्तु, यह विवाद आगे भी चला।

तार्किकप्रवर धर्म्मकीर्त्ति ने हेत्वाभास की प्ररूपणा बौद्धसम्मत हेतुत्रैरूप्य के[1] आधार पर की, जो उनके पूर्ववर्त्ती बौद्ध ग्रन्थों में अभी तक देखने में नहीं आई। जान पड़ता है प्रशस्तपाद का अनैकान्तिक हेत्वाभास विषयक बौद्ध मन्तव्य का खण्डन बराबर धर्म्मकीर्त्ति के ध्यान में रहा। उन्होंने प्रशस्तपाद को जवाब देकर न्यायप्रवेश का बचाव किया। धर्म्मकीर्त्ति ने व्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामकरूप न्यायसूत्र की तरह माना फिर भी उन्होंने न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को भी उसका नियामक रूप मान लिया। प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेशसम्मत असाधारण को अनैकान्तिक मानने का यह कहकर के खण्डन किया था कि वह संशयजनक नहीं है। इसका जवाब धर्म्मकीर्त्ति ने असाधारण का न्यायप्रवेश की अपेक्षा जुदा उदाहरण रचकर और उसकी संशयजनकता दिखाकर, दिया और बतलाया कि असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास ही है[2]। इतना करके ही धर्म्मकीर्त्ति सन्तुष्ट न रहे पर अपने मान्य आचार्य दिङ्नाग की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाये रखने का और भी प्रयत्न किया। प्रशस्तपाद ने विरुद्धाव्यभिचारी के खण्डन में जो दलील दी थी उसका स्वीकार करके भी प्रशस्तपाद के खण्डन के विरुद्ध उन्होंने विरुद्धाव्यभिचारी का समर्थन किया और वह भी इस ढंग से कि दिङ्नाग की प्रतिष्ठा भी बनी रहे और प्रशस्तपाद का जवाब भी हो। ऐसा करते समय धर्म्मकीर्त्ति ने विरुद्धाव्यभिचारी का जो उदाहरण दिया है वह न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के उदाहरण से जुदा है फिर भी वह उदाहरण वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार होने से प्रशस्तपाद को अग्राह्य नहीं हो सकता[3]। इस तरह बौद्ध और वैदिक तार्किकों की इस विषय में यहाँ तक चर्चा आई

---

१ "तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः। उक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः। एकस्य रूपस्य"... . इत्यादि–**न्यायबि० ३. ५७ से।**

२ "अनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः। यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति। ..... अत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहादनैकान्तिकः। साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्।"–**न्यायबि० ३. ९८-११०।**

३ "विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः।... . अत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपदभिसम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाऽकाशम्, अभिसम्बध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धि-

जिसका अन्त न्यायमञ्जरी में हुआ जान पड़ता है। जयन्त फिर अपने पूर्वाचार्यों का पक्ष लेकर न्यायप्रवेश और धर्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु का सामना करते हैं। वे असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को अनैकान्तिक न मानने का प्रशस्तपादगत मत का बड़े विस्तार से समर्थन करते हैं पर साथ ही वे संशयजनकत्व को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने से भी इन्कार करते हैं[1]। 5

भासर्वज्ञ ने बौद्ध, वैदिक तार्किकों के प्रस्तुत विवाद का स्पर्श न कर अनैकान्तिक हेत्वाभास के आठ उदाहरण दिये हैं (न्यायसार पृ० १०), और कहीं संशयजनकता का उल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है वह गौतमीय परम्परा का अनुगामी है।

जैन परम्परा में अनैकान्तिक और सन्दिग्ध यह दोनों ही नाम मिलते हैं। अकलङ्क (न्यायवि० २. १९६) सन्दिग्ध शब्द का प्रयोग करते हैं जब कि सिद्धसेन (न्याया० २३) 10 आदि अन्य जैन तार्किक अनैकान्तिक पद का प्रयोग करते हैं। माणिक्यनन्दी की अनैकान्तिक निरूपण विषयक सूत्ररचना आ० हेमचन्द्र की सूत्ररचना की तरह ही वस्तुत: न्यायबिन्दु की सूत्ररचना की संक्षिप्त प्रतिच्छाया है। इस विषय में वादिदेव की सूत्ररचना वैसी परिमार्जित नहीं जैसी माणिक्यनन्दी और हेमचन्द्र की है, क्योंकि वादिदेव ने अनैकान्तिक के सामान्य लक्षण में ही जो 'सन्दिह्यते' का प्रयोग किया है वह ज़रूरी नहीं जान 15 पड़ता। जो कुछ हो पर इस बारे में प्रभाचन्द्र, वादिदेव और हेमचन्द्र इन तीनों का एक ही मार्ग है कि वे सभी अपने अपने ग्रन्थों में भासर्वज्ञ के आठ प्रकार के अनैकान्तिक को लेकर अपने अपने लक्षण में समाविष्ट करते हैं। प्रभाचन्द्र के (प्रमेयक० पृ० १९२ B) सिवाय औरों के ग्रन्थों में तो आठ उदाहरण भी वे ही हैं जो न्यायसार में हैं। प्रभाचन्द्र ने कुछ उदाहरण बदले हैं। 20

यहाँ यह स्मरण रहे कि किसी जैनाचार्य ने साध्यसंदेहजनकत्व को या साध्यव्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने न मानने की बौद्ध-वैशेषिकग्रन्थगत चर्चा को नहीं लिया है।

पृ० ५६. पं० २१. **'ये चान्ये'**–तुलना–"पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्य: शब्द: प्रमेयत्वात्।" न्यायसार पृ० १०। न्यायप्र० पृ० ३। प्रमेयक० पृ० १९२ *B*. स्याद्वादर० पृ० १२२८। 25

अ० २. आ० १. सू० २२–२७. पृ० ५७. परार्थ अनुमान प्रसङ्ग में हेत्वाभास का निरूपण बहुत प्राचीन है। कणादसूत्र (३.१.१५) और न्यायसूत्र (१.२.४-९) में वह स्पष्ट

भियुगपत् सामान्यमिति।......द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत् तत्रास्ति। तद्यथा क्वचिदविद्यमानो घट:। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्य व्यक्त्यन्तरालेष्विति। अयमनुपलम्भप्रयोग: स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र सशय जनयत:।"–**न्यायबि० ३. ११२-१२१।**

[1] "असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणौ तु न संस्त एव हेत्वाभासाविति न व्याख्यायेते।.. .... अपि च संशयजननमनैकान्तिकलक्षणमुच्यते चेत् काममसाधारणस्य विरुद्धाव्यभिचारिणो वा यथा तथा संशयहेतुतामधिरोप्य कथ्यतामनैकान्तिकता न तु संशयजनकत्वं तल्लक्षणम्...अपि तु पक्षद्वयवृत्तित्वमनैकान्तिकलक्षणम्... .."–**न्यायम० पृ० ५९८-५९९।**

एवं विस्तृत है। पर दृष्टान्ताभास का निरूपण उतना प्राचीन नहीं जान पड़ता। अगर दृष्टान्ताभास का विचार भी हेत्वाभास जितना ही पुरातन होता तो उसका सूचन कणाद या न्यायसूत्र में थोड़ा बहुत ज़रूर पाया जाता। जो कुछ हो इतना तो निश्चित है कि हेत्वाभास की कल्पना के ऊपर से ही पीछे से कभी दृष्टान्ताभास, पक्षाभास आदि की 5 कल्पना हुई और उनका निरूपण होने लगा। यह निरूपण पहिले वैदिक तार्किकों ने शुरू किया या बौद्ध तार्किकों ने, इस विषय में अभी कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता।

दिङ्नाग के माने जानेवाले न्यायप्रवेश में पाँच साधर्म्य और पाँच वैधर्म्य ऐसे दस दृष्टान्ताभास हैं[१]। यद्यपि मुख्यतया पाँच पाँच ऐसे दो विभाग उसमें हैं तथापि उभयासिद्ध नामक दृष्टान्ताभास के अवान्तर दो प्रकार भी उसमें किये गये हैं जिससे वस्तुतः 10 न्यायप्रवेश के अनुसार छः साधर्म्य दृष्टान्ताभास और छः वैधर्म्य दृष्टान्ताभास फलित होते हैं। प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं छः छः साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है[२]। न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के निरूपण में उदाहरण और भाव एक से ही हैं अलबत्ता दोनों के नामकरण में अन्तर अवश्य है। प्रशस्तपाद दृष्टान्ताभास शब्द के बदले निदर्शनाभास शब्द का प्रयोग पसन्द करते हैं क्योंकि उनकी अभिमत न्यायवाक्य परिपाटी 15 में उदाहरण का बोधक निदर्शन शब्द आता है। इस सामान्य नाम के सिवाय भी न्यायप्रवेश और प्रशस्तपादगत विशेष नामों में मात्र पर्याय भेद है। माठर (का० ५) भी निदर्शनाभास शब्द ही पसन्द करते हैं। जान पड़ता है वे प्रशस्तपाद के अनुगामी हैं। यद्यपि प्रशस्तपाद के अनुसार निदर्शनाभास की कुल संख्या बारह ही होती हैं और माठर दस संख्या का उल्लेख करते हैं। पर जान पड़ता है कि इस संख्याभेद का कारण—आश्रयासिद्ध 20 नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास की माठर ने विवक्षा नहीं की—यही है।

जयन्त ने (न्यायम० पृ० ५८०) न्यायसूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्ववर्ती बौद्ध-वैशेषिक आदि ग्रन्थगत दृष्टान्ताभास का निरूपण देखकर न्यायसूत्र में इस निरूपण की कमी का अनुभव किया और उन्होंने न्यायप्रवेशवाले सभी दृष्टान्ताभासों को लेकर अपनाया एवं अपने मान्य ऋषि की निरूपण कमी को भारतीय टीकाकार शिष्यों के ढङ्ग से भक्त के तौर पर 25 दूर किया। न्यायसार में (पृ० १३) उदाहरणाभास नाम से छः साधर्म्य के और छः

---

१ "दृष्टान्ताभासो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च .. ..तत्र साधर्म्येण...तद्यथा साधनधर्मासिद्धः साध्यधर्मासिद्धः उभयधर्मासिद्धः अनन्वयः विपरीतान्वयश्चेति ।.. ...वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासः पञ्चप्रकारः तद्यथा साध्याव्यावृत्तः साधनाव्यावृत्तः उभयाव्यावृत्तः अव्यतिरेकः विपरीतव्यतिरेकश्चेति... . ... ।" **न्यायप्र० पृ० ५–६।**

२ "अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति। तद्यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यदमूर्तं दृष्टं तन्नित्यम् यथा परमाणुर्यथा कर्म यथा स्थाली यथा तमः अम्बरवदिति यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः। यदनित्य तन्मूर्तं दृष्ट यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाकाशं यथा तमः घटवत् यन्निष्क्रियं तदद्रव्य चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति।"–**प्रशस्त० पृ० २४७।**

वैधर्म्य के इस तरह बारह आभास वही हैं जो प्रशस्तपाद में हैं। इसके सिवाय न्यायसार में अन्य के नाम से चार साधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध और चार वैधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध ऐसे आठ सन्दिग्ध उदाहरणाभास भी दिये हैं[१]। सन्दिग्ध उदाहरणाभासों की सृष्टि न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के बाद की जान पड़ती है। धर्मकीर्त्ति ने साधर्म्य के नव और वैधर्म्य के नव ऐसे अठारह दृष्टान्ताभास सविस्तर वर्णन किये हैं। जान पड़ता है न्यायसार में अन्य के नाम से जो साधर्म्य और वैधर्म्य के चार चार सन्दिग्ध उदाहरणाभास दिये हैं उन आठ सन्दिग्ध भेदों की किसी पूर्ववर्त्ती परम्परा का संशोधन करके धर्मकीर्त्ति ने साधर्म्य और वैधर्म्य के तीन-तीन ही सन्दिग्ध दृष्टान्ताभास रक्खे। दृष्टान्ताभासों की संख्या, उदाहरण और उनके पीछे के साम्प्रदायिक भाव इन सब बातों में उत्तरोत्तर विकास होता गया जो धर्मकीर्त्ति के बाद भी चालू रहा।

जैन परम्परा में जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले दृष्टान्ताभास के निरूपक सिद्धसेन ही हैं; उन्होंने बौद्ध परम्परा के दृष्टान्ताभास शब्द को ही चुना न कि वैदिक परम्परा के निदर्शनाभास और उदाहरणाभास शब्द को। सिद्धसेन ने[२] अपने संक्षिप्त कथन में संख्या का निर्देश तो नहीं किया परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषय में धर्मकीर्ति के समान ही नव-नव दृष्टान्ताभासों को माननेवाले हैं। माणिक्यनन्दी ने तो पूर्ववर्त्ती सभी के विस्तार को कम करके साधर्म्य और वैधर्म्य के चार-चार ऐसे कुल आठ ही दृष्टान्ताभास दिखलाये हैं और (परी० ६. ४०-४५) कुछ उदाहरण भी बदलकर नये रचे हैं। वादी देवसूरि ने तो उदाहरण देने में माणिक्यनन्दी का अनुकरण किया, पर भेदों की संख्या, नाम आदि में अक्षरशः धर्मकीर्त्ति का ही अनुकरण किया है। इस स्थल में वादी देवसूरि ने एक बात नई ज़रूर की। वह यह कि धर्मकीर्त्ति ने उदाहरण देने में जो वैदिक ऋषि एवं जैन तीर्थंकरों का लघुत्व दिखाया था उसका बदला वादी देवसूरि ने सम्भवित उदाहरणों में तथागत बुद्ध का लघुत्व दिखाकर पूर्ण रूप से चुकाया। धर्मकीर्त्ति के द्वारा अपने पूज्य पुरुषों के ऊपर तर्कशास्त्र में की गई चोट को वादिदेव सह न सके, और उसका बदला तर्कशास्त्र में ही प्रतिबन्दी रूप से चुकाया[३]।

---

१ "अन्ये तु संदेहद्वारेणापरानष्टावुदाहरणाभासान्वर्णयन्ति। सन्दिग्धसाध्यः ....सन्दिग्धसाधनः... .....सन्दिग्धोभयः... ..सन्दिग्धाश्रयः... ...सन्दिग्धसाध्याव्यावृत्तः...···सन्दिग्धसाधनाव्यावृत्तः ...सन्दिग्धोभयाव्यावृत्तः ..... . सन्दिग्धाश्रयः...... . ।"–**न्यायसार पृ० १३-१४।**

२ "साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः॥ वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात्॥"–**न्याया० २४-२५।**

३ "यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति. साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः। तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च, यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्, मरणधर्मोऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत्, असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् इति। अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च, यथा यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् इति। तथा विपरीतान्वयः, यदनित्यं तत् कृतकमिति। साधर्म्येण। वैधर्म्येणापि, परमाणुवत् कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः।

आ० हेमचन्द्र नाम तो पसन्द करते हैं दृष्टान्ताभास, पर उसे उदाहरणाभास के स्थान में क्यों पसन्द किया इसका युक्तिसिद्ध खुलासा भी कर देते हैं[१]। दृष्टान्ताभास के निरूपण में आ० हेमचन्द्र की ध्यान देने योग्य महत्त्व की तीन विशेषताएँ हैं जो उनकी प्रतिभा

तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः, यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा, अविद्यमानसर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथर्षभवर्धमानादिरिति, तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः। सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणं ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति, गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा। सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा, अवीतरागाः कपिलादयः परिग्रहाग्रहयोगादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथर्षभादेरिति, ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः। अव्यतिरेको यथा, अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम्, यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता, यथोपलखण्ड इति, यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं यो सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः। अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा, अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति। विपरीतव्यतिरेको यथा, यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति।"–**न्यायबि० ३. १२५-१३६।**

"तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वाद् दुःखवदिति साध्यधर्मविकल इति। तस्यामेव प्रतिज्ञाया तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकल इति। कलशवदिति उभयधर्मविकल इति। रागादिमानयं वक्तृत्वात् देवदत्तवदिति सन्दिग्धसाध्यधर्मेति। मरणधर्मोऽयं रागादिमत्त्वान्मैत्रवदिति सन्दिग्धसाधनधर्मेति। नाऽयं सर्वदर्शी सरागत्वान्मुनिविशेषवदिति सन्दिग्धोभयधर्मेति। रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदिति अनन्वयः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यप्रदर्शितान्वय इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदनित्य तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वय इति। वैधर्म्येणापि......। तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात् यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणम्, यथा स्वप्नज्ञानमित्यसिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानात् भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तेरिति। निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत् प्रमाणम्, यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेकः लैङ्गिकात्प्रमाणत्वस्यानिवृत्तेः। नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात् यस्तु न नित्यानित्यः स न सन् तद्यथा स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः, स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य चाव्यावृत्तेरिति। असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलः अक्षणिकैकान्तवादित्वात्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगत इति सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तः सन्देहादिति। अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वात् यः पुनरादेयवचनः स वीतरागः, तद्यथा शौद्धोदनिरिति सन्दिग्धसाधनव्यतिरेकः शौद्धोदने रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयादिति। न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति सन्दिग्धोभयव्यतिरेक इति तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणास्पदेष्वपि परमकृपयानर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः सन्देहादिति। न वीतरागः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेक इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेक इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदकृतकं तन्नित्यं यथाकाशमिति विपरीतव्यतिरेक इति।"–**प्रमाणन० ६. ६०-७९।**

१ "परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात्तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते।"–**प्र० मी० २. १. २२।**

की सूचक हैं–१–उन्होंने सूत्ररचना, उदाहरण आदि में यद्यपि धर्मकीर्त्ति को आदर्श रखा है तथापि वादिदेव की तरह पूरा अनुकरण न करके धर्म्मकीर्त्ति के निरूपण में थोड़ा सा बुद्धिसिद्ध संशोधन भी किया है। धर्मकीर्त्ति ने अनन्वय और अव्यतिरेक ऐसे जो दो भेद दिखाये हैं उनको आ० हेमचन्द्र अलग न मानकर कहते हैं कि बाकी के आठ आठ भेद ही अनन्वय और अव्यतिरेक रूप होने से उन दोनों का पार्थक्य अनावश्यक है—प्र० मी २. १. २७। आ० हेमचन्द्र 5 की यह दृष्टि ठीक है। २–आ० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्त्ति के ही शब्दों में अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक ऐसे दो भेद अपने सोलह भेदों में दिखाये हैं (२. १ २७, पर इन दो भेदों के उदाहरणों में धर्मकीर्त्ति की अपेक्षा विचारपूर्वक संशोधन किया है। धर्मकीर्त्ति ने पूर्ववर्त्ती अनन्वय और अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास जो न्यायप्रवेश आदि में रहे[1] उनका निरूपण तो अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित व्यतिरेक ऐसे नये दो अन्वर्थ स्पष्ट नाम रखकर किया[2] और 10 न्यायप्रवेश आदि के अनन्वय और अव्यतिरेक शब्द को रख भी लिया तथा उन नामों से नये उदाहरण दिखाये[3] जो उन नामों के साथ मेल खा सकें और जो न्यायप्रवेश आदि में नहीं भी थे। आ० हेमचन्द्र ने धर्म्मकीर्त्ति की ही संशोधित दृष्टि का उपयोग करके पूर्ववर्त्ती दिङ्नाग, प्रशस्तपाद और धर्म्मकीर्त्ति तक के सामने कहा कि अप्रदर्शितान्वय या अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास तभी कहा जा सकता है जब उसमें प्रमाण अर्थात् दृष्टान्त ही न रहे, वीप्सा आदि 15 पदों का अप्रयोग इन दोषों का नियामक ही नहीं केवल दृष्टान्त का अप्रदर्शन ही इन दोषों का नियामक है। पूर्ववर्त्ती सभी आचार्य इन दो दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों में कम से कम–अम्बरवत् घटवत्—जितना प्रयोग अनिवार्य रूप से मानते थे। आ० हेमचन्द्र के अनुसार ऐसे दृष्टान्तबोधक 'वत्' प्रत्ययान्त किसी शब्दप्रयोग की ज़रूरत ही नहीं–इसी अपने भाव को उन्होंने प्रमाणमीमांसा (२. १. २७ सूत्र की वृत्ति में निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट किया है— 'एतौ च 20 प्रमाणस्य अनुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेषु, असति प्रमाणे तयोरसिद्धेरिति।"

३—आ० हेमचन्द्र की तीसरी विशेषता अनेक दृष्टियों से बड़े मार्के की है। उस साम्प्रदायिकता के समय में जब कि धर्म्मकीर्त्ति ने वैदिक और जैन सम्प्रदाय पर प्रबल चोट की और जब कि अपने ही पूज्य वादी देवसूरि तक ने 'शाठ्यं कुर्यात् शठं प्रति' इस नीति का आश्रय 25

---

१ "अनन्वयो यत्र विनान्वयेन साध्यसाधनयोः सहभावः प्रदर्श्यते। यथा घटे कृतकत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति। अव्यतिरेको यत्र विना साध्यसाधननिवृत्त्या तद्विपक्षभावो निदर्श्यते। यथा घटे मूर्तत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति।"–**न्यायप्र० पृ० ६–७।** "नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्. ... ..अम्बरवदिति... ...अननुगत... ... घटवत्...... . अव्यावृत्त........."–**प्रशस्त० पृ० २४७।**

२ "अप्रदर्शितान्वयः... .....अनित्यशब्दः कृतकत्वात् घटवत् इति। अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति।"–**न्यायबि० ३. १२७, १३५।**

३ "अनन्वयो.........यथा यो वक्ता स रागादिमान् इष्टपुरुषवत्। अव्यतिरेको यथा अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम्, यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता यथोपलखण्ड इति।"–**न्यायबि० ३. १२७, १३४।**

करके धर्मकीर्त्ति का बदला चुकाया तब आ० हेमचन्द्र ने इस स्थल में बुद्धिपूर्वक उदारता दिखाकर साम्प्रदायिक भाव के विष को कम करने की चेष्टा की। जान पड़ता है अपने व्याकरण की तरह[1] अपने प्रमाणग्रन्थ को भी सर्वपार्षद—सर्वसाधारण बनाने की आ० हेम-चन्द्र की उदार इच्छा का ही यह परिणाम है। धर्मकीर्त्ति के द्वारा ऋषभ, वर्धमान आदि 5 पर किये गये कटाक्ष और वादिदेव के द्वारा सुगत पर किये गये प्रतिकटाक्ष का तर्कशास्त्र में कितना अनौचित्य है, उससे कितना रुचिभङ्ग होता है, यह सब सोचकर आ० हेमचन्द्र ने ऐसे उदाहरण[2] रचे जिनसे सबका मतलब सिद्ध हो पर किसी को आघात न हो।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व की है। धर्म्मकीर्त्ति ने अपने उदाहरणों में कपिल आदि में असर्वज्ञत्व और अनाप्तत्व साधक जो अनु-10 मान प्रयोग रखे हैं उनका स्वरूप तथा तदन्तर्गत हेतु का स्वरूप विचारते हुए जान पड़ता है कि सिद्धसेन के सन्मति जैसे और समन्तभद्र के आप्तमीमांसा जैसे कोई दूसरे ग्रन्थ धर्म-कीर्त्ति के सामने अवश्य रहे हैं जिनमें जैन तार्किकों ने अन्य सांख्य आदि दर्शनमान्य कपिल आदि की सर्वज्ञता का और आप्तता का निराकरण किया होगा।

पृ०. ५६. पं०. ७. **'ननु अनन्वय'**–तुलना–न्यायबि० ३,१२७, १३४।

---

15 अ० २. आ० १. सू० २८-२६. पृ० ५६. परार्थानुमान का एक प्रकार कथा[3] भी है, जो पक्ष-प्रतिपक्षभाव के सिवाय कभी शुरू नहीं होती। इस कथा से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थों का निरूपण करनेवाला साहित्य विशाल परिमाण में इस देश में निर्मित हुआ है। यह साहित्य मुख्यतया दो परम्पराओं में विभाजित है—ब्राह्मण—वैदिक परम्परा और श्रमण—वैदिकेतर परम्परा। वैदिक परम्परा में न्याय तथा वैद्यक सम्प्रदाय का समावेश है। 20 श्रमण परम्परा में बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय का समावेश है। वैदिक परम्परा के कथासम्बन्धी इस वक्त उपलब्ध साहित्य में अक्षपाद के न्यायसूत्र तथा चरक का एक प्रकरण–विमानस्थान मुख्य एवं प्राचीन हैं। न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, तात्पर्यटीका, न्यायमञ्जरी आदि उनके टीकाग्रन्थ तथा न्यायकलिका भी उतने ही महत्त्व के हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय के प्रस्तुत विषयक साहित्य में उपायहृदय, तर्कशास्त्र, प्रमाणसमुच्चय, 25 न्यायमुख, न्यायबिन्दु, वादन्याय इत्यादि ग्रन्थ मुख्य एवं प्रतिष्ठित हैं।

---

१ "सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम्।"–हैमश० १. १. २।

२ प्र० मी० २. १. २५।

३ **पुरातत्त्व** पु० ३. अङ्क ३रे में मेरा लिखा 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' नामक लेख देखो।

जैन सम्प्रदाय के प्रस्तुत साहित्य में न्यायावतार, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रमाणनयतत्त्वालोक इत्यादि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। उक्त सब परम्पराओं के ऊपर निर्दिष्ट साहित्य के आधार से यहाँ कथासम्बन्धी कतिपय पदार्थों के बारे में कुछ मुद्दों पर लिखा जाता है जिनमें से सबसे पहले दूषण और दूषणाभास को लेकर विचार किया जाता है। दूषण और दूषणाभास के नीचे लिखे मुद्दों 5 पर यहाँ विचार प्रस्तुत है—१. इतिहास, २. पर्याय—समानार्थक शब्द, ३. निरूपणप्रयोजन, ४. प्रयोग की अनुमति या विरोध, ५. भेद-प्रभेद।

१—दूषण और दूषणाभास का शास्त्रीय निरूपण तथा कथा का इतिहास कितना पुराना है यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहार में तथा शास्त्र में कथा का स्वरूप निश्चित हो जाने के बाद बहुत ही जल्दी दूषण और दूषणाभास 10 का स्वरूप तथा वर्गीकरण शास्त्रबद्ध हुआ होगा। दूषण और दूषणाभास के कमोबेश निरूपण का प्राथमिक यश ब्राह्मण परम्परा को है। बौद्ध परम्परा में उसका निरूपण ब्राह्मण परम्परा द्वारा ही दाखिल हुआ है। जैन परम्परा में उस निरूपण का प्रथम प्रवेश साक्षात् तो बौद्ध साहित्य के द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। परम्परया न्याय साहित्य का भी इस पर प्रभाव अवश्य है। फिर भी इस बारे में वैद्यक साहित्य का जैन निरूपण पर कुछ भी प्रभाव 15 पड़ा नहीं है जैसा कि इस विषय के बौद्ध साहित्य पर कुछ पड़ा हुआ जान पड़ता है। प्रस्तुत विषयक साहित्य का निर्माण ब्राह्मण परम्परा में ई० स० पूर्व दो या चार शताब्दियों में कभी प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध परम्परा में वह ईसवी सन् के बाद ही शुरू हुआ और जैनपरम्परा में तो और भी पीछे से शुरू हुआ है। बौद्ध परम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी के बाद तीसरी शताब्दी से पुराना शायद ही हो और जैनपरम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी सन् 20 के बाद पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना शायद ही हो

२—उपालम्भ, प्रतिषेध, दूषण, खण्डन, उत्तर इत्यादि पर्याय शब्द हैं। इनमें से उपालम्भ, प्रतिषेध आदि शब्द न्यायसूत्र (१ २. १) में प्रयुक्त हैं, जब कि दूषण आदि शब्द उसके भाष्य में आते हैं। प्रस्तुतविषयक बौद्ध साहित्य में से तर्कशास्त्र, जो प्रो टुची द्वारा प्रतिसंस्कृत हुआ है उसमें खण्डन शब्द का बार-बार प्रयोग है जब कि दिङ्नाग, शङ्कर- 25 स्वामी, धर्मकीर्ति आदि ने दूषण शब्द का ही प्रयोग किया है। देखो—न्यायमुख का० १६, न्यायप्रवेश पृ० ८, न्यायबिन्दु० ३ १३८। जैन साहित्य में भिन्न भिन्न ग्रन्थों में उपालम्भ, दूषण आदि सभी पर्याय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जाति, असदुत्तर, असम्यक् खण्डन, दूषणाभास आदि शब्द पर्यायभूत हैं जिनमें से जाति शब्द न्याय परम्परा के साहित्य में प्रधानतया प्रयुक्त देखा जाता है। बौद्ध साहित्य में असम्यक् खण्डन तथा जाति शब्द का प्रयोग कुछ 30 प्राचीन ग्रन्थों में है, पर दिङ्नाग से लेकर सभी बौद्धतार्किकों के तर्कग्रन्थों में दूषणाभास शब्द के प्रयोग का प्राधान्य हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में मिथ्योत्तर, जाति और दूषणाभास आदि शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं।

३—उद्देश विभाग और लक्षण आदि द्वारा दोषों तथा दोषाभासों के निरूपण का प्रयोजन सभी परम्पराओं में एक ही माना गया है और वह यह कि उनका यथार्थ ज्ञान किया जाय जिससे वादी स्वयं अपने स्थापनावाक्य में उन दोषों से बच जाय और प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित दोषाभास का दोषाभासत्व दिखाकर अपने प्रयोग को निर्दोष साबित कर सके। इसी मुख्य प्रयोजन से प्रेरित होकर किसी ने अपने ग्रन्थ मे संक्षेप से तो किसी ने विस्तार से, किसी ने अमुक एक प्रकार के वर्गीकरण से तो किसी ने दूसरे प्रकार के वर्गीकरण से, उनका निरूपण किया है।

४—उक्त प्रयोजन के बारे में सब का ऐकमत्य होने पर भी एक विशिष्ट प्रयोजन के विषय में मतभेद अवश्य है जो खास ज्ञातव्य है। वह विशिष्ट प्रयोजन है—जाति, छल आदि रूप से असत्य उत्तर का भी प्रयोग करना। न्याय (न्यायसू० ४.२.५०) हो या वैद्यक (चरक-विमानस्थान पृ० २६४) दोनों ब्राह्मण परम्पराएँ असत्य उत्तर के प्रयोग का भी समर्थन पहले से अभी तक करती आई हैं। बौद्ध परम्परा के भी प्राचीन उपायहृदय आदि कुछ ग्रन्थ जात्युत्तर के प्रयोग का समर्थन ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों की तरह ही साफ़-साफ़ करते हैं, जब कि उस परम्परा के पिछले ग्रन्थों में जात्युत्तरों का वर्णन होते हुए भी उनके प्रयोग का स्पष्ट व सबल निषेध है—वादन्याय पृ० ७०। जैन परम्परा के ग्रन्थों में तो प्रथम से ही लेकर मिथ्या उत्तरों के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया गया है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७६। उनके प्रयोग का समर्थन कभी नहीं किया गया। छल-जाति युक्त कथा कर्तव्य है या नहीं इस प्रश्न पर जब जब जैन तार्किकों ने जैनेतर तार्किकों के साथ चर्चा की तब तब उन्होंने अपना एक मात्र राय यही प्रकट की कि वैसी कथा कर्तव्य नहीं, त्याज्य[1] है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी भारतीय दर्शनों का अन्तिम व मुख्य उद्देश मोक्ष बतलाया गया है और मोक्ष की सिद्धि असत्य या मिथ्याज्ञान से शक्य ही नहीं जो जात्युत्तरों में अवश्य गर्भित है। तब केवल जैन-दर्शन के अनुसार ही क्यों, बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के अनुसार भी जात्युत्तरों का प्रयोग असंगत है। ऐसा होते हुए भी ब्राह्मण और बौद्ध तार्किक उनके प्रयोग का समर्थन करते हैं और जैन तार्किक नहीं करते इस अन्तर का बीज क्या है, यह प्रश्न अवश्य पैदा होता है। इसका जवाब जैन और जैनेतर दर्शनों के अधिकारियों की प्रकृति में है। जैन दर्शन मुख्यतया त्यागिप्रधान होने से उसके अधिकारियों में मुमुक्षु ही मुख्य हैं, गृहस्थ नहीं। जब कि ब्राह्मण परम्परा चातुराश्रमिक होने से उसके अधिकारियों में गृहस्थों का, खासकर विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थों का, वही दर्जा है जो त्यागियों का होता है। गार्हस्थ्य की प्रधानता होने के कारण ब्राह्मण विद्वानों ने व्यावहारिक जीवन में सत्य, अहिंसा आदि नियमों पर उतना भार नहीं दिया जितना कि जैन त्यागियों ने उन पर दिया। गार्हस्थ्य के साथ अर्थलाभ, जयतृष्णा आदि का, त्यागजीवन की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। इन कारणों से ब्राह्मण परम्परा में मोक्ष का उद्देश होते हुए भी छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन होना सहज था, जब

---

[1] देखो सिद्धसेनकृत **वादद्वात्रिंशिका; वादाष्टक; न्यायवि० २. २१५।**

कि जैन परम्परा के लिए वैसा करना सहज न था। क्या करना यह एक बार प्रकृति के अनुसार तय हो जाता है तब विद्वान् उसी कर्तव्य का सयुक्तिक समर्थन भी कर लेते हैं। कुशाग्रीयबुद्धि ब्राह्मण तार्किकों ने यही किया। उन्होंने कहा कि तत्त्वनिर्णय की रक्षा के वास्ते कभी-कभी छल, जाति आदि का प्रयोग भी उपकारक होने से उपादेय है, जैसा कि अङ्कुररक्षा के वास्ते सकण्टक बाड़ का उपयोग। इस दृष्टि से उन्होंने छल, जाति आदि के प्रयोग की भी मोक्ष के साथ सङ्गति बतलाई। उन्होंने अपने समर्थन में एक बात स्पष्ट कह दी कि छल, जाति आदि का प्रयोग भी तत्त्वज्ञान की रक्षा के सिवाय लाभ, ख्याति आदि अन्य किसी भौतिक उद्देश से कर्तव्य नहीं है। इस तरह अवस्थाविशेष में छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन करके उसकी मोक्ष के साथ जो सङ्गति ब्राह्मण तार्किकों ने दिखाई वही बौद्ध तार्किकों ने अक्षरशः स्वीकार करके अपने पक्ष में भी लागू की। उपायहृदय के लेखक बौद्ध तार्किक ने—छल जाति आदि के प्रयोग की मोक्ष के साथ कैसी असङ्गति है यह आशङ्का करके उसका समाधान अक्षपाद के ही शब्दों[1] में किया है कि आम्रफल की रक्षा आदि के वास्ते कण्टकिल बाड़ की तरह सद्धर्म की रक्षा के लिए छलादि भी प्रयोगयोग्य हैं। वादसम्बन्धी पदार्थों के प्रथम चिन्तन, वर्गीकरण और सङ्कलन का श्रेय ब्राह्मण परम्परा को है या बौद्ध परम्परा को, इस प्रश्न का सुनिश्चित जवाब छलादि के प्रयोग के उस समान समर्थन में से मिल जाता है। बौद्ध परम्परा मूल से ही जैन परम्परा की तरह त्यागिभिक्षुप्रधान रही है और उसने एकमात्र निर्वाण तथा उसके उपाय पर ही भार दिया है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार शुरू में कभी छल आदि के प्रयोग को सङ्गत मान नहीं सकती जैसा कि ब्राह्मण परम्परा मान सकती है। अतएव इसमें सन्देह नहीं रहता कि बुद्ध के शान्त और अक्लेश धर्म की परम्परा के स्थापन व प्रचार में पड़ जाने के बाद भिक्षुओं को जब ब्राह्मण विद्वानों से लोहा लेना पड़ा तभी उन्होंने उनकी वादपद्धति का विशेष अभ्यास, प्रयोग व समर्थन शुरू किया। और जो जो ब्राह्मण, कुलागत संस्कृत तथा न्याय विद्या सीखकर बौद्ध परम्परा में दीक्षित हुए वे भी अपने साथ कुलधर्म की वे ही दलीलें ले आए जो न्याय परम्परा में थीं। उन्होंने नवस्वीकृत बौद्ध परम्परा में उन्हीं वादपदार्थों के अभ्यास और प्रयोग आदि का प्रचार किया जो न्याय या वैद्यक आदि ब्राह्मण परम्परा में प्रसिद्ध रहे। इस तरह प्रकृति में जैन और बौद्ध परम्पराएँ तुल्य होने पर भी ब्राह्मण विद्वानों के प्रथम सम्पर्क और संघर्ष की प्रधानता के कारण से ही बौद्ध परम्परा में ब्राह्मण परम्परानुसारी छल आदि का समर्थन प्रथम किया गया। अगर इस बारे में ब्राह्मण परम्परा पर बौद्ध परम्परा का ही प्रथम प्रभाव होता तो किसी न किसी अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ में तथा बौद्ध ग्रन्थ में बौद्ध प्रकृति के अनुसार

---

१ "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।"–न्यायसू० ४. २. ५०। "यथाम्रफलपरिपुष्टिकामेन तत्(फल)परिरक्षणार्थं बहिस्तीक्ष्णकण्टकनिकरविन्यासः क्रियते, वादारम्भोऽपि तथैवाधुना सद्धर्मरक्षणेच्छया न तु ख्यातिलाभाय।"–उपायहृदय पृ० ४।

छलादि के वर्जन का ही ऐकान्तिक उपदेश होता। यद्यपि बौद्ध तार्किकों ने शुरू में छलादि के समर्थन को ब्राह्मण परम्परा में से अपनाया पर आगे जाकर उनको इस समर्थन की अपने धर्म की प्रकृति के साथ विशेष असंगति दिखाई दी, जिससे उन्होंने उनके प्रयोग का स्पष्ट व सयुक्तिक निषेध ही किया। परन्तु इस बारे में जैन परम्परा की स्थिति निराली 5 रही। एक तो वह बौद्ध परम्परा की अपेक्षा त्याग और उदासीनता में विशेष प्रसिद्ध रही, दूसरे इसके निर्ग्रन्थ भिक्षुक शुरू में ब्राह्मण तार्किकों के सम्पर्क व संघर्ष में उतने न आये जितने बौद्ध भिक्षुक, तीसरे उस परम्परा में संस्कृत भाषा तथा तदाश्रित विद्याओं का प्रवेश बहुत धीरे से और पीछे से हुआ। जब यह हुआ तब भी जैन परम्परा की उत्कट त्याग की प्रकृति ने उसके विद्वानों को छल आदि के प्रयोग के समर्थन से बिलकुल ही रोका। यही 10 कारण है कि, सब से प्राचीन और प्राथमिक जैन तर्क ग्रन्थों में छलादि के प्रयोग का स्पष्ट निषेध व परिहास[1] मात्र है। ऐसा होते हुए भी आगे जाकर जैन परम्परा को जब दूसरी परम्पराओं से बार बार वाद में भिड़ना पड़ा तब उसे अनुभव हुआ कि छल आदि के प्रयोग का ऐकान्तिक निषेध व्यवहार्य नहीं। इसी अनुभव के कारण कुछ जैन तार्किकों ने छल आदि के प्रयोग का आपवादिक रूप से अवस्थाविशेष में समर्थन भी किया[2]। इस तरह 15 अन्त में बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएँ एक या दूसरे रूप से समान भूमिका पर आ गईं। बौद्ध विद्वानों ने पहले छलादि के प्रयोग का समर्थन करके फिर उसका निषेध किया, जब कि जैन विद्वान् पहले आत्यन्तिक विरोध करके अन्त में अंशतः उससे सहमत हुए। यह ध्यान में रहे कि छलादि के आपवादिक प्रयोग का भी समर्थन श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है पर ऐसा समर्थन दिगम्बर तार्किकों के द्वारा किया हुआ देखने में नहीं आता। इस अन्तर के दो 20 कारण मालूम होते हैं। एक तो दिगम्बर परम्परा में औत्सर्गिक त्याग अंश का ही मुख्य विधान है और दूसरा ग्यारहवीं शताब्दि के बाद भी जैसा श्वेताम्बर परम्परा में विविध प्रकृतिगामी साहित्य बना वैसा दिगम्बर परम्परा में नहीं हुआ। ब्राह्मण परम्परा का छलादि के प्रयोग का समर्थन तथा निषेध प्रथम से ही अधिकारीविशेषानुसार वैकल्पिक होने से उसको अपनी दृष्टि बदलने की ज़रूरत ही न हुई।

25 ४—अनुमान प्रयोग के पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि अवयव हैं। उनमें आनेवाले वास्तविक दोषों का उद्घाटन करना दूषण है और उन अवयवों के निर्दोष होने पर भी उनमें असत् दोषों का आरोपण करना दूषणाभास है। ब्राह्मण परम्परा के मौलिक ग्रन्थों में दोषों का, ख़ासकर हेतु दोषों का ही वर्णन है। पक्ष, दृष्टान्त आदि के दोषों का स्पष्ट वैसा वर्णन नहीं है जैसा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में दिङ्नाग से लेकर वर्णन है। दूषणाभास के छल, 30 जाति रूप से भेद तथा उनके प्रभेदों का जितना विस्तृत व स्पष्ट वर्णन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में

---

१ देखो सिद्धसेनकृत **वादद्वात्रिंशिका**।

२ "अयमेव विधेयस्तत् तत्त्वज्ञेन तपस्विना। देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥"—**यशो० वादद्वा० श्लो० ८**।

है उतना प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं है और पिछले बौद्ध ग्रन्थों में तो वह नामशेष मात्र हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में जो दूषण के भेद-प्रभेदों का वर्णन है वह मूलतः बौद्ध ग्रन्थानुसारी ही है और जो दूषणाभास का वर्णन है वह भी बौद्ध परम्परा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है[1]। इसमें जो ब्राह्मण परम्परानुसारी वर्णन खण्डनीयरूप से आया है वह खासकर न्यायसूत्र और उसके टीका, उपटीका ग्रन्थों से आया है। यह अचरज की बात है कि ब्राह्मण परम्परा के वैद्यक ग्रन्थ में आनेवाले दूषणाभास का निर्देश जैन ग्रन्थों में खण्डनीय रूप से भी कहीं देखा नहीं जाता।

आ० हेमचन्द्र ने दो सूत्रों में क्रम से जो दूषण और दूषणाभास का लक्षण रचा है उसका अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा न्यायप्रवेश (पृ० ८) की शब्दरचना के साथ अधिक सादृश्य है। परन्तु उन्होंने सूत्र की व्याख्या में जो जात्युत्तर शब्द का अर्थप्रदर्शन किया है वह न्यायबिन्दु (३. १४०) की धर्मोत्तरीय व्याख्या से शब्दशः मिलता है। हेमचन्द्र ने दूषणाभासरूप से चौबीस जातियों का तथा तीन छलों का जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० १६-२१) का अवतरणमात्र है।

आ० हेमचन्द्र ने छल को भी जाति की तरह असदुत्तर होने के कारण जात्युत्तर ही माना है। जाति हो या छल सबका प्रतिसमाधान सच्चे उत्तर से ही करने को कहा है, परन्तु प्रत्येक जाति का अलग अलग उत्तर जैसा अक्षपाद ने स्वयं दिया है, वैसा उन्होंने नहीं दिया।

कुछ ग्रन्थों के आधार पर जातिविषयक एक कोष्ठक नीचे दिया जाता है—

न्यायसूत्र।	वादविधि, प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, तर्कशास्त्र।	उपायहृदय।
साधर्म्यसम	,,	,,
वैधर्म्यसम	,,	,,
उत्कर्षसम	...	,,
अपकर्षसम	...	,,
वर्ण्यसम	...	...
अवर्ण्यसम	...	...
विकल्पसम	,,	...
साध्यसम	...	...
प्राप्तिसम	,,	,,
अप्राप्तिसम	,,	,,
प्रसङ्गसम	,,	...
प्रतिदृष्टान्तसम	,,	,,
अनुत्पत्तिसम	,,	,,

१ मिलाओ-न्यायमुख, न्यायप्रवेश और न्यायावतार।

न्यायसूत्र ।	वादविधि, प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, तर्कशास्त्र ।	उपायहृदय ।
संशयसम	,,	,,
प्रकरणसम	...	...
अहेतुसम	,,	कालसम
अर्थापत्तिसम	,,	...
अविशेषसम	,,	...
उपपत्तिसम	...	...
उपलब्धिसम	,,	...
अनुपलब्धिसम	...	...
नित्यसम	,,	...
अनित्यसम	...	...
कार्यसम	कार्यभेद	,,
	अनुक्त	
	स्वार्थविरुद्ध	
		भेदाभेद, प्रश्नबाहुल्योत्तराल्पता, प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य, हेतुसम, व्याप्ति, अव्याप्तिसम, विरुद्ध, अविरुद्ध, असंशय, श्रुतिसम, श्रुतिभिन्न ।

पृ० ५९ पं० १६. 'साधनस्य'–तुलना–"ये पूर्वं न्यूनतादयोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्तास्तेषामुद्भावकं यद्वचनं तद् दूषणम्"–न्यायबि० टी० ३. १३९ ।

पृ० ५९. पं० २२. 'जातिशब्दः'–तुलना–"जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणीति । उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वादुत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि ।"–न्यायबि० टी० ३.१४० ।

पृ० ५९. पं० २४. 'तानि च'–तुलना–"सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्रायं............" इत्यादि–न्यायकलिका पृ० १७-२१ ।

पृ० ६२. पं० १६. 'तदेवमुद्भावन'–तुलना–"तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽपि असङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदाः प्रदर्शिताः । प्रतिसमाधानन्तु सर्वजातीनां............" इत्यादि–न्यायकलिका पृ० २१ ।

पृ० ६२. पं० २३. 'तत्र परस्य'–तुलना–"तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्........." इत्यादि–न्यायकलिका पृ० १६ ।

"छलं नाम परिशठमर्थाभासमपार्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव । तद् द्विविधं वाक्छलं सामान्यच्छलञ्च । वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् ब्रूयात्–नवतन्त्रोऽयं भिषग् इति । भिषग् ब्रूयात्–

नाहं नवतन्त्रः, एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयात्–नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति अपि तु नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति। भिषग् ब्रूयात्–न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधा अभ्यस्तं मया तन्त्रमिति–एतद्वाक्छलम्। सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात्–सत् सत् प्रशमनायेति भवानाह। सन् हि रोगः सदौषधम्। यदि च सत् सत् प्रशमनाय भवति सन् हि कासः सन् क्षयः। सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यति इति।"–चरकसं० पृ० २६६। 5

"नव इति चतुर्विधम्–नवः, नव, न वः, न व इति। यथा कश्चिदाह–यो मया परिहितः स नवकम्बलः। अत्र दूषणं वदेत्–यद्भवता परिहितं तदेकमेव वस्त्रं कथं नवेति। अत्र प्रतिवदेत्–मया नव इत्युक्तं तथा च नवः कम्बलः न तु नवेति। अत्र दूषयेत्–कथं नवः?। नवलोमनिर्मितत्वान्नव इत्युक्ते प्रतिवादो वदेत् – तत्त्वतोऽपरिमितानि लोमानि कथं नव लोमानि इत्युच्यते। 10

अत्राह–नव इति मया पूर्वमुक्तं न तु नव संख्या। अत्र दूषणम्–तद्वस्त्र युष्माकमेवेति ज्ञातं कस्मादेतन्न वः कथ्यते। अत्रोत्तरम्–मया नव इत्युक्तं किन्तु न व इति नोक्तम्। अत्र दूषणम्–भवतः कायं कम्बलो वस्त इति प्रत्यक्षमेतत्। कथमुच्यते न वः कम्बलः। अयं हेत्वाभास इत्युच्यते वाक्छलं च। 15

अपरञ्च वाक्छलम्–यथा गिरिर्दह्यते इत्युक्ते दूषणम्–तत्त्वतस्तृणतरवो दह्यन्ते कथं गिरिर्दह्यत इत्युक्तम्?। एतद्वाक्छलमित्युच्यते।

अपि च छलं द्विविधम्–पूर्ववत् सामान्यञ्चेति। यथा संस्कृता धर्माः शून्याः शान्ता आकाशवदित्युक्ते दूषणम्–यद्येवं उभयोरपि शून्यत्वमभावश्च, तदा निःस्वभावा धर्मा आकाशतुल्या इति सामान्यच्छलम्। 20

का तावदुत्पत्तिरिति?। अत्रोच्यते सत उत्पत्तिरिति। यथा मृदो घटत्ववत्त्वाद् घटोत्पादकत्वम्। यदि मृदो घटत्ववत्त्वं तदा मृदेव घटः स्यात्। तदा तदुत्पत्तये कृतं कुम्भकारसूत्रचक्रसंयोगेन। यदि मृदः सद्भावेन घटोत्पादकत्वम् तदोदकस्यापि सद्भावेन घटोत्पादकत्वं स्यात्। यद्युदकस्य सद्भावेन घटानुत्पादकत्वं कथं तर्हि मृदो घटोत्पादकत्वम् इति सामान्यच्छलम्।"–उपायहृदय पृ० १४-१६। 25

पृ० ६३. पं० ३. **'तदत्र छलत्रये'**–तुलना–"तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव प्रतिसमाधानं वेदितव्यमिति"–न्यायकलिका पृ० १६।

पृ० ६३. पं० ६ **'तत्वसंरक्षणार्थम्'**–प्रश्नोत्तर रूप से और खण्डन-मण्डन रूप से चर्चा दो प्रकार की है। खण्डन-मण्डन रूप चर्चा-अर्थ में सम्भाषा, कथा, वाद, आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। सम्भाषा शब्द चरक आदि वैद्यकीय ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, 30 जब कि कथा शब्द न्याय परम्परा में प्रसिद्ध है। वैद्यक परम्परा में सम्भाषा के सन्धायसम्भाषा

और विगृह्यसम्भाषा ऐसे दो भेद किए हैं (चरकसं० पृ० २६३); जब कि न्याय परम्परा ने कथा के वाद, जल्प, वितण्डा ये तीन भेद किए हैं–न्यायवा० पृ० १४६। वैद्यक परम्परा की सन्धायसम्भाषा ही न्याय परम्परा की वाद कथा है। क्योंकि वैद्यक परम्परा में सन्धायसम्भाषा के जो और जैसे अधिकारी बताए गए हैं (चरकसं० पृ० २६३) वे और वैसे ही
5 अधिकारी वाद कथा के न्याय परम्परा (न्यायसू० ४. २. ४८) में माने गए हैं। सन्धाय-सम्भाषा और वाद कथा का प्रयोजन भी दोनों परम्पराओं में एक ही–तत्त्वनिर्णय—है। वैद्यक परम्परा जिस चर्चा को विगृह्यसम्भाषा कहती है उसी को न्याय परम्परा जल्प और वितण्डा कथा कहती है। चरक ने विगृह्यसम्भाषा ऐसा सामान्य नाम रखकर फिर उसी के जल्प और वितण्डा ये दो भेद बताए हैं–पृ० २६५। न्याय परम्परा में इन दो भेदों
10 के वास्ते 'विगृह्यसम्भाषा' शब्द प्रसिद्ध नहीं है, पर उसमें उक्त दोनों भेद विजिगीषुकथा शब्द से व्यवहृत होते हैं–न्यायवा० पृ० १४६। अतएव वैद्यक परम्परा का 'विगृह्यसम्भाषा' और न्याय परम्परा का 'विजिगीषुकथा' ये दो शब्द बिलकुल समानार्थक हैं। न्याय परम्परा में यद्यपि विगृह्यसम्भाषा इस शब्द का ख़ास व्यवहार नहीं है, तथापि उसका प्रतिबिम्बप्राय 'विगृह्यकथन' शब्द मूल न्यायसूत्र (४. २. ५१) में ही प्रयुक्त है। इस शाब्दिक और
15 आर्थिक संक्षिप्त तुलना से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि मूल में न्याय और वैद्यक दोनों परम्पराएँ एक ही विचार के दो भिन्न प्रवाह मात्र हैं। बौद्ध परम्परा में ख़ास तौर से कथा अर्थ में वाद शब्द के प्रयोग की प्रधानता रही है। कथा के वाद, जल्प आदि अवान्तर भेदों के वास्ते उस परम्परा में प्रायः सद्-धर्मवाद, विवाद आदि शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। जैन परम्परा में कथा अर्थ में क्वचित्[1] जल्प शब्द का प्रयोग है पर सामान्य रूप से सर्वत्र उस
20 अर्थ में वाद शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। जैन परम्परा कथा के जल्प और वितण्डा दो प्रकारों को प्रयोगयोग्य नहीं मानती, अतएव उसके मत से वाद शब्द का वही अर्थ है जो वैद्यक परम्परा में सन्धायसम्भाषा शब्द का और न्याय परम्परा में वादकथा का है। बौद्ध तार्किकों ने भी आगे जाकर जल्प और वितण्डा कथा को त्याज्य बतलाकर केवल वाद-कथा को ही कर्त्तव्य रूप कहा है। अतएव इस पिछली बौद्ध मान्यता और जैन परम्परा के
25 बीच वाद शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रहता।

वैद्यकीय सन्धायसम्भाषा के अधिकारी को बतलाते हुए चरक ने महत्त्व का एक अनसूयक विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है कि वह अधिकारी असूयादोषमुक्त हो। अक्षपाद ने भी वादकथा के अधिकारियों के वर्णन में 'अनसूयि' विशेषण दिया है। इससे सिद्ध है कि चरक और अक्षपाद दोनों के मत से वादकथा के अधिकारियों में कोई अन्तर
30 नहीं। इसी भाव को पिछले नैयायिकों ने वाद का लक्षण करते हुए एक ही शब्द में व्यक्त कर दिया है कि —तत्त्वबुभुत्सुकथा वाद है—केशव० तर्कभाषा पृ० १२६। चरक के कथनानुसार

१ "किं तत् जल्पं विदुः ? इत्याह–समर्थवचनम्।–सिद्धिवि० टी० पृ० २५४ B।

विगृह्यसम्भाषा के अधिकारी जय-पराजयेच्छु और छलबलसम्पन्न सिद्ध होते हैं, न्यायपरम्परा के अनुसार जल्प-वितण्डा के वैसे ही अधिकारी माने जाते हैं। इसी भाव को नैयायिक 'विजिगीषुकथा—जल्प-वितण्डा' इस लक्षणवाक्य से व्यक्त करते हैं। वाद के अधिकारी तत्त्व-बुभुत्सु किस किस गुण से युक्त होने चाहिएँ और वे किस तरह अपना वाद चलावें इसका बहुत ही मनोहर व समान वर्णन चरक तथा न्यायभाष्य आदि में है। 5

न्याय परम्परा में जल्पवितण्डा कथा करनेवाले को विजिगीषु माना है जैसा कि चरक ने; पर वैसी कथा करते समय वह विजिगीषु प्रतिवादी और अपने बीच किन किन गुण-दोषों की तुलना करे, अपने से श्रेष्ठ, कनिष्ठ या बराबरीवाले प्रतिवादी से किस किस प्रकार की सभा और कैसे सभ्यों के बीच किस किस प्रकार का बर्त्ताव करे, प्रतिवादी से आटोप के साथ कैसे बोले, कभी कैसा झिड़के इत्यादि बातों का जैसा विस्तृत व आँखोंदेखा वर्णन 10 चरक (पृ० २६४) ने किया है वैसा न्याय परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। चरक के इस वर्णन से कुछ मिलता-जुलता वर्णन जैनाचार्य सिद्धसेन ने अपनी एक वादोपनिषद्द्वात्रिंशिका में किया है, जिसे चरक के वर्णन के साथ पढ़ना चाहिए। बौद्ध परम्परा जब तक न्याय परम्परा की तरह जल्पकथा को भी मानती रही तब तक उसके अनुसार भी वाद के अधिकारी तत्त्वबुभुत्सु और जल्पादि के अधिकारी विजिगीषु ही फलित होते हैं, जैसा कि न्यायपरम्परा 15 में। उस प्राचीन समय का बौद्ध विजिगीषु, नैयायिक विजिगीषु से भिन्न प्रकार का सम्भव नहीं, पर जब से बौद्ध परम्परा में छल आदि के प्रयोग का निषेध होने के कारण जल्पकथा नाम शेष हो गई और वादकथा ही अवशिष्ट रही तब से उसमें अधिकारिद्वैविध्य का प्रश्न ही नहीं रहा, जैसा कि जैन परम्परा में।

जैन परम्परा के अनुसार चतुरङ्गवाद के अधिकारी विजिगीषु हैं। पर न्याय-वैद्यक- 20 परम्परासम्मत विजिगीषु और जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु के अर्थ में बड़ा अन्तर है। क्योंकि न्याय-वैद्यक परम्परा के अनुसार विजिगीषु वही है जो न्याय से या अन्याय से, छल आदि का प्रयोग करके भी प्रतिवादी को परास्त करना चाहे, जब कि जैनपरम्परा विजिगीषु उसी को मानती है जो अपने पक्ष की सिद्धि करना चाहे, पर न्याय से; अन्याय से छलादि का प्रयोग करके कभी नहीं। इस दृष्टि से जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु असूयावान् होकर 25 भी न्यायमार्ग से ही अपना पक्ष सिद्ध करने का इच्छुक होने से क़रीब क़रीब न्याय-परम्परा-सम्मत तत्त्वबुभुत्सु की कोटि का हो जाता है। जैन परम्परा ने विजय का अर्थ—अपने पक्ष की न्याय्य सिद्धि—ही किया है, न्याय-वैद्यक परम्परा की तरह, किसी भी तरह से प्रतिवादी को मूक करना नहीं।

जैन परम्परा के प्राथमिक तार्किकों[1] ने, जो विजिगीषु नहीं हैं ऐसे वीतराग व्यक्तियों 30 का भी वाद माना है। पर वह वाद चतुरङ्ग नहीं है। क्योंकि उसके अधिकारी भले ही

---

१ "परार्थाधिगमस्तत्रानुद्भवद्रागगोचरः। जिगीषुगोचरश्चेति द्विधा शुद्धधियो विदुः॥ सत्यवाग्भिः विधातव्यः प्रथमस्तत्त्ववेदिभिः। यथाकथञ्चिदित्येष चतुरङ्गो न सम्मतः॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७७।

पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर प्रवृत्त हों पर वे असूयामुक्त होने के कारण किसी सभापति या सभ्यों के शासन की अपेक्षा नहीं रखते। वे आपस में ही तत्त्वबोध का विनिमय या स्वीकार कर लेते हैं। जैन परम्परा के विजिगीषु में और उसके पूर्वोक्त तत्त्वनिर्णिनीषु में अन्तर इतना ही है कि विजिगीषु न्यायमार्ग से चलनेवाले होने पर भी ऐसे असूयामुक्त नहीं होते जिससे वे बिना किसी के शासन के किसी बात को स्वतः मान लें, जब कि तत्त्वनिर्णिनीषु न्यायमार्ग से चलनेवाले होने के अलावा तत्त्वनिर्णय के स्वीकार में अन्य के शासन से निरपेक्ष होते हैं। इस प्रकार चतुरङ्गवाद के वादी प्रतिवादी दोनों विजिगीषु होने की पूर्व प्रथा रही[१], इसमें वादि देवसूरि ने (प्रमाणन० ८. १२-१४) थोड़ा विचारभेद प्रकट किया कि, एकमात्र विजिगीषु वादी या प्रतिवादी के होने पर भी चतुरङ्ग कथा का सम्भव है। उन्होंने यह विचारभेद सम्भवतः अकलङ्क या विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती तार्किकों के सामने रखा है। इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र का मानना अकलङ्क और विद्यानन्द के अनुसार ही जान पड़ता है।

ब्राह्मण बौद्ध और जैन सभी परम्पराओं के अनुसार कथा का मुख्य प्रयोजन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त तत्त्वज्ञान की रक्षा ही है। साध्य में किसी का मतभेद न होने पर भी उसकी साधनप्रणाली में अन्तर अवश्य है, जो पहिले भी बताया जा चुका है। संक्षेप में वह अन्तर इतना ही है कि जैन और उत्तरवर्ती बौद्ध तार्किक छल, जाति आदि के प्रयोग को कभी उपादेय नहीं मानते।

वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति इन चारों अङ्गों के वर्णन में तीनों[२] परम्पराओं में कोई मतभेद नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो चारों अङ्गों के स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन किया है वह पूर्ववर्ती ग्रन्थों का सार मात्र है।

जैन परम्परा ने जब छलादि के प्रयोग का निषेध ही किया तब उसके अनुसार जल्प या वितण्डा नामक कथा वाद से भिन्न कोई न रही। इस तत्त्व को जैन तार्किकों ने विस्तृत चर्चा के द्वारा सिद्ध किया। इस विषय का सबसे पुराना ग्रन्थ शायद कथात्रयभङ्ग हो, जिसका निर्देश सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २८६ A) में है। उन्होंने अन्त में अपना मन्तव्य स्थिर किया कि—जल्प और वितण्डा नामक कोई वाद से भिन्न कथा ही नहीं, वह तो कथाभास मात्र है। इसी मन्तव्य के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपनी चर्चा में बतलाया कि वाद से भिन्न कोई जल्प नामक कथान्तर नहीं, जो ग्राह्य हो।

पृ० ६३. पं० १२. **'स्वसमयपर'**—"**उक्तञ्च–स्वसमय**"–न्यायप्र० वृ० पृ० १४।

---

१ "वादः सोऽयं जिगीषतोः।"–**न्यायवि०** २. २१२। "समर्थवचनं वादः प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधनदूषणवचनं वादः।"—**प्रमाणसं० परि०** ६। "सिद्धो जिगीषतो वादः चतुरङ्गस्तथा सति।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ०** २७७।

२ देखो—**चरकसं०** पृ० २६४। **न्यायप्र० पृ०** १४। **तत्त्वार्थश्लो० पृ०** २८०।

पृ० ६३. पं० २१. **'ननु तत्त्वरक्षणम्'**–तुलना–"नहि वादस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थो भवति जल्पवितण्डयोरेव तथात्वात् । तदुक्तम्–तत्त्वाध्यवसाय... . ..."इत्यादि–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७८ । प्रमेयक० पृ० १६४ B ।

पृ० ६३. पं० २६. **'वादलक्षणे'**–तुलना–"प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थं सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनम् । 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे । पञ्चावयवोपपन्न इति 'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्' 'हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' इति चैतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति"–न्यायभा० १. २. १ ।

पृ० ६४. पं० १४. **'दुःशिक्षित'**–न्यायम० पृ० ११ ।

पृ० ६४. पं० १९. **'अथ प्रबलप्रतिवादि'**–तुलना–"यदा जानन्नपि परपक्षकशिमानं स्वपक्षे द्रढिमानं च क्वचिदवसरे परप्रयुक्ते साधने दूषणं सपदि न पश्यति स्वपक्षसाधनं च झगिति न स्मरति तदा छलादिभिरप्युपक्रम्य परमभिभवति आत्मानं च रक्षति इति । ......तथापि एकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति युक्तमेव तत्प्रयोगेण स्फुटाटोपकरणम् ।...........मुमुक्षोरपि क्वचित्प्रसङ्गे तदुपयोगात् । ...." इत्यादि–न्यायम० पृ० ५६५ ।

अ० २. आ० १. सू० ३१–३५. पृ० ६४. वाद से सम्बन्ध रखनेवाले कुल कितने पदार्थों का निरूपण आचार्य हेमचन्द्र ने किया होगा अथवा करना चाहा होगा सो अज्ञात है तथापि उपलभ्य इस अधूरे प्रमाणमीमांसा ग्रन्थ से इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि उन्होंने 'पत्रवाक्य' का निरूपण प्रारम्भ किया जो अधूरा ही लभ्य है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनका अभिमत पत्रनिरूपण दिगम्बर तार्किक विद्यानन्द की पत्रपरीक्षा का ही अवलम्बी मुख्यतया होगा । उन्होंने पत्रस्वरूप के निरूपण में बौद्ध आदि प्रतिवादियों का मत खण्डन विद्यानन्द आदि की तरह अवश्य किया होगा, पर सिद्धान्त उनका सम्भवतः वही होगा जो विद्यानन्द आदि का है । इस विषय के साहित्य में से हमारे सामने इस समय लभ्य ग्रन्थ तो पत्रपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २०७B) ही हैं। वादी देवसूरिकृत स्याद्वादरत्नाकर का वादपरिच्छेद जिसमें 'पत्र' के स्वरूप का विस्तृत निरूपण होना सम्भवित है, उपलभ्य न होने से जैनपरम्परानुसारी पत्रनिरूपण के जिज्ञासुओं को इस समय केवल उक्त दिगम्बर तार्किकों के ही ग्रन्थों को देखना चाहिए ।

आ० हेमचन्द्र का निग्रहस्थानविषयक निरूपण भाग्यवश अखण्डित मिलता है जो ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है और जो जैन तार्किकों की तद्विषयक निरूपण परम्परा में सम्भवतः अन्तिम ही है ।

भारतीय तर्क साहित्य में निग्रहस्थान की प्राचीन विचारधारा ब्राह्मण परम्परा की ही है, जो न्याय तथा वैद्यक के ग्रन्थों में देखी जाती है । न्याय परम्परा में अक्षपाद ने जो संक्षेप में विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति रूप से द्विविध निग्रहस्थान को बतलाया और विस्तार से उसके बाईस भेद बतलाये वही वर्णन आज तक के सैकड़ों वर्षों में अनेक प्रकाण्ड नैयायिकों के

होने पर भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहा है। चरक का निग्रहस्थानवर्णन अक्षरशः तो अक्षपाद के वर्णन जैसा नहीं है फिर भी उन दोनों के वर्णन की भित्ति एक ही है। बौद्ध परम्परा का निग्रहस्थानवर्णन दो प्रकार का है। एक ब्राह्मणपरम्परानुसारी और दूसरा स्वतन्त्र। पहिला वर्णन प्राचीन बौद्ध[1] तर्कग्रन्थों में है, जो लक्षण, संख्या, उदाहरण आदि 5 अनेक बातों में बहुधा अक्षपाद के और कभी कभी चरक (पृ० २६६) के वर्णन से मिलता[2] है। ब्राह्मण परम्परा का विरोधी स्वतन्त्र निग्रहस्थाननिरूपण बौद्ध परम्परा में सबसे पहिले किसने शुरू किया यह अभी निश्चित नहीं। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि इस समय ऐसे स्वतन्त्र निरूपणवाला पूर्ण और अति महत्त्व का जो 'वादन्याय' ग्रन्थ हमारे सामने मौजूद है वह धर्मकीर्ति का होने से इस स्वतन्त्र निरूपण का श्रेय धर्मकीर्ति को 10 अवश्य है। सम्भव है इसका कुछ बीजारोपण तार्किकप्रवर दिङ्नाग ने भी किया हो। जैन परम्परा में निग्रहस्थान के निरूपण का प्रारम्भ करनेवाले शायद पात्रकेसरी स्वामी हों। पर उनका कोई ग्रन्थ अभी लभ्य नहीं। अतएव मौजूदा साहित्य के आधार से तो भट्टारक अकलङ्क को ही इसका प्रारम्भक कहना होगा। पिछले सभी जैन तार्किकों ने अपने अपने निग्रहस्थाननिरूपण में भट्टारक अकलङ्क के ही वचन[3] को उद्धृत किया है, जो हमारी उक्त 15 सम्भावना का समर्थक है।

पहिले तो बौद्ध परम्परा ने न्याय परम्परा के ही निग्रहस्थानों को अपनाया इसलिए उसके सामने कोई ऐसी निग्रहस्थानविषयक दूसरी विरोधी परम्परा न थी जिसका बौद्ध तार्किक खण्डन करते पर एक या दूसरे कारण से जब बौद्ध तार्किकों ने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र निरूपण शुरू किया तब उनके सामने न्याय परम्परा वाले निग्रहस्थानों के खण्डन का 20 प्रश्न स्वयं ही आ खड़ा हुआ। उन्होंने इस प्रश्न को बड़े विस्तार व बड़ी सूक्ष्मता से सुलझाया। धर्मकीर्ति ने वादन्याय नामक एक सारा ग्रन्थ इस विषय पर लिख डाला जिस पर शान्तरक्षित ने स्फुट व्याख्या भी लिखी। वादन्याय में धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान का लक्षण एक कारिका में स्वतन्त्र भाव से बाँधकर उस पर विस्तृत चर्चा की और अक्षपादसम्मत एवं वात्स्यायन तथा उद्योतकर के द्वारा व्याख्यात निग्रहस्थानों के लक्षणों का एक एक शब्द लेकर 25 विस्तार से खण्डन किया। इस धर्मकीर्ति की कृति से निग्रहस्थान की निरूपणपरम्परा स्पष्टतया विरोधी दो प्रवाहों में बँट गई। क़रीब क़रीब धर्मकीर्त्ति के समय में या कुछ ही आगे पीछे जैन तार्किकों के सामने भी निग्रहस्थान के निरूपण का प्रश्न आया। किसी भी

---

१ तर्कशास्त्र पृ० ३३। उपायहृदय पृ० १८।

२ Pre. Dinnag Buddhist Logic P. XXII.

३ "आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः। न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्त्तनम्॥"– न्यायवि० २. २१३। "कथं तर्हि वादपरिसमाप्तिः? निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः नाऽसाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥ तथा तत्त्वार्थश्लोकेऽपि (पृ० २८१)–स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा। वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा।"– अष्टस० पृ० ८७।–प्रमेयक० पृ० २०३ A

जैन तार्किक ने ब्राह्मण परम्परा के निग्रहस्थानों को अपनाया हो या स्वतन्त्र बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थाननिरूपण को अपनाया हो ऐसा मालूम नहीं होता। अतएव जैन परम्परा के सामने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र भाव से निरूपण करने का ही प्रश्न रहा जिसको भट्टारक अकलङ्क ने सुलझाया[1]। उन्होंने निग्रहस्थान का लक्षण स्वतन्त्र भाव से ही रचा और उसकी व्यवस्था बाँधी जिसका अक्षरशः अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है। अकलङ्ककृत स्वतन्त्र लक्षण का मात्र स्वीकार कर लेने से जैन तार्किकों का कर्तव्य पूरा हो नहीं सकता था जब तक कि वे अपनी पूर्ववर्त्ती और अपने सामने उपस्थित ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परम्पराओं के निग्रहस्थान के विचार का खण्डन न करें। इसी दृष्टि से अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि ने विरोधी परम्पराओं के खण्डन का कार्य विशेष रूप से शुरू किया। हम उनके ग्रन्थों में[2] पाते हैं कि पहिले तो उन्होंने न्याय परम्परा के निग्रहस्थानों का खण्डन किया और पीछे बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का। जहाँ तक देखने में आया है उससे मालूम होता है कि धर्मकीर्त्ति के लक्षण का संक्षेप में स्वतन्त्र खण्डन करनेवाले सर्वप्रथम अकलङ्क हैं और विस्तृत खण्डन करनेवाले विद्यानन्द और तदुपजीवी प्रभाचन्द्र हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने निग्रहस्थाननिरूपण के प्रसङ्ग में मुख्यतया तीन बातें पाँच सूत्रों में निबद्ध की हैं। पहिले दो सूत्र २. १. ३१, ३२ में जय और पराजय की क्रमशः व्याख्या है और तीसरे २. १. ३३ में निग्रह की व्यवस्था है जो अकलङ्करचित है और जो अन्य सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किक सम्मत भी है। चौथे २. १. ३४ सूत्र में न्यायपरम्परा के निग्रहस्थान-लक्षण का खण्डन किया है, जिसकी व्याख्या प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड का अधिकांश प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके बाद अन्तिम २. १. ३५ सूत्र में हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के स्वतन्त्र निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जो अक्षरशः प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २०३ A) की ही नक़ल है।

इस तरह निग्रहस्थान की तीन परम्पराओं में से न्याय व बौद्धसम्मत दो परम्पराओं का खण्डन करके आचार्य हेमचन्द्र ने तीसरी जैन परम्परा का स्थापन किया है।

अन्त में जय-पराजय की व्यवस्था सम्बन्धी तीनों परम्पराओं के मन्तव्य का रहस्य संक्षेप में लिख देना जरूरी है। जो इस प्रकार है—ब्राह्मण परम्परा में छल, जाति आदि का प्रयोग किसी हद तक सम्मत होने के कारण छल आदि के द्वारा किसी को पराजित करने मात्र से भी छल आदि का प्रयोक्ता अपने पक्ष की सिद्धि बिना किए ही जयप्राप्त माना जाता है। अर्थात् ब्राह्मण परम्परा के अनुसार यह नियम नहीं कि जयलाभ के वास्ते पक्षसिद्धि करना अनिवार्य ही हो।

[1] दिगम्बर परम्परा में कुमारनन्दी आचार्य का भी एक वादन्याय ग्रन्थ रहा। "कुमारनन्दि-भट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्"—पत्रपरीक्षा पृ० ३।

[2] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८३। प्रमेयक० पृ० २०० B।

धर्मकीर्त्ति ने उक्त ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठाराघात करके सत्यमूलक नियम बाँध दिया कि कोई छल आदि के प्रयोग से किसी को चुप करा देने मात्र से जीत नहीं सकता। क्योंकि छल आदि का प्रयोग सत्यमूलक न होने से वर्ज्य है[१]। अतएव धर्मकीर्त्ति के कथनानुसार[२] यह नियम नहीं कि किसी एक का पराजय ही दूसरे का अवश्यम्भावी जय 5 हो। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाय पर वादी का जय न माना जाय—उदाहरणार्थ वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया हो, इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया, तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का उद्‌भावन किया—ऐसी दशा में प्रतिवादी का पराजय अवश्य माना जायगा। क्योंकि उसने अपने कर्त्तव्य रूप से यथार्थ दोषों का उद्भावन न करके 10 मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। जब कि जय के वास्ते वादी का कर्तव्य है कि साधन के यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्त्ति ने जय-पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय 15 की व्यवस्था की इसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई कि अनेक प्रसङ्गों में यह सरलता से निर्णय करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्गवचन तथा अदोषो-द्भावन है या नहीं। इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से भट्टारक अकलङ्क ने धर्मकीर्त्तिकृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। अकलङ्क के संशोधन में धर्मकीर्त्तिसम्मत सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, 20 पर जान पड़ता है अकलङ्क की दृष्टि में इसके अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव अकलङ्क ने कह दिया कि[३] किसी एक पक्ष की सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। अकलङ्क का यह सुनि-श्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं

---

१ "तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्त्तव्यमेव छलादि। विजिगीषुभिरिति चेत्, नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।"—**वादन्याय पृ० ७१।**

२ "सदोषवत्त्वेऽपि प्रतिवादिनोऽज्ञानात् प्रतिपादनासामर्थ्याद्वा। न हि दुष्टसाधनाभिधानेऽपि वादिनः प्रतिवादिनोऽप्रतिपादिते दोषे पराजयव्यवस्थापना युक्ता। तयोरेव परस्परसामर्थ्योपघातापेक्षया जयपराजयव्यवस्थापनात्। केवलं हेत्वाभासादभूतप्रतिपत्तेरभावादप्रतिपादकस्य जयोऽपि नास्त्येव।"—**वादन्याय पृ० ७०।**

३ "निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्गवचनं नाऽदोषोद्भावनं द्वयोः॥"—**अष्टश० अष्टस० पृ० ८७।** "तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः। स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।"—**तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१।**

सकती। अतएव अकलङ्क के मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की जय। अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय समव्याप्तिक हैं। कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजयशून्य नहीं। धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था में अकलङ्क की सूक्ष्म अहिंसा-प्रकृति ने एक त्रुटि देख ली जान पड़ती है। वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कर्त्तव्य-पालन न करने मात्र से अगर प्रतिवादी को पराजित समझा जाय तो दुष्टसाधन के प्रयोग में सम्यक् साधन के प्रयोग रूप कर्त्तव्य का पालन न होने से वादी भी पराजित क्यों न समझा जाय ?। अगर धर्मकीर्त्ति वादी को पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादी को भी पराजित नहीं मानना चाहिए। इस तरह अकलङ्क ने पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादी को पराजित मान लेने की व्यवस्था को एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्ण समभाव-मूलक सीधा मार्ग बाँध दिया कि अपने पक्ष की सिद्धि करना ही जय है। और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है। अकलङ्कोपज्ञ यह जय-पराजय व्यवस्था का मार्ग अन्तिम है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्य ने या ब्राह्मण विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई। जैन परम्परा में जय-पराजय व्यवस्था का यह एक ही मार्ग प्रचलित है, जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १६४), वादिराज (न्यायवि० टी० पृ० ५२७B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्वकालीन और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषय में भट्टारक अकलङ्क के ही अनुगामी हैं।

सूत्र ३४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायदर्शनानुसारी निग्रहस्थानों का पूर्वपक्षरूप से जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० २१-२७) के अनुसार है और उन्हीं निग्रहस्थानों का जो खण्डन किया है वह अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्डानुसारी (पृ० २०० B.-२०३ A) है। इसी तरह धर्मकीर्तिसम्मत (वादन्याय) निग्रहस्थानों का वर्णन और उसका खण्डन भी अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुसार है। यद्यपि न्याय-सम्मत निग्रहस्थानों का निर्देश तथा खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २८३ से) में भी है तथा धर्मकीर्त्तिसम्मत निग्रहस्थानों का वर्णन तथा खंडन वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (७०३से) में, जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० ६४६) और विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ० ८१) में किया है, पर हेमचन्द्रीय वर्णन और खण्डन प्रमेयकमलमार्त्तण्ड से ही शब्दशः मिलता है।

पृ० ६५ पं० २. 'विरुद्धम्'–"तदुक्तम्—विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः। आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०। न्यायवि० टी० लि० पृ० ५२८ A। "अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्—विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य"—रत्नाकरा० ८. २२।

पृ० ६५. पं० २५. **'अत्राननुभाषण'**—तुलना–"अत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्त्या संगृहीतानि शेषाणि विप्रतिपत्त्या"–न्यायम० पृ० ६३६। न्यायकलिका पृ० २२।

इस विषय में न्यायभाष्यकार का मतभेद इस प्रकार है–"तत्राननुभाषणमज्ञानम-
5 प्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम्। शेषस्तु विप्रतिपत्ति-रिति।"–न्यायभा० १. २. २०।

पृ० ६६. पं० ६. **'तदेतदसंगतम्'**—तुलना–"इति भाष्यकारमतमसंगतमेव, साक्षाद् दृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः ...." इत्यादि–प्रमेयक० पृ० २०० B।

पृ० ६६. पं० १५. **'तदेतदपि व्याख्यानम्'**—तुलना–"तदेतदप्युद्योतकरस्य जाड्यमा-
10 विष्करोति, इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात्......" इत्यादि–प्रमेयक० पृ० २०० B।

पृ० ६८. पं० २३. **'दश दाडिमानि'**—तुलना--पात० महा० २. १. ४५।

पृ० ६८. पं० २७. **'शङ्कः कदल्याम्'**—तुलना–नयचक्रवृ० पृ० १०६ B।

पृ० ७२. पं० १६. **'यच्चास्य व्याख्यानम्'**-तुलना–"इष्टस्यार्थस्य सिद्धिः साधनम्, तस्य निर्वर्त्तकमङ्गम्, तस्यावचनम्—तस्याङ्गस्यानुच्चारणं वादिनो निग्रहाधिकरणम्, तदभ्युपगम्या-
15 प्रतिभया तूष्णींभावात्। साधनाङ्गस्यासमर्थनाद्वा। त्रिविधमेव हि लिङ्गमप्रत्यक्षस्य सिद्धेर-ङ्गम्–स्वभावः कार्यमनुपलम्भश्च। तस्य समर्थनम्–साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाध-नम्—यथा......। अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम्।"–वादन्याय पृ० ३-६।

पृ० ७३. पं० १४. **'यच्चेदमसाधनाङ्गम्'**-तुलना–"अन्वयव्यतिरेकवचनयोर्वा साधर्म्यवति वैधर्म्यवति च साधनप्रयोग एकस्यैवाभिधानेन सिद्धेर्भावात् द्वितीयस्यासामर्थ्यमिति तस्याप्य-
20 साधनाङ्गस्याभिधानं निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव।"–वादन्याय पृ० ६५।

पृ० ७३. पं० २६. **'ननु न स्वपक्ष'**-तुलना–"स्यान्मतम्–न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात्......" इत्यादि–अष्टस० पृ० ८१। प्रमेयक० पृ० २०४ A।

पृ० ७४. पं० १८. **'यच्चेदमदोषोद्भावनम्'** तुलना–"अदोषोद्भावनम् प्रतिवादिनो निग्रहस्थानम्। वादिना साधने प्रयुक्तेऽभ्युपगतोत्तरपक्षो यत्र विषये प्रतिवादी यदा न दोष-
25 मुद्भावयति तदा पराजितो वक्तव्यः।......अथवा यो न दोषः साधनस्य तद्भावेपि वादिना तदसाधयितुमिष्टस्यार्थस्य सिद्धेर्विघाताभावात्। तस्योद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणं मिथ्योत्तराभिधानात्......" इत्यादि—वादन्याय पृ० ६६-७२।

पृ० ७४. पं० २७ **'अयं च प्रागुक्तः'**–तुलना–"अथवा प्रागुक्तश्चतुरङ्गोवादः पत्राव-लम्बनमप्यपेक्षते। अतस्तल्लक्षणमत्र......" प्रमेयक० पृ० २०७ B

30 पृ० ७४. पं० २६. **'शक्यमित्याह'**–प्रमाणमीमांसा अधूरी होने के कारण 'पत्रपरीक्षा' प्रारम्भ से ही खण्डित है। अभ्यासी इसे पूर्णतया विद्यानन्द की 'पत्रपरीक्षा' जो एक स्वतन्त्र प्रकरण है उससे तथा प्रमेयकमलमार्तण्डगत (पृ० २०७ B) 'पत्रपरीक्षा' से जान लेवें।

वृद्धिपत्रक।

पृ० १. पं० १. 'दर्शन'–दर्शन शब्द के तीन अर्थ सभी परम्पराओं में प्रसिद्ध हैं, जैसे–घटदर्शन इत्यादि व्यवहार में चाक्षुष ज्ञान अर्थ में, आत्मदर्शन इत्यादि व्यवहार में साक्षात्कार अर्थ में और न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन इत्यादि व्यवहार में ख़ास ख़ास परम्परासम्मत निश्चित विचारसरणी अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग सर्वसम्मत है पर उसके दो अर्थ जो जैनपरम्परा में प्रसिद्ध हैं वे अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध नहीं। उनमें से एक अर्थ तो है श्रद्धान और दूसरा अर्थ है सामान्यबोध या आलोचन मात्र[1]। जैनशास्त्रों में तत्त्वश्रद्धा को दर्शन पद से व्यवहृत किया जाता है जैसे—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'–तत्त्वार्थ० १. २। इसी तरह वस्तु के निर्विशेषसत्तामात्र के बोध को भी दर्शन कहा जाता है जैसे—'विषय-विषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात्'–प्रमाणन० २. ७। दर्शन शब्द के उक्त पाँच अर्थों में से अन्तिम सामान्यबोधरूप अर्थ लेकर ही यहाँ विचार प्रस्तुत है। इसके सम्बन्ध में यहाँ छः मुद्दों पर कुछ विचार किया जाता है।

१ अस्तित्व–जिस बोध में वस्तु का निर्विशेषणस्वरूपमात्र भासित हो ऐसे बोध का अस्तित्व एक या दूसरे नाम से तीन परम्पराओं के सिवाय सभी परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। जैनपरम्परा जिसे दर्शन कहती है उसी सामान्यमात्र बोध को न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा पूर्वोत्तरमीमांसक निर्विकल्पक और आलोचनमात्र कहते हैं। बौद्धपरम्परा में भी उसका निर्विकल्पक नाम प्रसिद्ध है। उक्त सभी दर्शन ऐसा मानते हैं कि ज्ञानव्यापार के उत्पत्ति-क्रम में सर्वप्रथम ऐसे बोध का स्थान अनिवार्यरूप से आता है जो ग्राह्य विषय के सन्मात्र स्वरूप को ग्रहण करे पर जिसमें कोई अंश विशेष्यविशेषणरूप से भासित न हो। फिर भी[2] मध्व और वल्लभ की दो वेदान्त परम्पराएँ और तीसरी भर्तृहरि और उसके पूर्ववर्ती शाब्दिकों की परम्परा ज्ञानव्यापार के उत्पत्तिक्रम में किसी भी प्रकार के सामान्यमात्र बोध का अस्तित्व स्वीकार नहीं करती। उक्त तीन परम्पराओं का मन्तव्य है कि ऐसा बोध कोई हो ही नहीं सकता जिसमें कोई न कोई विशेष भासित न हो या जिसमें किसी भी प्रकार का विशेष्य-

---

१ दर्शन शब्द का आलोचन अर्थ, जिसका दूसरा नाम अनाकार उपयोग भी है, यहाँ कहा गया है सो श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों परम्परा की अति प्रसिद्ध मान्यता को लेकर। वस्तुतः दोनों परम्पराओं में अनाकार उपयोग के सिवाय अन्य अर्थ भी दर्शन शब्द के देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—लिङ्ग के विना ही साक्षात् होनेवाला बोध अनाकार या दर्शन है और लिङ्ग सापेक्ष बोध साकार या ज्ञान है––यह एक मत। दूसरा मत ऐसा भी है कि वर्तमानमात्रग्राही बोध–दर्शन और त्रैकालिक ग्राही बोध–ज्ञान —**तत्त्वार्थ भा० टी० २.९**। दिगम्बरीय धवला टीका का ऐसा भी मत है कि जो आत्ममात्र का अवलोकन वह दर्शन और जो बाह्य अर्थ का प्रकाश वह ज्ञान। यह मत बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका (गा० ४४) तथा लघीयस्त्रयी की अभयचन्द्रकृत टीका (१. ५) में निर्दिष्ट है।

२ Indian Psychology: Perception. P. 52-54

विशेषणसम्बन्ध भासित न हो। उनका कहना है कि प्राथमिकदशापन्न ज्ञान भी किसी न किसी विशेष को, चाहे वह विशेष स्थूल ही क्यों न हो, प्रकाशित करता ही है अतएव ज्ञानमात्र सविकल्पक हैं। निर्विकल्पक का मतलब इतना ही समझना चाहिए कि उसमें इतर ज्ञानों की अपेक्षा विशेष कम भासित होते हैं। ज्ञानमात्र को सविकल्पक माननेवाली उक्त 5 तीन परम्पराओं में भी शाब्दिक परम्परा ही प्राचीन है। सम्भव है भर्तृहरि की उस परम्परा को ही मध्व और वल्लभ ने अपनाया हो।

२ लौकिकालौकिकता—निर्विकल्प का अस्तित्व माननेवाली सभी दार्शनिक परम्पराएँ लौकिक निर्विकल्प अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षजन्य निर्विकल्प को तो मानती हैं ही पर यहाँ प्रश्न है अलौकिक निर्विकल्प के अस्तित्व का। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएँ ऐसे भी 10 निर्विकल्पक को मानती हैं जो इन्द्रियसन्निकर्ष के सिवाय भी योग या विशिष्टात्मशक्ति से उत्पन्न होता है। बौद्धपरम्परा में ऐसा अलौकिक निर्विकल्पक योगिसंवेदन के नाम से प्रसिद्ध है जब कि जैनपरम्परा में अवधिदर्शन और केवलदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वोत्तरमीमांसक विविध कक्षावाले योगियों का तथा उनके योगजन्य अलौकिक ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतएव उनके मतानुसार भी अलौकिक 15 निर्विकल्प का अस्तित्व मान लेने में कुछ बाधक जान नहीं पड़ता। अगर यह धारणा ठीक है तो कहना होगा कि सभी निर्विकल्पास्तित्ववादी सविकल्पक ज्ञान की तरह निर्विकल्पक ज्ञान को भी लौकिक-अलौकिकरूप से दो प्रकार का मानते हैं।

३ विषयस्वरूप—सभी निर्विकल्पकवादी सत्तामात्र को निर्विकल्प का विषय मानते हैं पर सत्ता के स्वरूप के बारे में सभी एकमत नहीं। अतएव निर्विकल्पक के ग्राह्य विषय 20 का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न दर्शन के अनुसार जुदा-जुदा ही फलित होता है। बौद्धपरम्परा के अनुसार अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है और वह भी क्षणिक व्यक्तिमात्र में ही पर्यवसित है जब कि शाङ्कर वेदान्त के अनुसार अखण्ड और सर्वव्यापक ब्रह्म ही सत्त्वस्वरूप है, जो न देश-बद्ध है न कालबद्ध। न्याय वैशेषिक और पूर्व मीमांसक के अनुसार अस्तित्व मात्र सत्ता है या जातिरूप सत्ता है जो बौद्ध और वेदान्तसम्मत सत्ता से भिन्न है। सांख्य-योग और जैनपर-25 म्परा में सत्ता न तो क्षणिक व्यक्ति मात्र नियत है, न ब्रह्मस्वरूप है और न जातिरूप है। उक्त तीनों परम्पराएँ परिणामिनित्यत्ववादी होने के कारण उनके मतानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप ही सत्ता फलित होती है। जो कुछ हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि सभी निर्विकल्पकवादी निर्विकल्पक के ग्राह्य विषय रूप से सन्मात्र का ही प्रतिपादन करते हैं।

४ मात्र प्रत्यक्षरूप – कोई ज्ञान परोक्षरूप भी होता है और प्रत्यक्षरूप भी जैसे सवि-30 कल्पक ज्ञान, पर निर्विकल्पक ज्ञान तो सभी निर्विकल्पकवादियों के द्वारा केवल प्रत्यक्ष-रूप माना गया है। कोई उसकी परोक्षता नहीं मानता, क्योंकि निर्विकल्पक, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, पर उसकी उत्पत्ति किसी ज्ञान से व्यवहित न होने के कारण वह साक्षात्रूप होने से प्रत्यक्ष ही है। परन्तु जैनपरम्परा के अनुसार दर्शन की गणना

परोक्ष में भी की जानी चाहिए, क्योंकि तार्किक परिभाषा के अनुसार परोक्ष मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है अतएव तदनुसार मति उपयोग के क्रम में सर्वप्रथम अवश्य होनेवाले दर्शन नामक बोध को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है पर आगमिक प्राचीन विभाग, जिसमें पारमार्थिक-सांव्यवहारिकरूप से प्रत्यक्ष के भेदों को स्थान नहीं है, तदनुसार तो मतिज्ञान परोक्ष मात्र ही माना जाता है जैसा कि तत्त्वार्थ- 5
सूत्र (१. ११) में देखा जाता है। तदनुसार जैनपरम्परा में इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप ही है प्रत्यक्षरूप नहीं। सारांश यह कि जैन परम्परा में तार्किक परिभाषा के अनुसार दर्शन प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। अवधि और केवल रूप दर्शन तो मात्र प्रत्यक्षरूप ही हैं जब कि इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप होने पर भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु आगमिक परिपाटी के अनुसार इन्द्रियजन्य दर्शन केवल परोक्ष ही है और इन्द्रियनिरपेक्ष 10
अवध्यादि दर्शन केवल प्रत्यक्ष ही हैं।

५ उत्पादक सामग्री–लौकिक निर्विकल्पक जो जैन तार्किक परम्परा के अनुसार सांव्यवहारिक दर्शन है उसकी उत्पादक सामग्री में विषयेन्द्रियसन्निपात और यथासम्भव आलोकादि सन्निविष्ट हैं। पर अलौकिक निर्विकल्प जो जैनपरम्परा के अनुसार पारमार्थिक दर्शन है उसकी उत्पत्ति इन्द्रियसन्निकर्ष के सिवाय ही केवल विशिष्ट आत्मशक्ति से 15
मानी गई है। उत्पादक सामग्री के विषय में जैन और जैनेतर परम्पराएँ कोई मतभेद नहीं रखतीं। फिर भी इस विषय में शाङ्कर वेदान्त का मन्तव्य जुदा है जो ध्यान देने योग्य है। वह मानता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यजन्य अखण्ड ब्रह्मबोध भी निर्विकल्पक है। इसके अनुसार निर्विकल्पक का उत्पादक शब्द आदि भी हुआ जो अन्य परम्परा-सम्मत नहीं। 20

६ प्रामाण्य–निर्विकल्प के प्रामाण्य के सम्बन्ध में जैनेतर परम्पराएँ भी एकमत नहीं। बौद्ध और वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पक को ही प्रमाण मानते हैं इतना ही नहीं बल्कि उनके मतानुसार निर्विकल्पक ही मुख्य व पारमार्थिक प्रमाण है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में निर्विकल्पक के प्रमात्व सम्बन्ध में एकविध कल्पना नहीं है। प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक प्रमारूप माना जाता है जैसा कि श्रीधर ने स्पष्ट किया है (कन्दली पृ० 25
१९८) और विश्वनाथ ने भी भ्रमभिन्नत्वरूप प्रमात्व मानकर निर्विकल्पक को प्रमा कहा है (कारिकावली का० १३४) परन्तु गङ्गेश की नव्य परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक न प्रमा है और न अप्रमा। तदनुसार प्रमात्व किंवा अप्रमात्व प्रकारतादिघटित होने से, निर्विकल्प जो प्रकारतादिशून्य है वह प्रमा-अप्रमा उभय विलक्षण है–कारिकावली का० १३५। पूर्वमीमांसक और सांख्य-योगदर्शन सामान्यतः ऐसे विषयों में न्याय-वैशेषिकानुसारी होने से उनके 30
मतानुसार भी निर्विकल्पक के प्रमात्व की वे ही कल्पनाएँ मानी जानी चाहिएँ जो न्याय-वैशेषिक परम्परा में स्थिर हुई हैं। इस सम्बन्ध में जैन परम्परा का मन्तव्य यहाँ विशेष रूप से वर्णन करने योग्य है।

जैनपरम्परा में प्रमात्व किंवा प्रामाण्य का प्रश्न उसमें तर्कयुग आने के बाद का है, पहिले का नहीं। पहिले तो उसमें मात्र आगमिक दृष्टि थी। आगमिक दृष्टि के अनुसार दर्शनोपयोग को प्रमाण किंवा अप्रमाण कहने का प्रश्न ही न था। उस दृष्टि के अनुसार दर्शन हो या ज्ञान, यों तो वह सम्यक् हो सकता है या मिथ्या। उसका सम्यक्त्व और मिथ्यात्व 5 भी आध्यात्मिक भावानुसारी ही माना जाता था। अगर कोई आत्मा कम से कम चतुर्थ गुणस्थान का अधिकारी हो अर्थात् वह सम्यक्त्वप्राप्त हो तो उसका सामान्य या विशेष कोई भी उपयोग मोक्षमार्गरूप तथा सम्यग्रूप माना जाता है। तदनुसार आगमिक दृष्टि से सम्यक्त्वयुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग सम्यक्दर्शन है और मिथ्यादृष्टियुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग मिथ्यादर्शन है। व्यवहार में मिथ्या, भ्रम या व्यभिचारी समझा जानेवाला भी 10 दर्शन अगर सम्यक्त्वधारि-आत्मगत है तो वह सम्यग्दर्शन ही है जब कि सत्य, अभ्रम और अबाधित समझा जानेवाला भी दर्शनोपयोग अगर मिथ्यादृष्टियुक्त है तो वह मिथ्यादर्शन ही है[१]।

दर्शन के सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का आगमिक दृष्टि से जो आपेक्षिक वर्णन ऊपर किया गया है वह सन्मतिटीकाकार अभयदेव ने दर्शन को भी प्रमाण कहा है इस आधार पर समझना चाहिए। तथा उपाध्याय यशोविजयजी ने संशय आदि ज्ञानों को भी सम्यक् दृष्टि- 15 युक्त होने पर सम्यक् कहा है इस आधार पर समझना चाहिए। आगमिक प्राचीन और श्वेताम्बर-दिगम्बर उभय साधारण परम्परा तो ऐसा नहीं मानती, क्योंकि दोनों परम्पराओं के अनुसार चक्षु, अचक्षु, और अवधि तीनों दर्शन दर्शन ही माने गये हैं। उनमें से न कोई सम्यक् या न कोई मिथ्या और न कोई सम्यक्मिथ्या उभयविध माना गया है जैसा कि मति-श्रुत-अवधि ज्ञान सम्यक् और मिथ्या रूप से विभाजित हैं। इससे यही फलित होता 20 है कि दर्शन उपयोग मात्र निराकार होने से उसमें सम्यग्दृष्टि किंवा मिथ्यादृष्टिप्रयुक्त अन्तर की कल्पना की नहीं जा सकती। दर्शन चाहे चक्षु हो, अचक्षु हो या अवधि–वह दर्शन मात्र है उसे न सम्यग्दर्शन कहना चाहिए और न मिथ्यादर्शन। यही कारण है कि पहिले गुण स्थान में भी वे दर्शन ही माने गए हैं जैसा कि चौथे गुणस्थान में। यह वस्तु गन्धहस्ति सिद्धसेन ने सूचित भी की है—"अत्र च यथा साकाराद्धायां सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्विशेषः, 25 नैवमस्ति दर्शने, अनाकारत्वे द्वयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थः"—तत्त्वार्थभा० टी २. ६।

यह हुई आगमिक दृष्टि की बात जिसके अनुसार उमास्वाति ने उपयोग में सम्यक्त्व-असम्यक्त्व का निदर्शन किया है। पर जैनपरम्परा में तर्कयुग दाखिल होते ही प्रमात्व-अप्रमात्व या प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रश्न आया। और उसका विचार भी आध्यात्मिक भावानुसारी न होकर विषयानुसारी किया जाने लगा जैसा कि जैनेतर दर्शनों में तार्किक 30 विद्वान् कर रहे थे। इस तार्किकदृष्टि के अनुसार जैनपरम्परा दर्शन को प्रमाण मानती है, अप्रमाण मानती है, उभयरूप मानती है या उभयभिन्न मानती है? यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत है।

१–"सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनां संशयादीनामपि ज्ञानत्वस्य महाभाष्यकृता परिभाषितत्वात्"–ज्ञानबिन्दु पृ० १३६ B. नन्दी सू० ४१

तार्किकदृष्टि के अनुसार भी जैनपरम्परा में दर्शन के प्रमात्व या अप्रमात्व के बारे में कोई एकवाक्यता नहीं। सामान्यरूप से श्वेताम्बर हो या दिगम्बर सभी तार्किक दर्शन को प्रमाण कोटि से बाहर ही रखते हैं। क्योंकि वे सभी बौद्धसम्मत निर्विकल्पक के प्रमात्व का खण्डन करते हैं और अपने-अपने प्रमाण लक्षण में विशेषोपयोगबोधक ज्ञान, निर्णय आदि पद दाखिल करके सामान्य उपयोग दर्शन को प्रमाण लक्षण का अलक्ष्य ही मानते हैं[१]। इस तरह दर्शन को प्रमाण न मानने की तार्किक परम्परा श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी ग्रन्थों में साधारण है। माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरि ने तो दर्शन को न केवल प्रमाणबाह्य ही रक्खा है बल्कि उसे प्रमाणाभास (परी० ६.२। प्रमाणन० ६. २४,२५) भी कहा है।

सन्मतिटीकाकार अभयदेव ने (सन्मतिटी० पृ० ४५७) दर्शन को प्रमाण कहा है पर वह कथन तार्किकदृष्टि से न समझना चाहिए। क्योंकि उन्होंने आगमानुसारी सन्मति की व्याख्या करते समय आगमदृष्टि ही लक्ष्य में रखकर दर्शन को सम्यग्दर्शन अर्थ में प्रमाण कहा है, न कि तार्किकदृष्टि से विषयानुसारी प्रमाण। यह विवेक उनके उस सन्दर्भ से हो जाता है।

अलबत्ता उपाध्याय यशोविजयजी के दर्शन सम्बन्धी प्रामाण्य-अप्रामाण्य विचार में कुछ विरोध सा जान पड़ता है। एक ओर वे दर्शन को व्यञ्जनावग्रह-अनन्तरभावी नैश्चयिक अवग्रहरूप बतलाते हैं[२] जो मतिव्यापार होने के कारण प्रमाण कोटि में आ सकता है। और दूसरी ओर वे वादिदेव के प्रमाण लक्षणवाले सूत्र की व्याख्या में ज्ञानपद का प्रयोजन बतलाते हुए दर्शन को प्रमाणकोटि से बहिर्भूत बतलाते हैं–तर्कभाषा पृ० १। इस तरह उनके कथन में जहाँ एक ओर दर्शन बिलकुल प्रमाणबहिर्भूत है वहाँ दूसरी ओर अवग्रह रूप होने से प्रमाणकोटि में आने योग्य भी है। परन्तु जान पड़ता है उनका तात्पर्य कुछ और है। और सम्भवत: वह तात्पर्य यह है कि मत्यंश होने पर भी नैश्चयिक अवग्रह प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारक्षम न होने के कारण प्रमाणरूप गिना ही न जाना चाहिए। इसी अभिप्राय से उन्होंने दर्शन को प्रमाणकोटिबहिर्भूत बतलाया है ऐसा मान लेने से फिर कोई विरोध नहीं रहता।

आचार्य हेमचन्द्र ने वृत्ति में दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाले विचार तीन जगह प्रसङ्गवश प्रगट किए हैं। अवग्रह का स्वरूप दर्शाते हुए उन्होंने कहा है कि दर्शन जो अविकल्पक है वह अवग्रह नहीं, अवग्रह का परिणामी कारण अवश्य है और वह इन्द्रियार्थसम्बन्ध के बाद पर अवग्रह के पूर्व उत्पन्न होता है–१. १. २६। बौद्धसम्मत निर्विकल्पक ज्ञान को अप्रमाण बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह अनध्यवसाय रूप होने से प्रमाण नहीं, अध्यवसाय या निर्णय ही प्रमाण गिना जाना चाहिए–१. १. ६। उन्होंने निर्णय का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि अनध्यवसाय से भिन्न तथा अविकल्पक एवं संशय से भिन्न ज्ञान ही निर्णय है–

---

१ लघी० परी० १. ३। प्रमेयक० पृ० ८। प्रमाणन० १. २

२ तर्कभाषा पृ० ५। ज्ञानबिन्दु पृ० १३८।

पृ०३.पं०१ । आचार्य के उक्त सभी कथनों से फलित यही होता है कि वे जैनपरम्परा प्रसिद्ध दर्शन और बौद्धपरम्परा प्रसिद्ध निर्विकल्पक को एक हो मानते हैं और दर्शन को अनिर्णय रूप होने से प्रमाण नहीं मानते तथा उनका यह अप्रमाणत्व कथन भी तार्किक दृष्टि से है, आगम दृष्टि से नहीं, जैसा कि अभयदेव भिन्न सभी जैन तार्किक मानते आए हैं ।

5 आ० हेमचन्द्रोक्त अवग्रह का परिणामिकारणरूप दर्शन ही उपाध्यायजी का नैश्चयिक अवग्रह समझना चाहिए ।

पृ० ३. पं० १४. 'स्वनिर्णय'—दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान स्वप्रकाश है, परप्रकाश है या स्व-परप्रकाश है, इन प्रश्नों की बहुत लम्बी और विविधकल्पनापूर्ण चर्चा है । इस विषय में किसका क्या पक्ष है इसका वर्णन करने के पहिले कुछ सामान्य बातें जान लेनी जरूरी हैं 10 जिससे स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व का भाव ठीक ठीक समझा जा सके ।

१—ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष योग्य है । ऐसा सिद्धान्त कुछ लोग मानते हैं जब कि दूसरे कोई इससे बिलकुल विपरीत मानते हैं । वे कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव परोक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं । इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से ज्ञान के स्वभावभेद की कल्पना ही स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का मूलाधार है ।

15 २—स्वप्रकाश शब्द का अर्थ है स्वप्रत्यक्ष अर्थात् अपने आप ही ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से भासित होना । परन्तु परप्रकाश शब्द के दो अर्थ हैं जिनमें से पहिला तो परप्रत्यक्ष अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञानव्यक्ति में प्रत्यक्षरूप से भासित होना, दूसरा अर्थ है परानुमेय अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में अनुमेयरूपतया भासित होना ।

३—स्वप्रत्यक्ष का यह अर्थ नहीं कि कोई ज्ञान स्वप्रत्यक्ष है अत एव उसका अनुमान 20 आदि द्वारा बोध होता ही नहीं पर उसका अर्थ इतना ही है कि जब कोई ज्ञान व्यक्ति पैदा हुई तब वह स्वाधार प्रमाता को प्रत्यक्ष होती ही है अन्य प्रमाताओं के लिये उसकी परोक्षता ही है तथा स्वाधार प्रमाता के लिये भी वह ज्ञान व्यक्ति यदि वर्तमान नहीं तो परोक्ष ही है[१] । परप्रकाश के परप्रत्यक्ष अर्थ के पक्ष में भी यही बात लागू है—अर्थात् वर्तमान ज्ञान व्यक्ति ही स्वाधार प्रमाता के लिये प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं ।

25 विज्ञानवादी बौद्ध (न्यायबि० १. १०) मीमांसक, प्रभाकर[२] वेदान्त[३] और जैन ये स्वप्रकाशवादी हैं । ये सब ज्ञान के स्वरूप के विषय में एक मत नहीं । क्योंकि विज्ञानवाद

---

१ "यत्त्वनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तं तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति, परानुभवस्य हानोपादानादिलिङ्गकानुमानज्ञानविषयत्वात् स्वानुभवस्याप्यतीतस्याज्ञासिषमिति ज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च ।"—श्रीभाष्य पृ० २४ ।

२ "सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा । साक्षात्कर्तृत्वसामान्यात् प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥"—प्रकरणप० पृ० ५६ ।

३ भामती पृ० १६ । "सेयं स्वयं प्रकाशानुभूतिः"—श्रीभाष्य पृ० १८ । चित्सुखी पृ० ९ ।

के अनुसार ज्ञानभिन्न अर्थ का अस्तित्व ही नहीं[१] और ज्ञान भी साकार। प्रभाकर के मतानुसार बाह्यार्थ का अस्तित्व है (बृहती पृ० ७४) जिसका संवेदन होता है। वेदान्त के अनुसार ज्ञान मुख्यतया ब्रह्मरूप होने से नित्य ही है। जैन मत प्रभाकर मत की तरह बाह्यार्थ का अस्तित्व और ज्ञान को जन्य स्वीकार करता है। फिर भी वे सभी इस बारे में एकमत हैं कि ज्ञानमात्र स्वप्रत्यक्ष हैं अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष हो या अनुमिति, शब्द, स्मृति आदि रूप हो फिर भी वह स्वस्वरूप के विषय में साक्षात्काररूप ही है, उसका अनुमितित्व, शाब्दत्व, स्मृतित्व आदि अन्य ग्राह्य की अपेक्षा से समझना चाहिए अर्थात् भिन्न भिन्न सामग्री[२] से प्रत्यक्ष, अनुमेय, स्मर्तव्य आदि विभिन्न विषयों में उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमिति, स्मृति आदि ज्ञान भी स्वस्वरूप के विषय में प्रत्यक्ष ही हैं।

ज्ञान को परप्रत्यक्ष अर्थ में परप्रकाश माननेवाले सांख्य-योग[३] और न्याय-वैशेषिक हैं[४]। वे कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष होने का है पर वह अपने आप प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। उसकी प्रत्यक्षता अन्याश्रित है। अतएव ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमिति हो, या शब्द, स्मृति आदि अन्य कोई, फिर भी वे सब स्वविषयक अनुव्यवसाय के द्वारा प्रत्यक्षरूप से गृहीत होते ही हैं। परप्रत्यक्षत्व के विषय में इनका ऐकमत्य होने पर भी पर-शब्द के अर्थ के विषय में ऐकमत्य नहीं क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार तो पर का अर्थ है अनुव्यवसाय जिसके द्वारा पूर्ववर्त्ती कोई भी ज्ञानव्यक्ति प्रत्यक्षतया गृहीत होती है परन्तु सांख्य-योग के अनुसार पर शब्द का अर्थ है चैतन्य जो पुरुष का सहज स्वरूप है और जिसके द्वारा ज्ञानात्मक सभी बुद्धिवृत्तियाँ प्रत्यक्षतया भासित होती हैं।

परानुमेय अर्थ में परप्रकाशवादी केवल कुमारिल हैं जो ज्ञान को स्वभाव से ही परोक्ष मानकर उसका तज्जन्यज्ञाततारूप लिङ्ग के द्वारा अनुमान मानते हैं, जो अनुमान कार्यहेतुक कारणविषयक है—शास्त्रदी०पृ० १५७। कुमारिल के सिवाय और कोई ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष नहीं मानता। प्रभाकर के मतानुसार जो फलसंविक्ति से ज्ञान का अनुमान माना जाता है वह कुमारिल-संमत प्राकट्यरूप फल से होनेवाले ज्ञानानुमान से बिलकुल जुदा है। कुमारिल तो प्राकट्य से ज्ञान, जो आत्मसमवेत गुण है उसका अनुमान मानते हैं जब कि प्रभाकरमतानुसार संविद्रूप फल से अनुमित होनेवाला ज्ञान वस्तुतः ज्ञान गुण नहीं किन्तु ज्ञानगुणजनक सन्निकर्ष आदि जड सामग्री ही है[५]। इस सामग्री रूप अर्थ में ज्ञान शब्द के प्रयोग का समर्थन करणार्थक 'अन्' प्रत्यय मान कर किया जाता है।

---

१ "सहोपलम्भनियमादभेदोनीलतद्धियोः" **बृहती पृ० ८६।** "प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः। यथा प्रकाशोऽभिमतः तथा धीरात्मवेदिनी।"—**प्रमाणवा० ३. ३२९।**

२ सर्वविज्ञानहेतूत्था......यावती काचिद्ग्रहणस्मरणरूपा"—**प्रकरणप० पृ० ५६।**

३ "सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्"—**योगसू० ४. १८, १९।**

४ "मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः"—**कारिकावली ५७।**

५ सविदुत्पत्तिकारणमात्ममनःसन्निकर्षाख्यं तदित्यवगम्य परितुष्यतामायुष्मता।"—**प्रकरणप० पृ० ६३।**

आचार्य हेमचन्द्र ने जैन परम्परासम्मत ज्ञानमात्र के प्रत्यक्षत्व स्वभाव का सिद्धान्त मानकर ही उसका स्वनिर्णयत्व स्थापित किया है और उपर्युक्त द्विविध परप्रकाशत्व का प्रतिवाद किया है। इनके स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-निरास की दलीलें तथा प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण का उपन्यास यह सब वैसा ही है जैसा शालिकनाथ की प्रकरणपञ्चिका तथा श्रीभाष्य आदि में है। स्वपक्ष के ऊपर औरों के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार भी आचार्य का वैसा ही है जैसा उक्त ग्रन्थों में है।

पृ० ९. पं० २६ 'विशदः'—प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अन्य मुद्दों पर लिखने के पहले यह जता देना जरूरी है कि प्राचीन समय में लक्षणकार ऋषि प्रत्यक्ष लक्षण का लक्ष्य कितना समझते थे अर्थात् वे जन्य प्रत्यक्ष मात्र को लक्ष्य मानकर लक्षण रचते थे, या जन्य-नित्य-साधारण प्रत्यक्ष को लक्ष्य मानकर लक्षण रचते थे जैसा कि उत्तरकालीन नैयायिकों ने आगे जाकर जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्ष का लक्षण रचा है ?। जहाँ तक देखा गया उससे यही जान पड़ता है कि प्राचीन समय के लक्षणकारों में से किसी ने चाहे वह ईश्वराविरोधी नैयायिक वैशेषिक ही क्यों न हो जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्ष का लक्षण बनाया नहीं है। ईश्वराविरोधी हो या ईश्वरविरोधी सभी दर्शनकारों के प्राचीन मूल ग्रन्थों में एक मात्र जन्यप्रत्यक्ष का ही निरूपण है। नित्यप्रत्यक्ष का किसी में सम्भव भी है और सम्भव है तो वह ईश्वर में ही होता है इस बात का किसी प्राचीन ग्रन्थ में सूचन तक नहीं[1]। अपौरुषेयत्व के द्वारा वेद के प्रामाण्य का समर्थन करनेवाले मीमांसकों के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक दर्शन ने यह स्थापन तो शुरू कर दिया कि वेद शब्दात्मक और अनित्य होने से उसका प्रामाण्य अपौरुषेयत्व-मूलक नहीं किन्तु पौरुषेयत्व-मूलक ही है। फिर भी उस दर्शन के प्राचीन विद्वानों ने वेद-प्रणेतारूप से कहीं ईश्वर का स्पष्ट स्थापन नहीं किया है। उन्होंने वेद को आप्त-ऋषिप्रणीत कह कर ही उसका प्रामाण्य मीमांसक-सम्मत प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया और साथ ही वेदाप्रामाण्यवादी जैन बौद्ध आदि को जवाब भी दे दिया कि वेद प्रमाण है क्योंकि उसके प्रणेता हमारे मान्य ऋषि आप्त ही रहे[2]। पिछले व्याख्याकार नैयायिकों ने जैसे ईश्वर को जगत्स्रष्टा भी माना और वेद-प्रणेता भी, इसी तरह उन्होंने उसमें नित्यज्ञान की कल्पना भी की वैसे किसी भी प्राचीन वैदिक दर्शनसूत्रग्रन्थों में न तो ईश्वर का जगत्स्रष्टा रूप से न वेदकर्त्ता रूप से स्पष्ट स्थापन है और न कहीं भी उसमें नित्यज्ञान के अस्तित्व का उल्लेख भी है। अतएव यह सुनिश्चित है कि प्राचीन सभी प्रत्यक्ष लक्षणों का लक्ष्य केवल जन्य प्रत्यक्ष ही है। इसी जन्य प्रत्यक्ष को लेकर कुछ मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

---

१ वैशे० ३. १. १८। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"–न्यायसू० १. १. ४। "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्"–सांख्यका० ५। सांख्यसू० १. ८९। योगभा० १. ७। "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम्......"–जैमि० १. १. ४। "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थात् सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरूप्यते ॥"–चरकसं० ११. २०।

२ न्यायसू० १. १. ७; २. १. ६९। वैशे० ६. १. १।

१ लौकिकालौकिकता—प्राचीन समय में लक्ष्यकोटि में जन्यमात्र ही निविष्ट था फिर भी चार्वाक के सिवाय सभी दर्शनकारों ने जन्य प्रत्यक्ष के लौकिक अलौकिक ऐसे दो प्रकार माने हैं। सभी ने इन्द्रियजन्य और मनोमात्रजन्य वर्त्तमान संबद्ध-विषयक ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहा है। अलौकिक प्रत्यक्ष का वर्णन भिन्न भिन्न दर्शनों में भिन्न भिन्न नाम से है। सांख्य-योग,[1] न्याय-वैशेषिक,[2] बौद्ध[3] सभी अलौकिक प्रत्यक्ष का योगि- 5
प्रत्यक्ष या योगि-ज्ञान नाम से निरूपण करते हैं जो योगजन्य सामर्थ्य द्वारा जनित माना जाता है।

मीमांसक जो सर्वज्ञत्व का खासकर धर्माधर्मसाक्षात्कार का एकान्त विरोधी है वह भी मोक्षाङ्गभूत एक प्रकार के आत्मज्ञान का अस्तित्व मानता है जो वस्तुतः योगजन्य या अलौकिक ही है[4]। 10

वेदान्त में जो ईश्वरसाक्षीचैतन्य है वही अलौकिक प्रत्यक्ष स्थानीय है।

जैन दर्शन की आगमिक परम्परा ऐसे प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष कहती है[5] क्योंकि उस परम्परा के अनुसार प्रत्यक्ष केवल वही माना जाता है जो इन्द्रिय जन्य न हो। उस परम्परा के अनुसार तो दर्शनान्तरसंमत लौकिकप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं पर परोक्ष है[6] फिर भी जैन दर्शन की तार्किक परम्परा प्रत्यक्ष के दो प्रकार मानकर एक को जिसे दर्शनान्तरों में लौकिक 15
प्रत्यक्ष कहा है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहती है[7] और दूसरे को जो दर्शनान्तरों में अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहती है। तथा पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कारणरूप से लब्धि या विशिष्ट आत्मशक्ति का वर्णन करती है, जो एक प्रकार से जैन परिभाषा में योगज धर्म ही है।

२ अलौकिक में निर्विकल्पक का स्थान—अब प्रश्न यह है कि अलौकिक प्रत्यक्ष 20
निर्विकल्पक ही होता है या सविकल्पक ही होता है, या उभयरूप?। इसके उत्तर में एकवाक्यता नहीं। तार्किक बौद्ध और शाङ्कर वेदान्त[8] परम्परा के अनुसार तो अलौकिक प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही संभवित है सविकल्पक कभी नहीं। रामानुज का मत[9] इससे बिलकुल उलटा है, तदनुसार लौकिक हो या अलौकिक कोई भी प्रत्यक्ष सर्वथा निर्विकल्पक संभव ही नहीं पर न्याय वैशेषिक आदि अन्य वैदिक दर्शन के अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष सविकल्पक 25

---

१ योगसू० ३. ५४। सांख्यका० ६४।
२ वैशे० ६. १. १३-१५।
३ न्यायबि० १. ११।
४ "सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणात् ॥"—तन्त्रवा० पृ० २४०।
५ तत्त्वार्थ० १. १२।
६ तत्त्वार्थ० १. ११।
७ टिप्पण पृ० २२।
८ Indian Psychology: Perception. P. 352.
९ "अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेषविषयत्वम्"—श्री भाष्य पृ० २१।

निर्विकल्पक-उभय संभवित जान पड़ता है। यहाँ संभवित शब्द का प्रयोग इसलिये किया है कि भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ४) जैसे प्रबल नैयायिक ने उक्तरूप से द्विविध योगि-प्रत्यक्ष का स्पष्ट ही कथन किया है फिर भी कणादसूत्र और प्रशस्तपादभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं। जैन परम्परा के अनुसार अलौकिक या पारमार्थिक 5 प्रत्यक्ष उभयरूप है। क्योंकि जैन दर्शन में जो अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन नामक सामान्यबोध माना जाता है वह अलौकिक निर्विकल्पक ही है। और जो अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञानरूप विशेषबोध है वही सविकल्पक है।

३ प्रत्यक्षत्व का नियामक—प्रश्न है कि प्रत्यक्षत्व का नियामक तत्त्व क्या है, जिसके कारण कोई भी बोध या ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है ?। इसका जवाब भी दर्शनों में 10 एकविध नहीं। नव्य शाङ्कर वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्षत्व का नियामक है प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद जैसा कि वेदान्तपरिभाषा (पृ० २३) में सविस्तर वर्णित है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध, मीमांसक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षत्व का नियामक है सन्निकर्षजन्यत्व, जो सन्निकर्ष से, चाहे वह सन्निकर्ष लौकिक हो या अलौकिक, जन्य है, वह सब प्रत्यक्ष। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष के नियामक दो तत्त्व हैं। आगमिक परम्परा के अनु-15 सार तो एक मात्र आत्ममात्र सापेक्षत्व ही प्रत्यक्षत्व का नियामक (सर्वार्थ १. १२) है। जब कि तार्किक परम्परा के अनुसार उसके अलावा इन्द्रियमनोजन्यत्व भी प्रत्यक्षत्व का नियामक फलित होता है—प्रमाणमी० १. २०। वस्तुतः जैनतार्किक परम्परा न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनानुसारिणी ही है।

४ प्रत्यक्षत्व का क्षेत्र—प्रत्यक्षत्व केवल निर्विकल्पक में ही मर्यादित है या वह 20 सविकल्पक में भी है ?। इसके जवाब में बौद्ध का कथन है कि वह मात्र निर्विकल्पक में मर्यादित है। जब कि बौद्ध भिन्न सभी दर्शनों का मन्तव्य निर्विकल्पक-सविकल्पक दोनों में प्रत्यक्षत्व के स्वीकार का है।

५ जन्य-नित्यसाधारण प्रत्यक्ष—अभी तक जन्यमात्र को लक्ष्य मानकर लक्षण की चर्चा हुई पर मध्ययुग में जब कि ईश्वर का जगत्कर्तृरूप से या वेदप्रणेतृ रूप से न्याय-वैशे-25 षिकादि दर्शनों में स्पष्ट स्थान निर्णीत हुआ तभी से ईश्वरीय प्रत्यक्ष नित्य माने जाने के कारण जन्य-नित्य उभय साधारण प्रत्यक्ष लक्षण बनाने का प्रश्न ईश्वरवादियों के सामने आया। जान पड़ता है ऐसे साधारण लक्षण का प्रयत्न भासर्वज्ञ ने सर्वप्रथम किया। उसने 'सम्यगपरोक्षानुभव' (न्यायसार पृ० २) को प्रत्यक्ष प्रमा कहकर जन्य-नित्य उभय प्रत्यक्ष का एक ही लक्षण बनाया। शालिकनाथ जो प्रभाकर का अनुगामी है उसने भी 'साक्षात्प्रतीति' 30 (प्रकरणप० पृ० ५१) को प्रत्यक्ष कहकर दूसरे शब्दों में बाह्यविषयक इन्द्रियजन्य तथा आत्मा और ज्ञानग्राही इन्द्रियाजन्य ऐसे द्विविध प्रत्यक्ष (प्रकरणप० पृ० ५१) से साधारण लक्षण का प्रणयन किया। पर आगे जाकर नव्य नैयायिकों ने भासर्वज्ञ के अपरोक्ष पद तथा शालिकनाथ के साक्षात्प्रतीति पद का 'ज्ञानाकरणकज्ञान' को जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्ष कहकर

नव्य परिभाषा में स्पष्टीकरण किया (मुक्ता० ५२)। इधर जैनदर्शन के तार्किकों में भी साधारणलक्षणप्रणयन का प्रश्न उपस्थित हुआ जान पड़ता है। जैन दर्शन नित्यप्रत्यक्ष तो मानता ही नहीं अतएव उसके सामने जन्य-नित्यसाधारण लक्षण का प्रश्न न था। पर सांव्यवहारिक, पारमार्थिक उभयविध प्रत्यक्ष के साधारण लक्षण का प्रश्न था। जान पड़ता है इसका जवाब सर्व प्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने ही दिया। उन्होंने अपरोक्षरूप ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर सांव्यवहारिक-पारमार्थिक उभयसाधारण अपरोक्षत्व को लक्षण बनाया। न्याया० ४) यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धसेन के 'अपरोक्ष'पद के प्रयोग का प्रभाव भासर्वज्ञ के लक्षण में है या नहीं ?। पर इतना तो निश्चित ही है कि जैन परम्परा में अपरोक्षत्वरूप से साधारण लक्षण का प्रारंभ सिद्धसेन ने ही किया।

६ दोष का निवारण—सिद्धसेन ने अपरोक्षत्व को प्रत्यक्ष मात्र का साधारण लक्षण बनाया। पर उसमें एक त्रुटि है जो किसी भी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किक से छिपी रह नहीं सकती। वह यह है कि अगर प्रत्यक्ष का लक्षण अपरोक्ष है तो परोक्ष का लक्षण क्या होगा ?। अगर यह कहा जाय कि परोक्ष का लक्षण प्रत्यक्षभिन्नत्व या अप्रत्यक्षत्व है तो इसमें स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है। जान पड़ता है इस दोष को दूर करने का तथा अपरोक्षत्व के स्वरूप को स्फुट करने का प्रयत्न सर्व प्रथम भट्टारक अकलङ्क ने किया। उन्होंने बहुत ही प्राञ्जल शब्दों में कह दिया कि जो ज्ञान विशद है वही प्रत्यक्ष है—लघी० १. ३। उन्होंने इस वाक्य में साधारण लक्षण तो गर्भित किया ही पर साथ ही उक्त अन्योन्याश्रय दोष को भी टाल दिया। क्योंकि अब अपरोक्षपद ही निकल गया, जो परोक्षत्व के निर्वचन की अपेक्षा रखता था। अकलङ्क की लाक्षणिकता ने केवल इतना ही नहीं किया पर साथ ही वैशद्य का स्फोट भी कर दिया। वह स्फोट भी ऐसा कि जिससे सांव्यवहारिक पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्ष का संग्रह हो। उन्होंने कहा कि अनुमानादि की अपेक्षा विशेष प्रतिभास करना ही वैशद्य है—लघी० १. ४। अकलङ्क का यह साधारण लक्षण का प्रयत्न और स्फोट ही उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तार्किकों के प्रत्यक्ष लक्षण में प्रतिबिम्बित हुआ। किसी ने विशद पद के स्थान में 'स्पष्ट' पद (प्रमाणन० २.२) रखा तो किसी ने उसी पद को ही रखा—परी २. ३।

आ० हेमचन्द्र जैसे अनेक स्थलों में अकलङ्कानुगामी हैं वैसे ही प्रत्यक्ष के लक्षण के बारे में भी अकलङ्क के ही अनुगामी हैं। यहाँ तक कि उन्होंने तो विशद पद और वैशद्य का विवरण अकलङ्क के समान ही रखा। अकलङ्क की परिभाषा इतनी दृढ़मूल हो गई कि अन्तिम तार्किक उपाध्याय यशोविजयजी ने भी प्रत्यक्ष के लक्षण में उसीका आश्रय किया—तर्कभाषा० पृ० १।

पृ० २१. पं० २२ **'प्रतिसंख्यानेन'**—प्रतिसंख्यान शब्द बौद्ध परम्परा में जिस अर्थ में प्रसिद्ध है उसी अर्थ में प्रसंख्यान शब्द न्याय, योग आदि दर्शनों में प्रसिद्ध है—न्यायभा० ४. २. २। योगसू० ४. २६।

अ० १. आ १. सू० ३५-३६. पृ० २९—पीछे हमने लिखा है कि 'आचार्य हेमचन्द्र ने अपना वैयाकरणत्व अकर्षक तार्किक शैली में व्यक्त किया है' (टिप्पण पृ० ६९) इसका खुलासा यों समझना चाहिए। वैयाकरणों की परिभाषा के अनुसार क्रियावाची शब्द धातु[1] कहलाता है और धातुप्रतिपाद्य अर्थ क्रिया[2] कही जाती है। अकर्मक धातु के वाच्य फल और व्यापार दोनों समानाधिकरण अर्थात् कर्तृनिष्ठ होते हैं। जब कि सकर्मक धातु के वाच्य फल और व्यापार दोनों अंश जो धातु वाच्य होने के कारण क्रियारूप हैं वे व्यधिकरण अर्थात् अनुक्रम से कर्मनिष्ठ और कर्तृनिष्ठ होते हैं[3]। प्रकृत प्रमाण-फल की चर्चा में ज्ञाधातु का व्यापाररूप अर्थ जो कर्तृनिष्ठ है उसको प्रमाण कहा है और उसका फलरूप अर्थ जो कर्मनिष्ठ है उसे फल कहा है। ज्ञाधातु सकर्मक होने से उसके ज्ञानात्मक व्यापार और तज्जन्य प्रकाशरूप फल दोनों अनुक्रम से कर्तृनिष्ठतया और कर्मनिष्ठतया प्रतिपाद्य हैं और दोनों क्रियारूप हैं।

पृ० ३१. पं० २१. **'स्वपराभासी'**—आचार्य ने सूत्र में आत्मा को स्वाभासी और पराभासी कहा है। यद्यपि इन दो विशेषणों को लक्षित करके हमने संक्षेप में टिप्पण लिखा है (टिप्पण पृ० ७०) फिर भी इस विषय में अन्य दृष्टि से लिखना आवश्यक समझ कर यहाँ थोड़ा सा विचार लिखा जाता है।

'स्वाभासी' पद के 'स्व' का आभासनशील और 'स्व' के द्वारा आभासनशील ऐसे दो अर्थ फलित होते हैं पर वस्तुतः इन दोनों अर्थों में कोई तात्त्विक भेद नहीं। दोनों अर्थों का मतलब स्वप्रकाश से है और स्वप्रकाश का तात्पर्य भी स्वप्रत्यक्ष ही है। परन्तु 'पराभासी' पद से फलित होनेवाले दो अर्थों की मर्यादा एक नहीं। पर का आभासनशील यह एक अर्थ जिसे वृत्ति में आचार्य ने स्वयं ही बतलाया है और पर के द्वारा आभासनशील यह दूसरा अर्थ। इन दोनों अर्थों के भाव में अंतर है। पहिले अर्थ से आत्मा का परप्रकाशन स्वभाव सूचित किया जाता है जब कि दूसरे अर्थ से स्वयं आत्मा का अन्य के द्वारा प्रकाशित होने का स्वभाव सूचित होता है। यह तो समझ ही लेना चाहिए कि उक्त दो अर्थों में से दूसरा अर्थात् पर के द्वारा आभासित होना इस अर्थ का तात्पर्य पर के द्वारा प्रत्यक्ष होना इस अर्थ में है। पहिले अर्थ का तात्पर्य तो पर को प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप से भासित करना यह है। जो दर्शन आत्मभिन्न तत्त्व को भी मानते हैं वे सभी आत्मा को पर का अवभासक मानते ही हैं। और जैसे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से पर का अवभासक आत्मा अवश्य होता है वैसे ही वह किसी न किसी रूप से स्व का भी अवभासक होता ही है अत

---

१ "क्रियार्थो धातुः"—हैमश० ३. ३. ३। "कृतिः क्रिया प्रवृत्तिर्व्यापार इति यावत्। पूर्वापरीभूता साध्यमानरूपा सा अर्थोऽभिधेयं यस्य स शब्दो धातुसंज्ञो भवति।"—हैमश० बृ० ३. ३. ३।

२ "भवत्यर्थः साध्यरूपः क्रियासामान्य धात्वर्थः स धातुनैवोच्यते।" हैमश० बृ० ५. ३. १८।

३ "फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः। धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ॥" वै० भूषण० का० १३।

एव यहाँ जो दार्शनिकों का मतभेद दिखाया जाता है वह स्वप्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष अर्थ को लेकर ही समझना चाहिए। स्वप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान का स्वप्रत्यक्ष मानते हैं और साथ ही ज्ञान-आत्मा का अभेद या कथंचिदभेद मानते हैं। शङ्कर, रामानुज आदि वेदान्त, सांख्य, योग, विज्ञानवादी बौद्ध और जैन इनके मत से आत्मा स्वप्रत्यक्ष है— चाहे वह आत्मा किसी के मत से शुद्ध व नित्य चैतन्यरूप हो, किसी के मत से जन्य ज्ञानरूप ही हो या किसी के मत से चैतन्य-ज्ञानोभयरूप हो—क्योंकि वे सभी आत्मा और ज्ञान का अभेद मानते हैं तथा ज्ञानमात्र को स्वप्रत्यक्ष ही मानते हैं। कुमारिल ही एक ऐसे हैं जो ज्ञान को परोक्ष मानकर भी आत्मा को वेदान्त की तरह स्वप्रकाश ही कहते हैं। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि कुमारिल ने आत्मा का स्वरूप श्रुतिसिद्ध ही माना है और श्रुतिओं में स्वप्रकाशत्व स्पष्ट है अतएव ज्ञान का परोक्षत्व मानकर भी आत्मा को स्वप्रत्यक्ष विना माने उनकी दूसरी गति ही नहीं[1]।

परप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न, पर उसका गुण मानते हैं—चाहे वह ज्ञान किसी के मत से स्वप्रकाश हो जैसा प्रभाकर के मत से, चाहे किसी के मत से परप्रकाश हो जैसा नैयायिकादि के मत से।

प्रभाकर के मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमिति, आदि कोई भी संवित् हो पर उसमें आत्मा प्रत्यक्षरूप से अवश्य भासित होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मतभेद है। उसके अनुगामी प्राचीन हो या अर्वाचीन सभी एक मत से योगी की अपेक्षा आत्मा को परप्रत्यक्ष ही मानते हैं क्योंकि सब के मतानुसार योगज प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है[2]। पर अस्मदादि अर्वाग्दर्शी की अपेक्षा उनमें मतभेद है। प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक विद्वान् अर्वाग्दर्शी के आत्मा को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं[3], जब कि पीछे के न्याय-वैशेषिक विद्वान् अर्वाग्दर्शी आत्मा को भी उसके मानसप्रत्यक्ष का विषय मान कर परप्रत्यक्ष बतलाते हैं[4]।

ज्ञान को आत्मा से भिन्न माननेवाले सभी के मत से यह बात फलित होती है कि मुक्तावस्था में योगजन्य या और किसी प्रकार का ज्ञान न रहने के कारण आत्मा न तो साक्षात्कर्ता है और न साक्षात्कार का विषय। इस विषय में दार्शनिक कल्पनाओं का राज्य अनेकधा विस्तृत है पर वह यहाँ प्रस्तुत नहीं।

१ "आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम्"– **श्लोकवा० आत्मवाद श्लो० १४२।**

२ "युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति।"—**न्यायभा० १. १. ३।** "आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषाद् आत्मप्रत्यक्षम्—**वैशे० ९. १. ११।**

३ "आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते"—**न्यायभा० १. १. १०।**" तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे"— **वैशे० ८. १. २।**

४ "तदेवमहंप्रत्ययविषयत्वादात्मा तावत् प्रत्यक्षः"—**न्यायवा० पृ० ३४२।** "अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः"—**कारिकावली ५०।**

पृ० ३८. पं० २२. 'साधनात्'—अनुमान शब्द के अनुमिति और अनुमितिकरण ऐसे दो अर्थ हैं। जब अनुमान शब्द भाववाची हो तब अनुमिति और जब करणवाची हो तब अनुमितिकरण अर्थ निकलता है।

अनुमान शब्द में अनु और मान ऐसे दो अंश हैं। अनु का अर्थ है पश्चात् और 5 मान का अर्थ है ज्ञान अर्थात् जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के बाद ही होता है वह अनुमान। परन्तु वह अन्य ज्ञान खास ज्ञान ही विवक्षित है, जो अनुमिति का कारण होता है। उस खास ज्ञान रूप से व्याप्तिज्ञान—जिसे लिङ्गपरामर्श भी कहते हैं–इष्ट है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान में मुख्य एक अन्तर यह भी है कि प्रत्यक्ष ज्ञान नियम से ज्ञानकारणक नहीं होता, जब कि अनुमान नियम से ज्ञानकारणक ही होता है। यही भाव अनुमान शब्द में मौजूद 10 'अनु' अंश के द्वारा सूचित किया गया है। यद्यपि प्रत्यक्षभिन्न दूसरे भी ऐसे ज्ञान हैं जो अनुमान कोटि में न गिने जाने पर भी नियम से ज्ञानजन्य ही हैं, जैसे उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति आदि; तथापि दर असल में जैसा कि वैशेषिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन में माना गया है–प्रमाण के प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रकार हैं। बाकी के सब प्रमाण किसी न किसी तरह अनुमान प्रमाण में समाये जा सकते हैं जैसा कि उक्त द्विप्रमाणवादिदर्शनों 15 ने समाया भी है।

अनुमान किसी भी विषय का हो, वह किसी भी प्रकार के हेतु से जन्य क्यों न हो पर इतना तो निश्चित है कि अनुमान के मूल में कहीं न कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान का अस्तित्व अवश्य होता है। मूल में कहीं भी प्रत्यक्ष न हो ऐसा अनुमान हो ही नहीं सकता। जब कि प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में अनुमान की अपेक्षा कदापि नहीं रखता तब अनुमान अपनी उत्पत्ति 20 में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अवश्य रखता है। यही भाव न्यायसूत्रगत अनुमान के लक्षण में[1] 'तत्पूर्वकम्' (१. १ ५) शब्द से ऋषि ने व्यक्त किया है, जिसका अनुसरण सांख्यकारिका (का०५) आदि के अनुमान लक्षण में भी देखा जाता है।

अनुमान के स्वरूप और प्रकार निरूपण आदि का जो दार्शनिक विकास हमारे सामने है उसे तीन युगों में विभाजित करके हम ठीक ठीक समझ सकते हैं १ वैदिक युग, २ बौद्ध 25 युग और ३ नव्यन्याय युग।

१–विचार करने से जान पड़ता है कि अनुमान प्रमाण के लक्षण और प्रकार आदि का शास्त्रीय निरूपण वैदिक परंपरा में ही शुरू हुआ और उसी की विविध शाखाओं में विकसित होने लगा। इसका प्रारंभ कब हुआ, कहाँ हुआ, किसने किया, इसके प्राथमिक विकास ने कितना समय लिया, वह किन किन प्रदेशों में सिद्ध हुआ इत्यादि प्रश्न शायद सदा ही

---

१ जैसे 'तत्पूर्वक' शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान का पौर्वापर्य प्रदर्शित करता है वैसे ही जैन परम्परा में मति और श्रुतसंज्ञक दो ज्ञानों का पौर्वापर्य बतलानेवाला "मइपुव्वं जेण सुयं" (नन्दी सू० २४) यह शब्द है। विशेषा० गा० ८६, १०५, १०६।

निरुत्तर रहेंगे। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके प्राथमिक विकास का ग्रन्थन भी वैदिक परंपरा के प्राचीन अन्य ग्रन्थों में देखा जाता है।

यह विकास वैदिकयुगीन इस लिये भी है कि इसके प्रारम्भ करने में जैन और बौद्ध परम्परा का हिस्सा तो है ही नहीं बल्कि इन दोनों परम्पराओं ने वैदिक परम्परा से ही उक्त शास्त्रीय निरूपण को शुरू में अक्षरश: अपनाया है। यह वैदिकयुगीन अनुमान निरूपण हमें 5 दो वैदिक परम्पराओं में थोड़े बहुत हेर फेर के साथ देखने को मिलता है।

(अ) वैशेषिक और मीमांसक परम्परा—इस परम्परा को स्पष्टतया व्यक्त करनेवाले इस समय हमारे सामने प्रशस्त और शाबर दो भाष्य हैं। दोनों में अनुमान के दो प्रकारों का ही उल्लेख है[1] जो मूल में किसी एक विचार परम्परा का सूचक है। मेरा निजी भी मानना है कि मूल में वैशेषिक और मीमांसक दोनों परम्पराएँ कभी अभिन्न थीं[2], जो 10 आगे जाकर क्रमश: जुदी हुई और भिन्न भिन्न मार्ग से विकास करती गई।

(ब) दूसरी वैदिक परम्परा में न्याय, सांख्य और चरक इन तीन शास्त्रों का समावेश है। इनमें अनुमान के तीन प्रकारों का उल्लेख व वर्णन है[3]। वैशेषिक तथा मीमांसक दर्शन में वर्णित दो प्रकार के बोधक शब्द करीब करीब समान हैं, जब कि न्याय आदि शास्त्रों की दूसरी परम्परा में पाये जानेवाले तीन प्रकारों के बोधक शब्द एक ही हैं। अलबत्ता सब 15 शास्त्रों में उदाहरण एक से नहीं हैं।

जैन परम्परा में सब से पहिले अनुमान के तीन प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में—जो ई० स० पहली शताब्दी का है—ही पाये जाते हैं,[4] जिनके बोधक शब्द अक्षरश: न्यायदर्शन के अनुसार ही हैं। फिर भी अनुयोगद्वार वर्णित तीन प्रकारों के उदाहरणों में इतनी विशेषता अवश्य है कि उनमें भेद-प्रतिभेद रूप से वैशेषिक-मीमांसक दर्शनवाली द्विविध अनु- 20 मान की परम्परा का भी समावेश हो ही गया है।

बौद्ध परम्परा में अनुमान के न्यायसूत्रवाले तीन प्रकार का ही वर्णन है जो एक मात्र उपायहृदय (पृ० १३) में अभी तक देखा जाता है। जैसा समझा जाता है, उपायहृदय अगर नागार्जुनकृत नहीं हो तो भी वह दिङ्नाग का पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी तक के जैन-बौद्ध साहित्य में वैदिक 25 युगीन उक्त दो परम्पराओं के अनुमान वर्णन का ही संग्रह किया गया है। तब तक में उक्त

१ "तत्तु द्विविधम्—प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च"—**शाबरभा० १. १. ५।** "तत्तु द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतो दृष्टं च"—**प्रशस्त० पृ० २०५।**

२ मीमांसा दर्शन 'अथातो धर्मजिज्ञासा' में धर्म से ही शुरू होता है वैसे ही वैशेषिक दर्शन भी 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' सूत्र में धर्मनिरूपण से शुरू होता है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' और 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' दोनों का भाव समान है।

३ "पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च" **न्यायसू० १. १. ५। माठर० का० ५। चरक० सूत्रस्थान श्लो० २८, २९।**

४ "तिविहे पण्णत्ते तंजहा—पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं।"—**अनुयो० पृ० २१२A।**

दोनों परम्पराएँ मुख्यतया प्रमाण के विषय में खासकर अनुमान प्रणाली के विषय में वैदिक परम्परा का ही अनुसरण करती हुई देखी जाती हैं।

२–ई० स० की पाँचवीं शताब्दी से इस विषय में बौद्धयुग शुरू होता है। बौद्धयुग इसलिये कि अब तक में जो अनुमान प्रणाली वैदिक परम्परा के अनुसार ही मान्य होती आई
5 थी उसका पूर्ण बल से प्रतिवाद करके दिङ्नाग ने अनुमान का लक्षण स्वतन्त्र भाव से रचा[१] और उसके प्रकार भी अपनी बौद्ध दृष्टि से बतलाए। दिङ्नाग के इस नये अनुमान प्रस्थान को सभी उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वानों ने अपनाया[२] और उन्होंने दिङ्नाग की तरह ही न्याय आदि शास्त्र संमत वैदिक परम्परा के अनुमान लक्षण, प्रकार आदि का खण्डन किया[३] जो कि कभी प्रसिद्ध पूर्ववर्ती बौद्ध तार्किकों ने खुद ही स्वीकृत किया था। अब से वैदिक और
10 बौद्ध तार्किकों के बीच खण्डन-मण्डन की खास आमने सामने छावनियाँ बन गईं। वात्स्यायनभाष्य के टीकानुटीकाकार उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि ने वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध तार्किकों के अनुमानलक्षणप्रणयन आदि का जोर शोर से खण्डन किया[४] जिसका उत्तर क्रमिक बौद्ध तार्किक देते गये हैं।

बौद्धयुग का प्रभाव जैन परम्परा पर भी पड़ा। बौद्धतार्किकों के द्वारा वैदिक पर-
15 म्परासम्मत अनुमान लक्षण, भेद आदि का खण्डन होते और स्वतन्त्रभाव से लक्षणप्रणयन होते देखकर सिद्धसेन[५] जैसे जैन तार्किकों ने भी स्वतन्त्रभाव से अपनी दृष्टि के अनुसार अनुमान का लक्षणप्रणयन किया। भट्टारक अकलङ्क ने उस सिद्धसेनीय लक्षण प्रणयन मात्र में ही संतोष न माना। पर साथ ही बौद्धतार्किकों की तरह वैदिक परम्परा सम्मत अनुमान के भेद प्रभेदों के खण्डन का सूत्रपात भी स्पष्ट किया[६] जिसे विद्यानन्द आदि उत्तर-
20 वर्ती दिगम्बरीय तार्किकों ने विस्तृत व पल्लवित किया[७]।

नये बौद्ध युग के दो परिणाम स्पष्ट देखे जाते हैं। पहिला तो यह कि बौद्ध और जैन परम्परा में स्वतन्त्र भाव से अनुमान लक्षण आदि का प्रणयन और अपने ही पूर्वाचार्यों के द्वारा कभी स्वीकृत वैदिक परम्परा संमत अनुमानलक्षण विभाग आदि का खण्डन। दूसरा परिणाम यह है कि सभी वैदिक विद्वानों के द्वारा बौद्ध संमत अनुमानप्रणाली का खण्डन व
25 अपने पूर्वाचार्य सम्मत अनुमान प्रणाली का स्थापन। पर इस दूसरे परिणाम में चाहें गौण रूप से ही सही एक बात यह भी उल्लेखयोग्य दाखिल है कि भासर्वज्ञ जैसे वैदिक परम्परा

१ प्रमाणसमु० २. १. Buddhist Logic. Vol. I. p. 236.
२ "अनुमान लिङ्गादर्थदर्शनम्"–न्यायप्र० पृ० ७। न्यायबि० २ ३। तत्त्वसं० का०१३६२।
३ प्रमाणसमु० परि० २। तत्त्वसं० का० १४४२। तात्पर्य० पृ० १८०।
४ न्यायवा० पृ० ४६। तात्पर्य० पृ० १८०।
५ "साध्याविनाभुनो लिङ्गात्साध्यनिश्चायक स्मृतम्। अनुमानम्"–न्याया० ५।
६ न्यायवि० २. १७१, १७२।
७ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५। प्रमेयक० पृ० १०५।

के किसी किसी तार्किक के लक्षण प्रणयन में बौद्ध लक्षण का भी असर आगया[1] जो जैन तार्किकों के लक्षण प्रणयन में तो बौद्धयुग के प्रारम्भ से ही आज तक एकसा चला आया है[2]।

३—तीसरा नव्यन्याययुग उपाध्याय गङ्गेश से शुरू होता है। उन्होंने अपने वैदिक पूर्वाचार्यों के अनुमान लक्षण को कायम रख कर भी उसमें सूक्ष्म परिष्कार[3] किया जिसका आदर उत्तरवर्त्ती सभी नव्य नैयायिकों ने ही नहीं बल्कि सभी वैदिक दर्शन के परिष्कारकों ने किया। इस नवीन परिष्कार के समय से भारतवर्ष में बौद्ध तार्किक करीब करीब नामशेष हो गये। इस लिये बौद्ध ग्रन्थों में इसके स्वीकार या खण्डन के पाये जाने का तो संभव ही नहीं पर जैन परम्परा के बारे में ऐसा नहीं है। जैन परम्परा तो पूर्व की तरह नव्यन्याययुग से आज तक भारतवर्ष में चली आरही है और यह भी नहीं कि नव्यन्याययुग के मर्मज्ञ कोई जैन तार्किक हुए भी नहीं। उपाध्याय यशोविजयजी जैसे तत्त्वचिन्तामणि और आलोक आदि नव्यन्याय के अभ्यासी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किक जैन परम्परा में हुए हैं फिर भी उनके तर्कभाषा जैसे ग्रन्थ में नव्यन्याययुगीन परिष्कृत अनुमान लक्षण का स्वीकार या खण्डन देखा नहीं जाता। उपाध्यायजी ने भी अपने तर्कभाषा जैसे प्रमाण विषयक मुख्य ग्रन्थ में अनुमान का लक्षण वही रखा है जो सभी पूर्ववर्त्ती श्वेताम्बर दिगम्बर तार्किकों के द्वारा मान्य किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुमान का जो लक्षण किया है वह सिद्धसेन और अकलङ्क आदि प्राक्तन जैन तार्किकों के द्वारा स्थापित और समर्थित ही रहा। इसमें उन्होंने कोई सुधार या न्यूनाधिकता नहीं की। फिर भी हेमचन्द्रीय अनुमान निरूपण में एक ध्यान देने योग्य विशेषता है। वह यह कि पूर्ववर्त्ती सभी जैन तार्किकों ने—जिनमें अभयदेव, वादी देवसूरि आदि श्वेतांबर तार्किकों का भी समावेश होता है—वैदिक परम्परा संमत त्रिविध अनुमान प्रणाली का साटोप खण्डन[4] किया था उसे आ० हेमचन्द्र ने छोड़ दिया। यह हम नहीं कह सकते कि हेमचन्द्र ने संक्षेपरुचि की दृष्टि से उस खण्डन को जो पहिले से बराबर जैन ग्रन्थों में चला आ रहा था छोडा, कि पूर्वापर असंगति की दृष्टि से। जो कुछ हो, पर आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा वैदिक परम्परा संमत अनुमान त्रैविध्य के खण्डन का परित्याग होने से, जो जैन ग्रन्थों में खास कर श्वेतांबरीय ग्रन्थों में एक प्रकार की असंगति आगई थी वह दूर हो गई। इसका श्रेय आचार्य हेमचन्द्र को ही है।

असंगति यह थी कि आर्यरक्षित जैसे पूर्वधर समझे जाने वाले आगमधर जैन आचार्य ने न्याय संमत अनुमानत्रैविध्य का बड़े विस्तार से स्वीकार और समर्थन किया था जिसका इन्हीं के उत्तराधिकारी अभयदेवादि श्वेतांबर तार्किकों ने सावेश खण्डन किया था।

---

१ "सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्"—न्यायसार पृ० ५।

२ न्याया० ५। न्यायवि० २. १। प्रमाणप० पृ० ७०। परी० ३. १४।

३ "अतीतानागतधूमादिज्ञानेऽप्यनुमितिदर्शनान्न लिङ्गं तद्धेतुः व्यापारपूर्ववर्त्तितयोरभावात्...... किन्तु व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः"— तत्त्वचि० परामर्श पृ० ५३९-५०।

४ सन्मतिटी० पृ० ५५६। स्याद्वादर० पृ० ५२७।

दिगम्बर परम्परा में तो यह असंगति इसलिये नहीं मानी जा सकती कि वह आर्यरक्षित के अनुयोगद्वार को मानती ही नहीं। अतएव अगर दिगम्बरीय तार्किक अकलङ्क आदि ने न्यायदर्शन संमत अनुमानत्रैविध्य का खण्डन किया तो वह अपने पूर्वाचार्यों के मार्ग से किसी भी प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। पर श्वेतांबरीय परम्परा की बात दूसरी है। 5 अभयदेव आदि श्वेताम्बरीय तार्किक जिन्होंने न्यायदर्शन संमत अनुमानत्रैविध्य का खण्डन किया, वे तो अनुमानत्रैविध्य के पक्षपाती आर्यरक्षित के अनुगामी थे। अतएव उनका वह खण्डन अपने पूर्वाचार्य के उस समर्थन से स्पष्टयतया मेल नहीं खाता।

आचार्य हेमचन्द्र ने शायद सोचा कि श्वेताम्बरीय तार्किक अकलङ्क आदि दिगम्बर तार्किकों का अनुसरण करते हुए एक स्वपरम्परा की असंगति में पड़ गए हैं। इसी विचार 10 से उन्होंने शायद अपनी व्याख्या में त्रिविध अनुमान के खण्डन का परित्याग किया। संभव है इसी हेमचन्द्रोपज्ञ असंगति परिहार का आदर उपाध्याय यशोविजयजी ने भी किया और अपने तर्कभाषा ग्रन्थ में वैदिक परम्परा संमत अनुमानत्रैविध्य का निरास नहीं किया, जब कि हेतु के न्यायसंमत पाञ्चरूप्य का निरास अवश्य किया।

पृ० ३९. पं० १७. 'भिक्षवः' नीचे दिया जानेवाला हेतु और हेत्वाभासों की संख्या का 15 कोष्ठक दिङ्नाग के हेतुचक्र और न्यायमुख (कारिका २) के अनुसार है।

दिङ्नाग के प्रस्तुत मन्तव्य को 'अत्र दिङ्नागेन' ऐसा कह करके वाचस्पति ने (तात्पर्य पृ० २८९) उद्धृत किया है वह इस प्रकार—

"सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा।
प्रत्येकमसपक्षे च सदसद्द्विविधत्वतः॥
20 तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।
स हेतुर्विपरीतोऽस्माद्विरुद्धोऽन्यत्वनिश्चितः॥"

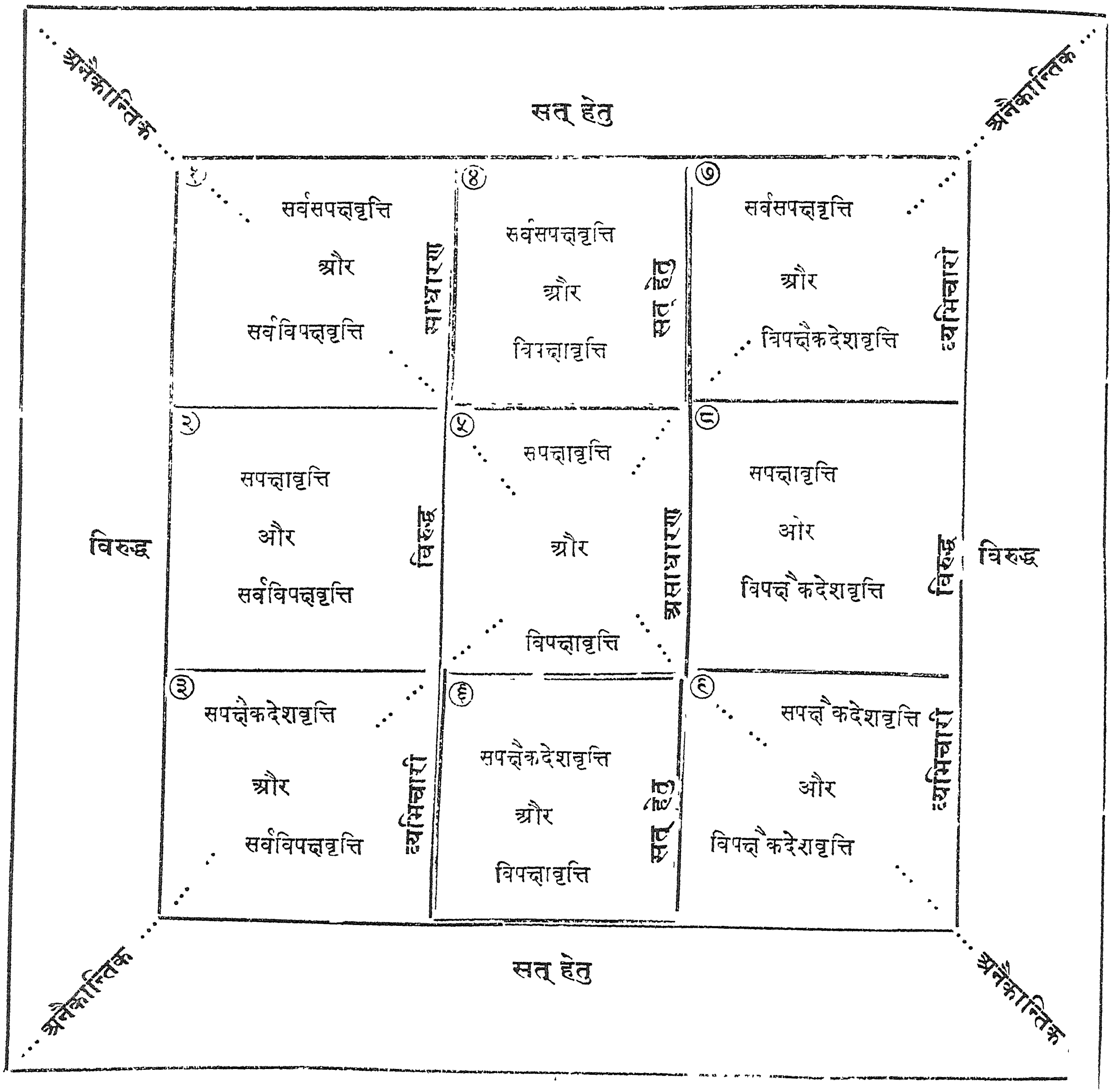
ये कारिकाएँ विद्याभूषण ने प्रमाणसमुच्चय के तृतीय परिच्छेद की बतलाई हैं—देखो— Indian Logic. P. 243.

हेतु का सपक्ष और विपक्ष में, गणित के सिद्धान्त के अनुसार जितने भी प्रकार से 25 रहना सम्भव है उन सभी प्रकारों का समावेश इस चक्र में किया गया है। फलतः यही सिद्ध होता है कि हेतु भिन्न भिन्न नव ही प्रकार से सपक्ष और विपक्ष में रह सकता है इससे ज़्यादह और कम प्रकार से नहीं। उन नव प्रकारों में से सिर्फ दो ही सत् हेतु हैं और बाकी के सात हेत्वाभास। उन सात हेत्वाभासों में दो तो सत् हेतु से अत्यन्त उलटे होने के कारण विरुद्ध कहे जाते हैं। बाकी के पाँच अनैकान्तिक-सन्दिग्ध कहे जाते हैं क्योंकि उनका 30 सपक्ष-विपक्ष में रहना अनिश्चित प्रकार से होता है। या तो वे सपक्ष में रहकर विपक्षैक-देश में—जहाँ हेतु का रहना उचित नहीं—भी रहते हैं या सभी सपक्षों में रहकर सभी विपक्षों में भी रहते हैं। अथवा सिर्फ पक्ष में ही रहकर किसी सपक्ष या विपक्ष में रहते ही नहीं। अन्तिम स्थिति में तो हेतु असाधारण या अव्यापक अनैकान्तिक हेत्वाभास हो

जाता है इसी लिए उससे कोई सिद्धि नहीं हो पाती। अगर हेतु सभी सपक्षों और सभी विपक्षों में रहता है तब वह साधारण हेत्वाभास हो जाता है अत: उससे भी कोई सिद्धि नहीं हो पाती। उपरोक्त दो साधारण और असाधारण हेत्वाभासों का प्रयोग व्यवहार में विरल है फिर भी उनका सैद्धान्तिक महत्त्व कम नहीं है क्योंकि वे हेत्वाभास की दो अन्तिम सीमा के निदर्शक हैं और उन दोनों अवस्थाओं के बीच ही कहीं हमें सत् हेतु मिल 5 सकता है। बाक़ी के तीन अनैकान्तिक बचते हैं और असल में ये तीन ही अनैकान्तिक नाम के योग्य हैं क्योंकि ये तीन ही ऐसे हैं जो सपक्ष में रहकर भी या तो सभी विपक्षों में रहते हैं या कुछ विपक्षों में।

इस तरह हेतु की सपक्ष और विपक्ष में भिन्न भिन्न नव अवस्थितियों के आधार पर दो सत् हेतु होंगे, दो विरुद्ध हेत्वाभास होंगे, दो अन्तिम दो सीमा को दिखानेवाले साधा- 10 रण और असाधारण हेत्वाभास होंगे और बाक़ी के तीन विपक्ष में भी रहने के कारण अनैकान्तिक होंगे। देखो—Buddhist Logic. Vol I. P. 321-323.

(कोष्ठक के लिये देखो पृ० १४४)



अनैकान्तिक
सत् हेतु
अनैकान्तिक
१
सर्वसपक्षवृत्ति
और
सर्वविपक्षवृत्ति
साधारण
४
सर्वसपक्षवृत्ति
और
विपक्षावृत्ति
सत् हेतु
७
सर्वसपक्षवृत्ति
और
विपक्षैकदेशवृत्ति
व्यभिचारी
विरुद्ध
२
सपक्षावृत्ति
और
सर्वविपक्षवृत्ति
विरुद्ध
५
सपक्षावृत्ति
और
विपक्षावृत्ति
असाधारण
८
सपक्षावृत्ति
और
विपक्षैकदेशवृत्ति
विरुद्ध
विरुद्ध
३
सपक्षैकदेशवृत्ति
और
सर्वविपक्षवृत्ति
व्यभिचारी
६
सपक्षैकदेशवृत्ति
और
विपक्षावृत्ति
सत् हेतु
९
सपक्षैकदेशवृत्ति
और
विपक्षैकदेशवृत्ति
व्यभिचारी
अनैकान्तिक
सत् हेतु
अनैकान्तिक

॥ प्रमाणमीमांसायाः परिशिष्टानि ॥

१. प्रमाणमीमांसायाः सूत्रपाठः ।

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥ २ ॥

स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥ ३ ॥

ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥ ४ ॥

अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥५॥

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥ ६ ॥

अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥ ७ ॥

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥

प्रमाणं द्विधा ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥ १० ॥

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥ ११ ॥

भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः॥१२॥

विशदः प्रत्यक्षम् ॥ १३ ॥

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥ १४ ॥

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥ १५ ॥

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ॥ १६ ॥

बाधकाभावाच्च ॥ १७ ॥

तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ॥ १८ ॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥ १९ ॥

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥ २० ॥

स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥ २१ ॥

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥ २२ ॥

भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥ २३ ॥

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥ २४ ॥

नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥२५॥

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥२६॥

अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥ २७ ॥

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ २८ ॥

स्मृतिहेतुर्धारणा ॥ २९ ॥

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥ ३० ॥

अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥ ३१ ॥

तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥ ३२ ॥

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥

कर्मस्था क्रिया ॥३५॥

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥ ३७ ॥

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्—ता-मू० ॥

अविशदः परोक्षम् ॥१॥

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ॥२॥

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः ॥५॥

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥६॥

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥८॥

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥९॥
सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥
ऊहात् तन्निश्चयः ॥११॥
स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥१२॥
सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ॥१३॥
प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधाः १४
साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥
धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥
बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥
न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥१८॥
साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥१९॥
स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥
स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥
साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥
साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् । ता· मू० ॥

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ॥१॥
वचनमुपचारात् ॥२॥
तद् द्वेधा ॥३॥
तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥
नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥५॥
अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥६॥
विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥
गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥८॥
एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥९॥
बोध्यानुरोधात् प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥
साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥
साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥१२॥
दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥
धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥
साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥
असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥
नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ॥१७॥
वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥ १८ ॥
विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥ १९ ॥
विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः॥२०॥
नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः ॥ २१ ॥
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥
अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाणुघटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥ २३ ॥
वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥ २४ ॥
वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥ २५ ॥
विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥ २६ ॥
अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥ २७ ॥
साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥ २८ ॥
अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि २९
तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः ॥ ३० ॥
स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥ ३१ ॥
असिद्धिः पराजयः ॥ ३२ ॥
स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥ ३३ ॥
न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥
नाऽप्यसाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावने ॥ ३५ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्याध्यायस्य कियन्ति सूत्राणि—सं· मू० ॥

२. प्रमाणमीमांसायाः सूत्राणां तुलना ।

१.१.२ परी० १.१। प्रमाणन० १.२ ।

१.१.५. लघी० स्ववि० १.४ । प्रमाणन० १.१२ ।

१.१.६ प्रमाणन० १.१४ ।

१.१.७ प्रमाणन० १.१० ।

१.१.८ परी० १.१३ । प्रमाणन० १.२१ ।

१.१.९-१० परी० २.१-२ । प्रमाणन०२.१ ।

१.१.११ परी० ६.५६ ।

१.१.१३ न्याया० ४ । लघी० १.३ । परी० २.३ । प्रमाणन० २.२ ।

१.१.१४ लघी० १.४ । परी० २.४ । प्रमाणन० २.३ ।

१.१.१५ न्याया० २७ । परी० २.११ ।

१.१.१६ योगभा० १.२५ ।

१.१.१७ लघी० स्ववि० १.४ ।

१.१.१८ प्रमाणन० २.२०-२२ ।

१.१.१९. तत्त्वार्थ० १.२६ ।

१.१.२० तत्त्वार्थ० १.१४-१५ । लघी० १.५,६ । परी० २.५ । प्रमाणन० २.५,६ ।

१.१.२१ न्यायसू० १.१.१२,१४ । तत्त्वार्थ० २.२०,२१ ।

१.१.२२ तत्त्वार्थ० २.१७ ।

१.१.२३ तत्त्वार्थ २.१८ ।

१.१.२४ न्यायभा० १.१.९ ।

१.१.२५ लघी० ६.३-७। लघी० स्ववि० ६.५,७ । परी० २.६ ।

१.१.२६-२९ लघी० १.५, ६ । प्रमाणन० २.७-१० ।

१.१.२७ लघी० स्ववि० १.५ ।

१.१.२८ लघी० स्ववि० १.५ ।

१.१.२९ लघी० स्ववि० १.६ ।

१.१.३० न्याया० २९ । लघी० २.१ । परी० ४.१ । प्रमाणन० ५.१ ।

१.१.३१-३२ न्यायबि० १.१५ ।

१.१.३३ परी० ४.२ । प्रमाणन० ५.२ ।

१.१.३४ न्यायबि० १.१९ । तत्त्वसं० का० १३४४ ।

१.१.३७ न्यायबि० १.२१ ।

१.१.३८ न्याया० २८ । आप्तमी० १०२ । परी० ५.१ । प्रमाणन० ६.३ ।

१.१.३९ लघी० १.६ ।

१.१.४० न्याया० २८ । आप्तमी० १०२ । परी० ५.१ । प्रमाणन० ६.४,५ ।

१.१.४१ अष्टश०का० १०२ । परी० ५.२। प्रमाणन० ६.६ ।

१.१.४२ न्याया० ३१ । प्रमाणन ७.५४,५५ ।

१.२.१ न्याया० ४ । लघी० १.३ । परी० ३.१ । प्रमाणन० ३.१ ।

१.२.२ लघी० ३.१ । परी० ३.२ । प्रमाणन० ३.२ ।

१.२.३ परी० ३.३ । प्रमाणन० ३.३ ।

१.२.४ परी० ३.५-१० । प्रमाणन० ३.५,६ ।

१.२.५ परी० ३.११ । प्रमाणन० ३.७ ।

१.२.६ हेतुबि० टि० लि० प्र० १८ ।

१.२.७ न्याया० ५ । लघी० ३.३ । न्यायबि० २.१ । परी० ३.१४ ।

१.२.८ न्यायबि० २.१,२ । न्याया० १० । परी०३. ५२,५३। प्रमाणन०३.९।

१.२.९ न्यायबि० २.३ । न्याया० ५ । लघी० ३.३ । परी० ३.१४,५४ । प्रमाणन० ३.१० ।

१.२.१० परी० ३.१६-१८ ।

१.२.११ न्यायबि० २.१५९। परी० ३.१९।
१.२.१२. वै० सू० ९.२.१ ।
१.२.१३ न्यायबि० ३.४०। न्याया० १४। न्यायवि० २.३ । परी० ३.२० । प्रमाणन० ३.१४ ।
१.२.१४ न्यायबि० ३.५०। न्याया० १४। परी० ६.१५। प्रमाणन० ६.४०।
१.२.१५ न्यायवि० २.८ । परी० ३.२५, २६,३२। प्रमाणन० ३.१८-२०।
१.२.१६–१७ परी० ३.२७–३१ । प्रमाणन० ३.२१,२२
१.२.१८-१९ न्यायबि० ३.१२२,१२३ । परी० ३.३७-४३ । प्रमाणन० ३.२८,३४-३८ ।
१.२.२० प्रमाणन० ३.४३ ।
१.२.२१ परी० ३.४७। प्रमाणन० ३.४४।
१.२.२२ न्याया० १८। परी ३.४८। प्रमाणन० ३.४५ ।
१.२.२३ न्याया० १९। परी० ३.४९। प्रमाणन० ४६ ।
२.१.१-२ न्याया० १०,१३ । न्यायबि० ३.१,२ । परी० ३.५५,५६ प्रमाणन० ३.२.३ ।
२.१.३-६ न्याया० १७ । न्यायबि० ३.३-७। परी० ३.९४-९७ प्रमाणन० ३.२९-३३
२.१.५ न्यायबि० ३.६ ।
२.१.६ प्रमाणन० ३.३३
२.१.७-८ न्याया० १४। परी० ३.३४-३६,९८। प्रमाणन० ३.२४-२५
२.१.९ परी ३.३७। प्रमाणन० ३.२८।
२.१.१० परी० ३.४६ । प्रमाणन० ३.४२
२.१.११ न्यायसू० १.१.३३ ।
२.१.१२ न्यायसार पृ० ५ ।
२.१.१३ न्यायसार पृ० १२ ।
२.१.१४ परी० ३.५० । प्रमाणन० ३.४७।
२.१.१५ परी० ३.५१ । प्रमाणन० ३.४८
२.१.१६ न्यायप्र० पृ० ३ । परी० ६.२१। प्रमाणन० ६.४७ ।
२.१.१७ न्याया० २३। परी० ६.२२-२८। प्रमाणन० ६.४८ ।
२.१.१८ न्यायबि० ३.५८। प्रमाणन० ६.४९ ।
२.१.१९ प्रमेयक० पृ० १९१ A पं० १०
२.१.२० न्याया० २३ । परी० ६.२९ । प्रमाणन० ६.५२ ।
२.१.२१ न्यायबि० ६.९५। न्याया० २३ परी० ६.३०-३४ । प्रमाणन० ६.५४-५७ ।
२.१.२३ न्यायबि० ३.१२५ । परी० ६.४०,४१। प्रमाणन० ६.६०-६२ ।
२.१.२४ न्यायबि० ३.१३० । परी० ६.४४ । प्रमाणन० ६.७१-७३ ।
२.१.२५ न्यायबि० ३.१२६,१३१-१३३। प्रमाणन० ६.६३-६५, ७४-७६ ।
२.१.२६ न्यायबि० ३.१२८,१३६ । परी० ६.४२,४५। प्रमाणन० ३.६८,७९
२.१.२७ न्यायबि० ३.१२७,१३५। प्रमाणन० ६.६७,७८ ।
२.१.२८ न्यायप्र० पृ० ८। न्यायबि० ३.१३८,१३९ ।
२.१.२९ न्यायप्र० पृ० ८ । न्यायबि० ३.१४०,१४१ न्यायवि० २.२०२।
२.१.३० प्रमाणसं० परि० ६ । न्यायवि० २.२१२ । प्रमाणन० ८.१ ।
२.१.३१-३३ तत्त्वार्थश्लो०पृ०२८१.पं०२।
२.१.३४ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८३ श्लो० ९९ से ।
२.१.३५ न्यायवि० २.२०८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ श्लो० ६२ से ।

३. प्रमाणमीमांसागतानां विशेषनाम्नां सूची[1] ।

[अ]

अकलङ्क १. ११

अक्षपाद १. ६; ५२. १८, ५९. २६. ७२. ९

अङ्गारमर्दक १८. १६

अद्वैतवादिन् ४०. १७

अर्हत् १. २; १२. १९

[ई]

ईश्वरकृष्ण २४. ११

[ए]

एकान्तपराभासिवादिन् ३१. २५

एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिन् ३१. ७

एकान्तस्वाभासिवादिन् ३१. २५

[औ]

औलूक्य २७. २६

[क]

कणाद १. ६

कपिल ५५. २२; २३

काणाद २७. १४; २५. ६

काव्यानुशासन १. २०

कुमारिल १२. ३०

[च]

चार्वाक ७. १०; ७. २८

[छ]

छन्दोनुशासन १. २०

[ज]

जैन १. ४; ५;

जैमिनि १४. १७

जैमिनीय २३. १६

[त]

तत्त्वार्थसूत्राणि १. १०

त्रिलोचन २२. २४

[ध]

धर्मकीर्त्ति १. ११; ८. १६; ७२. १२

[न]

नैयायिक ६. १६; ७. ११; २२. २१; २२; ४१. १; ४३. १९; ५२. ६

न्यायवादिन् ४२. २४; ४३. ६; ४४. १३

न्यायविद् २१. २३

[प]

पाणिनि १. ६

पारमर्ष २५. ४

पिङ्गल १. ६

प्रमाणपरीक्षा २. १७

प्रमाणमीमांसा १. १७

प्राभाकर ७. १२

[ब]

बौद्ध ५५. १०

ब्रह्म १२. ३१

[भ]

भट्ट ३६. ९; ५४. २२

भद्रबाहु ५२. २०

भाट्ट ७. १२

भाष्यकार २२. ९

भाष्यकारीय ६६. १

भिक्षु ३९. १७

[म]

महेश्वर १२. ३१

मीमांसक ५२. ५

[य]

यौग २५. ६; २८. १३; ३७. २०

[ल]

लौकायतिक ७. २५

[व]

वाचक १९. १५

वाचकमुख्य १. ९; २. १४; १९. १२; २५. ३

वाचस्पति २२. २४

वार्तिककार ६६. ११

विष्णु १२. ३१

वृद्धसांख्य २४. १३

वैशेषिक ७. १०; ३७. १५; ४५. २२

[श]

शब्दानुशासन १. २०; २. १

[स]

सांख्य ७. ११; १७. १९; ५२. ५; १०; ५५. ७

सिद्धसेन २५. ७

सौगत ६. २६; ७. १४; ८. २१; २२. २०; २३. ८; २८. १२; ३३. १३; ४०. २३; ४६. २१; ५२. ११; ७२. ९; २३

स्याद्वाद ३०. ९

स्याद्वादिन् २८. २

[1] अस्मिन्परिशिष्टे स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माश्च पङ्क्तिसूचकाः ।

४. प्रमाणमीमांसागतानां पारिभाषिकशब्दानां सूची ।

[अ]

अकृताभ्यागम ३२. ३
अक्ष (इन्द्रिय) ७. १८
अक्ष (जीव) ७. १७
अज्ञान ७१. ५.
अज्ञाननिवृत्ति ३०. १२
अज्ञानविनिवर्तन ३०. १५
अतिप्रसङ्गापादन ६०. २४
अतिव्याप्ति ३. १२
अतीन्द्रियार्थदर्शिन् १२. १५
अथ १. १७
अदोषोद्भावन ७२. १०
अधिक (निग्रहस्थान) ६९. २९
अध्यवसाय २४. १७
अध्याय १. १५
अनध्यवसाय ५. १३
अननुभाषण ७०. २६
अनन्वय ५९. ७
अनन्वयदोष १०. १
अनर्थजन्यत्व ५. ४
अनवस्था ३. १९; २८. ६
अनित्यसमा ६२. ६
अनिन्द्रिय १९. १०
अनुत्पत्तिसमा ६१. १
अनुपलब्धिसमा ६१. १४
अनुपलम्भ ३६. २०
अनुभाव्यत्व ३. २४
अनुभूति ३. २४
अनुमान ६. ६; ७. १०; ८. २५; ११. १९; १४. २१; ३०. २०; ३३. ७; ३६. २७; ३८. २२
अनुमानाङ्ग ४७. २४
अनुमानानुमेयव्यवहार ४६. २०
अनुमानबाधा ४६. ५
अनुवाद ७०. १०
अनुवादभङ्गी २३. १८
अनुवृत्तिरूप ११. १२
अनेकान्त १८. ४
अनेकान्तवाद १९. ६
अनैकान्तिक ३९. १६; ५४. ३; ५६. १७
अन्तर्व्याप्ति २. २५; ४८. १५
अन्यथानुपपत्ति ४९. २३
अन्यथानुपपन्न ४५. ११
अन्यथानुपपन्नत्व ४०. २५
अन्योन्याश्रय ३. १९
अन्वय १९. २९; ४८. १९; ५०. १०; ५८. २१
अन्वयव्यतिरेक ९. २
अपकर्षसमा ६०. ८
अपसिद्धान्त ७२. १
अपार्थक ६८. २२
अपूर्वार्थनिर्णय ४. १६
अपूर्वार्थविज्ञान ४. १८
अपौरुषेय ११. २३; १५. १
अप्रतिपत्ति २८. ९; ६५. १३
अप्रतिभा ७१. १०
अप्रदर्शितव्यतिरेक ५८. २५
अप्रदर्शितान्वय ५८. २५
अप्रयोजकत्व ४. ८
अप्राप्तकाल ६९. १२
अप्राप्तिसमा ६०. २१
अप्राप्यकारित्व २३. ४
अबाधितविषयत्व ४१. २
अबाध्य ४५. २०
अभाव ७. १२; ८. ३०
अभाव (दोष) २८. २२
अभावांश ९. १७.
अभिधेय ५०. ९.
अभूतदोषोद्भावन ५९. २०
अर्थ ३. ३; ५; ८; १०; १९. २५
अर्थक्रिया ११. १४; २५. २४
अर्थक्रियानिर्भास ५. २५; ६. ११
अर्थक्रियासामर्थ्य २५. १२
अर्थक्रियोपपत्ति २९. ६
अर्थनिर्णय ३. १४
अर्थपुनरुक्त ७०. १२
अर्थप्रकाश २९. १७; ३०. ६
अर्थानुत्पाद ५. २

अर्थान्तर ६७. २६
अर्थापत्ति ३. २०; ७. ११
अर्थापत्तिसमा ६१. १२
अवग्रह ४. २४; २१. २; २२. १७; ३०. १८
अवधि (ज्ञान) १५. ४
अवयव ७४. २३
अवर्ण्यसमा ६०. १३
अवाय २१. २८; ३०. २०
अविकल्पक ५. १५; ६. २७; २१. ११; २३. १४
अविकल्पकत्व ३. १
अविच्युति २२. ९
अविचार (ध्यान) १०. ११
अविज्ञातार्थ ६८. १२
अविनाभाव ४१. १२
अविनाभावग्रहण ४८. १
अविनाभावनियम ४०. ११
अविशद ३३. ३
अविशेषसमा ६१. १५
अविसंवादित्व ३३. २३
अविसंवादिन् ६. २६
अव्यतिरेक ५९. ७
अव्याप्ति ३. १२
असत्प्रतिपक्षत्व ४१. २
असंभव ३. १२
असंयत १५. २३
असमर्थ २५. २८
असाधनाङ्गवचन ७२. १०
असाधारण ३९. २१
असाधारणत्व ४२. ७
असिद्ध (हेत्वाभास) ३९. १६; ५४. ३; १७
असिद्ध ४५. २०
असिद्धि ६५. ३
अहेतु ५४. ४
अहेतुसमा ६१. ८

[आ]

आक्षेप ६७. २५
आगम ७. १०; ८. २५; ११. २०; १५. १; ३३. ७.
आगमबाधा ४६. ६
आत्मन् १०. २१; ३१. २१
आत्मसंवेदन ८. २४
आत्मार्थ ४५. २४
आनन्द १. १
आनुमानिक १५. १२
आलोक १९. २५
आवरण १०. १४
आवरणविलय १५. ५
आविर्भाव ५५. ८
आश्रयासिद्ध ५५. १८
आश्रयैकदेशासिद्ध ५५. १९
आह्निक १. १५

[इ]

इतरेतराश्रय ३. २१
इन्द्र (आत्मन्) १६. २१
इन्द्रिय १६. १८; ३६. १
इन्द्रियज ८. २४

[ई]

ईहा ४. २४; २१. १५; ३०. २०

[उ]

उत्कर्षसमा ६०. ८
उदाहरण ४८. १३; ५२. १६; ५३. ६
उदाहरणदोष ५७. १०
उद्देश २. ७
उद्धरण ६५. १६
उपकार २६. ४
उपकार्योपकारकभाव २६. १२
उपचार ४९. ९; १५;
उपचारच्छल ६३. १
उपनय ५२. १६; ५३. १३
उपपत्तिसमा ६१. १७.
उपमान ७. ११; ३५. ५
उपयोग (भावेन्द्रिय) १८. १९
उपस्थ १७. १८
उपलब्धिसमा ६१. २०
उपलम्भ ३६. २०
उपसंहार ५३. १३
उपादानभाव २७. ६
उपालम्भ ६३. २४
उभयविकल ५७. १५
उभयसिद्ध ४७. १९.
उभयाव्यतिरेकिन् ५७. २२
उभयाव्यावृत्त ५७. २४
उभयासिद्ध ५५. १०

[ऊ]

ऊर्ध्वतासामान्य २५. १
ऊह ८. २५; २१. २१; ३०. २०; ३३. ७; ३६. २०; ४१. २४
ऊहापोह ३७. १५

[ए]
एकत्ववितर्क (ध्यान) १०. १६
एकार्थसमवाय ४५. ३
एकार्थसमवायित्व ४४. २२
एकार्थसमवायिन् ४२. १
[औ]
औपचारिक (अनुमान) ४९. १४.
[क]
कथञ्चिद्भेदाभेदवाद २८. २
कथा ६३. १४
करण ६. १८
कल्पना २३. ९
कायप्रमाणता ३२. १७
कारण ३४. ४; ४२. १; २२
कारणानुपलब्धि ४५. १३
कार्य ४२. १; ४३. १८
कार्यकारणभाव ४४. २५
कार्यसमा ६२. ११
कार्यानुपलब्धि ४५. १४
कालक्रम २६. २२
कालातीत ५४. ७
कालात्ययापदिष्ट ५४. ९
कूटस्थनित्यता ११. ११
कृतनाश ३२. ३
केवल १०. १४; २०; १३. ७
केवलज्ञान १२. २
क्रमभावनियम ४१. १२
क्रमभाविन् ४१. १२
क्रिया २९. २६
क्षणभङ्गवाद २७. २
क्षणिक २७. ४
क्षायोपशमिकत्व १५. १५
क्षीणकषाय १५. २४
[ग]
गति १५. २३
गुणप्रत्यय १५. ९
गुणस्थानक १५. २५
गृहीतग्राहिन् ४. १९
ग्रहीष्यमाणग्राहिन् ४. १९
ग्राह्यग्राहकभाव २०. १०
[घ]
घातिकर्मन् १०. १७; १३. ७
घ्राण १६. १७
[च]
चक्षुष् १६. १७
चतुरङ्ग ७४. २७
चतुरङ्गा ६३. १४
[छ]
छल ६२. २२
[ज]
जन्यजनकभाव २०. ९
जय ६४. २६
जल्प ६३. २१; ३०
जाति ६०. ३
जातिवादिन् ६०. २७
जात्युत्तर ५९. २०
ज्ञान १. १
ज्ञानप्रबन्ध ४. ६
ज्ञानावरण १०. १७; १९. २७
[ड]
डिण्डिकराग ५१. १९
डिम्भहेवाक ८. १२
[त]
तत्त्वसंरक्षण ६३. ६
तथोपपत्ति ४९. २३
तदाकारता २०. १७
तदुत्पत्ति २०. १७
तर्क ३७. २०; ४१. २५
तात्पर्य ५०. ६
तादात्म्य २७. २२
तायिन् १. २
तिरोभाव ५५. ८
त्रैरूप्य ४०. ९
त्रैलक्षण्य ३९. १७
[द]
दर्शन १. १. २१. २
दूषण ५९. १५; ६३. ६
दूषणवाक्य ६८. १२
दूषणवादिन् ७३. २७
दूषणा ५९. १८
दूषणाभास ५९. २०
दृष्ट २४. १७
दृष्टान्त ४७. २४; ४८. ३; ८
दृष्टान्तदोष ५७. १०
दृष्टान्तवचन ५३. ६

दृष्टान्ताभास ५७. ९
दृष्टान्ताभिधान ४८. १३
देशक्रम २६. २२
दोष ५९. १६
द्रविडमण्डकभक्षणन्याय ३३. १०
द्रव्य ४. २०; २४. ३०; २७. १५
द्रव्य (इन्द्रिय) १६. १८
द्रव्यपर्यायात्मकत्व २४. २६
द्रव्यपर्यायात्मक २८. १
द्रव्यमनस् १९. १७
द्रव्याचार्य १८. १६
द्रव्यार्थादेश १७. २२
द्रव्येन्द्रिय १८. ११
द्रव्यैकरूप २५. २४
द्रव्यैकान्त २६. १९

[ध]

धर्म ४६. १२
धर्मतीर्थ १. २
धर्मधर्मिन्याय ४६. २१
धर्मिन् ४६. १२; १८
धारणा २२. १; ३०. २०
धारावाहिज्ञान ४. १६; २१

[न]

नामकर्म १६. २१
निगमन ५२. १६; ५३. १७; ७०. १४
निग्रह ६५. ८
निग्रहस्थान ६६. २१
नित्यसमा ६२. १
निरनुयोज्यानुयोग ७१. २७
निरर्थक ६८. ५
निर्णय ३. १; ७. ४
निर्विकल्प २३. १३
निषेध ४२. ३
निषेधसाधनत्व ४५. ९
नोइन्द्रिय १९. १०
नोदना १२. ८
न्याय ४५. २७
न्यून ६९. २४; ७४. २५

[प]

पक्ष ४५. २०; ६६. १२
पक्षत्रयव्यापक ५६. २२
पक्षत्रयैकदेशवृत्ति ५७. ६
पक्षदोष ५४. ८
पक्षधर्मता ४०. १९
पक्षधर्मत्व ३९. १६; ५४. २१;
पक्षधर्मोपसंहार ५१. २२; ७२. १४
पक्षविपक्षव्यापक ५६. ७; १०
पक्षविपक्षव्यापकसपक्षैकदेशवृत्ति ५७. १
पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति ५६. ९; १३
पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापिन् ५७. ४
पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति ५६. ७; ११
पक्षव्यापकसपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति ५७. २
पक्षसपक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति ५७. १
पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापिन् ५७. ५
पक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक ५६. ८; १२
पक्षैकदेवृत्तिसपक्षविपक्षव्यापक ५७. ३
पक्षैकदेशासिद्ध ३९. १९
पञ्चलक्षणकत्व ४१. १
पत्र ७४. २७
पद १. १४
परपक्ष ६४. ३
परमार्थसत् २५. ३
पराजय ६५. ३
पराजयाधिकरण ७२. ९
परार्थ ३९. ४; ४५. २४; ४९. २
परिणामिन् ३१. २१
परिणामिनित्य ११. ११
परीक्षा २. ११
परोक्ष ७. १६; २०; ८. २५; ९. ४; ३३. ३
पर्यनुयोज्योपेक्षण ७१. २२
पर्याय ४. २०; ११. १२; २५. २; २७. १५
पर्यायार्थादेश १७. २२
पर्यायैकान्त २७. १३
पर्यायैकान्तरूप २६. २०
पर्यायैकान्तवाद २६. २७
पर्युदास ७४. १९
पाणि १७. १८
पाद १७. १८
पुद्गल १८. ११
पुनरुक्त ५१. १८; ७०. १०
प्रकरण १. १४
प्रकरणसम ५४. ७; १०
प्रकरणसमा ६१. ६
प्रकाश्य ५०. ९

प्रकाश्यप्रकाशकभाव २०. १६
प्रज्ञा ११. २९
प्रतिक्षणविनाशिन् २६. २०
प्रतिज्ञा ५०. २४; ५२. १६; २४
प्रतिज्ञान्तर ६६. २१
प्रतिज्ञाविरोध ६७. ९
प्रतिज्ञासंन्यास ६७. १६
प्रतिज्ञाहानि ६५. २७
प्रतिदृष्टान्त ६५. २७
प्रतिदृष्टान्तसमा ६०. २६
प्रतिपक्ष ६६. १३
प्रतियोगिन् ९. १४
प्रतिवादिन् ५५. ४; ६३. ८; ६५. ८
प्रतिवाद्यसिद्ध ५५. १४
प्रतिसंख्यान २१. १२
प्रतिसमाधान ६२. १७
प्रतीतिबाधा ४६. ९
प्रत्यक्ष ६. ९; ७. १०; १६; १९; २२; ८. २५; ९. २; २६; ११. १८; १४. १०; २२. २३; २३. ८; १७; २४. ५; १३; ३५. ११; २५; ३६. २४
प्रत्यक्षबाधा ४६. ३
प्रत्यक्षाभास ५३. २६
प्रत्यक्षेतरप्रमाण ७. २६
प्रत्यभिज्ञान ८. २५; ३०. १०; ३३. ७; ३४. १२
प्रत्यवस्थान ५९. २५
प्रत्यासत्ति १७. २७
प्रधान ५५. १८
प्रमत्त (गुणस्थान) १५. २४
प्रमाण २. ५; २०; ३. १४; १५; ४. १७; ६, १६; २३; २६; ७. ७; ३०. १; १८
प्रमाणफलभाव ३०. ९
प्रमाणसम्प्लव ७०. १
प्रमाणसिद्ध ४६. १८
प्रमाणाभास ५३. २५
प्रमातृ ३१. २१
प्रयोग ५०. १५
प्रयोगकाल ४६. १४
प्रसङ्गसमा ६०. २५
प्रसज्यप्रतिषेध ७४. १८
प्राप्तिसमा ६०. २१
प्राप्यकारिन् २३. ५
प्रामाण्यनिश्चय ६. १
प्राश्निक ६३. ६; १३
प्रेक्षप्रयोग ५२. ८

[फ]

फल २९. १७; ३०. १९

[ब]

बहिर्व्याप्ति ४८. १४
बाधकप्रमाण ४२. ५
बाधा ४१. ८; ४६. २
बुद्धिसिद्ध ४७. २
बुद्ध्यारूढ ४६. २०
बोधिबीज १. ३
बोध्य ५२. १६
ब्रह्म १३. १३; १४. १

[भ]

भगवत् १४. ४
भवप्रत्यय (अवधिज्ञान) १५. ९
भागासिद्ध ५५. १७
भाव (इन्द्रिय) १६. १८
भावमनस् १९. १८
भावांश ९. १३
भावेन्द्र १८. २३
भावेन्द्रिय ४. २; ३; १८. १९

[म]

मङ्गल २. २; ४
मति १९. १४
मतानुज्ञा ७१. १६
मनःपर्याय १५. ४
मनस् १५. ११; १९. ८
मनस्कार १९. २२
मानस ८. २४; ९. १५
मीमांसा २. ६
मीमांसा (शब्द) २. १२; १८
मुख्य १५. ३
मुख्य (प्रत्यक्ष) १०. १४

[य]

याचितकमण्डनन्याय ६. २९
योगिज्ञान ८. २५; ३४. ५
योगिन् २०. ३
योगिप्रत्यक्ष १२. २५

[र]

रसन १६. १७
रूप १९. २१

[ल]

लक्षण २. ८
लक्षणार्थ २. २२
लब्धि १८. १९
लिङ्ग ३८. १९; ३९. १३
लिङ्गिन् ३८. १९
लोकबाधा ४६. ७

[व]

वर्ण्यसमा ६०. १३
वर्धमानपरिणाम १५. २५
वस्तु ८. ३०; २४. १६; २५. १६
वाक् १७. १८
वाक्छल ६२. २५
वाचकत्व ५०. ९
वाद ६३. ७; २५
वादिन् ५५. ४; ६३. ८; ६५. ८
वाद्यसिद्ध ५५. ६
वायससदसद्दशनपरीक्षा २३. १३
वासना ३३. १७
वासनोद्बोध ३३. १६
विकल्प ६. २९; ७. १, २१. १२; ३७. ७
विकल्पबुद्धि ४६. २२, ४७. ३
विकल्पसमा ६०. १६
विक्षेप ७१. १२
वितण्डा ६३. २१, ६४. १
विधि ११. २७, ४२. ३
विधिसाधनता ४५. ९
विपक्षव्यावृत्ति १०. ३
विपक्षैकदेशवृत्ति ४०. ४
विपरीतनियम ५५. २७
विपरीतव्यतिरेक ५८. १६
विपरीतान्वय ५८. १६
विपर्यय ५. १७
विप्रतिपत्ति ३४. ६, ६५. १३
विभाग २. ९
विरुद्ध ३९. १६; ४५. १६; ५४. ३; ५५. २७
विरुद्धकार्य ४५. १६
विरुद्धधर्माध्यास २२. १७
विरोध ३. २६, २८. ३
विरोधिन् ४२. १
विवर्त्त २५. २
विशद ९. २६
विशेषणविशेष्यभाव २६. १२
विशेषणासिद्ध ५५. १६
विशेषलक्षण २. ८, ९
विशेष्यासिद्ध ५५. १४
विषय २४. १६; ३४, ५
विषयव्यवस्था २८. ९
विषयोपदर्शन ५०. २४
वीर्य १. १
वीर्यान्तराय १७. १
वृत्ति २४. १३
वेद १२. १०
वैतण्डिक ६४. ३
वैधर्म्य ४८ १८; ५७ ९
वैधर्म्यदृष्टान्त ४८. २१
वैधर्म्यदृष्टान्ताभास ५७. २५
वैधर्म्यसमा ६०. ४
वैधर्म्योदाहरण ५३ १०
वैयधिकरण्य २८ ४
वैशद्य १० ६
व्यतिकर २८. ८
व्यतिरेक २० १; ४८ १९; ५०. १०; ५८ २१
व्यतिरेकिन् ९. ३०
व्यभिचार ३ ११
व्यर्थविशेषणासिद्ध ५५ २०
व्यर्थविशेष्यासिद्ध ५५. १९
व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव ३०. ८
व्यापक ३८. ३
व्यापकधर्मता ३८ ५
व्यापकानुपलब्धि ४५. १५
व्याप्ति ३८. ३
व्याप्तिग्रहणकाल ४६. १५
व्याप्तिज्ञान ३६. २०
व्याप्तिदर्शनभूमि ४८. ९
व्याप्तिस्मरण ४८. १
व्याप्त्युपदर्शन ५०. १८
व्याप्य ३८. ३
व्याप्यधर्मता ३८. ११

[श]
शब्द (प्रमाण) ८. २३
शब्दपुनरुक्त ७०. ११
शब्दार्थ ५० ८
शाब्द ६. १३
शास्त्र १२. १५
शासन १२. २२
शिखण्डिन् २३. १५
शुक्लध्यान १३. ७
शुद्धि ५२. २०; ५३. २१
श्रुत १९. १२
श्रोत्र १६. १८
[स]
संयत १५. २३
संयतासंयत १५. २३
संयुक्तसंयोग (सन्निकर्ष) २३. ६
संयोग २६. ७
संवादक ६. १०
संवित् ४. ३; ६; ७
संव्यवहार १६. ८
संशय ५. ७; २८. ९
संशयसमा ६१ ३
संशयाद्याभास ५३. २६
संस्कार २२. २; ५
सकलार्थदर्शिन् १४. १८
सङ्कर २८. ७
सङ्कलन ३४. १२
सत् २५. ४
सत्तायोग २७. १९
सत्त्व २७. १७
सन्तान २६. २५; २७. १
सभापति ६३. १४
सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक १४ ३०; ४०. ८
सन्दिग्धविशेषणासिद्ध ५५. २२
सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध ५५. २१
सन्दिग्धसाधनधर्मान्वय ५८. ७
सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक ५८. ११
सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति ५९. ५
सन्दिग्धसाध्यधर्मान्वय ५८. ६
सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक ५८. १०
सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति ५९. ४
सन्दिग्धसाध्यादिव्यतिरेक ५८. २
सन्दिग्धसाध्याद्यन्वय ५८ २
सन्दिग्धान्वय ४०. २
सन्दिग्धासिद्ध ३९. २२; ५४. २६
सन्दिग्धोभयधर्मान्वय ५८. ८
सन्दिग्धोभयव्यतिरेक ५८. १२
सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ५९ ५
सन्निकर्ष २२. ३१
सपक्ष १०. २
सपक्षाव्यापिन् ३९. २५
सभ्य ६३. ७१
समवसरण १३. ८
समवाय २६ ८
समवायिन् ४४. २२
समाधान ६७. २५
सम्भव ३. ११
सम्यक्त्व १२. २१
सम्यग् ३. ९
सम्युगुत्तर ६२. २०
सर्वज्ञ १२. ३२; १४. २३
सर्वज्ञता १२. १९
सविकल्पक २३. १४
सहक्रमभावनियम ४१. १२
सहकारिन् २५. २७
सहकारिभाव २७. ९
सहभाविन् ४१. १२
सांव्यवहारिक ६ २७; १६ १
साधन ३८. २२; ४२. २; ४७. २७
साधन (परार्थानुमान) ५९. १५; ६३. ६; २४
साधनत्व ५२. २९
साधनदोष ५४. ४
साधनदोषोद्भावन ५९. १५
साधनधर्म ५३ १४
साधनवचन ५२. २९
साधनवादिन् ७३. २७
साधनविकल ५७. १५
साधनवाक्य ६८. १२
साधनाभास ६५ ५
साधनाभिधान ४९. २
साधनाव्यतिरेकिन् ५७ २१
साधनाव्यावृत्त ५७. २३
साधर्म्य ४८. १८; ५७. ९

साधर्म्यदृष्टान्त ४८. २२
साधर्म्यदृष्टान्ताभास ५७. १९
साधर्म्यप्रयोग ६०. २
साधर्म्यसमा ६०. १
साधर्म्योदाहरण ५३. ८
साधारण ४०. ४
साधारणानैकान्तिक ३९. २४
साध्य ४५. २०; ४६. १२
साध्यधर्मिन् ५३. १४
साध्यनिर्देश ५२. २४
साध्यप्रतिपत्ति ४८. १
साध्यविकल ५७. १५
साध्यविज्ञान ३८. २२; ४९. ५
साध्यसमा ६०. १८
साध्यसाधनभाव ४५. २
साध्याद्यव्यतिरेकिन् ५७. २०
साध्याविनाभाव ३९ ..
साध्याव्यतिरेकिन् ५७. २१
साध्याव्यावृत्त ५९. ४
सामान्यच्छल ६२. २७
सामान्यलक्षण २. ८
सिद्धि ६४. २६
सिषाधयिषित ४५. २०
सूत्र १ १४; ३५. १४
स्पर्शन १६. १७
स्फुटत्व १०. ५
स्मरण ३५. १६
स्मृति ५. १; ८. २५; २२. १; ३०. २०; ३३. ७; १६
स्याद्वाद १२. १६
स्वनिर्णय ३ १४; ४. ९; १०
स्वपक्ष ६४. ३; २६
स्वपराभासिन् ३१. २१
स्वभाव ४२. १; ४
स्वभावानुपलब्धि ४५. १३
स्वरूपासिद्ध ५४. १९
स्ववचनबाधा ४६ ८
स्वसंवेदन ३. २७; ४. ३; १६. १२
स्वार्थ ३९ ४; ८

[ह]

हानादिबुद्धि ३१. ४
हेतु ५२. ११; १६; २९
हेतुदोषत्व ५४. ६
हेतुफलभाव १९. २९
हेत्वन्तर ६७. २१
हेत्वाभास ५४. ३; ७२. ६
हेत्वाभासता ५३. २७

५. प्रमाणमीमांसागतानामवतरणानां सूची ।

[अ]

अग्निस्वभावः शक्रस्य [प्रमाणवा० १. ३१] ४४.६
अथ प्रमाणपरीक्षा [प्रमाणप० पृ० १] २. १६
अथापि नित्यं परमार्थसन्तम् [न्यायम० पृ० ४६४] २७. १
अथापि वेदर्देहत्वात् तत्त्वसं० का० ३२०८] १२. ३१
अनिग्रहस्थाने [न्यायसू० ५. २. २२] ७१. २७
अनुपलम्भात् कारणव्यापकानुपलम्भाच्च [ ] ३७. ११
अन्यथाऽनुपपन्नत्वम्] ४०. २५
अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता [श्वेताश्व० ३. १९] ११. २४
अभिलापसंसर्गयोग्य–[न्यायबि० १.५,६] २३. ९
अयमेवेति यो ह्येष [श्लोकवा० अभाव० श्लो० १५] ९. ६
अर्थक्रिया न युज्येत [लघी० २. १] ११. १४
अर्थक्रियाऽसमर्थस्य [प्रमाणवा०१.२१५] २५.२२
अर्थस्यासम्भवेऽभावात् [धर्मकीर्ति] ८. २०
अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन [न्यायसू० ५ २.१५] ५१ .१८
अर्थेन घटयत्येनाम् [प्रमाणवा० ३.३०५]२०. २४
अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् [ ] ६. १६
अल्पाक्षरमसन्दिग्धम् [ ] ३५. १३
अविच्चुई धारणा होइ [विशेषा० गा० १८०] २२. ९
असाधनाङ्गवचनम् [वादन्यायः का० १] ७२.१३

[आ]

आद्यन्तापेक्षिणी सत्ता [ ] ४५. ७
आवर्तवर्तनाशालि–[न्यायम० पृ० .३०] ४३.२०

[इ]

इदमल्पं महद्दूरम् [लघी० ३. १२] ३५. ९
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् [न्यायसू० १. १. ४] २२. २२

[उ]

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् [तत्त्वार्थ० ५. २९] २५. ३
उपन्नेइ वा विगमेइ वा [ ] २५. ४
उपमानं प्रसिद्धार्थ–[लघी० ३. १०] ३५. ७

[ए]

एवं सत्यनुवादित्वम् [श्लोकवा० सू० ४ श्लो० ३९] २३. १९
एकसामग्र्यधीनस्य [प्रमाणवा० १.१०] ४३.८
एकार्थसमवायस्तु [ ] ४५. ३

[क]

कत्थइ पञ्चावयवं [दश०नि० ५०] ५२. २१
कार्यं धूमो हुतभुजः [प्रमाणवा० १.३५] ४३.२५
कार्यव्यासङ्गात् [न्यायसू० ५. २. १९] ७१. २
कालमसंखं संखं च [विशेषा० गा० ३३३] ३३.१८
किन्त्वस्य विनिवर्तन्ते [तत्त्वसं० का० २२५]३२.१

[ग]

गतानुगतिको लोकः [न्यायम० पृ०११] ६४. १६
गम्भीरगर्जितारम्भ [न्यायम० पृ० १२९] ४३.१४
गृहीत्वा वस्तुसद्भावम् [श्लोकवा० अभाव० श्लो० २७] ९. १४

[ज]

जाणइ बज्झेणुमाणेणं [विशेषा०गा० ८१४]१५.१४
ज्ञानमप्रतिघं यस्य [ ] १२. २७
ज्ञानादतिरिक्तो भावनाख्यः [ ] २२. ६

[ड]

डिण्डिकरागं परित्यज्य [हेतु० परि० १] ५१.१९

[त]

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम् [न्यायसू० ४. २. ५०] ६३. २१
तत्रापूर्वार्थविज्ञानम् [ ] ४. १८
तत्संप्रयोगे पुरुषस्य [शाबरभा० १.१.५] २४.५
तथैव नित्यचैतन्य–[तत्त्वसं०का० २२४] ३२. ८
त्रिकालविषयं तत्त्वम् [सिद्धिवि० लि० पृ० ४१४ A] १२. १२

[द]

दुःशिक्षितकुतर्कांश–[न्यायम० पृ० ११] ६४. १४
दृष्टश्चासावन्ते [न्यायवा० ५. १. २] ६६. ११
दोहिं वि नएहिं [सन्मति० ३.४९] २५. ८

[ध]

धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे [सिद्धिवि० लि० पृ० ४१३ A] १२. ५

न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे [तत्त्वसं० का० २२७] ३२. १४

न तावदिन्द्रियेणैषा [श्लोकवा० अभाव० श्लो० १८] ९. १२

नर्ते तदागमात्सिध्येत् [श्लोकवा० सू० २ श्लो० १४२] ११. २१

न स्मृतेरप्रमाणत्वम् [न्यायम० पृ० २३] ५. ३

नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] ३४. ४

नानुपलब्धे न निर्णीते [न्यायभा० १. १. १] ४५. २७

नासतो हेतुता नापि [ ] २९. २३

नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति [प्रमाणवा० १. १९२-३] ४७. ९

नोदना हि भूतं भवन्तम् [शाबरभा० १. १. २] १२. ८

[प]

पञ्चवर्णं भवेद्रत्नम् [ ] ३४. २२

पयोम्बुभेदी हंसः स्यात् [ ] ३४. २०

पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन [ ] ५४. २३

पुट्ठं सुणेइ सद्दं [आव० नि० ५] २१. ६

पुढवी चित्तमन्तमक्खाया [दशवै० ४. १] १७. ६

पूर्वप्रमितमात्रे हि [तत्त्वसं० का० ४५३] ३५. २०

प्रतिज्ञाहेतूदाहरण- [न्यायसू० १. १. ३२] ५२. १८ ७४. २३;

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः [न्यायसू० ५. २. ४] ६७. ९

प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा [न्यायसू० ५. २. २] ६५. २७

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् [सांख्यका० ५] २४. १७

प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम [न्यायबि० १ ४] २३. ८

प्रत्यक्षमनुमानं च [प्रमाणसमु० १ २: न्यायबि० १. ३] ७. १४

प्रत्यक्षागमबाधित- [ ] ५४. ८

प्रत्येकं यो भवेद्दोषः [ ] २९. ३

प्रमाणं स्वपराभासि [न्याया० १] ३. १४

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः [न्यायसू० १. २. १] ६३. २४

प्रमाणनयैरधिगमः [तत्त्वार्थ० १. ६] २. १३

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् [प्रमाणवा० २. १] ६. २६

प्रमाणस्य फलं साक्षात् [न्याया० २८] ३०. १५

प्रमाणेतरसामान्य- [धर्मकीर्ति] ८. १८

[ब]

बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् [हेतु० परि० ४] ४१. ८

[भ]

भिन्नकालं कथं ग्राह्यम् [प्रमाणवा० ३. २४७] २०. ११

[म]

मतिश्रुतयोर्निबन्धः [तत्त्वार्थ० १. २७] १९. १४

मदेन मानेन मनोभवेन [अयोग० २५] १३. १४

[य]

यत्र तत्र समये यथा तथा [अयोग० ३१] १४. ३

यथाहेः कुण्डलावस्था [तत्त्वसं० का० २२३] ३२. ६

यथोक्तोपपन्नच्छलजाति- [न्यायसू० १. २. २] ९ ६३. ३०

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमः [अयोग० २१] १२. २१

यश्चाप्यतिशयो दृष्टः [श्लोकवा० सू० २ श्लो० ११४] ३६. १०

यस्त्वन्यतोऽपि भवन्नुपलब्धः [ ] ४४. ३

यो यत्रैव स तत्रैव [ ] २६. २३

[र]

रूपं यद्यन्वयो हेतोः [ ] ४४. १८

रूपालोकमनस्कार- [ ] १९. २२

रूपिष्ववधेः [तत्त्वार्थ० १. २८] १५. ७

रोमशो दन्तुरः श्यामः [न्यायम० पृ० १४३] ३४. १८

रोलम्बगवलव्याल- [षड्द० २०; न्यायम० पृ० १२९] ४३. १६

[ल]

लिङ्गस्यानन्वया अष्टौ [ ] ५९. १२

लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव [ ] ३८. १९

५. प्रमाणमीमांसागतानामवतरणानां सूची ।

[व]

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः [ ] ११. ९

वहद्बहलशैवाल-[न्यायम० पृ० १३०] ४३. २२

विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः [प्रमाणवा० १. २८] ५२. ११

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च [न्यायसू० १ २. १९] ६५. १०

विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य [ ] ६५. २

व्याप्तिग्रहणकाले [ ] २१. २२

[श]

शङ्कः कदल्यां कदली च [ ] ६८. २७

श्रुतमनिन्द्रियस्य [तत्त्वार्थ० २. २२] १९. १२

श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम् [ ] २४. १३

[स]

सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षम् [ ] ७. २२

सत्संप्रयोगे पुरुषस्य [जैमि० १. १. ४] २३. १

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनः [न्यायसू० १.२.३]६४ १.

सम्बद्धं वर्तमानं च [श्लोकवा० सू० ४ श्लो० ८४] १४. १२; ३५. २७

सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् [न्यायसारः पृ० १] ६. २३

सम्यगर्थे च संशब्दः [श्लोकवा० सू० ४ श्लो० ३८, ३९] २३. २६

सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारः [ ] ४६. २०

सर्वमस्ति स्वरूपेण [ ] १२. १७

सादेरपि न सान्तत्वम् [ ] ४२. २०

साध्यधर्मप्रत्यनीकेन [न्यायभा० ५.२.२] ६६. १

साध्यानुवादाल्लिङ्गस्य [ ] ५८. २३

सापेक्षमसमर्थम् [पात०महा०३.१.८] २५. २८

सिद्धान्तमभ्युपेत्य [न्यायसू० ५ २.२३] ७२. १

स्यातामत्यन्तनाशे हि [तत्त्वसं०का०२२६] ३२. १२

स्वसमयपरसमयज्ञाः [ ] ६३. १२

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकम् [परी०१. १] ४. १७

स्वार्थव्यवसायात्मकम् [तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७७] ३. १५

[ह]

हसति हसति स्वामिन्युच्चैः [वादन्यायः पृ० १११] ७०. १६

हीनमन्यतमेनापि न्यूनम् [न्यायसू० ५.२.१२] ७४. २५

हेतोस्तथोपपत्त्या वा [न्याया० १७] ५०. १९

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः [न्यायसू० १.१. ३९] ७०. १४

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः [न्यायसू० ५. २. २४] ७२. ६

६. भाषाटिप्पणगत शब्दों और विषयों की सूची।[1]

[अ]

अकलङ्क १. ११
अकिञ्चित्कर ६७. १०
अक्ष २३. २४; २४ १
अक्षपाद १. ७
अक्षिगोलककृष्णसार ४०. १५
अचक्षुर्दर्शन १२८. १७
अज्ञातत्व ८१. २४
अज्ञाननिवृत्ति ६८. ७
अज्ञानवादी २७. २६
अथ २. ११
    शब्द के अर्थ के विषय में महाभाष्य, शबर, व्यास, शङ्कर, वाचस्पति और हेमचन्द्र के मन्तव्य २. ११
अथ प्रमाणमीमांसा १. २१
    इसकी रचना के आधार का ऐतिहासिक अवलोकन १. २१
अदृष्टार्थ (आगम) १८. १२
अदोषोद्भावन १२२. १६
अधिगतार्थक ११. २४
अनधिगत १४. ५; १५
अनध्यवसाय
    प्रशस्तपादकृत दो भेद १५. ८
    हेमचन्द्र १५. १८
अनध्यवसाय १२६. २९
अनध्यवसित (हेत्वाभास) ९६. १८. १०१. १७
अनन्वय (दृष्टान्ताभास) १०७. ३; १०८. १४
अनभ्यासदशा १७. २१
अनवस्था ६५ १५
अनसूयक ११६. २७
अनसूयी ११६. २८
अनित्यवाद ५३. ८
अनित्यसम (जाति) ११४. ११
अनुक्ति (जाति) ११४. १३
अनुत्पत्तिसम (जाति) ११३. २०
अनुपलब्धि ८३. २०
अनुपलब्धिसम (जाति) ११४. ९
अनुपलम्भ ८३ २०
अनुमान २१. १०
अनुमान
    सर्वसंमत स्वार्थ परार्थरूप द्वैविध्य ८० १६
    अनुमिति और अनुमितिकरण ऐसे दो अर्थ १३८. १
    प्रत्यक्ष और अनुमान का पूर्वापर भाव १३८. ४
    अनुमान निरूपण के विषय में तीन युग—वैदिक, बौद्ध, नव्यन्याय १३८. २३
    वैदिक परंपरा में ही सर्व प्रथम अनुमान का निरूपण १३८. २६
    वैशेषिक और मीमांसक का अनुमानद्वैविध्य १३९. ७
    न्याय, सांख्य और चरक का अनुमानत्रैविध्य १३९ १२
    जैन-आगमिक परंपरा का अनुमानत्रैविध्य १३९ १७
    बौद्धों का अनुमानत्रैविध्य १३९ २२
    दिङ्नागकृत नया प्रस्थान १४०. ३
    जैन परंपरा पर बौद्धों का प्रभाव १४० १५
    बौद्ध-जैन और ब्राह्मण का संघर्ष १४०. २२
    भासर्वज्ञ पर बौद्धों का असर १४०. २७
    गंगेशकृत नया प्रस्थान और उसका सर्वशास्त्रों पर प्रभाव १४१. ३
    जैन यशोविजयजी नव्यन्याय के मर्मज्ञ १४१. १०
    हेमचन्द्र की विशेषता १४१. १६
    श्वेताम्बराचार्यकृत अनुमान त्रैविध्यखण्डन की असंगति १४१. २७
    हेमचन्द्रकृत असंगतिपरिहार १४२. ८
अनुमिति १३७ १; १३८ १
अनुमितिकरण १३८. १
अनुमेय १३७. २०
अनुव्यवसाय १३१. १३
अनेकान्तवाद
    स्वरूप ६१. ५
    सभी दर्शनों में अनेकान्तवाद ६१. ९

१ इस सूचीमें स्थूलाङ्क "भाषाटिप्पणानि" का पृष्ठ सूचक और सूक्ष्माङ्क पंक्ति सूचक है।

जैनदर्शन ही क्यों अनेकान्तवादी ? ६१. १२
जैन-बौद्ध का अनेकान्तवाद ६२. ५
जैन, मीमांसक और सांख्य का अनेकान्तवाद ६२. १३
पहिले खण्डनकार बौद्ध ६३. ८
ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्तवादखण्डन किसका है ? ६३. १२
अनेकान्तके ऊपर विरोधादि आठ दोष ६४ ६; ६५. ८
दोषोद्धार करनेवाले अकलङ्क और हरिभद्र ६४.२१
सप्तभङ्गी, स्याद्वाद, नयवाद और निक्षेप ६४. २६
देखो **विरोधसंशयादिदोष**
अनेकान्तवादी ६१. १४
अनैकान्तिक
नैयायिकों के सव्यभिचार और वैशेषिकों के सन्दिग्ध की तुलना १००. १४.
न्यायप्रवेश और प्रशस्तपादसंमत संशयजनकत्व-रूपनियामकतत्त्व १०१. ३
असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी के संशयजन-कत्वका प्रशस्तपादकृत खण्डन १०१. ९
प्रशस्तपाद को धर्मकीर्ति का जवाब १०२. १०
जयन्तकृत प्रशस्तपादका समर्थन १०३. १
न्यायसार १०३ ६
जैनपरम्परा १०३. ९
अनैकान्तिक १४२. २९; ३३; १४३. ६
अन्तःकरण ४०. २३ देखो **मन**
अन्यथानुपपत्ति ८७. ८
अन्यथानुपपन्नत्व ८२. १७ देखो **हेतु**
अन्यथासिद्ध (हेत्वाभास) ९७. १२
अन्वय ८६. ९
अपकर्षसम (जाति) ११३. २१
अपरोक्ष १३५. ५
अपाय ४६. १७ देखो **अवाय**
अपूर्व १२. ६; १३. १२; १४. १०
अपौरुषेयत्व १८. १९; १३२. १६
अपौरुषेयवेदवादी २८. ४
अप्रतिपत्ति (दोष) ६५. १५
अप्रतिपत्ति (निग्रहस्थान) ११९. २१
अप्रत्यक्षोपलम्भ ११. ३
अप्रदर्शितव्यतिरेक (दृष्टान्ताभास) १०७. ७
अप्रदर्शितान्वय („) १०७. ६
अप्रयोजक (हेत्वाभास) ९७. १२
अप्रयोजकत्वशङ्का ७७. ८
अप्राप्तिसम (जाति) ११३. २०
अबाधितविषयत्व ८१. १४
अभाव (दोष) ६५. ११
अभावप्रमाणवाद
की प्राचीनता २६. १
कुमारिल और प्रभाकर का मतभेद २६. ५
अभिनिबोध २३. ४
अभूत (लिङ्ग ८४. ७
अभ्यासदशा १७. २०
अर्थ
न्याय-वैशेषिकसम्मत त्रैविध्य ९. ६
धर्मोत्तर-प्रभाचन्द्र का द्वैविध्य ९; ७
देवसूरि-अभयदेव का त्रैविध्य ९. ९
हेमचन्द्र १०. १
अर्थापत्ति २१ १०
अर्थापत्तिसम ११४. ५
अर्थालोककारणतावाद
बौद्ध और नैयायिक सम्मत ४४. १२
अर्थोपलब्धिहेतु (प्रमाण) १९. ४
अलौकिकनिर्विकल्पक १२६ ९
अलौकिकप्रत्यक्ष १३३. ४
अलौकिकप्रत्यक्षवाद ७५. २७
अवग्रह ४६. ४
अवधि (ज्ञान) १२८. १९
अवधि (दर्शन) १२६. १२; १२८. १७
अवयव २०. १५; ९४. १५ देखो **न्यायवाक्य**
अवर्ण्यसम (जाति) ११३. २२
अवाय
अवायशब्द की प्राचीनता ४६. १५
अवाय और अपाय के अकलङ्ककृत अर्थभेद ४६. २०
अविकल्प १९. २१
अविकल्पक १२९. २६
अविच्युति ४७. ११ देखो **धारणा**
अविद्यानाश ६६. ११
अविनाभाव ७८. २५ देखो **व्याप्ति**
अविनाभावनियम ८२. ४
अविरुद्ध (जाति) ११४. १७
अविशेषसम (जाति) ११४. ६
अव्यतिरेक (दृष्टान्ताभास) १०७. ३

अव्यापक १४२. ३३
अव्याप्तिसम (जाति) ११४. १७
असंशय (जाति) ११४. १७
असत्प्रतिपक्षितत्व ८१. १४
असदुत्तर १०६. २८
असम्यक्खण्डन १०६. २८
असर्वज्ञवाद २६. २६ देखो **सर्वज्ञवाद**
असाधनाङ्गवचन १२२. १६
असाधारण १०१. ७; १४२. ३३ देखो **अनैकान्तिक**
असाधारणधर्म ४. १५
असिद्ध
न्यायसूत्र ६८. १९
प्रशस्त, न्यायप्रवेश और माठर में चार प्रकार ६८. २४
पूर्व परम्परा में धर्मकीर्ति का संशोधन ६८. २६
न्यायसार और न्यायमञ्जरी ६६. १
जैनाचार्यों के द्वारा धर्मकीर्ति का अनुसरण और न्यायपरम्परा का खण्डन ६६. २
अहेतुसम (जाति) ११४. ४

[आ]

आगम
अदृष्टार्थक का प्रामाण्य १८. १
मीमांसक और नैयायिक-वैशेषिक १८. १८
प्रामाण्यसमर्थन में अक्षपाद का मन्त्रायुर्वेद का दृष्टान्त १८. २१
हेमचन्द्र ज्योतिषशास्त्र का उदाहरण क्यों देते हैं ? १८. २५
धर्मकीर्ति की आपत्ति १८. २९
आत्मकर्मसम्बन्ध
माननेवालों के सामने आनेवाले किनने एक प्रश्न ३४. १५
माननेवाले सभी के समान मन्तव्यों का परिगणन ३४. २०
दार्शनिकों के मन्तव्य ३४. ३२
आत्मज्ञान १३३. ९
आत्ममात्रसापेक्षत्व १३४. १५
आत्मा ७०. ९ देखो **प्रमाता**
आत्माश्रय (दोष) ६६. १
आलोचन १२५. १५
आश्रयासिद्ध (दृष्टान्ताभास) १०४. १९
आहार्यज्ञान ७७. ८

[इ]

इतरभेदज्ञापन ८. ९
इन्द्र (सुगत) ४० ३
इन्द्रिय
पाणिनिकृत निरुक्ति ३८. २५
जैनबौद्धाचार्यकृत निरुक्ति ३६. ३
माठरकृत निरुक्ति ३६. १७
बुद्धघोष की विशेषता ४०. १
दार्शनिकों के मतानुसार उसका कारण ४०. ९
आकार-अधिष्ठान ४०. १५
मन ४०. २२
सांख्यसंमत पांच कर्मेन्द्रियां ४० २४
बौद्धसंमत बाईस इन्द्रियां ४१. १
विषय ४१. ८
एकत्व-नानात्ववाद ४१. १६
स्वामी ४१. २३
प्राप्याप्राप्यकारित्व ४६. २३
इन्द्रियमनोजन्यत्व १३४. १६
इष्टविघातकृत् ६६. २२

[ई]

ईश्वर १३२ १५
ईश्वरज्ञान २६. २
ईश्वरवादी १६. २८
ईश्वरसाक्षीचैतन्य १३३. ११
ईश्वरीयज्ञान २३. २८
ईश्वरीयसर्वज्ञत्व २६. ६
ईहा ६६. २०; ७७. १७

[उ]

उत्कर्षसम (जाति) ११३. २०
उत्तर १०६. २२
उदाहरणाभास १०४. २५
उपपत्तिसम (जाति) ११४. ७
उपमान २१. १०; ७६. १०; १७
देखो **प्रत्यभिज्ञान**
उपयोग १२८. २६
उपलब्धि ८४. ४
उपलब्धिसम (जाति) ११४. ८
उपालम्भ १०६. २२ देखो **दूषणदूषणाभास**
उपेक्षणीय (अर्थ) १०. ३
उभय ६५. १३
उभयदोषप्रसङ्ग ६५. ११
उमास्वाति १. ९

[ऊ]

ऊह ७६. २६ देखो तर्क

[ए]

एकत्ववितर्क ३२. २१

[क]

कणाद १. ७

कथा

ब्राह्मण–श्रमण परम्पराएं और उनका साहित्य १०८. १५ देखो वादकथा

कथा ११५. २९

कथाभास ११८. २४

कर्णशष्कुली ४०. १५

कर्मेन्द्रिय ४०. २४

कल्पना

शब्द के अर्थ ५१. ८

कारणलिङ्गक (अनुमान)

धर्मकीर्ति नहीं मानते ८५. २१

कार्य (लिङ्ग) ८३ २८

कार्यलिङ्गक (अनुमान)

प्राणादि हेतु की बौद्धोद्भावित असाधकता ८६. १

कार्यसम (जाति) ११४. १२

कालसम (जाति) ११४ ४

कालातीत ९८ १३

कालात्ययापदिष्ट ९८. १२

केवलदर्शन १२६. १२

क्रिया १३६. ४

क्लेशावरण ३२. १५

क्षणिकत्वज्ञान ३२. १७

[ख]

खण्डन १०९. २२

[ग]

गुण ५६. ९ देखो द्रव्य

[च]

चक्रक ६६ २

चक्षुर्दर्शन १२८. १७

चतुरङ्गवाद ११७. २० देखो वादकथा

चित्त ३२. १४; ३४. ८

चिन्ता २३. ४

छल ११०. ९; ११४. २९

[ज]

जन्यप्रत्यक्ष १३२. १४

जयपराजयव्यवस्था

ब्राह्मण परम्परा के अनुसार जय के लिए स्वपक्षसिद्धि आवश्यक नहीं। एक का पराजय दूसरे का जय १२१. २५

धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था–जय के लिए निर्दोष साधन का प्रयोग आवश्यक। एक का पराजय ही दूसरे का जय नहीं १२२. १

जैनाचार्य अकलङ्क के मतानुसार–एक पक्ष की सिद्धि से जय। एक पक्ष की सिद्धि दूसरे की असिद्धि के बिना नहीं १२२. १७

हेमचन्द्र १२३. १९

जल्प ११६. २ देखो दूषण-दूषणाभास

जाति १०९. २८; ११०. ९; ११३. १६

देखो दूषण-दूषणाभास

जात्युत्तर ११३. १३; ११४. २२

जीवत्वसिद्धि ४२. २

जैनज्ञानप्रक्रिया

आगमिक और तार्किक प्रक्रिया में क्या भेद है? १९. २९

जैनागम में तार्किक चर्चा भद्रबाहु के बाद की २०. ३

आगम में सर्वप्रथम आर्यरक्षित ने तार्किक प्रमाण चतुष्टय के आधार पर पञ्चज्ञान की चर्चा की २०. १६

उमास्वातिकृत पञ्चज्ञान का प्रमाणद्वय में समावेश २०. १९

संकलना के समय में स्थानाङ्ग और भगवती में प्रमाणद्वय और प्रमाणचतुष्टय का प्रवेश २०. २२

आर्यरक्षित के द्वारा मति और श्रुत का प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण में समावेश २१. ६

उमास्वाति के द्वारा मतिश्रुत में अनुमानादि का समावेश २१. १२

पूज्यपाद २१. १५

नन्दीसूत्रकार के द्वारा पञ्चज्ञानका प्रत्यक्ष और परोक्ष में समावेश २१. १७

नन्दीकारके द्वारा उमास्वाति और आर्यरक्षित के मन्तव्यका लौकिक दृष्टिसे समन्वय २१. १९

न्यायावतार में तार्किक ज्ञान चर्चा में अनुमान-निरूपण मुख्य २१. २९
जिनभद्रोपज्ञ सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष २२. १
अकलङ्क के द्वारा परोक्षप्रमाण के अनुमानादि पाच भेदों का स्थापन २२ १७
राजवार्तिक में उमास्वात्यनुसारी ज्ञान निरूपण २२. २६
हेमचन्द्र २३ ६
ज्ञातता १३१. २०
ज्ञान १३१. २५
ज्ञानचर्चा १९. २९ देखो **जैनज्ञानप्रकिया**
ज्ञानोत्पत्तिप्रक्रिया
जैनदर्शन ४५. १६
बौद्धपरम्परा ४५. २२
वैदिकदर्शन ४५. २५
हेमचन्द्र और अकलङ्क ४५. ३१
ज्ञेयावरण ३२. १५
ज्योतिर्ज्ञान ३५ २८

[त]

तत्त्वनिर्णिनीषु ११८. ३
तत्त्वबुभुत्सु ११७. ३
तत्त्वबुभुत्सुकथा ११६. ३१
तदुत्पत्तितदाकारता
सौत्रान्तिकसंमत ४४. २६
तर्क
ऊह और तर्कशब्द प्रयोग की प्राचीनता ७६ २५
जैमिनि ७७. १
नव्य नैयायिकों का मन्तव्य ७७. ६
प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार प्रमाणकोटि से बाह्य ७७ १०
बौद्ध-मन्तव्य ७७. १४
जैनाभिमत प्रामाण्य ७७. १७
तायिन् १. ३
तिमिरादिदोष १६. १
त्रिपुटिका ४०. १५

[द]

दर्शन ४६. ३
दर्शन
विविध अर्थ १२५. १
निर्विकल्प और दर्शन की एकता १२५. १४
मध्व, वल्लभ और भर्तृहरि का निषेध १२५. १८
लौकिक और अलौकिक १२६. ७
विषय के बारे में दार्शनिकों का मन्तव्य १२६. १८
जैनसंमत प्रत्यक्ष और परोक्ष दर्शन १२६. २९
उत्पादक सामग्री, शङ्कर का मतभेद १२७. १२
प्रामाण्य के विषय में बौद्ध, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य-योग १२७ २१
जैनागम दृष्टि से सम्यग और मिथ्यादर्शन १२८. १
प्राचीन जैन परम्परा के अनुसार सम्यङ्मिथ्या-रूप दर्शन का विभाग नही १२८. १५
जैन-तार्किकों की दृष्टि से प्रमाणकोटिबाह्य-प्रमाणाभास १२९. १
अभयदेवसम्मतप्रामाण्य १२९. ९
यशोविजय १२९. १४
हेमचन्द्र १२९. २५
दूषण ११४. २०
दूषण-दूषणाभास
निरूपण, सर्वप्रथम ब्राह्मण परंपरा में फिर क्रमशः बौद्ध-जैन में १०९. ८
ब्राह्मण, बौद्ध, जैनशास्त्रों में प्रयुक्त समानार्थक शब्द १०९. २२
निरूपण का प्रयोजन ११०. १
ब्राह्मण-परम्परा में छल, जाति के प्रयोग का समर्थन ११०. १०
छलादि प्रयोग के बारे में बौद्धों में ऐकमत्य नहीं ११०. १२
जैन-परम्परा में छलादि प्रयोग का निषेध ११०. १५
छलादि प्रयोग के समर्थन और निषेध के पीछे क्या रहस्य है ? ११०. २५
छलादि प्रयोग के बारे में बौद्धों के द्वारा ब्राह्मणों का अनुसरण १११. १०
आगे चलकर बौद्धों के द्वारा छलादि का निषेध ११२. १
जैन-परम्परा में प्रथम से ही निषेध ११२. ४
श्वेताम्बर-जैन परम्परा में आगे चलकर समर्थन ११२. ११
ब्राह्मण-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में सिर्फ हेतुदोष का निरूपण ११२. २७

दिङ्नाग से दूषणों का विकसित वर्णन ११२. २८
दूषणाभास का विस्तृत वर्णन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में ११२. २९
बौद्ध ग्रन्थो में अल्प-मात्र ११३. १
वर्णन में जैनों द्वारा बौद्ध-ब्राह्मण का अनुसरण ११३. २
हेमचन्द्र ११३. ७
जातिविषयक परम्पराओं का कोष्टक ११३. १७

दूषणाभास १०६. २८ देखो **दूषण-दूषणाभास**

दृष्टान्त
अनुमानाङ्गत्व के विषय में धर्मकीर्ति का मन्तव्य ६०. १७
जैनाचार्यों का मन्तव्य ६०. २१
लक्षण और प्रकार ६१. ५
जैनाचार्यों की दृष्टि से उपयोग ६१. १३

दृष्टान्त ६६. ७

दृष्टान्ताभास
न्याय-वैशेषिक सूत्र में निरूपण नहीं १०३. २६
न्यायप्रवेश, प्रशस्त और माठर के भेदों की तुलना १०४. ७
जयन्त का निरूपण, बौद्ध-वैशेषिक के आधार पर १०४. २१
न्यायसारगत संदिग्धउदाहरणाभास १०५. १
धर्मकीर्ति १०५. ४
धर्मकीर्ति और सिद्धसेनादि जैनाचार्य १०५. ११
हेमचन्द्र की विशेषता १०६. १

देवसर्वज्ञवाद २६. २६

दोषाभास ११०. १

द्रव्य
वैयाकरणों की व्युत्पत्ति ५४. १७
जैनों के द्वारा द्रव्यशब्द का प्रयोग किस-किस अर्थ में ? ५५. १
न्याय-वैशेषिककृत व्याख्या ५५. १०
व्याख्या में महाभाष्य, योगभाष्य, कुमारिल और जनाचार्यों की एकवाक्यता ५५. १३
पर्याय ५६. १
गुण और पर्याय के भेदाभेद के बारे में जैनाचार्यों का मतभेद ५६. ९
द्रव्य और गुण के भेदाभेद के बारे में दार्शनिकों का मतभेद ५६. ३१

द्रव्यार्थिक ५६. १८
द्रव्यास्तिक ६१. २४
द्रव्येन्द्रिय ४०. १९

[ध]

धर्मकीर्ति १. १४
धर्मज्ञ ३०. १
धर्मज्ञवाद २८. ८ देखो **सर्वज्ञवाद**
धर्मदेशक ३०. १०
धर्मविशेषविरुद्ध ६६. २६
धर्मशास्ता ३०. १०
धर्मिविशेषविरुद्ध १००. २
धातु १३६. ३

धारणा
आगम-निर्युक्तिकालीन ४७. ५
पूज्यपाद ४७. ८
जिनभद्रकृत तीन भेद ४७. १०
अकलङ्कादि दिगम्बराचार्यों का मतभेद ४७. १३
हेमचन्द्रका समन्वय ४८. ५

धारणा ६६. २०

धारावाहिकज्ञान
प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा का धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाणशास्त्र में प्रवेश ११. १७
न्याय-वैशेषिकसम्मत प्रामाण्य ११. २३
मीमांसक के द्वारा प्रामाण्य समर्थन १२. १
बौद्ध धर्मोत्तर सम्मत अप्रामाण्य १२. ९
अर्चटसम्मत प्रामाण्य-अप्रामाण्य १२. ११
जैनाचार्यों का मन्तव्य १३. १
हेमचन्द्र की विशेषता १४. १

[न]

नय ६२. १
नयवाद ६२. ३; ६४. २७ देखो **अनेकान्तवाद**
निक्षेप ६२. १
निक्षेपपद्धति ६५. ५ देखो **अनेकान्तवाद**

निग्रहस्थान
न्यायदर्शन, चरक और प्राचीन बौद्ध का ऐकमत्य ११६. २९
धर्मकीर्ति के वादन्याय में स्वतन्त्रनिरूपण १२०. ६
जैनाचार्य पात्रस्वामी और अकलङ्क १२०. १०
धर्मकीर्तिकृत ब्राह्मण-परम्परा का खण्डन और नई परम्पराका स्थापन १२०. १६

जैनाचार्य अकलङ्ककृत ब्राह्मण–बौद्ध
परम्परा का खण्डन १२०. २६
हेमचन्द्र १२१. १५
देखो **जयपराजयव्यवस्था**
नित्यज्ञान १३२. २५
नित्यप्रत्यक्ष १३२. १५
नित्यवाद ५३. ८
नित्यानित्यउभयवाद ५३. ९
नित्यानित्यात्मकवाद ५३. ९
नित्यसम (जाति) ११४. १०
निदर्शनाभास १०४. १४ देखो **दृष्टान्ताभास**
नियतसाहचर्य ७६. १५ देखो **व्याप्ति**
निर्णय ६ ३; १२६. ३०
निर्विकल्प १३३. २३
निर्विकल्पक १२५. १५; देखो **दर्शन**
निर्विकल्पकप्रत्यक्ष ७४. २४
नैरात्म्यदर्शन ३२. १५
नैश्चयिकअवग्रह १२६. १५
न्यायवाक्य
सांख्यसम्मत तीन अवयव ६४. १५
मीमांसकसम्मत तीन और चार अवयव ६४. १६
नैयायिकसम्मत पञ्चावयव ६४ २९
बौद्धसम्मत एक और दो अवयव ६४. ३०
जैनों का अनेकान्तवाद ६४. ३२
भद्रबाहु और वात्स्यायन के दशावयव ६५. १५

[प]

पक्ष
प्रशस्तपादके द्वारा स्वरूपनिर्णय ८८. १
जैनाचार्यों के द्वारा बौद्धों का अनुकरण ८८. ३
लक्षणान्तर्गतविशेषणों की व्यावृत्ति ८८. ७
बाधितपक्ष के विषय में प्रशस्त, न्यायप्रवेश, न्यायबिन्दु, माठर और जैनाचार्यों के मन्तव्य की तुलना ८८. १३
आकार के विषय में वात्स्यायन बौद्ध, और जैनाचार्यों के मन्तव्य की तुलना ८९. १३
विकल्पसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध के विषय में जैन और धर्मकीर्ति का विवाद ८९.२४
गङ्गेश ९०.·१ देखो **पक्षप्रयोग**
पक्षप्रयोग ९३ १७.
वैदिकदर्शनों के मतानुसार आवश्यक ९३. १८
धर्मकीर्ति का निषेध ९३. २०
जैनाचार्यों का समर्थन ९३. २१
हेमचन्द्र और वाचस्पति ९३. २५ देखो **पक्ष**
पक्षसत्त्व ८१. १
पक्षसिद्धि १२१. ३०
पत्रपरीक्षा १२४. ३०
पत्रवाक्य ११९. १७
परचित्तज्ञान ३८. ७
परप्रकाश १३०. ७ देखो **स्वप्रकाश**
परप्रकाशकत्व १०. २६
परप्रकाशवादी १३१. १९
परप्रत्यक्ष १३०. २३
परप्रत्यक्षवादी १३७ १२
परमेष्ठी (जैनसम्मत) ३. ६
परस्पराश्रय ६६. २
पराजय १२१. १६ देखो **जयपराजयव्यवस्था**
परानुमेय १३१. १९
पराभासी १३६. १७
परार्थानुमान
प्रशस्त और न्यायप्रवेश में प्राचीनलक्षण ९२. १
धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और सिद्धसेन ९२. ७
हेमचन्द्र ९२. १२
सर्वसम्मत प्रयोगद्वैविध्य ९२. २०
जैनदर्शन की विशेषता ९३. ३
हेमचन्द्र ९३ ८ देखो **पक्षप्रयोग, न्यायवाक्य**
परिणामिनित्यत्ववादी १२६. २६
परिणामिनित्यवाद ५३. ९
परोक्ष २४. ३; १२७. १; १३७. ८
पर्याय ५६. ९ देखो **द्रव्य**
पर्यायार्थिक ५६. १८
पर्यायास्तिक ६१. २४
पाणिनि १. ६
पारमार्थिक २२. ४; १२७ ४
पारमार्थिकप्रत्यक्ष १३३. १७
पिङ्गल १. ७
पुरुषत्व ३७. १
पूर्ववत् (छल) ११५. १८
पौरुषेयत्व १३२. १९
प्रकरणसम (जाति) ११४. ३
प्रज्ञातिशय ३५. २३
प्रतिज्ञा ९३. २० देखो **पक्षप्रयोग**
प्रतिदृष्टान्तसम (जाति) ११३. २९

प्रतिवादी ११८. १७
प्रतिषेध १०६. २२
प्रतिसंख्यान ४६. ६; १३५. ३०
प्रत्यक्ष २३. २४; १३८. ७; १३७. १५
प्रत्यक्ष
सिद्धसेनोपज्ञ स्वार्थ-परार्थरूप द्वैविध्य ८०. १८
प्राचीनदार्शनिक साहित्य में सिर्फ जन्यप्रत्यक्ष का लक्षण १३२. ७
प्राचीन साहित्य में ईश्वर और उनके नित्य ज्ञान की चर्चा नहीं १३२. १९
लौकिक और अलौकिक १३३. १
बौद्ध और शाङ्कर वेदान्तसम्मत अलौकिक की निर्विकल्पकता १३३. २२
रामानुजसम्मत अलौकिक की सविकल्पकता १३३. २३
न्यायवैशेषिकजैनसम्मत अलौकिक की उभयरूपता १३३. २५
प्रत्यक्षत्वका नियामकतत्त्व १३४. ८
बौद्धसंमत निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता १३४. १९
जन्यनित्यसाधारण लक्षण–भासर्वज्ञ २४. २३
शालिकनाथ १३४ २९
सिद्धसेन का लक्षण १३५. २
अकलङ्ककृत संशोधन १३५. १०
हेमचन्द्र १३५. २५
प्रत्यक्षप्रमाण
जैमिनीयप्रत्यक्षसूत्र की व्याख्या में टीकाकारों का मतभेद ५१. २०
जैमिनीय प्रत्यक्षके खण्डनकार ५२. १
सांख्य की तीन परम्पराएँ ५२ १९
सांख्यलक्षणों के खण्डनकार ५२. २३
प्रत्यक्षलक्षण
दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का मतभेद ५०. १०
शान्तरक्षित का समन्वय ५०. ३०
बौद्धलक्षणों का खण्डन ५०. २५
सिद्धसेन के लक्षण की तुलना ५०. ३२
प्रत्यक्षस्वरूप
बौद्धसम्मत निर्विकल्पकमात्र २६. १२
न्यायवैशेषिकसम्मत निर्विकल्पक-सविकल्पक २६. १२
सांख्य-योग-जैनसम्मत प्रमाणरूप से सविकल्पक २६ १४
प्रत्यभिज्ञान
प्रामाण्य के विषय में बौद्ध बौद्धेतरों के मतभेद का रहस्य ७५ ३
स्वरूप के विषय में बौद्धों का मन्तव्य ७५. १४
वाचस्पति और जयन्त ७५. २२
जैनाचार्य अकलङ्क का मत ७६ १
जैनों के द्वारा उपमानका समावेश ७६. ९
प्रत्यय (चत्वारः) ४४. २
प्रमा १२७. २६
प्रमाण ५३. ४; १३६. ८
प्रमाणचैतन्य १३४. १०
प्रमाणज्येष्ठाज्येष्ठत्व
न्याय-सांख्यसम्मत प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व २४. १४
पूर्वोत्तरमीमांसासम्मत आगम का ज्येष्ठत्व २४. १५
बौद्धसम्मत प्रत्यक्षानुमान का समबलत्व २४. १६
अकलङ्क-विद्यानन्दसम्मत प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व २४. १८
श्वेतांबराचार्यसम्मत प्रत्यक्ष-परोक्षका समबलत्व २५. १
प्रमाणत्रित्व
हेमचन्द्रवादिदेव ओर सिद्धर्षि के अनुसार वैशेषिकसम्मत २३.१३
प्रमाणद्वित्व
प्रशस्तपादसम्मत २३. ८
प्रमाणनिरुक्ति
वात्स्यायन, वाचस्पति, हेमचन्द्र तथा प्रमेयरत्नमाला ३. ११
प्रमाणमीमांसा ४. २१
प्रमाणफल
आध्यात्मिक दृष्टिसे प्राचीन चर्चा ६६. ७
तर्कयुगीन व्यावहारिक दृष्टिसे चर्चा ६६. १४
भेदाभेदके बारे में वैदिक, बौद्ध और जैन ६६ २१
फल के स्वरूप के विषय में नैयायिक वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य का ऐकमत्य ६७ ३
फल के स्वरूप के विषय में दो बौद्ध परम्पराएँ ६७. १३
सिद्धसेन और समन्तभद्र ६८. ४

अकलङ्क और बाद के जैनाचार्यों के द्वारा विकास ६८. १३
हेमचन्द्र की विशेषता ६८. ३०

प्रमाणलक्षण
कणादकृत कारणशुद्धिमूलक सर्वप्रथम लक्षण ५. १
नैयायिकों का विकास ५. ३
कुमारिल और प्रभाकर के लक्षणों की परस्पर और दर्शनान्तर के साथ तुलना ५. १८
दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित ६. ६
विज्ञानवाद ६. १७
जैनाचार्यों के लक्षणों की शब्दरचना के आधार का ऐतिहासिक अवलोकन ६. २२
हेमचन्द्र का संशोधन ७. ११

प्रमाणान्तरसिद्धि
धर्मकीर्ति २५. ३
हेमचन्द्र, सिद्धर्षि और वाचस्पति की युक्तिओं की तुलना २५. ७

प्रमाणाभास १२६. ८

प्रमाता
औपनिषद, सांख्य, बौद्ध, जैन, मीमांसक के मतानुसार आत्मनित्यानित्यता का विचार ७०. ८
स्वावभासित्व–परावभासित्व के विषय में मीमांसक, जैन और योगाचार का मन्तव्य ७०. २३
जैनाभिमतदेहव्यापित्व ७१. ३
आत्मा और ज्ञानका अभेद माननेवालोंके मतमें आत्मा, स्वप्रत्यक्ष १३७. २
कुमारिल १३७. ७
परप्रत्यक्षवादी प्रभाकर १३७. १५
आत्मप्रत्यक्ष के विषय में नैयायिक वैशेषिकों का मतभेद १३७ १७.

प्रमाता ५३. ४
प्रमिति ५३. ५
प्रमेय ६. ५; ५३. ४
प्रमेयसिद्धि ३५. २१

प्रमेयस्वरूप
का चिन्तन तर्कयुग से पहिले का ५३. ६
तर्कयुग ५३. १९
हेमचन्द्र ५३. २७ देखो **द्रव्य**

प्रमेयस्वरूपव्यवस्था
दार्शनिक क्षेत्र में बुद्धप्रतिपादित अनित्यता का परिणाम ५८. १
प्राचीन समय मे बन्धमोक्षव्यवस्था, कर्मफलसम्बन्ध आदि करौटियों से वस्तुव्यवस्था ५८. १०
बौद्धोद्भावित तर्कयुगीन अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी ५९. १
जयन्त, वाचस्पति और योगसेन के द्वारा उक्त कसौटी का आश्रय लेकर बौद्धों के एकान्त अनित्यत्ववाद का खण्डन ५९ १५
उसी कसौटी से जैनाचार्य अकलङ्क के द्वारा बौद्धों का खण्डन और स्वपक्षसमर्थन ५९. ३२

प्रश्नबाहुल्योत्तराल्पता (जाति) ११४. १५
प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य (जाति) ११४. १५
प्रसंख्यान १३५. ३१
प्रसङ्गसम (जाति) ११३. २८
प्राकट्य १३१. २४
प्राप्तिसम (जाति) ११३. २६
प्रामाण्य १६. ९

प्रामाण्यअप्रामाण्य
स्वतः परतः की चर्चाका मूल वेदप्रामाण्यसमर्थन में १६. १८
वेदके प्रामाण्य और अप्रामाण्यवादी १६. २६
मीमांसक १७. ४
सांख्य १७. ७
सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार बौद्धमत १७. १२
शान्तरक्षित १७. १६
जैनपरम्परा १८. १
उत्पत्ति, ज्ञप्ति, प्रवृत्ति १८. ८

(फ)

फल १३६. ८
फलसंवित्ति १३१. २२

(ब)

बाह्यार्थवाद ६७. १८
बुद्धिवृत्ति १३१. १८
बुद्धीन्द्रिय ४०. २३
बौद्धिकसर्वज्ञत्व २९. ७

(भ)

भावेन्द्रिय ४०. २२
भूत ८४. ७
भेदाभेद (जाति) ११४. १५

(म)

मति १२८. १९
मध्यमप्रतिपदा ६२. ८

मन ४०. २२; ४३ २४;
मन
स्वरूप और कारण ४२. १४
कार्य और धर्म ४३. ३
स्थान ४३ १४
मनःपर्यायज्ञान ३७. ७
आवश्यकनिर्युक्ति तथा तत्त्वार्थभाष्यका मन्तव्य ३७. १७
विशेषावश्यकभाष्य ३७. १८
दिगम्बरपरम्परा ३७. २३
हेमचन्द्र ३७. २९
मनस्कार ४३. २८
मनुष्यसर्वज्ञत्ववादी २६. २४
मनुष्यसर्वज्ञवाद २६. २६
मानसप्रत्यक्ष १३७. २१
मार्गज्ञ ३०. १०
मिथ्यादर्शन १२८. ९
मिथ्योत्तर १०६ ३२
मीमांसा
वाचस्पतिकृत व्याख्या ४. २१
हेमचन्द्र ४ २४
मोक्ष २८. २०

(य)

यज्ञट ३२. १
योगिगतधारावाहिज्ञान २२. १२
योगिप्रत्यक्ष १३३. ५
योगिज्ञान १३३. ६
योगिसंवेदन १२६. ११
योग्यता (ज्ञानगत) ६७. २१

(ल)

लक्षण ८. १७
लक्षणप्रयोजन
न्यायवैशेषिक और बौद्धजैन ८. ६
लक्षणलक्षण
हेमचन्द्र ४. १५
लक्षणा ६२. १५
लक्षणार्थ ८. १४
लक्ष्य ८. १६
लिङ्ग ८०. २६ ८३. २९
लिङ्ग (ज्ञायमान) ८२. २ देखो हेतु
लिङ्गपरामर्श १३८. ७
लौकिकनिर्विकल्प १२६. ८
लौकिकप्रत्यक्ष १३३. ४

(व)

वक्तृत्व ३७. १
वर्ण्यसम (जाति) ११३ २२
वाक्छल ११४. ३०
वाद ११५. २९ देखो वादकथा
वादकथा
न्यायदर्शन और चरक की तुलना ११५. ३०
बौद्ध-जैन ११६. १७
न्याय और चरकका तत्त्वबुभुत्सु ११६. २६
चरक और सिद्धसेनवर्णित विजिगीषु ११७. ६
बौद्धसंमत अधिकारी ११७ १३
जैन और नैयायिकके विजिगीषु की तुलना ११७. २०
जैनाचार्यसंमत वीतरागकथा ११७. ३०
वादिदेवका संशोधन ११८. ८
प्रयोजन ११८. १२
चतुरङ्ग ११८. १७
जल्प-वितण्डाके कथान्तरत्वका निषेध ११८. २०
वादी ११८. १७
वासना ४७. १२
विकल्प १३. १५; ७८. १०
विकल्पसम (जाति) ११३. २४
विकल्पसिद्ध ८६. २४ देखो पक्ष
विगृह्यकथन ११६. १४
विगृह्यसंभाषा ११६. १
विजिगीषु ११७. ६
विजिगीषुकथा ११६. १०; ११७. ३
विज्ञानवाद ६७. २०
वितण्डा ११६. २
विपक्ष १४२. २४
विपक्षव्यावृत्तत्व ८१. १
विपर्यय
हेमचन्द्रकृत लक्षण की कणाद, योगसूत्रादि के साथ तुलना १५. २३
विप्रतिपत्ति ११९. ३१
विभज्यवाद ६१. ७ देखो अनेकान्तवाद
विभज्यवादी ६१. १४
विरुद्ध (जाति) ११४. १७

विरुद्ध (हेत्वाभास)
  न्यायप्रवेश और वैशेषिक का मतभेद ६६. १५
  न्यायप्रवेश और माठरसंमत चार भेद ६६. २०
  न्यायबिन्दु में दो भेद ६६. २१
  इष्टविघातकृत् और धर्मविशेषविरुद्ध का ऐक्य ६६. २२
  न्यायसार और जैनाचार्य १००. ३
विरुद्ध १४२, २९
विरुद्धाव्यभिचारी १०१. ७
विरुद्धोपलब्धि के उदाहरण ८७. १२
विरोध (दोष) ६४. १७; ६५. १०
विरोधसंशयादिदोष
  अनेकान्तवाद पर दिये गए दोषों की संख्या विषयक भिन्न २ श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय आचार्यों की परंपरा का अवलोकन ६५. ८
  देखो अनेकान्तवाद
विरोधी (लिङ्ग) ८३. २९
विवाद ११६. १८
विशद २६. १७; १३२. ७ देखो प्रत्यक्ष
विशेष ६. १
विषयचैतन्य १३४. ११
विषयता ७४. २५
विषयसारूप्य ६७. १९
विषयाधिगति ६७. १९
विषयाधिगम ६७. १३
वेद-अप्रामाण्यवादी १६ २६
वेदप्रामाण्यवादी १६ २७
वैधर्म्य (दृष्टान्ताभास) १०४. ७
वैधर्म्यसम (जाति) ११३. १९
वैयधिकरण्य ६५. ११
वैयाकरणत्व
  आचार्य हेमचन्द्र का ६६. ४; १३६. १
वैशद्य
  का मूल धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में २६. १७
  तीन प्रकार का निर्वचन २७. ३
वैशद्य १३५. १९
व्यञ्जनावग्रह १२६. १५
व्यतिकर ६५. १५
व्यतिरेक ८६. ९
व्यतिरेकी (हेतु) ८. ९
व्यभिचार १०. २०; १०२. १४
व्यभिचारशङ्का ७७. ९
व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव ६६. २६
व्याप्ति (जाति) ११४. १६
व्याप्ति ७८. ११; ८०. १
व्याप्ति
  अर्चटोक्त द्विविध व्याप्तिका स्पष्टीकरण ७८. २५
  गङ्गेश और अर्चट ७६. १६
व्याप्तिग्रह ७८. ३ १३८. ७
व्याप्तिज्ञान ७७ २४
व्यामोह ८०. २५

(श)

शास्त्रप्रवृत्ति
  वात्स्यायन का त्रैविध्य ३. १७
  श्रीधर का उद्देश लक्षणरूप द्वैविध्य ३. १८
  हेमचन्द्र ४. ९
  विभाग का उद्योतकर और जयन्त के द्वारा उद्देश में समावेश ४. ११
शाश्वत-अशाश्वत ६१. २५
श्रुत १२८. १९
श्रुतिभिन्न (जाति) ११४. १७
श्रुतिसम (जाति) ११४. १७

(स)

संकर ६४. १९; ६५. ११
संभव १०. २०
संयोगी (लिङ्ग) ८३. २९
संवित् १३७, १५
संशय
  कणाद, अक्षपाद, बौद्ध और जैनों के लक्षणों की तुलना १४. २२; १५. ३
संशय ६४. १७; ६५. १०
संशयसम (जाति) ११४. २
संस्कार ४७. १५ देखो धारणा
संस्कारोद्बोधकनिमित्त ७२. १९
सञ्ज्ञा २३. ४
सत्ता
  विविधकल्पनाएँ १२६. १९
सद्धर्मवाद ११६. १८
सन्तान ६०. २०
  स्वरूप ६०. २०
  खण्डनकर्ता जैन और वैदिकदर्शन ६०. २८

सन्दिग्ध १००. १७
सन्दिग्धोदाहरणाभास १०५. ३
सन्धायसंभाषा ११५. ३१
सन्निकर्ष जन्यत्व १३४. ११
सपक्ष १४२. २४
सपक्षसत्व ८१. १
सप्तभङ्गी ६४. २६ देखो अनेकान्तवाद
सभापति ११८. १७
सभ्य ११८. १७
समवायी (लिङ्ग) ८३. २९
सम्भाषा ११५. २९ देखो वादकथा
सम्यग् १०. १७
सम्यग्दर्शन १२८ ८
सर्वज्ञवाद
की प्राचीनता का निर्देश २७. १२
के विरोधी–चार्वाक, अज्ञानवादी और मीमांसक २७ २२
के समर्थक–न्याय वैशेषिक, सांख्ययोग, वेदान्त, बौद्ध और जैन २७. २३
विरोधियों का मन्तव्य २७. २५
बौद्ध-जैनों का दृष्टिबिन्दु २८. ८
न्यायवैशेषिकआदि वैदिकदर्शनों का दृष्टिबिन्दु २८. ११
सांख्य-योग-वेदान्त का दृष्टिबिन्दु २९. ३
असर्वज्ञवाद, देवसर्वज्ञवाद, और मनुष्यसर्वज्ञवाद का वेद के प्रामाण्य-अप्रामाण्यवाद से संबंध २९. १०
धर्मज्ञवाद का मूल बौद्ध परंपरा में ३०. ७
सर्वज्ञवादका मूल जैन-परंपरा में ३०. १४
कुमारिलकृत सर्वज्ञवाद और धर्मज्ञवाद का खण्डन ३० २०
शान्तरक्षितकृत धर्मज्ञवाद और सर्वज्ञवाद का समर्थन और बुद्ध ही में धर्मज्ञत्व और सर्वज्ञत्व की सिद्धि ३२ १
सांख्य, जैन आदि का भी अपने ही आप्त में सर्वज्ञत्वसिद्धि का प्रयत्न ३३. ३
सर्वपार्षद १०८. ३
सविकल्पक २६. १३; १२६; ३. १३३. २५
सव्यभिचार १००. १६
सांप्रदायिकरोष ३६. १७
सांव्यवहारिक १९. १८; २२. ४; ३८. १६; १२७. ३
सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष १३३. १६
साधर्म्यदृष्टान्ताभास १०४ ७
साधर्म्यसम (जाति) ११३. १८
साधारण १४३. २
साध्यसम (जाति) ११३ २५
साध्यसम (हेत्वाभास) ९८ १०
साध्याविनाभावी ८२. १०
सामग्री १९. १०
सामान्य ६. १
सामट ३२. १
सामान्यच्छल ११५. ३
सूक्ष्मकालकला ११. २४
स्पष्ट १३५. २४
स्फुट २६. १७; १३५. १५
स्मरण ७२. २ देखो स्मृति
स्मृति ११. १७; २३. ४
स्मृति
कणाद, पतञ्जलि, प्रशस्तपाद और जैनाचार्यो के लक्षणों की तुलना ७२. २
न्यायसूत्रगत संस्कारोद्बोधकनिमित्त ७२. १६
प्रामाण्य के विषय में जैन-जैनेतरों का मतभेद ७२. २१
स्मृतिशास्त्रका प्रामाण्य और अप्रामाण्य श्रुत्यधीन ऐसी मीमांसकों की व्यवस्था ७३. १
स्मृतिरूप ज्ञान में भी वही व्यवस्था ७३. ७
मीमांसकों का वैदिक दर्शनों पर असर ७३. ११
अप्रामाण्यमें दार्शनिकों की युक्तियाँ ७३. १६
बौद्ध क्यों अप्रमाण मानता है ? ७४. ७
जैनों का जवाब ७४. १३
अविसंवादित्व सर्वसम्मत ७४. १८
स्मृति (धारणा) ४७. १२
स्याद्वाद ६१. ७ ६४. २६ देखो अनेकान्तवाद
स्वतःपरतः (प्रामाण्य) १६. १८
देखो प्रामाण्य-अप्रामाण्य
स्वनिर्णय ११. ८: १३०, ७ देखो स्वप्रकाश
स्वपरप्रकाश १३०. ८ देखो स्वप्रकाश
स्वपरव्यवसिति ६८. २९
स्वप्रकाश
ज्ञानकी प्रत्यक्षता-परोक्षता १३०. ११
स्वप्रकाश और परप्रकाशका अर्थ १३०, १५
स्वप्रत्यक्ष का अर्थ १३०, १९
विज्ञानवादी बौद्ध, प्रभाकर, वेदान्त और जैनों का स्वप्रकाशवाद १३०. २५

सांख्ययोग, न्याय वैशेषिक का परप्रत्यक्षवाद **१३१. १०**

कुमारिलका परानुमेयवाद **१३१. १९**

हेमचन्द्र **१३२. १**

स्वप्रकास १३६. १७

स्वप्रकाशत्व १० २५

स्वप्रकाशवादी १०. २६; १३० २६

स्वप्रत्यक्ष १३०. १५; १३६ १७

स्वप्रत्यक्षवादी १३७ २

स्वभाव ८३. ३०

स्वसंवित्ति ६७. १४

स्वसंविदितत्व ६. १८

स्वसंवेदन ६७. २१

स्वाभासी १३६. १५

स्वार्थविरुद्ध (जाति) ११४. १४

[ह]

हानोपादानोपेक्षाबुद्धि ६७. ४; ६८. ८

हेतु

अकलङ्क-मणिक्यनन्दी-विद्यानन्द का वर्गीकरण बौद्ध-वैशेषिक के आधार पर **८३. २३**

देवसूरि का वर्गीकरण **८४. १५**

हेमचन्द्रकृत हेतु के प्रकार **८५. ४**

वाचस्पतिके द्वारा बौद्ध-वैशेषिककृत वर्गीकरण का खण्डन **८५. ८**

हेतु ९६ ८

हेतुचक्र १४२. १५; १४४.

हेतुत्वप्रयोजक

नैयायिकादि के मतानुसार यथासंभव अन्वय और व्यतिरेक दोनों **८६. १**

धर्मकीर्ति को क्या अभिमत है ? **८६. १२**

बौद्धों के मतानुसार दोनों आवश्यक **८६. २७**

जैनाभिमत केवलव्यतिरेक **८७ ४**

हेतुसम (जाति) ११४ १६

हेतुस्वरूप

वैशेषिक, सांख्य और बौद्धसमत त्रैरूप्य **८१. १**

नैयायिकसम्मत पाञ्चरूप्यं **८१. १४**

अर्चट और श्रीधरकृत त्रैरूप्य में पाञ्चरूप्य का समावेश **८१. १७**

गदाधर सम्मत त्रैरूप्य **८१. २२**

अज्ञातत्वरूप हेतु का छठवां रूप **८१. २४**

जैनसम्मत अविनाभावनियमरूप हेतु **८२. ४**

एकरूप के प्रथम समर्थक पात्रस्वामी **८२ ९**

त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य का जैनाचार्यकृत खण्डन **८२. १५**

हेमचन्द्र की विशेषता ८२. २६

'अन्यथानुपपन्नत्वं' कारिका का मनोरञ्जक इतिहास **८३. ६**

हेत्वाभास ११५. १४; १४२ १४

हेत्वाभास

अक्षपाद कथित पांच **९६. १५**

वैशेषिक संमत तीन-चार **९६. १५**

भासर्वज्ञकथित छः **९६. २०**

बौद्धसांख्य संमत तीन **९६ २२**

श्वेतांबर संमत तीन **९७. ३**

अकलंकादि दिगंबर सम्मत चार **९७. ८**

अकिञ्चित्कर और अप्रयोजक **९७. १०**

हेमचन्द्र और माणिक्यनन्दीकृत विवेक **९८. ५**

७. भाषाटिप्पणगत विशेष नामों की सूची।

अ

अकलङ्क १, २, ६–८, १३, १४, २२–२४, २६, २७, ३३, ३७, ३८, ४४, ४६–४८, ५२, ५५, ५६, ६०, ६४, ६५, ६८, ६९, ७३, ७७, ८२–८४, ९७, ९८, १०३, ११८, १२०–१२३, १३५, १४०–१४२।

अक्षपाद १, ५, ७, १४, १८, ५१, ७३, ९६, १०८, १११, ११३, ११६, ११९, १२०।

अच्युत ६२।

अज्ञातनामक ? ८०।

अनन्तवीर्य, ४७, ४८, ८२, ९४।

अनुयोगद्वार २०, २१, १३९, १४२।

अनेकान्तजयपताका ४३, ६४।

अनेकान्तजयपताकाटीका ६४।

अनेकान्तप्रवेश ६४।

अनेकान्तव्यवस्था ६४।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका ६१, ६४।

अभयचन्द्र ११५।

अभयदेव ७–९, ६५, १२८–१३०, १४१, १४२।

अभिधम्मत्थसंगहो ४५, ४६।

अभिधर्मकोष ४१, ४२, ४४, ४६, ५०, ८१।

अमृतचन्द्र ५६।

अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ३३।

अर्चट १२, ६३, ७८, ७९, ८१।

अष्टशती (अष्टसहस्री) ६, १५, २४, २७, ६१, ६७, ६८, १२२।

अष्टसहस्री, २५, २६, ६५, ७४, ७८, १२०, १२३, १२४।

अष्टाध्यायी (पाणिनीय) ५४।

असङ्ग ६।

आ

आचारांग ३०, ७६।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र २।

आप्तपरीक्षा २६।

आप्तमीमांसा, ६, ३०, ३३, ३५, ३६, ६२, ६४, ६८, १०८।

आवश्यकनिर्युक्ति २०, ३०, ३७, ४७, ५०, ६२।

आवश्यकनिर्युक्तिटीका (हारिभद्रीय) ४८।

आर्यरक्षित, २०–२२, १४१, १४२।

आलोक १४१।

ई

ईश्वरकृष्ण ५२, ५३।

उ

उत्तराध्ययन, ५५, ५६, ६६।

उदयनाचार्य ५, ११, ७४।

उद्योतकर ४, ४८–५०, ५२, ८१, १२०, १४०।

उपस्कार, ८।

उपायहृदय १०८, १११, ११३–११४, ११५, १२०, १३९।

उमास्वाति १, ७, २०, २१, २३, ४१, ४८, ५५, ५६, ७७, १२८।

ऋ

ऋग्वेद ५३, ६१, ७६।

ऋषभ ३२, ३३, १०८।

क

कठोपनिषद् ७०, ७६।

कणाद १, ५, १४, १५, ३३, ७२, ८१, ९२, ९६, ९७, १००।

कणादसूत्र ४, २६, १००, १०२, १०३, १३४।

कन्दली ८, ९, ११, १५, १७, २५, २८, ४८–५१, ६७, ७२, ८१, ८६।

कपिल ३१, ३२, १०८।

कमलशील, ५०, ५९, ६७।

कारिकावली १२७, १३१, १३७।

काव्यप्रकाश ९२।

काव्यानुशासन २, ९२।

काव्यालङ्कार ५०।

कुन्दकुन्द ५६।

कुमारनन्दी १२१।

कुमारिल ५, ६, १७, २६, ३०–३२, ३६, ४८, ५१, ५२, ५५, ५७, ६३, ६७, ६९–७१, ७३, १३१, १३७।

कुसुमाञ्जलि ५, ९, ११, १५, १७, ७४।

१ अंक भाषाटिप्पण के पृष्ठ के सूचक हैं।

ख

खण्डनखण्डखाद्य ३४ ।

ग

गणधर २० ।

गदाधर ८१ ।

गादाधरप्रामाण्यवाद १८ ।

गोम्मटसार ३७ ।

गौतम १०० ।

गौतमदर्शन २० ।

गंगा ८ ।

गंगेश ४४, ७७, ७९, ९०, १२७, १४१ ।

च

चरक ११६, ११७, १२०, १३९ ।

चरकसंहिता १९, १०८, ११०, ११५-११८, १३२ ।

चारबिट्स्की ८१ ।

चार्वाक २५, २७, १३३ ।

चित्सुखी ३४, १३० ।

छ

छन्दशास्त्र १ ।

छन्दोनुशासन २ ।

ज

जयन्त ४, ११, ४०, ४१, ५०, ५२, ५९, ६०, ७३, ७५-७७, ८१, ९७, १००, १०३, १०४, ११३, १२३ ।

जिनभद्रक्षमाश्रमण २२, ३८, ४७, ४८, ५५, ७२ ।

जैनतर्कवार्त्तिक २७ ।

जैमिनीयन्यायमाला ७७ ।

जैमिनीयसूत्र १६, २५, ५१, ५२, ७७, १३२ ।

ज्ञानबिन्दु १२८, १२९ ।

ट

ट्युची (प्रो०) १०९ ।

त

तत्त्वचिन्तामणि १७, १८, ४४, ७७, १४१ ।

तत्त्वचिन्तामणि (गादा०) ७९, ९० ।

तत्त्ववैशारदी २, ३५, ७३ ।

तत्त्वसंग्रह ११, १७, १४, २८, ३०-३४, ३६, ३७, ४२, ५०, ५१, ५४, ५९, ६०, ६२, ६४, ६७-७०, ७५, ७६, ८१, ८२, १४० ।

तत्त्वसंग्रहपञ्जिका १३, १७, १९, २५, ३५, ४६, ५९, ७४ ।

तत्त्वार्थभाष्य १०, २०-२२, ३७, ३९-४१, ४७, ५५, ५६, ७७ ।

तत्त्वार्थभाष्यटीका १२५, १२८ ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक ८, ४२, ४६, ४७, ६४ ।

तत्त्वार्थविवेचन (गुजराती) १ ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ७, १३, ४२, ४५, ४७, ५१, ५२, ६८, ७८, १०९, ११०, ११७-११९, १२१-१२३, १४० ।

तत्त्वार्थसूत्र १, ४, ७, २०, ३३, ३८, ४१, ५०, ५५, ५६, ६१, १२५, १२७, १३३ ।

तत्त्वोपप्लव १४, ५१ ।

तन्त्रवार्तिक १०, ३१, ३६, ७३, १३३ ।

तर्कभाषा (यशोविजय) १२९, १३५, १४१, १४२ ।

तर्कभाषा (केशवमिश्र) ११६ ।

तर्कभाषा (मोक्षाकरीय) ८७ ।

तर्कशास्त्र १०८, १०९, ११३, ११४, १२० ।

तर्कसंग्रह ४ ।

तात्पर्यटीका ७, ८, ९, ११, १५-१७, २५, २६, ४०, ४९-५२, ५९, ७४-७७, ८१, ८५, ८६, ९३, ९४, ९८, १०८, १२३, १४०, १४२ ।

त्रिलोचन ४९ ।

द

दशवैकालिकनिर्युक्ति २०, ९५ ।

दिङ्नाग ६, ४८, ५०, ५२, ६७, ९४, १०२, १०४, १०७, १०९, ११२, १२०, १३९, १४०, १४२ ।

दिनकरी २८ ।

दिवाकर ५१ ।

दीपिका ४, ८ ।

देवसूरि ७-९, १५, १८, २७, ४८, ५६, ६५, ६८, ७१, ८३-८४, ८८-९१, ९६, १०५, १०७, ११८, ११९, १२९, १४१ ।

ध

धर्मकीर्त्ति १, ६, ७, ११, १८, १९, २५, २७, ३०, ५०, ५१, ६७, ८३-८६, ८८-९०, ९२, ९३, ९६, ९८, ९९, १०२, १०३, १०५, १०७-१०९, १२०-१२३, १४० ।

धर्मपरीक्षा (यशोविजय) ६२ ।

धर्मसंग्रह, ४ ।

धर्मोत्तर ८, ९, १२, १४, ६७, ६९, ८९ ।

धवला १२५ ।

न

नयचक्र ६४ ।
नयचक्रवृत्ति ४३, १२४ ।
नयप्रदीप ६४ ।
नयरहस्य ६४ ।
नयोपदेश ६४ ।
नन्दीकार २१ ।
नन्दीचूर्णि ३७ ।
नन्दीसूत्र २१, ४७, १२८, १३८ ।
नागार्जुन ४४, १३९ ।
न्यायकणिका २५, ५९ ।
न्यायकलिका १०८, ११३–११५, १२३, १२४ ।
न्यायप्रवेश १५, १७, २६, ५०, ८१, ८८, ८९, ९१–९३, ९६, ९८–१०५, १०७, १०९, ११२, ११८, १४० ।
न्यायप्रवेशवृत्ति ११८ ।
न्यायबिन्दु १, ६, ७, १५, १६, १९, २४, २६, ३८, ५०, ५१, ६७, ८१–८६, ८८, ८९, ९२, ९३, ९८, ९९, १०२, १०३, १०६–१०९, ११३, १३०, १३३, १४० ।
न्यायबिन्दुटीका ८, ९, १२, १६, २४, ५४, ६७, ६९, ७०, ८०, ८३, ८५, ९०, ९२, ९३, ११४ ।
न्यायभाष्य ३, ५, ८, ९, १७, १९, २४, ४३, ४९, ५३, ५८, ६६, ६७, ८९, ९५, ९९, १०८, ११७, ११९, १२४, १२५, १३७ ।
न्यायमञ्जरी ४, ८, ९, १०, ११, १९, २४, २८, ३५, ४०, ४९–५२, ५९, ६१, ७३, ७५, ७७, ७८, ८१, ८६, ९७–१००, १०३, १०४, १०८, ११९, १२३, १२४ ।
न्यायमुख १०८, १०९, ११३, ११४, १४२ ।
न्यायवार्तिक ४, ८, ११, १५, २४, ४८–५२, ८१, १०८, ११६, १३७, १४० ।
न्यायविनिश्चय १, ३६, ४९, ५२, ७१, ८२, ९७, १०३, १०९, ११०, ११८, १२०, १४०, १४१ ।
न्यायविनिश्चयटीका ६, ११, २५, ३६, ११३ ।
न्यायसार ७, १९, ९२, ९६, ९८–१००, १०३–१०५, १३४, १४१ ।
न्यायसारतात्पर्यटीका २५ ।
न्यायसूत्र १, ४, ७, ९, १५, १८, २०, २३, २६, ४१, ४२, ४९, ५१, ६६, ७२, ७६, ७७, ९१, ९२, ९६–१००, १०२–१०४, १०८–१११, ११३, ११४, ११६, १३२, १३९ ।
न्यायसूत्रवृत्ति (विश्वनाथ) ७७ ।
न्यायावतार ६, १४, २०, २१, ५१, ६८, ७१, ८०, ८२, ९१–९३, ९७, १०३, १०५, १०९, ११३, १३५, १४०, १४१ ।
न्यायावतारटीकाटिप्पणी २४ ।
न्यायावतारसिद्धर्षिटीका १४, २३, २४, २६ ।

प

पञ्चाशक ५५ ।
पतञ्जलि ३८, ५५, ५७, ७२ ।
पत्रपरीक्षा ११९, १२१, १२४ ।
पद्मावती ८३ ।
परीक्षामुख ३, ७, ९, ११, १८, ४५, ५७, ६८–७०, ७९, ८४, ८५, ८९–९२, ९५, ९७–१००, १०५, १२९, १३५, १४१ ।
पाणिनि १, ३८, ४०, ५४ ।
पाणिनीयसूत्र ३९, ७६ ।
पातञ्जलमहाभाष्य २, ३, ३८, ५५, ५७ ।
पातञ्जलयोगशास्त्र २ ।
पात्रकेसरी ८३, १२० ।
पात्रस्वामी, ८२, ८३ ।
पाराशर, ७६ ।
पार्थसारथि १२, ६७, ९४ ।
पिङ्गल १ ।
पुरातत्त्व १०८ ।
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ६२ ।
पूज्यपाद, २१, ४०, ४१, ४६–४८, ५६, ७१ ।
प्रकरणपञ्जिका १२, २३, २६, ४२, ५०, ६७, ७३, ९४, १३०–१३२, १३४ ।
प्रजापति, ३१ ।
प्रभाकर ५, १०, २६, ५२, ९४, १३०, १३१, १३४, १३७ ।
प्रभाचन्द्र १३, ३७, ६५, ६८, ८२, ९५, ९७, ९९, १०३, १२१, १२३ ।
प्रमाणनयतत्त्वालोक ७, १०, १५, १८, ४५, ४८, ५६, ५७, ६८–७१, ८०, ८४, ८५, ८८–९३, ९७, ९९, १००, १०६, १०९, ११८, १२९, १३५ ।

प्रमाणपरीक्षा २, ७, ९, २३, २५, २७, ६८, ७०, ७२, ७४, ७८, ८२-८४, १४१ ।
प्रमाणमीमांसा ४, २३, १०६-१०८, ११९, १३४ ।
प्रमाणवर्त्तिक १, ६, १०, ४४, ४८, ५४, ६३, ७४, ७५, ८९, ९०, ९४, ९६, १३१ ।
प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार ९, ४४ ।
प्रमाणसमुच्चय १, ५, ६, १५, २६, ४८, ५०, ५२, ६७, ८१, १०८, ११३, ११४, १४०, १४२ ।
प्रमाणसंग्रह १, २, ६४, ८२, ८३, ११८ ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड ९, १३, १८, २५, २६, ३७, ४५, ५१, ६५, ६६, ७४, ७६, ७८, ८२, ९७, ९९, १००, १०३, १०९, ११९-१२१, १२३, १२४, १२९, १४० ।
प्रमेयरत्नमाला ३, ९, २७, ३५, ३८, ७०, ७४, ७६, ७८, ८२, ८३, ९०, ९२, ९४ ।
प्रशस्तपाद १५, २३, २६, ७२, ७३, ८१, ८८, ९२, ९६, ९७, १००, १०३, १०४, १०७ ।
प्रशस्तपादभाष्य ३, ४, १५, २८, ४५, ४७, ४८, ७२, ८१, ८८, ९२, ९६, ९८, ९९, १०१, १०३, १०४, १०५, १०७, १३४, १३९ ।

ब

बुद्ध २७, २९, ३१, ३२, ३६, ५७, ५८, ६१, ७६ ।
बुद्धघोष ४० ।
बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका १२५ ।
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र ६ ।
बृहती ५, १६, २६, ५२, १३१ ।
बृहतीपञ्जिका १२, २६ ।
बृहदारण्यक ३३ ।
बृहदारण्यकवार्त्तिक १० ।
बोधिचर्यावतार ६० ।
बोधिचर्यावतारपञ्जिका १ ।
ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य) २, ३४, ४६, ५८, ६३, ६४, ७८ ।

भ

भगवती २०, ३०, ५४-५६, ६१, ६२, ७० ।
भद्रबाहु २०, ९५ ।
भर्तृप्रपञ्च ६३ ।
भर्तृहरि १२५, १२६ ।
भवदास ५१, ५२ ।
भामती १, ४, २४, ३५, ६०, १३० ।
भामह ५० ।
भासर्वज्ञ ७, ९२, ९६, ९७, १०३, १३४, १३५, १४० ।

म

मज्झिमनिकाय ३०, ३४, ३८, ६१, ६२, ७६ ।
माध्यमिककारिका ४४ ।
मध्व १२५, १२६ ।
मनोरथनन्दिनी ७४, ७८ ।
मल्लिषेण ६५ ।
महावग्ग ६१ ।
महावीर १०, २९, ३१, ३२, ४८, ५७, ५८, ६१, ७०, ७६ ।
माठर ८१, ८९, ९६, ९८, ९९, १०४ ।
माठरवृत्ति ३९, ४२, ४५, ८१, ९४, ९६, १३९ ।
माणिक्यनन्दी ७, ९, १३, १४, २७, ६८, ७२, ७९, ८३, ८४, ८८-९१, ९५-९९, १०३, १०५, ११९ ।
माधवाचार्य १७, ४४ ।
मुण्डकोपनिषद् ६६ ।
मुक्तावली २३, ४५, ४७, ८२, ११५ ।

य

यज्ञट ३२ ।
यशोविजय १७, ५६, ६६, १२८, १२९, १३५, १४१, १४२ ।
युक्त्यनुशासन ५८ ।
योगसूत्र १५, २९, ३३, ३८, ६२, ७२, १३१, १३३, १३५ ।
योगसूत्रभाष्य २, २९, ३५, ३८, ४८, ५०, ६१, ६३, १३२ ।
योगसेन ५९, ६० ।

र

रत्नाकरावतारिका ९९, १२३ ।
राजवार्त्तिक २३ ।
राजवार्त्तिककार २२ ।
रामानुज १३३, १३७ ।
रामायण ७६ ।

ल

लघीयस्त्रयी, १, २२, ४५, ५५, ६०, ६१, ६८, ७४, १२९, १३५ ।
लघीयस्त्रयीस्वविवृति, १५, २२, ३६, ४१, ४५, ४६, ६९, ७६-७८, १२५ ।

व

वर्द्धमान १२, ३३, १०८।
वल्लभ १२५, १२६।
वसुबन्धु ६, ४४, १४०।
वाचस्पति २-५, ११, ४०, ४१, ४९, ५०, ५२, ५९, ६७, ७३ ७५, ८१, ८५, ९३, १२३, १४०, १४२।
वात्स्यायन ३-६, ४९, ८९, ९५, १२०।
वात्स्यायनभाष्य ३, ४८, १४०।
वादद्वात्रिंशिका ११०, ११२।
वादद्वात्रिंशिका (यशोविजय) ११२।
वादन्याय १, ५९, ९३, ९६, १०८, ११०, १२८-१३३।
वादाष्टक ११०।
वादविधि ११३, ११४।
वादिदेव २३, ७१, ९४-९७, ९९, १०३, १०७, १०८, १२९।
वादिराज १२३।
वादोपनिपद्द्वात्रिंशिका ११७।
वार्षगण्य ५१।
विद्यानन्द २, ७, ८, १३, २३, २४, ३८, ४७, ४८, ५२, ५६, ६५, ६८, ७१, ८२-८५, ११८, ११९, १२१, १२३, १२४, १४०।
विद्याभूषण (सतीशचन्द्र) १४२।
विन्ध्यवासी ५२, ५३।
विशुद्धिमार्ग ३९, ४१, ६०, ६६।
विशेषावश्यकभाष्य २२, २४, ३७, ५५, ६१, ७२, १३८।
विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति ४७।
विश्वनाथ १२७।
विष्णु ३१।
वेद १६, १८, २८, २९, ३१, ३२, ७३।
वेदान्तपरिभाषा १३४।
वैयाकरणभुषणसार १३६।
वैशेषिकसूत्र १, ५, १५, २३, २६, २८, ३३, ४२, ५५, ६६, ७१, ८३-८५, ९६, ११२, १३३, १३७।
ब्रह्मा ३१।

श

शबर २।
शब्दानुशासन १।
शङ्करमिश्र २३।
शङ्करस्वामी १०९।
शङ्कराचार्य २, ३६, ६३, ६४, १३७।
शान्तरक्षित ६, १७-१९, ३०, ३२, ३३, ३७, ५०-५२, ६४, ६७, ६९, ८२, १२०।
शाबरभाष्य १, १६, २६, २८, ३१, ४८, ४९, ५१, ५२, ७७, १३९।
शालिकनाथ ११, ५०, ९४, १३१, १३४।
शास्त्रदीपिका ५, ११, २३, १३१।
शास्त्रवार्तासमुच्चय ३६, ६४।
शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीका (स्वोपज्ञ) ६५।
शास्त्रवार्त्तासमुच्चय-टीका ६६।
श्रीधर ३, ११, १५, ७३, ८१, ११७।
श्रीभाष्य १३०, १३२, १३३।
श्लोकवार्त्तिक ५, १६, १७, २६, २८, ३०, ३१, ३६, ४५, ४८, ५१, ५२, ५५, ५७, ६१, ६४, ६७, ६८, ७०, ७१, ७३, ७६, ७८, ९४, १३७।
श्लोकवार्तिकन्यायरत्नाकर ३१, ५१, ५१, ६७।

स

सन्मतिटीका ७, २५, ४१, ५१, ५६, ५७, ६५, ८३, १२९, १४१।
सन्मतितर्क ७, ५८, ६४, १०८।
सप्तभङ्गीतरङ्गिणी ६४।
समन्तभद्र ६-८, ३३, ५७, ६८, १०८।
सर्वदर्शनसंग्रह १७, ४३, ४४।
सर्वार्थसिद्धि २१, २२, २४, ३७, ३९, ४०, ४२, ४३, ४६, ४८, ७२, १३४।
संयुत्तनिकाय ६२।
सामट २२।
सांख्यकारिका ३, २३, ३३, ३५, ४०, ४२, ४३, ४५, ४५, ५१, ६३, ६६, ८९, १३१, १३३, १३८।
सांख्यतत्त्वकौमुदी ३, २४-२६, ४५, ६७।
सांख्यसूत्र ४९, ५२, १३२।
सिद्धर्षि १४, २३, २५।
सिद्धसेन ६-८, ३३, ५०, ५६, ५७, ६८, ७१, ८०, ८२, ९१-९३, ९७, १०३, १०५, १०८, ११०, ११२, ११७, १२८, १३५, १४०, १४१।
सिद्धान्तचन्द्रोदय ५।
सिद्धिविनिश्चय १, ४९।
सिद्धिविनिश्चयटीका २२, २५, १०९, ११६, ११८।
सीमन्धरस्वामी ८३।

सुगत ३३, १०८ ।
सूत्रकृताङ्ग ५३, ६१ ।
स्थानांग ४, २०, ६२ ।
स्फुटार्थाभिधर्मकोषव्याख्या ४१–४३ ।
स्याद्वादमञ्जरी ३६, ६५ ।
स्याद्वादरत्नाकर ८–१०, २३, २५, २६, ४८, ५२, ६४, ६५, ६८, ७४, ७६, ७८, ८२, ८९, ९१, ९४, ९५, ९७, १००, १०३, ११९, १४१ ।

ह

हरिभद्र ४८, ५६, ६४, ६५ ।
हेतुचक्र १४२ ।
हेतुबिन्दु (लिखित) १, १२, ६३, ८१ ।
हेतुबिन्दुटीका (लिखित) १०, १२, १४, ६३, ६६, ७७, ७८, ८०, ८१, ८५ ।
हेतुबिन्दुविवरण ७८ ।
हेमचन्द्र २–४, ७, ८, १०, ११, १४, १५, १८–२०, २३, २५, ३३, ३६, ३७, ३९–४१, ४४–४६, ४८, ४९, ५१–५४, ५६, ५७, ६०, ६१, ६४, ६५, ६८–७२, ७४, ७६–८०, ८३, ८५–९०, ९२–१००, १०३, १०६–१०८, ११३, ११८, ११९, १२१, १२३, १२९, १३०, १३२, १३५, १३६, १४१, १४२ ।
हैमशब्दानुशासन ३९, १०८, १३६ ।
हैमशब्दानुशासनबृहद्वृत्ति ११६ ।

Buddhist Logic ६, ८१, १४०, १४३ ।
Indian Logic १४२ ।
Indian Psychology : Perception १२५, १३३ ।
Pre. Dinnaga Buddhist Logic १२० ।